UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186796

UNIVERSAL
LIBRARY

प्रारम्भिक अर्थशास्त्र

(INTRODUCTORY ECONOMICS)

[भारतीय विश्वविद्यालयों के इंटरमीडिएट के विद्यार्थियों के लिए]

भाग १

प्रारम्भिक सिद्धान्त

(ELEMENTARY THEORY)

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टेण्ड,) हैदराबाद ८

लेखक

केवल कृष्ण ड्यूवेट
एम. ए., पी. एच. डी, पी. ई. एस. (I)
प्रोफेसर और पंजाब विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष
फेलो और सिन्डिकेट सदस्य
संयोजक, बोर्ड ऑफ स्टडीज इन इकनामिक्स,
लेखक : माडर्न इकनामिक थ्योरी
सहलेखक : इंडियन इकनामिक्स
प्रिंसिपल, पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज, होशियारपुर।

गुरुचरण सिंह
एम. ए., पी. ई. एस. (I,
भूतपूर्व प्रोफेसर और अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष
गवर्नमेंट कॉलेज, होशियारपुर,
लेखक : रीसेंट ट्रेंड्स इन एग्रेरियन रिफार्म्स
सहलेखक : इंडियन इकनामिक्स
इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स, अम्बाला डिवीजन,
अम्बाला।

और

जे० डी० वर्मा एम. ए.
आर्नोल्ड गोल्ड मेटलिस्ट, आई. ए. वाटसन मेटलिस्ट
अर्थशास्त्र विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी कॉलेज, होशियारपुर।

हिन्दी का द्वितीय संस्करण
१९५६

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी
दिल्ली — जालन्धर — लखनऊ

By the same authors

Available in English

		Rs.	*As.*
INTRODUCTORY ECONOMICS Part I (*Elementary Theory*)	...	**4**	**12**
INTRODUCTORY ECONOMICS Part II (*Elementary Indian Economics*)	...	**4**	**12**
Refresher Course to the above I. Theory II. Indian Economics	...	**3**	**8 each**
Gurmukhi Translation to Refresher Course Part I and II	... ...	**4**	**0 each**
Gurmukhi Translation to Introductory Economics Part I	...	**5**	**12**
Hindi Translation to Introductory Economics Part II	...	**5**	**4**
Gurmukhi Translation to Introductory Economics Part II	...	**5**	**12**
Hindi Translation Refresher Courses to both Part I & Part II	...	**4**	**0 each**

पहला हिन्दी संस्करण १९५५

दूसरा हिन्दी संस्करण १९५६

Rs. 5/-

गौरीशंकर शर्मा द्वारा प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली के लिए प्रकाशित एवं इण्डिया प्रिंटर्स, एसप्लेनेड रोड, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

द्वितीय हिन्दी संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का पहला संस्करण पिछले साल प्रकाशित हुआ था। इतनी जल्दी इसके दूसरे संस्करण का निकलना इस बात का द्योतक है कि पुस्तक विद्यार्थियों के लिए कितनी सुबोध, सरल एवं उपयोगी सिद्ध हुई है। इस संस्करण में पुस्तक का फिर से संशोधन करके एक नया अध्याय भी जोड़ दिया गया है।

इस पुस्तक का अंग्रेज़ी में पहला संस्करण १९४८ में प्रकाशित हुआ था। और तब से अंग्रेज़ी में इसके छः संस्करण संशोधित एवं परिवर्द्धित होकर छप चुके हैं। यह अर्थशास्त्र का अध्ययन आरम्भ करने वाले विद्यार्थियों की आवश्यकताएँ पूरी करने का एक प्रयत्न है, इसलिए इसमें अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्तों को समझा कर बताया गया है। भाषा सरल है। विद्यार्थियों की रुचि को उत्साहित करने के लिए दैनिक जीवन के अनेक उदाहरण पुस्तक में दिए गए हैं। प्रारम्भिक होते हुए भी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों और भारतीय अर्थशास्त्र में प्रचलित अन्तिम विचार-धारा का भी हवाला दिया गया है। प्रमुख भारतीय विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं के महत्त्वपूर्ण प्रश्न हर अध्याय के अन्त में दिए गए हैं जिनसे उस विषय पर परीक्षा प्रश्नों के रूप और दिशा का विद्यार्थी और शिक्षक दोनों को ही ज्ञान हो जाय। कठिन प्रश्नो के साथ-साथ छोटी-छोटी टिप्पणियाँ भी मार्ग-प्रदर्शन के लिए हैं। हर अध्याय के अन्त में उसका सारांश दिया गया है जिससे विद्यार्थी को नोट्स का अन्दाजा हो जाय और वह परीक्षा के समय उससे लाभ उठा सके।

अनुवाद में भी हिन्दी उर्दू के झमेले में न पड़ कर, सरल से सरल भाषा देने की कोशिश की गई है और पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द लगभग हर जगह ब्रेकेट में दे दिए गए हैं, जिससे प्रस्तुत विषय की सुबोधता बढ गई है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो के सभी उद्धरण (quotations) फुटनोट मे मूल रूप मे दिए गए हैं।

परीक्षा और अध्ययन का माध्यम हिन्दी हो जाने से इसका हिन्दी संस्करण विद्यार्थियों की आवश्यकता को पूरा करेगा, इसमे हमें सन्देह नही है। आशा है कि यह हिन्दी में उचित पाठ्य-पुस्तकों की कमी को पूरा करेगी।

होशियारपुर
१ जुलाई, १९५६

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	विषय-प्रवेश (Introductory)	१
२	आर्थिक विकास और व्यवस्थाएँ (Economic Development and Economic Systems)	१८
३	माल—उपयोगिता—मूल्य—धन (Goods—Utility—Value—Wealth)	२७
४	मानवीय आवश्यकताएँ और उनकी तृप्ति (Human Wants and Their Satisfaction)	४२
५	उपभोग (Consumption)	५४
६	मांग (Demand)	७५
७	उत्पादन का स्वरूप (Nature of Production) ...	९१
८	उत्पादन के साधन—भूमि (Agents of Production—Land)	१०१
९	उत्पादन के साधन (क्रमशः)—श्रम (Agents of Production (Contd.)—(Labour)	१०७
१०	उत्पादन के साधन—श्रम-विभाजन (Agents of Production —Division of Labour)	११९
११	उत्पादन के साधन (क्रमशः) (Agents of Production) ...	१३४
१२	उत्पादन के साधन (क्रमशः) (Agents of Production) (Contd.)	१५५
१३	उत्पादन का पैमाना (Scale of Production)	१६०
१४	व्यावसायिक संगठन के रूप (Forms of Business Organisation)	१७२
१५	उत्पादन के नियम (Laws of Production)	१९४
१६	पूर्ति (Supply)	२०८
	विनिमय (Exchange)	
१७	बाज़ार (Markets)	२२१
१८	कीमत का निर्धारण (Price Formation)	२३३
१९	मुद्रा या द्रव्य (Money)	२५५
२०	द्रव्य का मूल्य (The Value of Money)	२७४
२१	साख और इसके उपकरण (Credit —Its Instruments)	२८६
२२	बैंक (Banks)	२९९
२३	अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार (International Trade)	३१६
२४	वैदेशिक विनिमय (Foreign Exchange)	३२३
२५	आय का वितरण (Distribution of Income)	३४१
२६	किराया (Rent)	३५०
२७	मज़दूरी (Wages)	३६३
२८	सूद (Interest)	३८०
२९	लाभ (Profits)	३९०
३०	सार्वजनिक वित्त (Public Finance)	३९६
३१	चुंगी (Taxes)	४०६

विषय-प्रवेश
(INTRODUCTORY)

अर्थशास्त्र, दुर्लभता का विज्ञान
(Economics, a Science of Scarcity)

अर्थशास्त्र क्या है ? (What is Economics) :—किसी विषय का रम्भ करने से पहले हर विद्यार्थी यह जानना चाहेगा कि वह विषय क्या स्त्र का अध्ययन शुरू करने वाला भी सबसे पहले यही जानना चाहेगा कि ! क्या ? मोटे तौर पर हम उससे यह कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र हमे के कोई व्यक्ति अपनी असंख्य आवश्यकताओं की पूर्ति अपने सीमित साधनों ता है। या, दूसरे शब्दों में अपने अल्प पदार्थों का सबसे अच्छा उपयोग रे। उदाहरण के लिए, एक आदमी के पास सीमित मात्रा में ही नक़द, ा, ज़मीन-जायदाद, मकान या दूसरी चीजें होती हैं। पर वह उनको कई तरह करना चाहता है। रुपए से वह अनेक वस्तुएँ खरीदना चाहता है पर वह ो एक साथ उतने रुपये से नही खरीद सकता। उसे यह तय करना पड़ता चुनाव' करना पड़ता है कि वह क्या खरीदे और क्या न खरीदे, इसी का नाम त्र है। संक्षेप में, अर्थशास्त्र हमें अपने थोड़े साधनों का सबसे अच्छा उपयोग है। किन्तु अर्थशास्त्र की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है।

क्या अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है ? (Is Economics a Science of ;h) : —पहले के अर्थशास्त्रज्ञों ने अर्थशास्त्र की परिभाषा की थी : "धन का "। किन्तु यह सही मत नही है। इस दृष्टि से तो सारा ध्यान धन पर ही हो जाता है, मानो धन ही सब कुछ हो। और जिस 'मनुष्य' के उपभोग के न-सामग्री आदि हैं उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। जब इस तरह गलती र्थशास्त्र को 'धन का विज्ञान' कहा जाने लगा तो रस्किन (Ruskin) और इल (Carlyle) जैसे लेखकों ने इसे 'कुबेर की पूजा' (Mammon Worship) कर इसकी निन्दा की। उन्होंने यह आरोप लगाया कि अर्थशास्त्र मनुष्य को छोटे का और लालची बनाता है।

किन्तु आज के अर्थशास्त्रियों का मत भिन्न है। वे अर्थशास्त्र को 'मनुष्य का ध्ययन' (study of man) मानते हैं, न कि धन का। इसमें शक नहीं कि धन आज भी है, क्योंकि वही मनुष्य की सारी आर्थिक हलचल का उद्देश्य है। किन्तु अब इस बात पर जोर दिया जाने लगा है कि धन केवल साधन है और ध्येय कुछ और है। ह ध्येय है 'मानव-कल्याण' (human welfare)। पहले तो मनुष्य है, धन सकी समस्याएँ बाद में आती हैं। अर्थशास्त्र की प्रसिद्ध परिभाषाओं में जो

नीचे दी हुई हैं यह बात स्पष्ट कही गई है :

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है, जो मनुष्य के धन उपजाने वाले और धन उपभोग करने वाले सामाजिक कार्यों एवं घटनाओं का अध्ययन करता है"।[1]

—(ऐली

मार्शल के अनुसार, "अर्थशास्त्र जीवन की साधारण दिनचर्या में मनुष्य के कार्यों का अध्ययन है : यह पता लगाता है कि मनुष्य कैसे अपनी रोजी कमाता है, और किस प्रकार उसका उपभोग करता है ····इस प्रकार, एक तरफ तो यह धन के अध्ययन है, और दूसरी ओर, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह मनुष्य के अध्ययन का एक अंग है।"[2]

—(मार्शल

जब हम यह कहते हैं कि अर्थशास्त्र जीवन की साधारण दिनचर्या का अध्ययन है, तो इसका मतलब यह हुआ कि यह हमें बताता है कि मनुष्य किस उपाय से अपनी जीविका पैदा करता है, और किस ढंग से रहता और खर्च करता है।

इस प्रकार, अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि आर्थिक अध्ययन का उद्देश्य मनुष्य है। किन्तु हम अपने अध्ययन को उसके उन कार्यों तक ही सीमित रखते हैं जो धन से सम्बन्धित हैं; अर्थात् वह धन कैसे उत्पन्न करता है, और किस ढंग से उसका उपयोग करता है। समाज में धन का अदल-बदल कैसे होता है और बंटवारा कैसे। दूसरे शब्दों में यह धन का उपभोग (consumption), उत्पादन (production), विनिमय (exchange) तथा वितरण (distribution) का अध्ययन है।

कभी-कभी अर्थशास्त्र की परिभाषा 'कीमत का विज्ञान' कह कर भी दी जाती है (Economics is sometimes defined as a science of wealth) : किन्तु यह बड़ी संकुचित (तंग) परिभाषा है। इसमें से ऐसी बहुत-सी बातें छूट जाती हैं जो आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। एक किसान की पत्नी घर पर काम करती है और कभी-कभी खेत में भी। उसके काम का कोई 'दाम' नहीं लगाता, पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उसके पति की कमाई उसके काम की बदौलत बढ़ती है, और उसके काम न करने से किसान की आय कुछ न कुछ अवश्य कम हो जाएगी।

ऊपर मार्शल द्वारा जो परिभाषा दी गई वह सबसे ज्यादा मानी जाती है। किन्तु हाल में राबिंस ने एक नई परिभाषा दी है, जिसे वह अधिक वैज्ञानिक परिभाषा कहते हैं। उसके अनुसार, "उद्देश्यों और जिनके वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं ऐसे सीमित साधनों के परस्पर सम्बन्ध से होने वाले मानव-व्यवहार का अध्ययन अर्थशास्त्र है।"[3]

---

1. "Economics is the science which treats of those social phenomena that are due to the wealth-getting and wealth-using activities of man." —(*Ely*)

2. "Economics is a study of man's actions in the ordinary businesses of life, it enquires how he gets his income and how he uses it.....Thus it is on one side a study of wealth and on the other, and more important side, a part of the study of man." —(*Marshall*)

3. "Economics studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses." —(*Robbins*)

यह परिभाषा निम्न तथ्यों पर टिकी हुई है :

(क) हमारी इच्छाएँ असीम हैं। हम उन सभी को किसी तरह पूरा नही कर सकते। यदि इच्छा सन्तुष्ट होती है तो दूसरी तुरन्त उठ खड़ी होती है। यदि हमारी इच्छाएँ सीमित होतीं तो कोई आर्थिक समस्या ही न उठती। अन्य पशुओं की भाँति हम भी अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करके बिलकुल सन्तुष्ट हो जाते।

(ख) हमारे पास अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के लिए जो साधन हैं, वे सीमित हैं। यदि साधन भी हमारी इच्छाओं के समान असीम होते तो भी कोई आर्थिक समस्या न पैदा होती। हम जब कभी और जहाँ कहीं चाहते किसी भी मात्रा में जो चाहते पा लेते, क्योंकि तमाम चीज़ें निर्मूल्य पदार्थ, बिना कीमत का माल, (free goods) होती। लेकिन वास्तव में ज्यादातर चीज़े जिनकी हमें इच्छा है, बिना दाम की नही है और उन्हे पाने के लिए हमें काम् करना पड़ता है।

(ग) इन अल्प साधनों के वैकल्पिक (alternative) उपयोग हैं। न केवल हमारे साधन अल्प हैं, बल्कि वे साधन ऐसे हैं कि उनमें से प्रत्येक को हम कई कामों में ला सकते हं। इस कारण उनकी और भी कमी पड़ जाती है। यदि किसी वस्तु या सेवा के केवल एक दो उपयोग ही हो सकते, तो भी आर्थिक समस्या न होती। क्योंकि जैसे ही उसका वह एक उपयोग हो चुकता, वह बिना कीमत की चीज़ (free goods) बन् जाती।

२. अर्थशास्त्र कला है अथवा विज्ञान ? (Is Economics a Science or an Art) :—जब कोई विद्यार्थी कालेज में प्रवेश करता है, उसे दो प्रकार के विषयों मे से चुनना पड़ता है। एक कला के विषय और दूसरे विज्ञान के। विज्ञान के विषयों में भौतिकी (Physics), रसायन (Chemistry) जीवन-विज्ञान (Biology) आदि हैं। और कला के विषयों में इतिहास (History), अर्थशास्त्र (Economics), दर्शन (Philosophy), संस्कृत आदि हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार अर्थशास्त्र 'कला' के वर्ग में पड़ता है। किन्तु यही सही वर्गीकरण नही है। इसके अनुसार हम निश्चय नहीं कर सकते कि अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान।

पहले हम यह समझ लें कि वास्तव में विज्ञान और कला शब्दों के अर्थ क्या हैं। विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान राशि (Systematised body of knowledge) का नाम है। ज्ञान की अनेक शाखाएँ हैं, जैसे, इतिहास, भूगोल, और गणित। प्रत्येक का अपना-अपना विषय है। ज्ञान की ऐसी शाखा जिसमें तथ्यों (facts) का संग्रह और विश्लेषण (analysis) इस प्रकार किया जाय कि हम प्रत्येक कार्य (effect) का कारण (cause) पता लगा सकें और किस बात का आगे क्या परिणाम (result) होगा यह बता सके, विज्ञान कहलाती है। दूसरे शब्दों में जब तथ्यों की व्याख्या (explanation) करने के लिए नियम (laws) पता लग जाते हैं तब विज्ञान का रूप आ जाता है। तथ्य तो दाने हैं और सिर्फ दानों ही से माला नही बनती। जब उन दानों में धागा पिरोया जाता है तब वे माला बन जाते हैं। नियम या सार्वभौमिक सिद्धान्त (universal principle) वह धागा है—सूत्र है—जो विज्ञान के तथ्यों को नियमबद्ध करता है, उन्हें चलाता है। विज्ञान ऐसे साधारण सिद्धान्त (general principles)

निर्धारित करता है जो इस प्रकार व्याख्या करके हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

अर्थशास्त्र के ज्ञान में इधर काफी वृद्धि हुई है। अब यह ऐसे दर्जे पर पहुँच गया है कि इसके तथ्यों का भी संग्रह करके सावधानी से उनका विश्लेषण कर लिया गया है। अधिकतर तथ्यों की व्याख्या करने के लिए सार्वभौमिक नियम तय हो गए हैं। और अर्थशास्त्र का अध्ययन इतना व्यवस्थित हो गया है कि अब उसको विज्ञान कहलाने का अधिकार है।

किन्तु अर्थशास्त्र कला भी है। कला कुछ फ़ारमूले (formulae) या विचार नियत करती है जिनसे उन लोगों को रास्ता दीखता है जो किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, देश से ग़रीबी दूर करना अथवा एक एकड़ भूमि से अधिकाधिक गेहूँ उपजाना। बहुत से अंग्रेज अर्थशास्त्रज्ञ यह समझते हैं कि अर्थशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान (pure science) है, कला बिल्कुल नहीं। उनका कहना है कि इसका काम सिर्फ खोज करना और व्याख्या करना है, न कि व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता करना। किन्तु अन्य बहुतों की राय में, अर्थशास्त्र कला भी है। निस्सन्देह यह हमारी आज की बहुत-सी व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता करता है। केवल सिद्धान्त या कोरी कल्पना की चीज यह नहीं है। इसका व्यावहारिक उपयोग बहुत है। यह प्रकाश भी देता है और फल भी।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थशास्त्र विज्ञान भी है और कला भी।

३. अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री (Subject-matter of Economics) :— हमने अभी देखा है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। अन्य विज्ञानों की भाँति इसका भी अपना विषय है। यह किस चीज़ का अध्ययन करता है? विद्यार्थी गणित, इतिहास, भूगोल आदि से तो परिचित है, किन्तु अर्थशास्त्र उसके लिए नया है और वह यह नहीं बता सकता है कि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री क्या है।

अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन और कार्य का अध्ययन करता है; किन्तु सारे जीवन का नहीं बल्कि उसके केवल एक विशेष पहलू का। अर्थशास्त्र यह अध्ययन नहीं करता कि मनुष्य कैसे पैदा होता, बढ़ता और मरता है। यह काम एक दूसरे विज्ञान, जीव-विज्ञान (Biology), का है। अर्थशास्त्र को इससे मतलब नहीं कि मानव-शरीर की रचना कैसे हुई और शरीर किस प्रकार कार्य करता है। यह काम शरीर-विज्ञान (Physiology) का है। अर्थशास्त्र यह नहीं बताता कि मनुष्य किस प्रकार सोचता है। मनुष्य के मन और विचार की प्रक्रिया का अध्ययन मनोविज्ञान (Psychology) करता है। अर्थशास्त्र तो हमें सिर्फ इतना बताता है कि मनुष्य अपने सीमित तथा अल्प साधनों का उपयोग अपनी असीमित इच्छाओं की संतुष्टि के लिए किस प्रकार करता है।

हम अपने चारों ओर नज़र दौड़ाएं तो हमें खेत में किसान, कारखाने में मज़दूर, मेज़ पर क्लर्क, मरीज़ों के साथ डाक्टर, विद्यार्थियों के साथ शिक्षक आदि अपना-अपना काम करते मिलेंगे। यह सब ऐसे काम में लगे हुए हैं जिसे हम आर्थिक कार्य कह सकते हैं।

मानव-जीवन के इस अंग के साथ अर्थशास्त्र का प्रयोजन है। यहाँ हम उसे

पैसा कमाने में लगा हुआ देखते हैं। लेकिन वह पैसा पैसे के लिए नहीं चाहता। उसे पैसे की जरूरत पडती है अपनी जरूरत पूरी करने के लिए।

सारी आर्थिक क्रियाओं का अभिप्राय है मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए सामान खरीदना। न पैसा स्वयं कोई ध्येय है, न माल ही, उनकी जरूरत मानव-कल्याण की वृद्धि के लिए पड़ती है।

आदमी खाना, कपड़ा और आसरा ढूंढता है। इन तीनों के लिए ही उसके पास पैसा होना चाहिए। पैसा पाने के लिए उसे श्रम करना जरूरी है। उसे कही तो काम करना पड़ेगा, इस प्रयास से ही फल मिलता है, सन्तुष्टि मिलती है। आवश्यकताएं—प्रयास—सन्तुष्टि; यह क्रम अर्थशास्त्र के विषय का निचोड़ है।

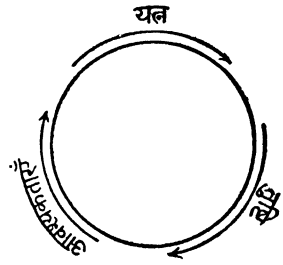

आदिम समाज में आवश्यकताओं, प्रयास और सन्तुष्टि में सीधा और निकट सम्बन्ध था। आदमी को भूख लगी, उसने कोई फल-फूल तोड़, खा लिया और तुष्टि हो गई। लेकिन आधुनिक समाज में यह इतना सीधा सादा सवाल नहीं है। यहां एक आदमी जिस चीज का उत्पादन करता है उसका उपभोग स्वयं नहीं करता और जिन चीजों का उपभोग करता है, उन्हें स्वयं पैदा नहीं करता। मोची जूते बनाता है, अपने बनाए सारे जूतों को वह आप नहीं पहनता, पहन सकता भी नहीं। वह उन्हें रुपयों के बदले में बेच देता है और उन रुपयों से अपनी जरूरत की चीजें खरीदता है। यह क्रिया—जिन चीजों की हमें जरूरत नहीं है उन्हे बेचना और जिनकी जरूरत है उन्हें खरीदना—विनिमय (exchange) कहलाती है। आज आवश्यकताओं, प्रयत्नों और सन्तुष्टि के बीच विनिमय की प्रक्रिया आ जाती है।

आजकल हमारी आवश्यकता की अधिकतर वस्तुएँ कारखानों मे बनती हैं। उन्हें बनाने के लिए मजदूर अपनी मेहनत देता है, जमीदार अपनी जमीन, पूंजीपति अपनी पूंजी और व्यवसायी इन सबको संगठित करता है। ये सब द्रव्य के रूप में अपना-अपना पुरस्कार पाते हैं। मजदूर अपनी मजदूरी, जमींदार किराया और पूंजीपति सूद। उद्यमी (entrepreneur) का पुरस्कार उसका लाभ (profit) है। अर्थशास्त्र यह अध्ययन करता है कि यह अलग-अलग आमदनी—मजदूरी, लगान, सूद और लाभ—कैसे निश्चित होती है। यह प्रक्रिया वितरण (distribution) कहलाती है। विनिमय के ही समान, वितरण भी आधुनिक समाज में प्रयास और सन्तुष्टि के बीच में आता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री है : उपभोग (consumption), अर्थात् इच्छाओं की सन्तुष्टि; उत्पादन (production), अर्थात पदार्थों का उत्पादन, या अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए चेष्टा; विनिमय (exchange) और उसकी पद्धति या व्यवस्था, अर्थात् नकद या उधार, चीजों का क्रय-विक्रय, और अन्त में, वितरण (distribution), यानी समस्त उत्पादन का मजदूरों, जमींदारों, पूंजीपतियों और संगठन करने वाले व्यवसायियों में बंटवारा।

यह वास्तव में अत्यन्त व्यापक विषय है।

४. **इच्छाओं का बाहुल्य और साधनों की दुर्लभता** (Multiplicity of Wants and Scarcity of Means) :—अर्थशास्त्र का समूचा ढाँचा इन दो आधारों पर खड़ा है :—

(क) **इच्छाओं का बाहुल्य** : यह तथ्य मनुष्य के स्वभाव की विशेषता है; और

(ख) **साधनों की दुर्लभता** : यह मनुष्य की परिस्थितियों से सम्बन्धित है।

अब हम इन दो बुनियादी तथ्यों का अध्ययन करें :

मानवीय इच्छाओं का बाहुल्य : अन्य पशुओं के समान मनुष्य की भी कुछ शारीरिक एवं प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। ज़िन्दा रहने के लिए उसे कम से कम कुछ खाना तो चाहिए ही। सरदी गरमी से अपने को बचाने के लिए उसके पास कुछ कपड़े भी होने जरूरी हैं। सर छिपाने के लिए कहीं न कहीं अच्छी-बुरी जगह भी आवश्यक है। इन चीजों के बिना तो इन्सान ज्यादा दिन ज़िन्दा नहीं रह सकता। इसलिए इन्हें जीवन की आवश्यकताएं (necessaries of life) कहते हैं।

किन्तु मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ है। उसके पास मस्तिष्क है और वह सोच सकता है। वह केवल अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही सन्तुष्ट नहीं होता। गाय को देखो तो वह जब पेट भर कर घास खा लेगी तो पास के तालाब में अपनी प्यास बुझाकर, पेड़ की छाया में आराम से बैठकर जुगाली करने लगेगी। उस समय वह पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होती है। उसे और कुछ नही चाहिए। पर मनुष्य की बात और है। सिर्फ पेट भर कर वह सन्तुष्ट नहीं होता। जो चीज़ उसके पास नहीं होती उसी के पीछे वह दौड़ता है। वह केवल जीना ही नहीं चाहता वरन् ढंग से जीवित रहना चाहता है। वह सौन्दर्य और संस्कृति की वस्तुएँ पाना चाहता है। जब उसकी भूख-प्यास मिट जाती है तब वह जीवन में बाहुल्य एवं नवीनता लाने की चेष्टा करता है। आदमी का खाना देखो—उसमें सब्ज़ी, दाल, मसाला, चाय, काफी, दूध, मछली और न जाने क्या-क्या मिलेगा। वह खाने को हर सम्भव उपाय से स्वादिष्ट बनाने की कोशिश करता है। गरीब से गरीब आदमी भी नमकीन और मीठी लस्सी में चुनाव करता है कि उसे कौनसी रुचेगी।

सच तो यह है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी निर्धन क्यों न हो, भोजन करते समय केवल पेट भरने की नहीं सोचता। अपने साधनों और अपनी रुचि के अनुकूल वह उसमें मज़ा लेना चाहता है। और एक बार इस मार्ग पर चल पड़ने पर इसका कहीं अन्त नहीं है।

यही बात मनुष्य के कपड़ों के बारे में भी है। वह उनके फैशन के बारे में बड़ा ध्यान रखता है। सभ्य आदमी की पोशाक सिर्फ इतनी ही नहीं होती कि उसका शरीर ढक जाय। निश्चय ही टाई न होने के कारण कोई मरेगा नहीं। लेकिन कपड़े पहनते वक्त अपने को सजाने की इच्छा बलवती होती है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे क्या कुछ नहीं चाहिए!

आवास अथवा आश्रय में भी मनुष्य का अहंकार काम करता है। कोई भी आदमी, गरीब या अमीर, कोरी रहने की जगह से सन्तुष्ट न होगा। हर कोशिश से

वह मकान को आरामदेह और खूबसूरत बनाएगा। और जब कोई व्यक्ति आराम और दिखावे की तरफ दौडता है तो उसे पूर्ण सन्तोष कभी नही मिल सकता।

फिर आदमी को सिर्फ खाना, कपडा और मकान ही नही चाहिए। उसे और भी कितनी ही चीजों की जरूरत है—अखबार व किताबें, फर्नीचर, रेडियो, दवादारु, मोटर, और भी बहुत कुछ। तब इन चीजों को बनाने के लिए उसे मशीनों की आवश्यकता पडती है। वास्तव मे मनुष्य की आवश्यकताओं का कोई अन्त नही है। यहाँ तक कि वह अपनी प्राथमिक जरूरतों को तो भूल-सा जाता है और एक के बाद दूसरी वस्तुओं की इच्छा करता रहता है। आदमी का मन ऐसा बना है कि जब उसकी एक इच्छा पूरी होती है दूसरी उसके स्थान पर आ जाती है।

किसी भी क्षण, यह नही कहा जा सकता कि मनुष्य पूर्णतया सन्तुष्ट है और उसे और कुछ नही चाहिए। उसे ऐसा दुःख सताता है जिसे हम कभी-कभी 'दैवी असन्तोष' कहते है। वह सदैव स्वप्नों और आदर्शों की खोज मे रहता है। संक्षेप में वह सन्तुष्ट होने वाला जीव नहीं है। हमारे सामने मनुष्य की आवश्यकताओं के बाहुल्य का प्रश्न रहता है।

५. **साधनों की दुर्लभता** (Scarcity of Means) :—यद्यपि मनुष्य की आवश्यकताएँ अगणित हैं और अपनी विभिन्नता मे आश्चर्यजनक हैं, पर उनकी सन्तुष्टि के साधन सीमित हैं। निस्सन्देह, प्रकृति हमें कुछ पदार्थ, जैसे हवा और धूप, बिना मूल्य और असीमित रूप में प्रदान करती है। किन्तु प्रकृति के इन मुफ्त उपहारो से ही आदमी का काम नही चलता। उसे और भी बहुत सी चीजे चाहिएँ जिनमें से अधिकतर दुर्लभ हैं। इन्हें पाने के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ता है; यदि एक को वे चीजे मिल जाती हैं तो किसी दूसरे को उनसे वंचित रहना पड़ता है। यदि हवा और धूप की तरह सभी चीजें मुफ्त होती तो कोई आर्थिक समस्या पैदा न होती। उदाहरण के लिए, अगर दूध और घी की नदियाँ बहती होती तो पैसा देने का सवाल न उठता। लेकिन स्थिति यह है कि हमारे चारो ओर दुर्लभता फैली हुई है।

दुर्लभता* का अर्थ निरपेक्ष दुर्लभता नहीं है। यह दुर्लभता केवल हमारी आवश्यकताओं के मुकाबले में है; सापेक्ष है। कोई वस्तु, जैसे विष, चाहे बहुत कम मात्रा मे मिलती हो, किन्तु यदि उसे कोई नहीं चाहता तो वह वस्तु दुर्लभ नहीं कही जाएगी। इसी प्रकार, किसी विशेष वस्तु का बाहुल्य हो सकता है, जैसे काश्मीर में फलों का। किन्तु चूंकि वे सब लोगों की आवश्यकता पूरी करने के लिए काफी नहीं हैं, उन्हें दुर्लभ कहना पड़ेगा। हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन इसी माने में दुर्लभ हैं कि वे हमारी अपेक्षाओं से कम हैं।

आवश्यकताओं का बाहुल्य और साधनों की दुर्लभता दो नीव के पत्थर हैं जिन पर अर्थशास्त्र का भवन खड़ा है। किन्तु अर्थशास्त्र का क्षेत्र समझने के लिए कुछ और बातों की भी चर्चा करनी आवश्यक है।

---

*दुर्लभ का अर्थ साधारण बोल-चाल में दुष्प्राप्य (rare) से लिया जाता है। यहां यह केवल आवश्यकताओं की अपेक्षा अल्प के अर्थ में प्रयोग होता है। Scarcity शब्द का अर्थ आवश्यकतानुसार 'अल्प' अथवा 'दुर्लभ' लिया गया है।

'क्षेत्र' का अर्थ है अध्ययन का दायरा। हमें यह निश्चय करना है कि अर्थशास्त्र में किन-किन बातों का अध्ययन शामिल है और कौनसी बाते इसके क्षेत्र से बाहर हैं। अर्थशास्त्र के क्षेत्र को हम निम्न शीर्षकों मे बाँट कर समझ सकते हैं :—

(क) **इसकी विषय-सामग्री** : हमने अभी देखा है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करता है जो धन से सम्बद्ध हैं। यह मनुष्य के जीवन की साधारण क्रियाओं का अध्ययन है कि मनुष्य अपने सीमित साधनों का अपनी असीम इच्छाओं की पूर्ति के लिए कैसे उपयोग करता है। अर्थशास्त्र अध्ययन करता है कि धन का उपभोग, उत्पादन, विनिमय एवं वितरण कैसे किया जाता है। विनिमय में वस्तुओं के मूल्य का तय होना द्रव्य, बैंकिग, अन्तराष्ट्रीय व्यापार, वैदेशिक विनिमय (foreign exchange) आदि शामिल हैं। वितरण में हम किराया, मजदूरी, सूद और लाभ के निर्धारण का अध्ययन करते हैं।

(ख) **सामाजिक विज्ञान** : हमने यह भी देखा कि अर्थशास्त्र मनुष्यों का अध्ययन करता है। किन्तु यह उन अकेले व्यक्तियों का अध्ययन नही करता जो जंगलों या गुफाओं में दुनिया से अलग रहते है। यह तो संगठित समाज मे रहने वाले मनुष्य का अध्ययन करता है जो दूसरों के साथ अपने पदार्थो का विनिमय करता है, उनको अपने कार्यो से प्रभावित करता है और उनके कार्यो से स्वयं प्रभावित होता है। वह उन पर निर्भर है और वे उस पर। अर्थशास्त्र, इस प्रकार से, एक सामाजिक विज्ञान है।

(ग) **कला या विज्ञान**—हमने पहले ही तय किया था कि अर्थशास्त्र विज्ञान भी है और कला भी। यह न केवल इस बात को समझाता है कि कुछ बाते कैसे होती हैं, बल्कि यह भी बताता है कि व्यावहारिक समस्याएँ कैसे सुलझाई जाएँ।

(घ) **वास्तविक अथवा आदर्श विज्ञान**—वास्तविक विज्ञान (positive science) वस्तुओं और घटनाओं के 'क्यों' और 'किस कारण से' की व्याख्या करता करता है, अर्थात् उनका कार्य-कारण सम्बन्ध बताता है। दूसरी ओर, आदर्शात्मक विज्ञान (normative science) उनके "क्या चाहिए", अच्छाई और बुराई, भले-बुरे की चर्चा करता है।

अर्थशास्त्रियों के इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। हमारा मत यह है कि अर्थशास्त्र निश्चयात्मक एवं आदर्शात्मक विज्ञान, दोनो है। यह न केवल हमे यह बताता है कि कोई बात क्यों होती है, यह इतना भी बताता है कि वह बात उचित है अथवा नहीं। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि ससार में मुट्ठी भर आदमी बड़े धनवान हैं जबकि तमाम जनता बडी गरीब है। अर्थशास्त्र को न केवल धन के इस असमान वितरण के कारणों की व्याख्या करनी चाहिए, बल्कि यह भी बताना चाहिए कि यह वितरण अच्छा है या बुरा। यह कह सकता है कि धन का समान वितरण होना चाहिए। इससे आगे भी, इसे यह भी सुझाव देना चाहिए कि समान वितरण करने के उपाय क्या हैं।

तब हम अर्थशास्त्र का क्षेत्र संक्षेप में यह बता सकते हैं कि यह सामाजिक दृष्टिकोण से, धन से सम्बन्ध रखने वाली मानव-क्रियाओं का अध्ययन करता है। ये

केवल खोज और व्याख्या ही नहीं करता बल्कि समर्थन एवं निन्दा भी करता है। यह न केवल तथ्यों की जाँच और सच्चाई की खोज करता है, बल्कि जीवन के नियम भी निर्धारित करता है और उचित और अनुचित के बारे में अपना फैसला देता है।

६. **आर्थिक नियम** (Economic Laws):—अन्य विज्ञानों की भाँति, अर्थशास्त्र के भी अपने सुनिश्चित सिद्धान्त या नियम हैं। "नियम" का अर्थ यहाँ कोई वैधानिक नियम या सरकारी कानून नहीं है जिसका पालन करना आवश्यक है वरना सज़ा मिलेगी। न यह नैतिक नियम है जैसे कि, 'अपने माता-पिता का आदर करो'। नैतिक नियम जनमत पर आश्रित होता है, और उसे तोडने वाले को दण्ड नहीं मिलता।

अर्थशास्त्र के नियम का अर्थ है केवल वह सिद्धान्त या सामान्यीकरण (generalisation) जिसके अनुकूल कार्य करने की प्रवृत्ति ही आर्थिक क्रियाओं में लगे लोगों में साधारणतया पाई जाती है।

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मनुष्य से सम्बन्धित है और मनुष्य के कार्य हमेशा अनिश्चित होते हैं। मनुष्य की अपनी एक इच्छा है, और उसके कार्य किसी बंधे हुए नियम के अनुसार नही होते। हम इतना ही कह सकते हैं कि अमुक परिस्थितियों में साधारणतया मनुष्य इस प्रकार कार्य करेगा—ऐसी आशा है। किन्तु यह नहीं कि उसे ऐसे ही करना पड़ेगा। इसीलिए हम कहते हैं कि आर्थिक नियम केवल एक प्रवृत्ति का वर्णन (statement of a tendency) है।

किसी आर्थिक नियम की सार्थकता अनेक बाहरी कारणों पर निर्भर है। यदि दिल्ली की अपेक्षा बम्बई में वेतन अधिक है तो आर्थिक नियम कहता है कि मजदूर दिल्ली से बम्बई चले जाएंगे। किन्तु वास्तव में उनका जाना अन्य बहुत-सी बातों पर निर्भर है। वे यह भी सोचेंगे कि बम्बई में कीमतें कितनी हैं, वहाँ रहने की जगह भी मिलेगी या नही, वहाँ उनकी मदद करने या सलाह देने के लिए मित्र हैं या नहीं, आदि। यदि यह बातें सन्तोषप्रद हैं तो वे जाएंगे। इसलिए आर्थिक नियम कुछ अवस्थाओं में ही सच और उन्हें मानकर बनाए गए होते (conditional and hypothetical) हैं। उनके साथ यह शर्त लगानी पड़ती है कि यदि अन्य बातें स्थिर रहें (other things being equal)।

इस तरह, अर्थशास्त्र भौतिकी या गणित के समान, सुनिश्चित विज्ञान (exact science) नही है। सामाजिक और मानवीय कारणों से आर्थिक नियम भौतिक नियमों की अपेक्षा कम सुनिश्चित रह जाते हैं। इसी कारण मार्शल ने आर्थिक नियमों की तुलना ज्वार के उलझे हुए नियमों से की थी न कि गुरुत्वाकर्षण के अटल नियम से।

तमाम सामाजिक विज्ञानों में से, फिर भी, अर्थशास्त्र सबसे अधिक सुनिश्चित या सूक्ष्म (exact) है, क्योंकि किसी आर्थिक प्रयोजन (economic motive) की शक्ति द्रव्य में मापी जा सकती है। अन्य सामाजिक विज्ञानों के पास कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है।

७. **अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध** (Relation of Economics

with other Sciences):—अर्थशास्त्र का लगभग सभी अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध है। मनुष्य ने सभी विज्ञानों का विकास मानवता के कल्याण के लिए किया है। मानवीय कल्याण ही इसका मुख्य उद्देश्य होने के कारण अर्थशास्त्र अपने अध्ययन में अन्य विज्ञानों का स्वतन्त्रता से उपयोग करता है। अपने क्षेत्र में यह अन्य विज्ञानों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों का उपयोग करता है।

किन्तु सामाजिक विज्ञानों से तो इसका सम्बन्ध अत्यन्त निकट का है। इन दिनों अर्थशास्त्र और राजनीति का एक दूसरे से बहुत सम्पर्क है। सभी राजनीतिक घटनाओं की जड़ में आर्थिक कारण होते हैं। सभी राजनीतिक समस्याएँ वास्तव में आर्थिक ही हैं। राजनीतिक संस्थाएँ आर्थिक दशाओं पर प्रभाव डालती हैं, और उनके प्रभाव में आती भी हैं।

अर्थशास्त्र का इतिहास से भी सम्बन्ध है। अपने समय की आर्थिक समस्याओं की पृष्ठभूमि समझने के लिए यह इतिहास से भी लाभ उठाता है। आर्थिक नियमों के तय करने और जांचने में भी इतिहास सहायता देता है। किन्तु मनुष्य का आर्थिक विकास बताए बिना इतिहास अधूरा है। इस प्रकार

बिना इतिहास के अर्थशास्त्र का आधार नहीं है,
बिना अर्थशास्त्र के इतिहास का कोई फल नहीं।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethics) भी एक दूसरे से सम्बन्धित है। नीतिशास्त्र बताता है कि क्या होना चाहिए। वह देखता है कि कोई वस्तु उचित है या अनुचित। और नैतिक एवं आचार-सम्बन्धी विचार सभी आर्थिक क्रिया पर शासन करते हैं। परन्तु अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री (जैसे राबिन्स) कहते हैं कि अर्थशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है और विशुद्ध विज्ञान होने के नाते इसे उचित-अनुचित से कोई सरोकार नहीं। वे कहते हैं कि उद्देश्यों की विवेचना इसके क्षेत्र से बाहर है। यह कोई निर्णय नहीं देता कि उद्देश्य भले हैं या बुरे। इसका वास्ता केवल साधनों से है। किन्तु हमारे विचार से अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता। नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र का सहचर है। अर्थशास्त्रियों से दिनो-दिन आर्थिक मामलों पर अधिकाधिक राय पूछी जाने लगी है और उन्हें इस कर्त्तव्य से पीछे न हटना चाहिए। अर्थशास्त्र वास्तविक और आदर्शात्मक, दोनों प्रकार का विज्ञान है।

८. **अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व** :—आजकल अर्थशास्त्र ज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण शाखाओं में गिना जाता है। इसका अध्ययन करने वालों की संख्या हर वर्ष बढ़ रही है। और यह होना भी चाहिए क्योंकि इसके अध्ययन से अनेक लाभ हैं। संक्षेप में वे लाभ निम्नलिखित हैं :—

(क) अर्थशास्त्र हमें आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाले मानव-व्यवहार के बारे में बहुत-से रोचक और शिक्षाप्रद तथ्य बताता है। आर्थिक मामलों मे मनुष्य का मन किस प्रकार काम करता है यह स्पष्ट होता है। हम मनुष्य को प्रेरणा देने वाले विभिन्न प्रयोजनों को समझने लगते हैं। यह अत्यन्त आकर्षक एवं लाभदायक अध्ययन है।

(ख) अर्थशास्त्र से हमारी बुद्धि का शिक्षण होता है उसी प्रकार जैसे किसी

भी विज्ञान के विचार से। इससे हममें स्पष्ट सोचने और सही निर्णय करने की योग्यता उत्पन्न होती है। यह एक लाभप्रद मानसिक व्यायाम है। अर्थशास्त्र का चतुर विद्यार्थी जनता को धोखा देने वाले राजनीतिज्ञों की चालों को सरलता से समझ सकता है। वह सस्ते अखबारी प्रचार से बहकेगा नहीं। यह सच है कि 'अर्थशास्त्र कोई पारस पत्थर नहीं है जो जिसे छुए उसे सोना कर दे।' किन्तु कम से कम सोना और अन्य निम्न धातुओं में पहचान अवश्य सिखाता है।

(ग) अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें यह समझने में मदद देता है कि आज की पेचीदा अर्थ-व्यवस्था बिना किसी केन्द्रीय नियंत्रण के लगभग अपने आप ही किस प्रकार चलती है। प्रत्येक आर्थिक गड़बड़ी किसी न किसी तरह स्वयं ही सुधर जाती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी एक वस्तु की कमी हो जाय तो उसकी कीमत बढ़ जाएगी। इससे अनावश्यक माँग घट कर पूर्ति के बराबर ही आ जाएगी।

(घ) अर्थशास्त्र हमें मनुष्य के परस्पर एक दूसरे पर निर्भर होने का महत्त्व-पूर्ण पाठ पढ़ाता है। हम यह जान जाते हैं कि कैसे अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए हम दूसरों पर आश्रित हैं और कैसे दूसरे हम पर। यह स्पष्टतया एक काम करने वाले का दूसरे से, एक उद्योग का दूसरे उद्योग से, और एक देश का दूसरे से, नाता हमारे मस्तिष्क में बैठा देता है। यह ज्ञान हमारी अपनी दायित्व की भावना को सुदृढ़ करता है और इस प्रकार बेहतर कार्य और अधिक सुखी समाज की ओर ले जाता है।

(ङ) अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें उपयोगी और बुद्धिमान नागरिक बनाता है। हमारे समय की अधिकांश समस्याएँ मूलतः आर्थिक हैं। केवल अर्थशास्त्र ही हमें कृषि, व्यापार, उद्योग आदि की समस्याओं को सुलझाने के लिए सही राजकीय नीतियाँ तय करने और ढालने में अर्थशास्त्र हमारी सहायता करता है। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी सरलता से करारोपण (taxation), चलन-मुद्रा (currency), विनिमय (exchange) आदि के प्रश्नों को समझता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें बुद्धिमान, चतुर और उपयोगी नागरिक बनाता है।

(च) इसके अतिरिक्त, अर्थशास्त्र का दिया हुआ ज्ञान हमारे जीवन में अत्यन्त व्यावहारिक मूल्य रखता है। अर्थशास्त्र का विज्ञान जीवन से सम्बन्धित है और घनिष्ठतम रूप में। अधिकतर सरकारी महकमों में अर्थशास्त्र का ज्ञान उपयोगी सिद्ध होता है और कभी-कभी आवश्यक समझा जाता है।

व्यवसायियों, उद्योगपतियों, बैंकाधिपतियों और सार्वजनिक नेताओं के लिए अर्थशास्त्र विशेषकर उपयोगी है क्योंकि यह उन्हें उपयोगी तथ्यों का भरपूर भण्डार प्रदान करता है। यह उन्हें कोई शैल्पिक परामर्श तो नहीं दे पाता, किन्तु उन्हें त्रुटियों से बचने में सहायता देता है।

(छ) अन्त में, यह अर्थशास्त्र ही है जिसकी ओर हम अपनी गरीबी की समस्या सुलझाने के लिए देखते हैं। "अर्थशास्त्र स्वयं कोई दूध-दही की नदियाँ नहीं बहा देगा, किन्तु वह उस सुखी समाज को लाने में, उसका निर्माण करने में और उससे पहले जो कुछ गिराना हो उसे नष्ट करने में, यह एक आवश्यक औज़ार है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन न केवल साधारण जीवन में उपयोगी है, बल्कि यह मानसिक नियंत्रण का भी श्रेष्ठ उपकरण है।

९. **आर्थिक अध्ययन के विभाग** (Divisions of Economic Study):—अर्थशास्त्र का अध्ययन चार मुख्य विभागों या खण्डों में बाँटा गया है: उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण।

उपभोग में हम मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताओं और उनकी सन्तुष्टि के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। उपयोगिता के घटने का नियम (Law of Diminishing Utility), प्रतिस्थापन (तबदीली) का नियम (Law of Substitution) पारिवारिक व्यय के नियम और उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) के नियम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। हम माँग के स्वभाव का भी अध्ययन करते हैं कि यह लोचदार (elastic) है या बेलोचदार (inelastic), और माँग के नियम का भी।

उत्पादन में, हम यह अध्ययन करते हैं कि मनुष्य अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए क्या प्रयत्न करता है और कैसे धन उत्पन्न करता है। खास तौर पर, हम यह देखते हैं कि उत्पादन के चार साधन, भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन, कैसे एक दूसरे से सहयोग करते हैं और मिलकर उत्पादन का कार्य पूरा करते हैं। हम इनमें से प्रत्येक साधन का अध्ययन करते हैं, उसके महत्त्व का और उसकी कार्य-क्षमता की परिस्थितियों का।

अर्थशास्त्र के तीसरे विभाग विनिमय में, हम यह अध्ययन करते हैं कि खरीदना-बेचना कैसे होता है और माँग और पूर्ति की शक्तियों की अन्तर्क्रिया के द्वारा कीमतें किस तरह निश्चित होती हैं।

चौथे विभाग, वितरण में चारों साधनों, भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन को अपनी-अपनी आमदनी—जो किराया, मजदूरी, ब्याज और लाभ के रूप में मिलती है उसका अध्ययन किया जाता है।

अर्थशास्त्र को आम तौर पर इन ही चार विभागों में बाँटा जाता है किन्तु इसके साथ-साथ हमें सार्वजनिक वित्त (Public Finance) की समस्याओं का भी अध्ययन करना पड़ता है। इसमें हम यह चर्चा करते हैं कि सरकारों को पैसा कैसे मिलता है और वे कैसे उसे खर्च करती हैं। इस प्रकार से इसमें कर लगाने (taxation) और उससे सम्बन्धित प्रश्न आ जाते हैं।

१०. **अर्थशास्त्र के विभागों का अन्तर्सम्बन्ध** (Inter-relation of the Departments of Economics):—अर्थशास्त्र के चारों विभाग—उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण, अलग-अलग हवा-बन्द डब्बों में बन्द नहीं हैं। समूचे विषय का चार भागों में यह विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिए ही है। वास्तव में समूचा विषय एक है और यह विभाग एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। हम नीचे यही देखेंगे।

उपभोग और उत्पादन : इन दोनों का निकट सम्बन्ध स्पष्ट है। उपभोक्ता की उपभोग की इच्छा ही उत्पादन का कारण है। किन्तु उपभोग स्वयं इस पर निर्भर

है कि कितना व किस प्रकार का उत्पादन हुआ है। जब तक उत्पादन न हो, उपभोग नहीं हो सकता। इस तरह उपभोग और उत्पादन परस्पर आश्रित हैं।

उपभोग और विनिमय : आजकल विशिष्टीकरण (Specialisation) का युग है। लोग जो पैदा करते हैं उसका उपभोग नहीं करते—कम से कम सारे का तो नहीं—और वे जिन वतुस्रों का उपभोग करते हैं उसका स्वयं उत्पादन नहीं करते। इसलिये यदि उपभोक्ता अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि करना चाहें तो विनिमय आवश्यक है। इस प्रकार उपभोग विनिमय पर निर्भर है। किंतु यदि उपभोक्ता न हो तो विनिमय की जरूरत ही नहीं पड़ती। इसलिए विनिमय और उपभोग दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं।

उपभोग और वितरण : उपभोग वितरण से भी सम्बन्धित है। वितरण में हम तय करते हैं कि उत्पादन के विभिन्न साधनों को राष्ट्रीय आय में से कितना-कितना हिस्सा मिलता है। अब, यह स्पष्ट है कि यदि उपभोक्ताओं को जीवन-निर्वाह की वस्तुएँ ठीक से मिलें तो वे अपने काम में अधिक निपुण बनेंगे और उत्पादित धन में से अधिक हिस्सा पाने के अधिकारी होंगे। इस प्रकार उपभोग वितरण पर प्रभाव डालता है।

पर दूसरी ओर, समाज में धन का बंटवारा किस हिसाब से होता है इस पर उपभोग का स्वरूप निर्भर है। आदमी क्या उपभोग करता है यह उसकी आय पर आश्रित है। यदि उसका वेतन कम है तो उसका उपभोग भी कम होगा ; उसका जीवन-स्तर भी नीचा होगा।

आजकल वितरण की समस्या उतनी ही महत्त्वपूर्ण समझी जाती है जितनी उत्पादन की। शायद उससे भी अधिक। जनता का वास्तविक हित और कल्याण देश में धन के कुल उत्पादन पर इतना निर्भर नहीं है जितना इस पर कि उस धन का वितरण कैसे होता है, अर्थात् इस पर कि समाज के विभिन्न अगों को, अलग-अलग वर्गों को कितना-कितना भाग प्राप्त होता है।

उत्पादन और विनिमय : उत्पादन विनिमय के बिना अधूरा है। उत्पादित वस्तुएँ उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचनी चाहिएँ और यह विनिमय के बिना असम्भव है। बाजार और उनमें चलने वाली क्रय-विक्रय की व्यवस्था उत्पादन को प्रोत्साहन देती है किन्तु विनिमय भी उत्पादन पर निर्भर है। जब तक माल का उत्पादन न हो, विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता।

उत्पादन और वितरण : जितना अधिक किसी देश में उत्पादन होगा, उतना ही अधिक उसमें उत्पादन के प्रत्येक साधन का भाग होगा। वितरण का रूप भी इसलिए उत्पादन के कुल विस्तार पर निर्भर है। माल का पहले उत्पादन होना चाहिए, तभी उसका वितरण होना सम्भव है। दूसरी ओर, उत्पादन भी वितरण पर निर्भर है। वितरण का रूप और उसकी रीति किसी समूह या वर्ग की आय नियत करती है। एक व्यक्ति की आय से उसकी कार्यक्षमता और निपुणता तय होती है। यदि श्रमिकों को अधिक वेतन दिया जाय, तो देश की उत्पादक कार्यक्षमता अवश्य बढ़ेगी।

विनिमय और वितरण : विनिमय वितरण में सहायक है। एक व्यक्ति को

राष्ट्रीय आय का अपना भाग द्रव्य के रूप में मिलता है। किन्तु वह द्रव्य द्रव्य के लिए नहीं चाहता। वह उससे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदना चाहता है। वह इन वस्तुओं को विनिमय द्वारा ही पाता है।

तो यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के विभिन्न विभाग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक दूसरे पर निर्भर है और एक की दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। हमने अर्थशास्त्र को इन विभागों में केवल अपने अध्ययन की सुविधा के लिए बाँट लिया है।

इस अध्याय से तुम क्या सीखते हो ?

अर्थशास्त्र की परिभाषा : अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कहना गलत है। इसकी परिभाषा कीमत का विज्ञान कह कर करना भी गलत है। "अर्थशास्त्र जीवन की साधारण दिनचर्या में मनुष्य के कार्यों का अध्ययन है। यह जाँच करता है कि मनुष्य अपनी आय कैसे पाता है और कैसे उसका उपयोग करता है—इस प्रकार एक ओर तो धन का अध्ययन है और दूसरी ओर, और अधिक महत्त्वपूर्ण ओर, यह मनुष्य के अध्ययन का एक अंग है।" —(मार्शल)

राबिन्स अर्थशास्त्र की परिभाषा करता है : 'ऐसा विज्ञान जो उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है'।

अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान : अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, क्योंकि यह एक व्यवस्थित अध्ययन है। इसने तथ्यों की व्याख्या करने के लिए नियमों का प्रतिपादन किया है। किन्तु यह कला भी है क्योंकि यह व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में सहायता देता है। इसका बड़ा व्यावहारिक महत्व है।

अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु क्या है ? : "आवश्यकताएं-चेष्टाएं-संतुष्टि अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु हैं। इसमें धन का उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण शामिल है। यह मनुष्य की धन से सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन करता है।"

अर्थशास्त्र की आधार-शिला : अर्थशास्त्र आवश्यकताओं के बाहुल्य और साधनों की दुर्लभता पर आश्रित है। मनुष्य की कभी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट न होने की प्रवृत्ति और प्रकृति की सब कुछ उपहार-स्वरूप न देने की विशेषता अर्थशास्त्र की दो आधार-शिलाएं हैं।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र : यह धन से सम्बन्धित—धन के उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण से सम्बन्धित-मानवीय कार्यों का अध्ययन करता है।

यह एक सामाजिक विज्ञान है।

यह विज्ञान और कला दोनों है।

यह वास्तविक और आदर्श दोनों प्रकार का विज्ञान है।

आर्थिक नियम : आर्थिक नियम नैतिक व सरकारी नियमों से भिन्न है।

आर्थिक नियम परिकल्पित हैं और उनमें "अन्य बातें स्थिर हैं" शब्द हमेशा साथ जोड़े जाते हैं। वे केवल प्रवृत्ति-सूचक हैं। और भौतिक विज्ञानों के नियमों के समान निश्चित एवं आवश्यम्भावी नहीं हैं। वे गुरुत्वाकर्षण के नियमों की अपेक्षा ज्वार के नियमों के अधिक सदृश हैं।

अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध : अर्थशास्त्र का लगभग सभी विज्ञानों से सम्बन्ध है और यह उनका उपयोग करता है, किन्तु यह राजनीति, इतिहास, नीतिशास्त्र तथा न्याय-विज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञानों से अधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। आजकल अर्थशास्त्र और राजनीति एक दूसरे से इतने घुल-मिल गये हैं कि उनको अलग करना असम्भव-सा है। इतिहास अर्थशास्त्र के बिना पूर्ण नहीं होता और अर्थशास्त्र भी अपने सिद्धान्तों की परीक्षा करने के लिए इतिहास की

सहायता लेता है। अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र से भी सम्बन्धित है क्योंकि यह केवल निश्चयात्मक विज्ञान ही नहीं वरन् आदर्शात्मक विज्ञान भी है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन के लाभ

(क) यह हमें आर्थिक-क्षेत्र में मानव व्यवहार के सम्बन्ध में बहुत से रोचक और शिक्षाप्रद तथ्य बताता है।

(ख) यह एक लाभप्रद मानसिक व्यायाम है। इससे हमारी बुद्धि का शिक्षण होता है।

(ग) यह हमें सिखाता है कि आर्थिक व्यवस्था स्वयंचालित कैसे कार्य करती है।

(घ) यह हमें मनुष्य की पारस्परिक निर्भरता का पाठ देता है।

(ङ) अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें लाभदायक नागरिक बनाता है।

(च) अर्थशास्त्र व्यवसायिक महाजन, उद्योगपति और राजनीतिज्ञ के लिए व्यवहारिक उपयोग का विषय है।

(छ) यह गरीबी की समस्या का हल ढूंढने में हमारी सहायता करता है।

आर्थिक अध्ययन के विभाजन : अर्थशास्त्र के चार विभाग हैं :—उपभोग (Consumption), उत्पादन (Production), विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution)।

उपभोग का सम्बन्ध मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति से है और उत्पादन का मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए माल बनाने से। विनिमय बाजारों से सम्बन्धित है और पदार्थों की कीमतों के तय करने से। वितरण में हम उत्पादन के चार साधनों में राष्ट्रीय आय का विभाजन कैसे होता है, इस पर विचार करते हैं।

अर्थशास्त्र के विभागों के परस्पर सम्बन्ध : इन विभागों को अलग-अलग डिब्बों में बन्द नहीं किया जा सकता। वे परस्पर सम्बन्धित हैं।

उपभोग और उत्पादन : उपभोग की प्रेरणा मिले बिना उत्पादन हो ही नहीं सकता और किसी भी वस्तु का उपभोग होने से पूर्व उत्पादन होना आवश्यक है।

उपभोग और विनिमय : विनिमय के द्वारा ही उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यकता की वस्तुएं मिलती हैं।

उपभोग और वितरण : बेहतर उपभोग का अर्थ है अधिक कार्यक्षमता। उच्च कार्यक्षमता राष्ट्रीय आय में से ज्यादा बड़ा हिस्सा ले लेती है। इस प्रकार वितरण उपभोग पर आश्रित है। किन्तु उपभोग तो स्पष्ट ही वितरण पर निर्भर है। अर्थात् उस आय पर जो कि उत्पादन के साधन को मिलती है।

उत्पादन और विनिमय : विनिमय के बिना उत्पादन अधूरा है। और यह भी ठीक है कि उत्पादन के बिना विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता।

उत्पादन और वितरण : जितना अधिक उत्पादन होगा उतनी ही अधिक राष्ट्रीय आय वितरण के लिए हाथ आयेगी और धन के अधिक समान वितरण से काम करने वालों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी जिससे उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा।

विनिमय और वितरण : वितरण विनिमय के द्वारा होता है क्योंकि इसी उपाय से कोई अपने द्रव्य को अपनी आवश्यकता के पदार्थों के रूप में बदल सकता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is Economics ? Discuss the utility of the study of Economics. (अजमेर १९५५, दिल्ली १९४६)

देखिए विभाग १ और ८

2. What is the subject-matter of Economics ?

(कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९)

देखिए विभाग ३

3. Define and explain the nature and scope of Economics ? (बम्बई १९५३, १९४०)
देखिए विभाग १ और ५

4. "Scarcity of means and multiplicity of wants are the two foundation-stones on which the structure of Economics rests." Elucidate. देखिए विभाग ६

5. Examine the following definitions of Economics.

(*a*) Economics is a Science of Wealth.
(यू. पी. इन्टर आर्ट्स १९५३, राजपूताना १९४३)

(*b*) Economics is a science of price.

(*c*) "Economics is the study of the man in the ordinary business of life." (अजमेर १९५३, कलकत्ता १९३३)

(*d*) "Economics is the Study of Principles, according to which limited means are used for the satisfaction of unlimited wants." (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३)
देखिए विभाग १

6. "Economics cannot be a science because economists disagree" Comment. (आगरा, १९३९)
(किसी विज्ञान के लिये भी पूर्ण सहमति आवश्यक नहीं है। ज्ञान की हर शाखा में मतभेद हो सकते हैं। इन असहमतियों के बावजूद भी अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। अर्थशास्त्र विज्ञान क्यों है ?) देखिए विभाग २

7. Why is Economics spoken of both as a science and an art ? (दिल्ली, १९३५)
देखिए विभाग २

8. What is an Economic Law ? Will you consider the following as economic laws ? If not, why not ?

(*a*) Thou shalt not steal.

(*b*) Those who violate Sec. 144 shall be prosecuted.

(*c*) The more a man has of a thing, the less he wants to have more of it.

Give reasons for your answer.

आर्थिक नियम की परिभाषा के लिये देखिये विभाग ६.

(*a*) यह नीतिशास्त्र का नियम है, अर्थशास्त्र का नहीं।

(*b*) यह कानून का नियम है, अर्थशास्त्र का नहीं।

(*c*) यह आर्थिक नियम है और घटती हुई उपयोगिता का नियम—Law of Diminishing Utility कहलाता है।

9. Laws of Economics have been compared to the complex laws of tides rather than to the simple laws of gravitation. Why ? (पटना, १९४५)
देखिए विभाग-६

Or

Economic laws are mere tendencies. Do you agree ? Give the characteristics of economic laws with illustrations from your own experience. (पंजाब १९५३ Supplementary)
देखिए विभाग ६

Or

What are economic laws ? How do they differ from those of the sciences ? Illustrate your answer. (जम्मू और काश्मीर, १९५३)

10. Economics is a social science. Discuss its kinship with other social sciences. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५३)

देखिए विभाग ५ और ७

Or

Why is Economics called a Social Science ? Discuss the relation of Economics to History, Politics and Ethics (जम्मू और काश्मीर, १९५५)

11. "Some people regard Economics as an aid to the solution of practical problems." To what extent do you agree with this view ? (पंजाब, १९५५; यू. पी. बोर्ड १९५३, अजमेर १९५३)

देखिए विभाग १ और ८

Or

Define Economics. Give reasons to show why its study is so popular in our colleges today.

(पंजाब, १९५३ Supplementary)

12. State the main branches into which the study of economic theory is divided and discuss their relations to each other.

(पंजाब, १९३५)

देखिए विभाग ९ और १०

अध्याय २

आर्थिक विकास और आर्थिक व्यवस्थाएँ

(Economic Development and Economic Systems)

१. प्रस्तावना (Introduction) :—आर्थिक विकास आरम्भ ही से बहुत धीमी किन्तु स्थिर गति से हुआ। इस आर्थिक विकास की दृष्टि से मानव-समाज कई सुनिश्चित कालों एवं अवस्थाओं (stages) से गुजरा है। देश-देश की अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण हर काल में लगा समय और विकास की अन्य बातें एक-दूसरे से यथेष्ट भिन्न रहे हैं। परन्तु फिर भी हम अनुमान लगा सकते हैं कि प्रत्येक देश लगभग एक ही प्रकार के वातावरण से गुजरा होगा, जिन्हें हम विकास के विभिन्न चरण कह सकते हैं। आरम्भ में आर्थिक ढाँचा बहुत सीधा और सरल था परन्तु समय बीतने पर और विशेषतया आज तो वह बहुत उलझा हुआ (complex) हो गया है। जिन नाना कालों (stages) से विभिन्न देश गुजरे हैं वे इस प्रकार है—

(१) आखेट और मछली पकड़ना (hunting and fishing)
(२) पशुपालन (pastoral)
(३) कृषि (agriculture)
(४) दस्तकारी (handicraft)
(५) घरेलू व्यवस्थाएँ (domestic systems); और
(६) उद्योग (industries)।

२. आखेट और मछली पकड़ने का काल (Hunting and Fishing Stage) :—मानव इतिहास के उषाकाल में, मनुष्य बहुधा कन्द, मूल, फल आदि पर, जिन्हें वह सहज ही जंगल से प्राप्त कर पाता था, अपना पेट भर कर जीवन-निर्वाह करता था। उसकी इच्छाएँ बहुत कम थीं; सब तो यह है कि अपने को जीवित-रखने के लिए जितना खाना जरूरी है वह प्राप्त कर लेना ही सब कुछ था। धीरे-धीरे उसने आखेट आरम्भ कर दिया। आरम्भ में शिकार के लिए लकड़ी और पत्थर का प्रयोग शुरू हुआ। परन्तु अग्नि के आविष्कार और धातु के प्रयोग में आने से छुरी, चाकू जैसे नाना प्रकार के तेज शस्त्र उसके पास हो गए। इनके कारण उसको शिकार में तो बड़ी सहायता मिली, परन्तु इस काल में उसके पास न तो कोई स्थायी निवास स्थान था और न कोई अचल सम्पत्ति। इस काल में ये शस्त्र ही उसकी कुल पूँजी थे। ये आखेटक आदिम जातियाँ (hunting tribes), अस्थिरवासियों (खानाबदोषों) के रूप में स्थान-स्थान पर घूमा करती थी। इनके अनेक दल समुद्र-तट या नदियों और झीलों के किनारे मछली पकड़कर अपना निर्वाह करते थे। बाद में इस कार्य के लिए भी उनके पास अच्छे-अच्छे शस्त्र हो गए। इस काल में जीवन बहुत खतरों से भरा था और बहुधा एक वक्त का खाना मिल जाए तो दूसरे का कोई भरोसा नहीं होता था।

३. पशुपालन काल (Pastoral Stage) :—धीरे-धीरे आखेट और मछली

पकड़ने के साथ-साथ पशुपालन का कार्य भी मनुष्य ने अपने हाथ में ले लिया। इसी अवस्था का नाम पशुपालन काल है। इस काल में उसने ढोर पालने की कला भली भाँति सीख ली। उसने वन्य पशुओं को सधाया और बहुत-सों को पालना आरम्भ कर दिया, जिससे नियमित रूप से खाद्य सामग्री प्राप्त हो सके। आखेट काल में तो वह केवल पशुओं को मारता था, परन्तु इस काल में उसने इन्हें पालना आरम्भ किया। इससे उसकी खाद्य स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ और रोज़-रोज़ के जीवन में भी बहुत-सी समस्याएँ सुलझ गई। पशुओं द्वारा उसको न केवल भोजन प्राप्त होता था, वरन् वस्त्रों के लिए ऊन और खाल भी मिलती थी। इसके अतिरिक्त वह उनसे सवारी और यातायात का काम भी लेता था। इस युग में ढोर और पशु उसकी निजी सम्पत्ति बन गए। परन्तु अब तक भी उसका कोई स्थायी ठौर-ठिकाना नहीं बना था। जल और चरागाहों की खोज में मानव को अब भी जहाँ-तहाँ घूमना पड़ता था। परन्तु अब अकेले रहने के स्थान पर उसने समूहों (groups) या जनजातियों (tribes) की व्यवस्था को अपना लिया, और यह दल नाना स्थानों पर बसने लगे। निजी सम्पत्ति के साथ-साथ धन के बंटवारे की असमानता (inequalities of wealth) भी सामने आई जो उस समय में इस रूप में थी कि किसी के पास कम पशु थे किसी के पास अधिक।

४. **कृषि काल** (Agricultural Stage):—धीरे-धीरे मनुष्य ने जोतने बोने की कला भी सीख ली। इस कारण उसको वन से प्राप्त हुई वस्तुओं पर पूर्णतया निर्भर रहने में सन्तोष नहीं रहा। जीवन को अधिक स्थिर और सुरक्षित बनाने के लिए उसने भूमि पर खेती और पशुपालन का काम साथ-साथ आरम्भ कर दिया। इस प्रकार मनुष्य अब काफी संख्या में एक स्थान पर बसने लगे। अब निजी सम्पत्ति के दो भाग हो गये, एक तो था ढोरों के रूप में और दूसरा कृषि-भूमि के रूप में। श्रम-विभाजन (division of labour) का अत्यधिक साधारण रूप भी इसी काल से आरम्भ होता है। इधर-उधर मारे-मारे फिरने की बजाय वे अब छोटे-छोटे गाँव बसाकर रहने लगे। उन्होंने अपने आराम के लिए झोंपड़ियां बनानी आरम्भ कर दीं, इसलिए ढोरों के लिए और स्वयं के लिए खाद्य सामग्री निश्चित और पर्याप्त मात्रा में मिलने लगी। खेती की जमीन का एक एक टुकड़ा काफ़ी जनसंख्या का पालन करने लगा। हर परिवार के पास घर, ढोर आदि चल सम्पत्ति के रूप में थे, परन्तु कृषि-योग्य भूमि आमतौर पर साँझी थी। हर परिवार आत्म-निर्भर होता था और आवश्यक वस्तुओं के लिए दूसरों की सहायता की जरूरत न पड़ती थी। बड़े-बड़े गाँव नगरों में परिवर्तित होने लगे और धीरे-धीरे मंडियों (marketing centres) का काम देने लगे।

५. **दस्तकारी काल** (Handicraft Stage) :—खेती के लिए औज़ार अनिवार्य थे। इसलिए उन्हीं में से कुछ ने बढ़ई और लुहार का काम शुरू कर दिया। कुछ लोगों ने दस्तकारी और कारीगरी ही वृत्ति (profession) के रूप में अपनाली। शुरू में लुहार और बढ़ई फेरी लगाकर औज़ार आदि बेचा करते थे और खेतों पर जाकर उनकी मरम्मत करते थे। धीरे-धीरे इन कारीगरों ने अपनी दुकानें बना

लीं और वहीं औज़ार बनाने आरम्भ कर दिए। इनके पास भूमि भी हो गई जिसे या तो वे स्वयं ही जोतते-बोते थे या किसानों से जुतवाते-बुआते थे। इन दस्तकारों ने अपने लिए शिल्पिक-संघ (Craft Guilds) संगठित कर लिये। इन संस्थाओं का कार्य न केवल उनके कल्याण का ध्यान रखना था बल्कि उत्पादन (production) की देखभाल करना भी था। ये संस्थाएं उत्पादित वस्तुओं की कीमत (price) निश्चित करती थीं और वस्तुओ के गुण और प्रकार का भी फैसला करती थीं। इस प्रकार के संघों (guilds) का विवरण हमें मध्यकालीन यूरोप के देशों में मिलता है। हमारे देश में भी वर्ण-व्यवस्था की नीति इसी प्रकार से चली आ रही है। परन्तु जैसे-जैसे मण्डियाँ (markets) दूर-दूर तक फैलती गईं, इन संघों (guilds) की कार्य-पटुता में अन्तर आने लगा। ऐसी जिन संस्थाओं के पास धन व अधिकार ज्यादा हो गए वे इस व्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। इस काल में आकर श्रम-विभाजन (division of labour) का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया। कई प्रकार की उपजीविकाओं (occupations) का विकास हुआ। इससे जीवन में काफी स्थिरता आ गई परन्तु साथ ही साथ दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति भी बढ़ गई। इस काल में उत्पादन (production) छोटे स्तर (small scale) पर और कुटीर उद्योग (cottage industry) के रूप में होता था। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था काफी प्रचलित हो गई।

६. **घरेलू व्यवस्था** (The Domestic System) :—हम ऊपर देख चुके हैं कि हमारी अर्थ-व्यवस्था किस दिशा में जा रही थी, इसलिए अब हम एक नई प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में प्रवेश करने लगे, जिसे अर्थशास्त्रियों ने घरेलू व्यवस्था (the domestic system) का नाम दिया है। इस काल में माल के आदान-प्रदान के लिए दलाल (middle man) या बिचौलिये का आरम्भ हुआ। व्यापारियों ने कच्चा माल आदि कारीगर को अपने ही घर पर सौंपना शुरू कर दिया, और उसकी मजदूरी (wages) नियत कर दी। उसके श्रम से माल तैयार कराकर, स्वयं ही उसकी निकासी शुरू कर दी। मण्डियों की दूरी ही इस व्यवस्था के श्रीगणेश का कारण थी। पूंजीपति मालिक (capitalist employer) और कारीगर (workman) विभक्त होकर दो श्रेणियों में बँट गये। कारीगर की आर्थिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई क्योंकि अब उसको अपने मालिक की दया पर ही निर्भर रहना पड़ने लगा। वह तो दिन भर काम करके केवल मजदूरी ही जुटा पाता था। जितना भी लाभ या मुनाफा था वह तो व्यावसायिक दलाल (commercial middle man) के ही हाथ लगता था। पूंजीपति दलाल (capitalist middle man) की देख-रेख में श्रम-विभाजन (division of labour) और भी जटिल और विस्तृत हो गया। भारत के बहुत से नगरों में घरेलू व्यवस्था का स्वरूप अब भी देखा जा सकता है, यद्यपि इस समय यह पद्धति 'फैक्ट्री व्यवस्था' (factory system) के रूप में परिवर्तित होती जा रही है।

७. **औद्योगिक काल** (Industrial Stage) :—अब हम आर्थिक प्रगति के इस शृंखलाबद्ध विकास के अन्तिम चरण में प्रवेश कर चुके हैं जिसे औद्योगिक काल

(industrial stage) कहते हैं। कुटीर उद्योगों (cottage industries) के साथ-साथ दूसरे बड़े पैमाने के उद्योग भी पनपने लगे। अब संसार यंत्र-युग से गुजर रहा था, और इस प्रकार वृहत्-स्तरीय उत्पादन (large-scale production) और विश्व-व्यापक मण्डियाँ (world-wide markets) खुलने लगीं। पूंजीपतियों ने अपने-अपने कारखाने (factories) स्थापित कर लिए और उद्योग पर उनका पूरा-पूरा नियंत्रण होने लगा। श्रमिकों (workers) को अपनी जगह से हटाकर कारखानों में काम पर लगाया गया और इस प्रकार वे पूरी तरह फैक्ट्री मालिकों के चंगुल में फंस गये। चूंकि कर्मकार (workman) स्वयं बहुत गरीब था और मशीन या कच्चा सामान खरीदना उसके बूते से बाहर की बात थी इसलिए उसने पूँजीपति के हाथों, निश्चित दैनिक मजदूरी (fixed daily wage) पर, अपने आपको बेच दिया। इस काल में श्रम का विभाजन (division of labour) अधिक पेचीदा हो गया। अब कोई भी व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं हो सकता था। हर व्यक्ति को हर वस्तु के लिए परदेश में दूसरों के ऊपर आश्रित रहना पड़ता था, क्योंकि ये मण्डियाँ दूर-दूर तक स्थापित हो गयी थीं। निजी सम्पत्ति की प्रथा अब काफी जोर पकड़ चुकी थी। बड़े-बड़े शहर स्थापित होने लगे। संचार और परिवहन (communication and transport) के सस्ते किन्तु कारगर साधनों का विकास हुआ। गाँवों की आर्थिक निर्भरता प्रायः समाप्त हो चली। महाजनी और साख (banking and credit) व्यवस्था का भी विकास हुआ। वस्तु-विनिमय (barter) की आर्थिक व्यवस्था का स्थान द्रव्य-व्यवस्था (money economy) और साख-व्यवस्था (credit economy) ने ले लिया। व्यापार संगठन के क्षेत्र मे संयुक्त-सम्पत्ति-समवाय (Joint Stock Companies) का उदय हुआ। उत्पादन भविष्य में होने वाली माँग (demand) को ध्यान में रखकर होने लगा। व्यापार में जहाँ पहले रूढि का जोर था वहाँ अब स्पर्धा एक नियम सा बन गई है। मण्डी की सीमाएँ अब राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों तक फैल गई हैं।

८. **भारत अब कौनसे काल से गुजर रहा है** (At what stage is India passing ?) :—आर्थिक प्रगति की दृष्टि से भारत को किसी विशेष काल में गिनना बड़ा कठिन है। भारत भौगोलिक रूप में एक उप-महाद्वीप जैसा है और इसलिए एक ही साथ विभिन्न भागों में आर्थिक प्रगति की ऊपर लिखी गई लगभग सभी अवस्थाएँ किसी-न-किसी रूप में कहीं न कही दीख पड़ती हैं। एक ओर तो कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें अभी तक सभ्यता ही नही पहुँच पाई। वहां के वासी अब भी आदिमजाति-संगठन (tribal organisation) बनाकर रहते हैं, तथा उनके खेती आदि के साधन प्राचीन हैं। पशुपालन ही उनका व्यवसाय है। दूसरी ओर बम्बई, दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद जैसे बड़े-बड़े नगर हे जहाँ के लोग आधुनिक सुविधाओं से परि-पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। अनुमानतः भारत की दो-तिहाई जनसंख्या खेतों से अपना जीवन निर्वाह करती है। परन्तु इस पर भी हम भारत को कार्य-विभाजन की दृष्टि से "कृषि-काल" में नही रख सकते। इसका कारण यह है कि भारत में कई आधुनिक उद्योग पूरी तरह से विकसित हैं, उदाहरणार्थ रूई, कागज़, सीमेन्ट,

आदि के उद्योग। बड़े-बड़े उद्योगों के साथ-साथ कुटीर उद्योग (cottage industries) भी चल रहे हैं। यदि हम परिवहन (transport) के साधनों पर दृष्टि डालें तो मालूम होगा कि सड़क पर एक ओर तो आधुनिकतम मॉडल की कार जा रही है, और दूसरी ओर प्राचीन-काल से चली आ रही, बैलगाड़ी। दूर गांवों में वस्तु-विनिमय (barter) की पद्धति अब भी प्रचलित है। इसके प्रतिकूल शहरों और नगरों मे साख-व्यवस्था (credit system) का प्रचार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में एक प्रकार से सभी आर्थिक व्यवस्थाएँ चल रही हैं। और हम कह सकते हैं कि भारत प्राचीन व्यवस्था से आधुनिक, और कृषि व्यवस्था (agricultural stage) से दस्त-कारी (handicraft) और औद्योगिक व्यवस्थाओं की ओर प्रगति कर रहा है। पहली पंचवर्षीय योजना के लगभग पूरा हो चुकने के साथ यह आशा की जा सकती है कि बहुत शीघ्र हम 'औद्योगिक काल' में पहुँच जायेंगे। हमारी 'सामूहिक विकास योजना' का उद्देश्य देहात को जागृत करना और समृद्ध बनाना है। इस प्रकार आर्थिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में व्यापक विकास होगा।

आर्थिक तन्त्र
(Economic System)

विश्व आज तीन मुख्य आर्थिक व्यवस्थाओं से परिचित है, यानी (क) पूंजीवाद (Capitalism), (ख) समाजवाद (Socialism), और (ग) फैसिज्म या नियन्त्रित-पूंजीवाद (Fascism or Controlled Capitalism)। अब हम एक-एक करके इनका विवरण देंगे।

१. पूंजीवाद (Capitalism) :—रूस, पूर्व यूरोपीय देश और चीन को छोड़कर, बाकी भारत, इंग्लिस्तान और अमरीका आदि देशों तथा सारे संसार में यही व्यवस्था प्रचलित है। इस व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं :—

(क) निजी सम्पत्ति (Private Property) : इस व्यवस्था की नींव है निजी सम्पत्ति (private property) की पद्धति। हर व्यक्ति सम्पत्ति कमा सकता है और उसे उत्तराधिकार के रूप में अपने वारिसों को सौंप सकता है। इस तथ्य से यह बात भी सही-सही समझ में आ जाती है कि आर्थिक दृष्टि से लोग एक दूसरे से इतने असमान क्यों जन्म लेते हैं। यही अन्तर पीढ़ी दर पीढ़ी बढते जाते हैं। धनवान और अधिक धनवान हो जाते हैं, और निर्धन अधिक निर्धन होते जाते हैं।

(ख) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom) : पूंजीवाद में जनता को पूरी-पूरी आर्थिक स्वतन्त्रता (economic freedom) या उद्यम की स्वतन्त्रता (freedom of enterprise) प्राप्त होती है। आर्थिक स्वतन्त्रता के तीन रूप हैं। (i) प्रत्येक व्यक्ति जीविका (occupation) का कोई भी साधन अपना सकता है, (ii) लोग स्वतन्त्रतापूर्वक आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखते हुए किसी नागरिक से भी इकरार (contract) कर सकते हैं; और (iii) अपनी सम्पत्ति (property) का जिस रूप में भी चाहें उपयोग कर सकते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको इन मामलों में पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है। तमाम देशों में सरकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (individual freedom) पर रोक लगाती है जिससे समदाय (com-

munity) के बड़े हितों की रक्षा हो सके।

(ग) उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और प्रबन्ध (Ownership and Management of the Means of Production) : पूंजीवादी समाज में उत्पादन (production) के विभिन्न उपकरण (instruments) जैसे खेत, कारखाने और कारबार (business) आदि, सब के सब विभिन्न व्यक्तियों के निजी अधिकार में होते हैं। उनका प्रबन्ध वे सिर्फ अपने हित (exclusive benefit) के लिये करते हैं। समुदाय के कल्याण की उनको तनिक भी चिन्ता नही होती। अपना ही कल्याण उनका प्रमुख ध्येय होता है। इस प्रकार पूर्ण लाभ उनकी जेबों में जाता है। श्रमिकों को तो राष्ट्रीय धन (national wealth) का एक थोड़ा-सा भाग ही प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्पत्तिवान् (haves) धनिकों और सम्पत्तिहीन (have-nots) निर्धनों के बीच की खाई बढ़ती जाती है।

(घ) वर्ग-संघर्ष (Class Conflict) : अमीर और गरीब 'हैव्ज' और 'हैव नॉट्स' में निरन्तर झगड़ा चलता रहता है। पूंजीवाद के अन्तर्गत समाज दो छावनियों में बंट जाता है। मजदूर (labour) बनाम पूंजी यह संघर्ष निरन्तर होता रहता है। इसलिए पूंजीवाद समाज (capitalistic society) में सुख और धन नहीं मिलता। वहाँ सदैव हड़ताल और ताला-बंदी (strikes and lock-outs) का डर रहता है, और समाज में किसी समय भी गड़बड़ और अव्यवस्था की सम्भावना बनी रहती है।

(च) समन्वयहीन रूप (Unco-ordinated Nature) : पूंजीवाद में आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का मेल बिठाने का कोई भी उपाय नही होता। व्यापारिक निर्णय लाखों स्वतन्त्र व्यापारियों द्वारा किए जाते हैं। कोई ऐसी सत्ता नहीं होती जो उनको बन्धन में रखे ताकि वे मिल कर चलें। इसीलिए कहा जाता है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत सभी कार्य अन्धाधुन्ध और ऊटपटाँग होते हैं।

(छ) नियन्त्रण जोखिम लेने वालों के हाथ में होता है (Control goes with Risk): पूंजीवाद के अन्तर्गत वे लोग जो पैसा लगाते हैं और जोखिम में डालते हैं वे ही उद्योग का नियन्त्रण करते हैं। और यह आवश्यक भी है, क्योंकि निर्णय बहुत होशियारी से और समझ-बूझकर करने होते हैं। अगर पूंजी किसी की हो और निर्णय का अधिकार किसी दूसरे के हाथ में हो तो स्पष्ट है कि निर्णय करते समय जिम्मेदारी की पूरी भावना उसमें नहीं रहेगी और इस तरह काफी हानि की गुंजाइश हो सकती है।

(ज) उद्यमी का प्रभावी स्थान (Dominant Role of the Entrepreneur): समाज के पूंजीवादी ढाँचे में, उद्यमी का कार्य बड़ा प्रबल होता है। उत्पादन (production) के सारे साधन उसके इशारे (direction) पर चलते हैं। वही इस बात का निर्णय करता है कि माल का किस प्रकार और कहाँ उत्पादन किया जाय और उसे कहाँ बेचा जाय। उद्यमी ही उत्पादन के समस्त साधनों को खरीदता है और वेतन देता है। किसी देश का भविष्य, उसकी समृद्धि और सौभाग्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसके उद्यमी कितने कुशल हैं।

१०. समाजवाद (Socialism) :—पूंजीवाद (capitalism) के विपरीत समाजवाद ऐसी आर्थिक व्यवस्था (economic system) पेश करता है जिसके अनुसार उत्पादन के साधनों जैसे खेतों और कारखानों का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) या समाजीकरण हो चुका हो। वे सब व्यक्ति-व्यक्ति के हाथों से छिनकर सरकार के अधीन हो जाते हैं। व्यापार (trade) और उद्योग (industry) से जो लाभ होता है वह सब सरकारी कोष में जमा हो जाता है, व्यापारियों के हाथ कुछ भी नहीं लगता। संक्षेप में समाजवाद का अर्थ है—व्यक्तिगत पूंजी तथा उद्यम (private enterprise) का अन्त करना। सरकार ही सारे व्यापार को चलाने और सम्भालने वाली होती है। और लाभ का उपयोग समुदाय के कल्याण और हित के लिए होता है।

परन्तु यह स्मरण रखना बहुत आवश्यक है कि समाजवादी (Socialists) तमाम निजी सम्पत्ति को समाप्त करना नहीं चाहते। सिर्फ उत्पादन के ही क्षेत्र में वे निजी सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं। परन्तु साम्यवाद (Communism) का कहना है कि हर प्रकार की सम्पत्ति समाप्त कर दी जाएगी। यह भी भली भाँति समझ लेना ज़रूरी है कि समाजवाद (Socialism) आर्थिक समानता (economic equality) नहीं ला सकता। चाहे हर व्यक्ति राज्य (state) के लिए काम करता है पर हर व्यक्ति को एक ही दर पर वेतन नहीं मिलता। काम के ढंग को देखकर और काम करने वाले की योग्यता देख कर वेतन दिया जाता है। यद्यपि समान वेतन की गारण्टी (guarantee) नहीं दी जाती तो भी अवसर की समानता (equality of opportunity) का आश्वासन दिया जाता है। समाजवादी राज्यों में निःशुल्क शिक्षा और मुफ्त औषधीय सहायता दी जाती है और हर नागरिक को काम देने की गारण्टी (guarantee) दी जाती है। पूंजीवाद में सब सामग्रियों (resources) को उपभोक्ताओं की इच्छा के अनुसार बाँट कर काम में लगाया जाता है परन्तु समाजवाद में इसका निर्णय सरकार के हाथ में होता है। उपभोक्ता (consumer) की सर्वोपरि प्रभुता (sovereignty) का प्रश्न ही नहीं उठता।

११. फैसिज्म या नियन्त्रित पूँजीवाद (Fascism or Controlled capitalism):—हिटलर और मुसोलिनी के शासन-काल में जर्मनी और इटली में फैसिज्म (Fascism) प्रचलित हुआ। फैसिज्म (Fascism) के अन्तर्गत राज्य (state) ही सब कुछ है। ऐसा माना जा सकता है कि समाजवाद (Socialism) में श्रमिक ही उच्चतम होता है और पूंजीवाद (Capitalism) में पूंजी का पलड़ा भारी रहता है परन्तु इनके विपरीत फैसिज्म (Fascism) के अन्तर्गत राज्य (state) ही सर्वोच्च होता है। न श्रमिकों को हड़ताल करने की इजाज़त होती है, न मालिकों को कारखाना बन्द करने की। यह मान लिया जाता है कि हड़ताल और तालाबन्दी (strikes and lock-outs) साधारणतया समाज के लिए हानिकारक हैं, और राज्य समाज के हितों का संरक्षक (guardian) होता है। राज्य श्रम और पूंजी दोनों पर रोक रखता है। फैसिज्म (Fascism) का कुछ २ रूप (Capitalism) से इसी-लिये मिलता है कि दोनों में निजी उद्यम और निजी पूंजी लगाने (private enter-

prise and private investment) का काम एक जैसा है। उत्पादन के साधनों (means of production) में निजी सम्पत्ति (private property) को बनाये रखा जाता है परन्तु सरकार (state) मजदूरी (wage) और लाभ (profit) दोनों पर नियन्त्रण रखती है। फैसिज्म का कुछ-कुछ रूप समाजवाद से भी इसलिये मिलता है कि दोनों में आर्थिक क्षेत्र (economic sphere) में सत्ता सर्वोच्च है। इस प्रकार फैसिज्म पूंजीवाद और समाजवाद के बीच का मार्ग है। समाजवाद और फैसिज्म दोनों में ही शासक निरंकुश तानाशाह (dictator) होते हैं। दोनों के अन्तर्गत सारे व्यापार और उद्योग को चलाने के लिए मालिकों, मजदूरों और शासक-दल की प्रतिनिधि निकाय (body) बनाई जाती है। ये निकाय (bodies) मिलकर आर्थिक कार्यों (economic activity) का मेल बिठाते है।

१२. **मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Mixed Economy) :—इस समय एक नई व्यवस्था के स्वरूप का निर्माण हो रहा है। इंग्लिस्तान में जिसे पूंजीवाद (capitalism) और स्वतन्त्र उद्यम (free enterprise) का गढ माना जाता था, अब कुछ उद्योगों (industries) का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) हो रहा है। भारत भी इंग्लिस्तान के पद-चिन्हों पर चल रहा है। इंग्लिस्तान ने बैंक आफ इंग्लैंड (Bank of England) और इस्पात उद्योग (steel industry) का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) कर दिया था परन्तु वहाँ की अनुदार (Conservative) सरकार ने पुनः उसका—इस्पात उद्योग का—अराष्ट्रीयकरण (denationalization) कर दिया है। भारत सरकार ने भारत के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। यदि निधि (funds) और प्रशिक्षित कारीगरों (trained personnel) की कमी न होती, और यदि भारत सरकार दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्याओं में न फँसी होती तो अबतक बहुत से उद्योगों (industries) का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) हो चुका होता। भारत सरकार ने घोषणा की है कि १० वर्ष तक राष्ट्रीयकरण का कार्य हाथ में नहीं लिया जायगा, जिसका अर्थ यह होता है कि १० वर्ष के बाद राष्ट्रीयकरण के कार्य के लिए सरकार कदम उठायेगी यह उम्मीद की जा सकती है।

भारत सरकार की नयी औद्योगिक नीति (industrial policy) के अनुसार जिसकी घोषणा १९४८ में की गई थी, कुछ उद्योगों को राष्ट्रीय उद्योगों के तौर पर आरम्भ किया जा रहा है। उन पर सरकार का ही पूरा अधिकार होगा। ऐसे उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र कहे जा सकते हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था (mixed economy) में निजी-क्षेत्र (private sector) और सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) साथ-साथ रहते हैं। कुछ उद्योगों का स्वामित्व तो पूंजीपतियों के हाथ मे रहता है और कुछ उद्योगों पर स्वामित्व राज्य (State) का होता है, परन्तु कुछ ऐसे उद्योग भी होते हैं जिनमें राज्य और पूंजीपति साझा (partnership) कर लेते हैं। ऐसा दीख पड़ता है कि भविष्य में पूंजीवादी देशों में मिश्रित अर्थव्यवस्था बहुत तेजी के साथ उन्नति करेगी।

पंचवर्षीय योजना के द्वारा सरकार के दखल, अधिकार और नियन्त्रण का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। निजी क्षेत्र को भी अब सरकार की मूलभूत नीति के

अनुसार ही चलना होगा। हमारी मिश्रित अर्थव्यवस्था आखिर में लोकतंत्री-समाजवाद का रूप ले लेगी जिसमें सरकारी और निजी दोनों क्षेत्र रहेंगे परन्तु निजी क्षेत्र को मोटे तौर पर सरकार के निर्देशन में रहना पड़ेगा।

प्रश्न

1. Write a short account of economic life.

(देहली, १९५५) देखिए विभाग २,७

2. Name the different economic systems and indicate the special features of each.

देखिए विभाग ६, १२।

3. Distinguish between Economics and Economic System. Give the main features of any economic system with which you may be familiar.

(यू. पी. १९४९)

(अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव-व्यवहार का उद्देश्यों और उन दुर्लभ (scarce) साधनों के जिनके वैकल्पिक (alternate) प्रयोग हो सकते है, परस्पर सम्बन्ध के रूप में अध्ययन करता है। परन्तु आर्थिक पद्धति उस प्रबन्ध की ओर इंगित करती है जिसके अनुसार आर्थिक कार्यवाहियों (activities) का संगठन किया जाता है। पूँजीवाद से तो हम परिचित हैं ही।)

देखिए विभाग ६

माल—उपयोगिता—मूल्य—धन

(Goods—Utility—Value—Wealth)

बहुत उपयोगिता की चीज़ सस्ती और कम उपयोगिता की चीज़ मंहगी क्यों ?

१. **परिचय** :—इस अध्याय में हम कुछ ऐसे शब्दों (terms) की व्याख्या करेंगे जिनका आमतौर पर अर्थशास्त्र में प्रयोग होता है। यह केवल स्पष्ट विचार के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् अर्थशास्त्र की पुस्तकों की भाषा को भी समझने के लिए जरूरी है।

माल (Goods)

२. **माल** (Goods) :—हम जानते हैं कि आर्थिक क्रिया का आरम्भ मनुष्य की आवश्यकताओं (wants) से होता है। अपनी जरूरतों को पूरा करना मनुष्य के लिए जरूरी है। दो चीज़ों से वह इन आवश्यकताओं (wants) की सन्तुष्टि कर सकता है—माल (**goods**) और सेवाएँ (services)। 'माल' (goods) से मतलब उन वस्तुओं (commodities) से है जिनका हम प्रयोग करते हैं और सेवाएँ (services) वह कार्य है जो कोई व्यक्ति करे। सेवा कोई ऐसा पदार्थ नही है जिसे हम देख या छू सकें। एक अध्यापक की सहायता, वकील या डाक्टर की सलाह, रेलों की सेवा, घरेलू नौकरों का कामकाज यह सभी सेवाएँ (services) हैं। दूसरी ओर, माल या वस्तुएँ हमेशा आकार वाली होती हैं, देखी छुई जा सकती हैं। जैसे भूमि, मकान, फर्नीचर आदि। यह सब मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी करती हैं। हर ऐसी वस्तु जो मनुष्य की किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि करती है माल (goods) कहलाती है।

३. **'माल' के प्रकार** (Kinds of Goods) :—

(क) **आर्थिक माल व मुफ्त माल** (Economic Goods and Free Goods)

माल के सबसे महत्त्वपूर्ण दो प्रकार हैं—

मुफ्त माल और आर्थिक माल।

'मुफ्त माल' वे पदार्थ हैं जो इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं कि कोई जितना चाहे बिना दामों के पा सकता है, जैसे हवा, धूप आदि। ये सब पदार्थ प्रकृति के मुफ़्त उपहार हैं।

'आर्थिक माल' वे पदार्थ हैं जो थोड़ी मात्रा में हैं, दुर्लभ* (scarce) हैं और केवल कीमत अदा करके ही प्राप्त किए जा सकते हैं। अधिकतर जिन पदार्थों की जरूरत मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पड़ती है, वे इसी वर्ग में आते हैं।

अर्थशास्त्र में हमें केवल 'आर्थिक माल' से मतलब है क्योंकि इन्हीं की कीमत

---

*'दुर्लभ' शब्द का अर्थ हर जगह आर्थिक दुर्लभता है जो पहले समझाई जा चुकी है। देखिये पृष्ठ 2, दुर्लभता का अर्थ अभाव अथवा दुष्प्राप्यता न समझना चाहिए।

तय होने और दिए जाने का प्रश्न उठता है। 'आर्थिक माल को ही 'धन' (wealth) कहते हैं और अर्थशास्त्र धन से ही सम्बन्धित होता है। इसलिए यदि सभी माल मुफ्त (निर्मूल्य) तथा अपरिमित होता तो अर्थशास्त्र का विज्ञान ही न होता।

आर्थिक माल (economic goods) और निर्मूल्य माल (free goods) का यह भेद स्थायी नहीं है। जो माल आज निर्मूल्य है कल आर्थिक माल भी बन सकता है, या कोई भी पदार्थ कुछ विशेष परिस्थितियों में निर्मूल्य माल हो सकता है और दूसरी किसी परिस्थिति में आर्थिक माल बन सकता है। उदाहरण के लिए एक गहरी खान में हवा निर्मूल्य माल नहीं रहती। शहर में पानी आर्थिक माल है, निर्मूल्य माल नहीं, क्योंकि उसके लिए हमें कीमत चुकानी पड़ती है।

जनसंख्या के बढ़ जाने पर जो माल पहले मुफ्त थे वे फिर आर्थिक माल बन जाते हैं। अर्थात् उनके लिए कीमत देनी पड़ती है। आर्थिक माल की वृद्धि, धन की वृद्धि है। किन्तु धन की वृद्धि का यह अर्थ कदापि नहीं कि लोगों की हालत भी पहले से ज़रूर अच्छी हो गई है। यह भी एक विरोधाभास (paradox), एक गुत्थी है कि धन की वृद्धि भी जनता को पहले से बुरी हालत में, पहले से गरीब बना सकती है। "सचमुच यह सम्भव है कि एक देश का धन तो बढ़े, फिर भी उसका हित अथवा कल्याण कम हो जाय"—(सिल्वरमैन)। यह इसलिए होता है कि ईंधन, पानी जैसी वस्तुएँ जिनके लिए आदिम मनुष्य को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता था, आधुनिक मनुष्य को बिना खर्च किए नहीं मिल सकतीं। वे पदार्थ भी जो पहले मुफ्त माल थे आज आर्थिक माल अथवा धन की कोटि (category) में शामिल हो गए हैं और दुर्लभ हो गए हैं। और दुर्लभता से मानव-कल्याण में वृद्धि नहीं होती।

(ख) उपभोग्य माल व उत्पादक माल (Consumers' Goods and Producers' Goods) : उपभोग्य माल (consumers' goods) वे पदार्थ हैं जिनका मानव सन्तुष्टि के लिए प्रत्यक्ष, सीधा उपयोग (direct use) होता है। उपभोक्ता उन्हें अपनी आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति के लिए तुरन्त काम में लाता है। जैसे, भोजन, कपड़ा, कलम, स्याही आदि वस्तुएँ। इन्हें पहली श्रेणी के माल (Goods of the first order) भी कहा जाता है।

उत्पादक माल (Producers' goods) वे माल हैं जो दूसरी वस्तुओं के उत्पादन में हमारी सहायता करते हैं, जैसे औज़ार, मशीनें आदि। इन्हें दूसरी श्रेणी का माल (goods of the second order) भी कहते हैं। यह पदार्थ हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति अप्रत्यक्ष रूप में (indirectly) करते हैं।

(ग) भौतिक और अभौतिक माल (Material and Non-material Goods) : भौतिक माल (material goods) के उदाहरण हैं भूमि, मकान, फर्नीचर नगदी, पुस्तकें आदि।

भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवाएँ (services) अ-भौतिक माल (non-material goods) की श्रेणी में आती हैं। वे स्पर्शनीय (tangible) तथा स्थूल नहीं होतीं, परन्तु दुर्लभ होती हैं और इनका बदला (transfer) किया जा सकता है। किसी फर्म (firm) की ख्याति (goodwill) भी इसी श्रेणी में आती है।

(घ) **हस्तांतरणीय और अ-हस्तांतरणीय माल** (Transferable and non-transferable goods) : अधिकतर भौतिक माल (material goods) का स्वामित्व बदला जा सकता है और इसके लिए पदार्थों को सशरीर उठाकर ही दूसरे के हाथ में दे दिया जाता है। कभी-कभी माल को एक स्थान से दूसरे स्थानों पर ले जाया जा सकता है, किन्तु कुछ मामलों में ऐसा हिलाना सम्भव नहीं होता। उदाहरण के लिए भूमि को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह नहीं पहुँचाया जा सकता। केवल उसका स्वामित्व (ownership) बदल जाता है। ऐसा तमाम माल जिसके स्वामित्व का एक से दूसरे के हाथ में तबादला किया जा सकता है उसे परिवर्तनशील माल (Transferable goods) कहते हैं।

अपरिवर्तनशील माल (Non-transferable goods) हैं जैसे हुनर, कौशल, योग्यता, बुद्धि आदि जो मानव के निजी गुण हैं और जिनका तबादला नहीं किया जा सकता—केवल उनकी सेवाओं का लाभ दूसरे उठा सकते हैं।

(ङ) **शारीरिक या आन्तरिक तथा अ-शारीरिक या बाहरी माल** (Personal or Internal and Impersonal or External Goods) : शारीरिक माल (personal goods) का अर्थ है मनुष्य के निजी गुण जैसे उसकी योग्यता, कौशल आदि, जो अभौतिक हैं और मनुष्य के अन्दर रहते है। यह 'माल' मनुष्य से अलग नहीं किए जा सकते। उनकी सत्ता मनुष्य की सत्ता तक ही सीमित है और वे व्यक्ति से अभिन्न समझे जाते हैं। एक प्रकार से यह 'माल' स्वयं मनुष्य है।

अ-शारीरिक माल (impersonal goods) वे हैं जो व्यक्तिगत, शरीर से सम्बन्धित न हों। यह बाह्य होते हैं और इनकी सत्ता मनुष्य से पृथक होती है। यह माल 'स्वयं मनुष्य' नहीं है वरन् मनुष्य के 'पास', उसके अधिकार में है। जैसे ज़मीन, मकान, आदि।

(च) **व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक माल** (Private and Public goods) : व्यक्तिगत माल व्यक्ति-विशेष की अपनी सम्पत्ति होती है जैसे वे जमीनें या मकान जिनका कोई खुद स्वामी हो और जिसमें दूसरों का कोई हिस्सा अथवा दखल न हो।

सार्वजनिक माल (Public goods) वे हैं जो सारे समाज की सामूहिक सम्पत्ति हैं, जैसे टाउन हाल, पाठशाला अथवा हस्पताल। इनका स्वामित्व व अधिकार समाज के हाथ में सामूहिक रूप से है।

(छ) हम 'माल', को आवश्यकताएँ (necessaries), आराम (comforts) एवं विलासिता सम्बन्धी माल (luxuries) की कोटियों में भी विभाजित कर सकते हैं। किन्तु इनकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

माल और उनका वर्गीकरण

(Goods and their Classification)

माल (Goods)

(अर्थात् वे पदार्थ जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करें)

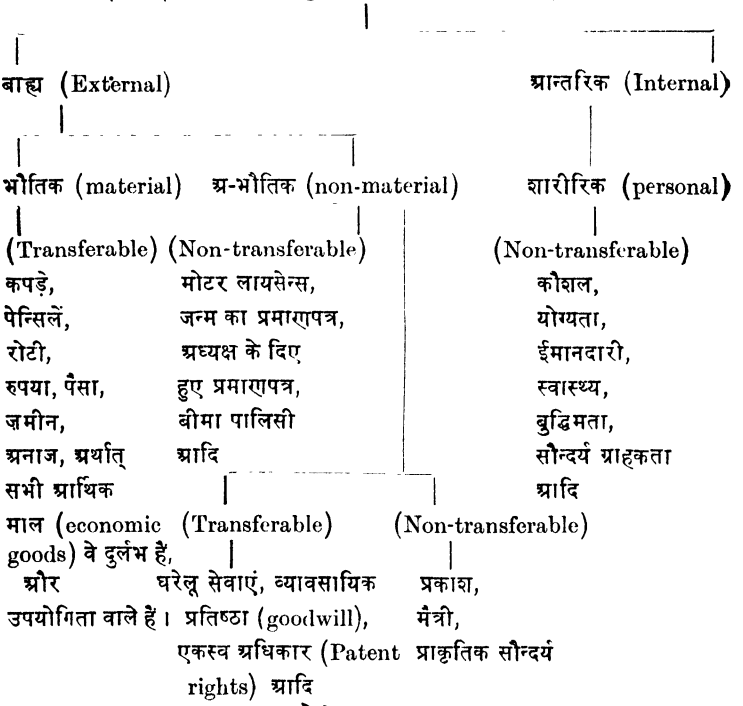

उपयोगिता (Utility)

४. उपयोगिता की परिभाषा (Definition of Utility) :—हम देख चुके हैं कि माल (goods) मनुष्य की आवश्यकताओं (wants) की सन्तुष्टि करते हैं। पदार्थों (goods) में आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने का यह गुण ही उपयोगिता (utility) कहलाता है। उपयोगिता का अर्थ है आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य या शक्ति।

उपयोगिता (utility) और लाभदायक होना (usefulness) एक ही बात नहीं। हो सकता है कि एक वस्तु मनुष्य की आवश्यकता को सन्तुष्ट कर सकती है, किन्तु फायदामन्द होने की बजाय वास्तव में हानिकारक हो जैसे अफीम और ज़हर। लेकिन क्योंकि यह मनुष्य की इच्छा या आवश्यकता को सन्तुष्ट करती हैं और कुछ लोग इन्हें खरीदने के लिए तैयार होते हैं, हम कहते हैं कि इनमें उपयोगिता होती है चाहे इनका प्रयोग भले ही हानिकारक हो। इसी प्रकार से एक व्यक्ति के पास एक

अश्लील और भद्दा चित्र हो सकता है, लेकिन अगर दूसरा व्यक्ति उसके दाम देने को तैयार है तो अर्थशास्त्री होने के नाते हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि उस चित्र में उपयोगिता (utility) है। इसलिए उपयोगिता के शब्द का अर्थ जैसा कि अर्थशास्त्र में प्रयुक्त होता है, कोई नैतिक महत्त्व नहीं रखता।

उपयोगिता और आनन्द का अर्थ एक नहीं है : एक पदार्थ में उपयोगिता हो सकती है, किन्तु सम्भव है प्रयोग करने पर आनन्ददायी न हो, जैसे कुनैन। परन्तु इसके कड़वे स्वाद के बावजूद लोग इसे खरीदते और इस्तेमाल करते हैं क्योंकि यह उनकी एक ज़रूरत को पूरा करती है।

उपयोगिता का अर्थ सन्तुष्टि नहीं है : उपयोगिता किसी पदार्थ का वह गुण है जिसके कारण वह पदार्थ हमें सन्तुष्टि देता है। संतुष्टि वह है, जो हम प्राप्त करते हैं, और उपयोगिता वह जो उस पदार्थ में होती है। यह कहना कि आम हमें उपयोगिता देता है, हमारे शास्त्र की दृष्टि से गलत होगा। हमें यह कहना चाहिए कि आम में उपयोगिता है, या यह कि वह हमें संतुष्टि देता है।

उपयोगिता व्यक्तिगत है : उपभोक्ता से बेलाग पदार्थ में अपने आप कोई उपयोगिता नहीं हो सकती। उपभोक्ता की दृष्टि ही उसे उपयोगिता प्रदान करती है। अन्धा आदमी चित्र नहीं देख सकता। तो चित्र की उपयोगिता नहीं। तम्बाकू न पीने वाले के लिए सिगरेट की कोई उपयोगिता नहीं है। उपयोगिता हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होती है। एक ही व्यक्ति के लिए भी एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न समयों और स्थानों पर भिन्न-भिन्न उपयोगिता रख सकती है। एक गरम सूट में गर्मियों की अपेक्षा जाड़ों मे अधिक उपयोगिता होती है।

फिर एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न उपयोगिता भी हो सकती है। उदाहरण के लिए पीने, नहाने और कपड़े धोने में पानी की अलग-अलग उपयोगिता है। और फिर ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उपयोगिता बदलती रहती है। हम एक वस्तु के नवीन उपयोग खोज सकते हैं। बहुत-सी वस्तुओं (byproducts) से जो पहले बेकार समझ कर फेंक दी जाती थी, अब काफी लाभ उठाया जा रहा है।

एक चीज़ का रूप बदल जाने से भी उसकी उपयोगिता बदल सकती है।

मेज़ के रूप में परिवर्तित हो जाने के बाद एक लकड़ी के शहतीर की वही उपयोगिता नही रहती जो पहले थी।

अलग-अलग हाथों में जाने पर या स्वामित्व बदले जाने पर एक वस्तु की उपयोगिता भी भिन्न हो जाती है। जब एक धनी अपने शेष रुपए को बैंक में जमा करवा देता है तो वह रुपया किसी ज़रूरतमन्द को उधार दिया जा सकता है। इस प्रकार उस 'धन' में वह उपयोगिता आ जाती है जो पहले उसमें न थी। इसी प्रकार जब एक खेतिहर एक ऐसे आदमी से ज़मीन खरीदता है, जो स्वयं काश्तकार नहीं है तो उस ज़मीन की उपयोगिता बढ़ जाती है। एक अफ्रीकी गुलाम के हाथ पर बँधी हुई घड़ी की कोई उपयोगिता नहीं, यदि वह घड़ी देखना नहीं जानता। परन्तु आपके हाथ में उसी घड़ी की बहुत उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। इस सब चर्चा से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि किसी वस्तु की उपयोगिता अवस्थाओं के बदलने पर बदल जाती है।

५. क्या हम उपयोगिता को माप सकते हैं ? (Can we measure utility ?) :—एक मनुष्य के लिए किसी वस्तु की उपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि वह उस वस्तु को कितना महत्व देता है । एक किताब की उपयोगिता एक विद्यार्थी के लिए एक अनपढ़ मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक है । इस प्रकार उपयोगिता किसी मनुष्य की मानसिक अवस्था को प्रतिबिम्बित करती है । क्या हम इस मानसिक अवस्था की माप कर सकते हैं ? ऐसा प्रतीत होता है कि हम नहीं कर सकते । लेकिन हमारे पास एक माप-दण्ड है और वह है पैसा—जो यहाँ हमारी सहायता करता है । जब हम एक फाउंटेनपेन के दस रुपये देने के लिए तैयार हो जाते हैं, तो यह साफ पता लग जाता है कि हम उसे दस रुपये के योग्य समझते हैं । दूसरे शब्दों में इसकी उपयोगिता हमारे लिए १०) के बराबर है और इस प्रकार उपयोगिता रुपयों से मापी जाती है ।

६. उपयोगिता की किस्में (Forms of Utility) :—

(अ) रूपगत उपयोगिता (Form utility) : किसी वस्तु की शक्ल बदल देने से हम उसे अधिक उपयोगिता प्रदान कर सकते हैं । जैसे किसी लकड़ी के लट्ठे को मेज़ कुर्सी आदि में बदलना । इसे रूपगत उपयोगिता (form utility) कहते हैं ।

(ब) स्थानीय उपयोगिता (Place utility) : किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से भी उसकी उपयोगिता बढ़ सकती है । जब इमारती लकडी बाज़ार में पहुँच जाती है, तो जंगल की अपेक्षा उसमें उपयोगिता अधिक हो जाती है ।

(स) सामयिक उपयोगिता (Time utility) : किसी वस्तु को गोदाम में जमा रख कर, अभाव के समय बेचकर हम उसे अधिक उपयोगिता प्रदान कर सकते हैं । इसे सामयिक उपयोगिता कहते हैं ।

मूल्य (Value)

७. मूल्य का अर्थ (Meaning of Value) :—मूल्य (value) अर्थशास्त्र में दूसरा शब्द (term) है, जिसका बहुत प्रयोग होता है । परन्तु हम अर्थशास्त्र में इसको उसी अर्थ में प्रयोग नही करते, जिसमें हम रोज की बोलचाल में करते है । हम अक्सर कहते हैं कि शिक्षा का बड़ा मूल्य है, अथवा ताज़ी हवा अत्यन्त मूल्यवान् है । यहाँ पर मूल्य शब्द का प्रयोग लाभदायक अथवा हितकारी होने के अर्थ में हुआ है । यह उपयोगात्मक मूल्य है (value in use) जिसके लिए अर्थशास्त्री उपयोगिता (utility) शब्द का प्रयोग करते हैं । अर्थशास्त्र में मूल्य (value) शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं होता । इस माने में हम उपयोगिता (utility) शब्द का ही प्रयोग करते हैं ।

अर्थशास्त्र मूल्य (value) शब्द का प्रयोग विनिमय-गत-मूल्य (value-in-exchange) के अर्थ में करते हैं । मूल्य (value) शब्द उन पदार्थों की ओर निर्देश करता है, जो किसी वस्तु के बदले में प्राप्त किए जा सकें । हम ताज़ी हवा को किसी दूसरी वस्तु से नहीं बदल सकते ; इसलिए अर्थशास्त्र की दृष्टि से हवा का मूल्य

(value) नहीं है, क्योंकि यह किसी दूसरी वस्तु से बदली नहीं जा सकती। दूसरी तरफ एक पेन्सिल का मूल्य होता है क्योंकि हम इसके बदले में थोड़ी-सी स्याही अथवा कागज़ का टुकड़ा ले सकते हैं। इस प्रकार, किसी वस्तु के मूल्य (value) का अर्थ है वे वस्तुएं या सेवाएँ जो उसके बदले में हम प्राप्त कर सकते हैं। संक्षेप में यह किसी वस्तु की उस शक्ति का नाम है जिससे वह अपने बदले में दूसरी वस्तुएँ और सेवाएँ ला सकती है। यह बदले में अन्य चीज़ें प्राप्त करने वाली शक्ति है।

तब यह बात साफ़ है कि किसी वस्तु का मंडी में मूल्य तभी हो सकता है, जब यह वस्तु निर्मूल्य माल न हो, क्योंकि मुफ़्त चीज़ के लिए कोई भी कुछ देने के लिए तैयार न होगा। कोई भी व्यक्ति निर्मूल्य माल (free goods) को बिना कुछ दिए, जितना चाहे पा सकता है। अर्थशास्त्र की दृष्टि में केवल आर्थिक माल (economic goods) का ही मूल्य हो सकता है। इससे पहले कि किसी वस्तु का कुछ मूल्य (value) हो, उसमें निम्नलिखित तीन गुण होने आवश्यक है :—

(क) उसमें उपयोगिता होनी चाहिए ;

(ख) वह दुर्लभ (scarce) होनी चाहिए ;

(ग) और उसमें एक से दूसरे को दिए जाने की क्षमता (transferability) होनी चाहिए।

इन गुणों में से किसी एक गुण के न होने से किसी वस्तु का कोई मूल्य न होगा, जो वस्तु दुर्लभ नहीं है, उसके बदले में अथवा जिस वस्तु में कोई उपयोगिता नहीं उसके लिए कोई कुछ देने के लिए तैयार न होगा।

८. **कीमत** (Price) :—जब मूल्य (value) को द्रव्य (money) में प्रकट किया जाता है, तो उसे कीमत (price) कहते हैं। आदिम काल में लोग द्रव्य (money) का प्रयोग न जानते थे। वे वस्तुओं के बदले में वस्तुओं का विनिमय करते थे। इस विधि को वस्तु-विनिमय (barter) कहते है। उस ज़माने में किसी वस्तु के मूल्य (value) का मतलब उस वस्तु या वस्तुओं से होता था जो उसके बदले में ली जा सकें।

आधुनिक समय में, साधारणतया पदार्थों को रुपयों के बदले में लिया दिया जाता है। इसलिए आजकल किसी वस्तु के मूल्य का अर्थ उन रुपयों से होता है, जो उसके बदले में मिल सकें, अर्थात् उसकी वह कीमत (price) जो मंडी में उठे।

९. **मूल्य सापेक्ष है** (Value is Relative) :—किसी भी वस्तु का मूल्य अन्य वस्तुओं से अलग स्वतन्त्र रूप से नहीं बताया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि फाउंटेनपेन का मूल्य बहुत है, तो इसका मतलब केवल उसकी उपयोगिता होगा। परन्तु अर्थशास्त्र की दृष्टि से एक फाउंटेनपेन का मूल्य बताने के लिए हमें उन दूसरी वस्तुओं का ज़िक्र करना होगा, जो उसके बदले हमें मिल सकती हैं।

मूल्य (Value) कुछ विशेष वस्तुओं को बराबर करता है, जैसे एक फाउंटेन-पेन के बदले में यदि पांच दर्जन पैन्सिलें मिल सकती हैं, तो फाउंटेनपेन यहाँ पाँच दर्जन पैन्सिलों के बराबर हुआ। मूल्य (value) दो वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध प्रकट करता है। इसलिए मूल्य सापेक्ष है। कोई भी वस्तु अपना स्वतन्त्र महत्व नहीं रखती।

जब हम उसके मूल्य (value) के बारे में सोचते हैं, तो हम सदा दूसरी चीज़ों के बारे में भी सोचते हैं, जिनके मुकाबले में मूल्य प्रकट किया जा सकता है। चाहे वह रुपया-पैसा हो या कोई दूसरी वस्तु।

मूल्य सापेक्ष है, और इसलिए वह दो वस्तुओं के बीच में एक समीकरण (equation) बतलाता है। यह समझना सरल है कि समीकरण (equation) के दोनों पक्ष एक साथ ही ऊँचे नहीं उठ सकते। पहला उदाहरण ही लीजिए, एक फाउंटेनपेन=पाँच दर्जन पैन्सिलें। अगर फाउंटेनपेन का मूल्य बढ़ता है तो इसमें और ज्यादा पैन्सिलें खरीदने की ताकत आएगी जिसका मतलब यह होगा, कि पैन्सिलों का मूल्य गिर गया। परन्तु यदि पैन्सिलों का मूल्य अधिक हो जाए तो एक फाउन्टेन-पेन खरीदने के लिए पांच दर्जन से कम पैन्सिलों की आवश्यकता होगी। इसका मतलब यह हुआ कि फाउंटेनपेन का मूल्य गिर गया। इस प्रकार यदि एक चीज़ मूल्य में ऊँची उठती है, तो दूसरी मूल्य में गिर जाएगी। दोनों का मूल्य एक साथ ही घट या बढ़ नहीं सकता। इसलिए सभी मूल्यों में इकट्ठा उतार-चढ़ाव नहीं हो सकता।

लेकिन कीमतें सारी एक साथ घट या बढ़ सकती हैं। आजकल हम कीमत में इसी तरह की वृद्धि देखते हैं। एक ही समय में सब चीज़ों की कीमत बढ़ गई है। लेकिन यहां हम समीकरण के एक पहलू को, पदार्थों के पहलू को, देखते हैं, और दूसरे को अर्थात् द्रव्य के पहलू को नहीं। सब पदार्थों का मूल्य बढ़ गया है, किन्तु द्रव्य का मूल्य गिर गया है। इस प्रकार सभी कीमतें बढ़ गई हैं, किन्तु सभी मूल्य नहीं बढ़े हैं।

धन (Wealth)

१०. धन का अर्थ (Meaning of Wealth) :—अर्थशास्त्र का अध्ययन शुरू करने वाले के मस्तिष्क में धन (wealth) शब्द से काफी भ्रम उत्पन्न होता है, यह इसलिए है कि अर्थशास्त्र में धन शब्द दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होता है, और साधारण बोलचाल में दूसरे अर्थों में।

साधारण बोलचाल में 'धन' से अधिकता का ख्याल पैदा होता है। इसका अर्थ होता है, ज़ेवर, जायदाद, पैसा, अमीरी आदि। धन वाला आदमी अमीर है, जो समृद्ध है वही धनवान है। किन्तु अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुसार व्यक्ति के पास, गरीब से गरीब के पास भी, कुछ धन अवश्य होता है, जैसा कि हम अभी देखेंगे। बोलचाल में धन से लोगों का मतलब होता है रुपया-पैसा। किन्तु अर्थशास्त्र में केवल पैसा ही धन नहीं समझा जाता, बल्कि हर वह वस्तु जिसका कुछ मूल्य (value) है, धन होती है।

अर्थशास्त्र में धन (wealth) शब्द का अर्थ है, तमाम आर्थिक माल (economic goods)। आर्थिक माल दुर्लभ (scarce) होते हैं और बाज़ार में उनकी कीमत लगती है।

किन्तु कमी या दुर्लभता से ही कोई माल धन नहीं बन जाता। अगर कोई चीज़ किसी काम की नहीं है तो उसके लिए कौन पैसा देगा? कोई उसे लेना न चाहेगा।

कोई माल अपने आप, मनुष्य और उसकी इच्छाओं से अलग, धन नहीं होता। वह धन तब बनता है जब मनुष्य को उसकी आवश्यकता होती है। और वह उसका उपभोग करता है। इसलिए दुर्लभ होने के अतिरिक्त वस्तु में उपयोगिता भी होनी चाहिए यद्यपि यह जरूरी नहीं है कि वह वस्तु लाभ पहुँचाने वाली ही हो। एक हानिकारक वस्तु भी धन कही जाएगी यदि उसमें कोई उपयोगिता हो और वह किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट कर सके। फिर धन में स्वामित्व का विचार भी सम्मिलित है। उसका मतलब यह है कि जब तक यह सम्भव न हो कि उस बस्तु पर स्वामित्व का अधिकार जमाया जा सके, और जब तक उसे एक से दूसरे के हाथ में न दिया जा सके तब तक उसकी गिनती धन में नहीं होती।

इस प्रकार धन के तीन गुण हैं :—उपयोगिता (utility), दुर्लभता (scarcity) और परिवर्तनशीलता (transferability)। यदि आप यह पता लगाना चाहें कि अमुक पदार्थ धन है या नहीं तो अपने से तीन प्रश्न पूछिए। (1) क्या यह किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है? (2) क्या यह दुर्लभ है? (3) क्या इसका एक से दूसरे के पास हस्तांतरण हो सकता है? यदि इन तीन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' हो तो वह पदार्थ धन है और इन तीनों में से किसी का उत्तर भी 'नहीं' हो तो हम उसे धन की श्रेणी से निकाल देंगे।

इन परीक्षाओं को लागू करके हम पाते हैं कि रुपया-पैसा, जमीन, जायदाद, मकान, फर्नीचर, मशीनरी, कपड़े, सोना, चाँदी, व्यावसायिक प्रतिष्ठा (goodwill), वास्तव में सभी पार्थिव या अपार्थिव वस्तुएँ जो मनुष्य की इच्छा पूर्ति के साधन हैं, इसलिए जिन्हें पाना मनुष्य का उद्देश्य है, जो दुर्लभ हैं और जिन्हें बाजार में खरीदा बेचा जा सकता है, वे सभी धन हैं।

मिलकियत के दस्तावेज, जैसे हुण्डी, बिल्टी, जायदाद के कागज पत्र, और बीमा पालिसी आदि भी धन हैं। ये मूल्यवान हैं क्योंकि ये सम्पत्ति की मिलिकियत को प्रकट करते हैं। इसलिए इन्हें कभी-कभी प्रतिनिधि धन (representative wealth) कहा जा सकता है।

किन्तु बे पैसे का माल (free goods) जैसे ताजी हवा, पानी और धूप आदि धन नहीं हैं, जब तक कि वे बड़े शहरों में दुर्लभ नहीं हो जाते और उनको पाने के लिए कीमत अदा नहीं करनी पड़ती।

व्यक्तिगत गुण जैसे ईमानदारी, निपुणता, योग्यता और बुद्धि भी धन नहीं हैं। वे धन का स्रोत हैं किन्तु स्वयं धन नहीं है, क्योंकि उनका परिवर्तन (transfer) नहीं किया जा सकता। वे किसी दूसरे को नहीं दिए जा सकते।

इसी प्रकार महासागर, खाड़ियाँ, जल धाराएँ, सूर्य, चाँद इत्यादि धन नहीं हैं क्योंकि वे किसी की मिलकियत या जायदाद नहीं हैं।

इनसान धन नहीं हैं, जब तक कि वे गुलाम न हों क्योंकि गुलाम होने पर तो वे अपने मालिक की सम्पत्ति बन जाते हैं और उनको दिया लिया जा सकता है; पर वैसे नहीं।

११. **द्रव्य और धन** (Money and Wealth) :—द्रव्य धन है, जैसा कि

ऊपर बताया जा चुका है। इसमें उपयोगिता है, यह दुर्लभ है। और इसका हस्तांतरण (transfer) किया जा सकता है। इसलिए तमाम द्रव्य धन है किन्तु सभी धन द्रव्य नहीं है जैसा कि साधारणतया बोलचाल में लोग समझते हैं। धन के अनेक रूप होते हैं। इसमें सभी तरह की सम्पत्ति शामिल है। द्रव्य उनमें से एक है।

१२. **धन और आय** (Wealth and Income) :—आय वह है जो धन के उत्पादन से प्राप्त होती है। एक आदमी के पास बहुत-सी अचल सम्पत्ति हो सकती है। मान लो वह दो लाख रुपए की है। यह उसका धन है। लेकिन एक वर्ष में इस धन से उसे कितना और धन प्राप्त होता है? मान लीजिए दस हजार रुपया। यह उसकी आय (income) है। धन एक कोष अथवा निधि (fund) है और आय एक प्रवाह।

१३. **धन और कल्याण** (Wealth and Welfare) :—साधारणतया धन से कल्याण में वृद्धि होती है। यदि कोई व्यक्ति अमीर हो तो वह खुद भी मजे से रह सकता है और दूसरों की भी सहायता कर सकता है। इस तरह धन से कल्याण में वृद्धि होती है। धन कल्याण का साधन है और कल्याण धन का उद्देश्य। किन्तु अर्थशास्त्री जिसे धन कहते हैं वह, यह जरूरी नहीं, कि अच्छा और हितकारी ही हो। वह हानिकारक भी हो सकता है। उदाहरणार्थ कोई बुरी किताब, जहरीली दवा, अफीम, शराब, तम्बाकू आदि इनकी गिनती धन में होती है। किन्तु इनके प्रयोग से मानवीय कल्याण में कोई वृद्धि नहीं होती। अर्थशास्त्रियों द्वारा बताए गए धन को हित-अहित से कोई सरोकार नहीं है। उसमें कोई नैतिक या सदाचरण-सम्बन्धी अर्थ मिला हुआ नहीं है।

फिर जैसा पहले कहा जा चुका है, धन बढ़ने का मतलब कल्याण में अवश्यम्भावी वृद्धि नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना है कि कुछ आर्थिक माल बढ़ गए हैं क्योंकि वे लोगों की सम्पत्ति बन गए हैं और कुछ निर्मूल्य माल, जैसे ताजी हवा, पानी आदि, जो बहुत लाभदायक और आवश्यक हैं, घट गए हैं। यह दावा नहीं किया जा सकता कि हर परिस्थिति में धन की वृद्धि से समाज का कल्याण भी जरूर बढ़ गया है।

इस प्रकार धन और कल्याण एक ही अर्थ वाले शब्द नहीं हैं।

धन का वर्गीकरण (Classification of Wealth) : धन का वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है :—

(i) **व्यक्तिगत धन** (Individual Wealth) : एक व्यक्ति का धन होता है :

(क) उसकी भौतिक सम्पत्ति जैसे नगदी, जमीन, मकानादि, ढोर, फर्नीचर, पूंजी, शेयर आदि ;

(ख) अ-भौतिक सम्पत्ति जैसे व्यवसाय की प्रतिष्ठा, जिसकी बाजार में कीमत उठ सकती है ; किन्तु धन में हम निपुणता, बुद्धि जैसे निजी गुणों, को नहीं गिनते जो बेचे नहीं जा सकते। हम उसका उधार लिया हुआ रुपया भी उसके धन में से घटा देते हैं क्योंकि वह वापिस किया जाना है।

(ii) **निजी धन** (Personal Wealth) : जैसा ऊपर बताया गया है, बुद्धि और निपुणता जैसे निजी गुण धन नहीं हैं। किन्तु उन्हें 'निजी धन' नाम दिया जाता है।

(iii) **सामाजिक या सामूहिक धन** (Social or Communal Wealth) : राज्य या म्यूनिसिपैलिटी की सम्पत्ति जैसे सभा भवन, सचिवालय, सड़कें, पार्क, राजकीय रेलपथ, सार्वजनिक पुस्तकालय, अजायबघर आदि वे वस्तुएँ जो सारे समाज या समुदाय की सामूहिक सम्पत्ति हैं, सार्वजनिक या सामूहिक धन कहलाती हैं।

(iv) **राष्ट्रीय धन** (National Wealth) : राष्ट्रीय धन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो संकुचित अर्थ में और दूसरे व्यापक अर्थ में। संकुचित अर्थ में यह नागरिकों के धन का जोड़ (aggregate) है, जिसमें उनके एक दूसरे को दिए जाने वाले ऋण शामिल नही किए जाते। यहाँ हम धन शब्द को ऊपर दिए अर्थ में लेते हैं।

मोटे तौर पर कभी-कभी राष्ट्रीय धन में नदियाँ, पहाड़, अच्छी जलवायु, अच्छी सरकार, जनता का ऊँचा चरित्र आदि भी शामिल कर लिया जाता है, क्योंकि वे मूल्यवान राष्ट्रीय पूँजी (assets) हैं। परन्तु धन का यह अर्थ आर्थिक माल से कही अधिक विशाल हो जाता है।

(v) **विश्व धन** (Cosmopolitan Wealth) : यह सारे संसार का धन है, सभी राष्ट्रों के धन का कुल जमा।

(iv) **ऋणात्मक धन** (Negative Wealth) : इसका अर्थ है वे कर्जे जो व्यक्तियों अथवा राज्यों ने चुकाने हैं। यदि कोई वस्तु अपने लिए हानिकारक है तो वह भी ऋणात्मक धन समझी जाती है जैसे फसल को खराब करने वाले जंगली सुअर। हमारे चीनी कारखानों को कुछ समय हुआ अपने अहातों में से शीशा हटाने में काफी व्यय करना पड़ा था। ऐसी परिस्थिति में शीशा ऋणात्मक धन था।

अर्थशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले कुछ आवश्यक शब्दों (terms) की जानकारी पा लेने के बाद हम अब अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों अर्थात् उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और सार्वजनिक वित्त का एक-एक करके अध्ययन करेंगे।

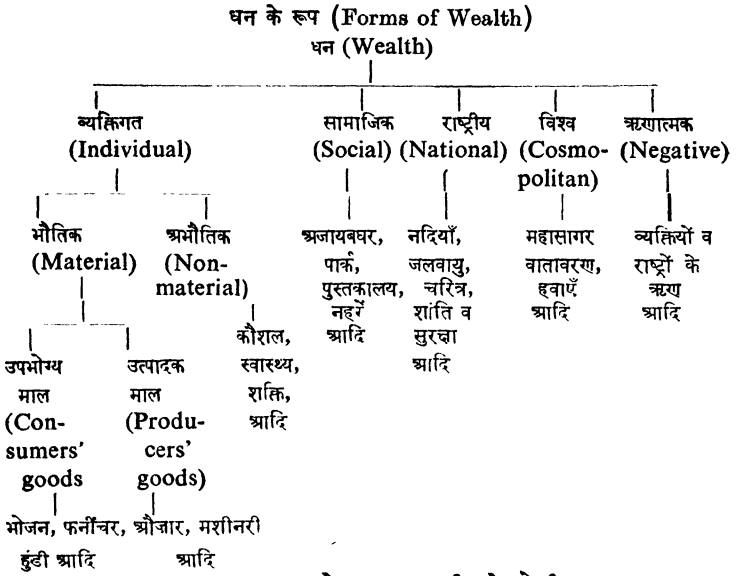

इस अध्याय से तुम क्या सीखते हो ?

माल (Goods) : वे तमाम वस्तुएँ जो किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती हैं, माल कहलाती हैं।

माल के प्रकार (Kinds of goods) : निर्मूल्य माल (free goods) : उदाहरण के लिए हवा, धूप, पानी आदि जो प्रकृति के निर्मूल्य उपहार हैं।

आर्थिक माल (Economic goods) : उदाहरण के लिए, द्रव्य, भूमि, मकान, फर्नीचर कपड़े आदि। यह मात्रा में परिमित हैं और केवल कीमत पर ही मिल सकते हैं।

इन दोनों में भेद स्थायी नहीं है। विशेष परिस्थितियों में एक निर्मूल्य माल भी आर्थिक माल बन सकता है।

आर्थिक माल में वृद्धि के साथ मानव-कल्याण में वृद्धि आवश्यक नहीं है।

उपभोग्य माल (Consumers' goods) : जैसे, भोजन, कपड़े, मकान आदि।

उत्पादक माल (Producers' goods) : जैसे, औजार, उपकरण, मशीनरी आदि।

भौतिक माल (Material goods) जैसे, नगदी, कपड़े, मकान, फर्नीचर आदि।

अ-भौतिक-माल (Non-material goods) : जैसे, व्यावसायिक प्रतिष्ठा।

परिवर्तनशील माल (Transferable goods) : अर्थात् वे पदार्थ जिनका हस्तांतरण किया जा सकता है, यानी बेचा या खरीदा जा सकता है। जैसे, भूमि, मकान, मोटरें, औजार आदि।

अपरिवर्तनशील माल (Non-transferable goods) : जैसे, व्यक्तिगत गुण, कौशल, निपुणता।

शारीरिक माल (Personal goods) : जैस, कौशल, योग्यता, बुद्धि आदि।

अशारीरिक माल (Impersonal goods) : अर्थात् मनुष्य की भौतिक सम्पत्ति का कोई रूप।

व्यक्तिगत माल (Private goods) : अर्थात् वे जो व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति हैं।

सार्वजनिक माल (Public goods) : जैसे सरकार या म्यूनिसिपैलिटी की सम्पत्ति।

उपयोगिता (Utility) : यह किसी वस्तु की आवश्यकता-पूर्ति की क्षमता है। उपयोगिता और लाभदायक होना (usefulness) एक बात नहीं है। किसी वस्तु के हानिकारक होते हुए भी उसमें उपयोगिता हो सकती है।

उपयोगिता और आनन्द भी एक बात नहीं है। कोई वस्तु जैसे कुनीन, कड़वी हो सकती है किन्तु उसमें उपयोगिता तो है।

उपयोगिता का अर्थ सन्तुष्टि नहीं है। उपयोगिता उस वस्तु में होती है जिस वस्तु से हमें सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

उपयोगिता व्यक्तिगत है। यह हर व्यक्ति के लिए भिन्न है। एक तम्बाकू पीने वाले के लिए सिगरेट में उपयोगिता है। न पीने वाले के लिए नहीं।

उपयोगिता स्थान, समय, रूप और स्वामित्व के परिवर्तन के साथ-साथ बदल सकती है।

उपयोगिता का माप (Measurement of Utility) : यद्यपि उपयोगिता व्यक्तिगत है और उपभोक्ता के मन की बात है, फिर भी उसको इस बात से मापा जा सकता है कि एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए कितनी मात्रा में द्रव्य देने को तैयार है।

उपयोगिता के रूप (Forms of Utility) : रूपगत उपयोगिता (form utility), स्थानीय उपयोगिता (place utility), सामयिक उपयोगिता (time utility)।

मूल्य (Value) : इसका अर्थ है विनिमय-गत-मूल्य (value-in-exchange) या उपयोगात्मक मूल्य (value-in-use)। किसी वस्तु के मूल्य के अर्थ हैं वे अन्य वस्तुएँ तथा सेवाएँ जो उस वस्तु के बदले में मिल सकती हैं।

मूल्यवान होने के लिए किसी वस्तु में (i) उपयोगिता (ii) दुर्लभता और (iii) दिए लिए जा सकने की क्षमता होनी चाहिए।

कीमत (Price) : द्रव्य के रूप में मूल्य कीमत कहलाता है।

मूल्य सापेक्ष है (Value is Relative) : मूल्य दो वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध प्रकट करता है। मूल्य सदैव किसी अन्य वस्तु के मुकाबले में गिना जाता है।

मूल्यों में इकट्ठा उतार चढ़ाव नही हो सकता, यद्यपि कीमतों में इकट्ठी वृद्धि हो सकती है। यह इसलिए कि मूल्य सापेक्ष है। यदि एक वस्तु का मूल्य ऊपर उठता है तो दूसरी का अवश्य गिरता है। सभी कीमतें ऊपर उठ सकती हैं क्योंकि उस अवस्था में द्रव्य का मूल्य गिर जाता है।

धन (Wealth) : यह आर्थिक माल का दूसरा नाम है। धन के तीन गुण हैं :

(i) उपयोगिता, (ii) दुर्बलता और (iii) परिवर्तनशीलता।

बे-पैसे का माल (free goods) धन नहीं हैं। शारीरिक गुण भी धन नहीं हैं।

द्रव्य और धन : सभी द्रव्य धन है, किन्तु सभी धन द्रव्य नही है।

धन और आय : धन एक कोष है, आय एक प्रवाह।

धन और कल्याण : धन साधारणतया कल्याण की वृद्धि करता है। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। अनेक हानिकारक पदार्थों की भी धन में गिनती होती है। दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं।

धन का वर्गीकरण (Classification of Wealth) : व्यक्तिगत धन (Individual wealth) किसी व्यक्ति का धन। किन्तु इसमें बुद्धि जैसे उसके शारीरिक गुण तथा उसके ऋण सम्मिलित नहीं हैं।

निजी धन (Personal Wealth) : जैसे, कुशलता, बुद्धि आदि।

सामाजिक धन (Social Wealth) : जैसे, सरकारी और म्यूनिसिपल सम्पत्ति।

राष्ट्रीय धन (National Wealth) : सारे राष्ट्र का धन। अर्थात् सभी व्यक्तियों के धन का कुल जोड़। व्यापक अर्थ से इसमें जलवायु, पहाड़ और नदियाँ भी सम्मिलित हैं।

विश्व धन (Cosmopolitan Wealth) : सारे विश्व का धन।

ऋणात्मक धन (Negative Wealth) : जैसे ऋण या कोई ऐसी वस्तु जो एक बोझ हो।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. In what sense is the term 'goods' used in Economics ? Distinguish betweeen economic goods and free goods.

देखिए विभाग २, ३ ।

2. Define the term 'utility' as used in Economics. Does a harmful thing like alcohol possess utility ? Give reasons.

देखिए विभाग ४ ।

3. What do you mean by utility ? Distinguish between :—

(*a*) Utility and Usefulness.

(*b*) Utility and Pleasure.

(*c*) Utility and Satisfaction. देखिए विभाग ४ ।

4. What is meant by 'value' in Economics ? Distinguish between value-in-exchange and value-in-use and price. Explain why coal which possesses an infinitely greater utility than diamonds has less value. देखिए विभाग ७ और ८ ।

[मूल्य केवल उपयोगिता पर निर्भर नहीं है । यह दुर्लभता पर भी निर्भर है । हीरे कोयले की अपेक्षा अधिक दुर्लभ हैं इसलिए उनका मूल्य अधिक है ।]

5. Explain the terms:

(i) Value-in-use.

(ii) Value-in-exchange.

(iii) Price.

6. What do you understand by the term value ? Can you see any difference in the use of this term in the following sentences :—

(*a*) There is nothing *valuable* than a good friend.

(*b*) The *value* of air for human life is immense.

(*c*) *Values* have been rising recently due to war.

(*d*) Gold has more *value* than silver.

मूल्य की परिभाषा के लिए देखिए विभाग ७ ।

(*a*) मूल्यवान का अर्थ यहाँ है 'प्रिय' या 'प्राप्त करने योग्य' यहाँ 'मूल्य' शब्द आर्थिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

(*b*) यहाँ मूल्य का अर्थ है उपयोगात्मक मूल्य अर्थात् उपयोगिता ।

(*c*) यह मूल्य 'कीमत' के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

(*d*) यह इस पद का उचित उपभोग है । इसका अर्थ है विनिमयगत मूल्य ।

7. Explain : 'Value is relative.' Show why there cannot be general rise in values, though there can be a general rise in prices.

देखिए विभाग ९ ।

8. Explain the term 'Wealth' as it is understood in Economics. (राजपूताना १९४१, दिल्ली १९३३) ।

Distinguish between Wealth, Capital and Income.

देखिए विभाग १०-१२

9. What is meant by wealth in Economics ? Is money wealth ? Give reasons for your answer. (बिहार १९५३)

देखिए विभाग १०-११ ।

क्या आप निम्नलिखित को धन मानेंगे :—

	उत्तर
(*a*) देश प्रेम	नहीं।
(*b*) सर्जन की निपुणता	नहीं।
(*c*) प्रोफेसर की योग्यता	नहीं।
(*d*) पंजाब की पांच नदियां	व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय धन।
(*e*) मजदूर की साप्ताहिक मजदूरी	यह आय है धन नहीं।
(*f*) कालेज अथवा टाउन हाल	सामाजिक धन है।
(*g*) रुपये का सिक्का	यह धन है।
(*h*) महात्मा गांधी का औटोग्राफ	केवल जब महात्मा गांधी कोई कीमत मांगते हों और यह बिक सकता हो।
(*i*) जस्त का एक युद्ध-मैडल	नहीं।
(*j*) जीवन बीमा पालिसी	हाँ, उसके surrender value की मात्रा तक।
(*k*) वार-बाण्ड	व्यक्ति का धन किन्तु राष्ट्र का ऋणात्मक धन।
(*l*) कुश्ती के लिए टिकट	हाँ, आपको बदले में सेवा प्राप्त होती है।

10. How will the wealth of India be affected by the following :—

(*a*) The Government issues a war loan.

(*b*) The Government issues a development loan.

(*c*) The Government pays interest by raising funds by taxation.

(*d*) The Government pays off a loan.

(*a*) धन जनता से सरकार के हाथ में जाता है। कोई वृद्धि नहीं होती। किन्तु उसका प्रयोग विनाश के लिए होता है। इसलिए समुदाय का धन घटता है। Bondholders को अवश्य अपना रुपया मिलेगा और सरकार उसे लोगों पर कर लगाकर अदा करेगी।

(*b*) इससे उद्योग और व्यापार के विकास द्वारा अधिक धन का उत्पादन होगा।

(*c*) धन में कोई वृद्धि न होगी। यह केवल करदाता (tax payer) से bond holder को हस्तांतरण है।

(*d*) जैसा (*c*) में है।

11. Define Wealth and distinguish between Individual Wealth, Collective Wealth and National Wealth.

(कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९१३)

(देखिए विभाग १०-१४)

12. "Ill fares the land to hastening ills a prey,
Where wealth accumulates and men decay."
Do you agree with the poet ?

Or,

"Increase in wealth is not necessarily synonymous with increase of welfare." Discuss. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९)

देखिए विभाग १३।

अध्याय ४

मानवीय आवश्यकताएँ और उनकी तृप्ति

(HUMAN WANTS & THEIR SATISFACTION)

आपकी आवश्यकताएँ अर्थशास्त्र का आरम्भ भी हैं और अन्त भी

१. **प्रवेशिका** (Introductory) :—"मनुष्य इच्छाओं का पुलिन्दा है।" उसकी आवश्यकताएँ अनेक प्रकार की हैं और उनका कोई अन्त नहीं। उसकी कुछ आवश्यकताएँ शारीरिक हैं और जन्म से ही होती हैं। जैसे उसे जीवित रहने के लिए कुछ खाना चाहिए, तन ढकने के लिए कुछ कपड़ा और अपने को जलवायु के क्लेशों और शत्रुओं से बचाने के लिए किसी प्रकार का आश्रय। इन पदार्थों के बिना उसका जीना ही असम्भव है।

किन्तु एक सभ्य व्यक्ति जीवन की इन पहली आवश्यकताओं की तृप्ति से ही सन्तुष्ट नहीं होता। जब उसके जीवन-निर्वाह की समस्या सुलझ भी जाती है तब भी उसका संघर्ष उतना ही कड़ा रहता है। अब संघर्ष होता है आराम और जीवन के आनन्द के लिए। मनुष्य जितना-जितना सभ्य बनता है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। वह बेहतर खाना चाहता है, फैशन वाले कपड़े और अच्छा आरामदेह मकान और इसी तरह और चीजें।

सब लोगों की एक-सी आवश्यकताएँ नहीं होती। आवश्यकताएँ हर व्यक्ति की अपनी-अपनी हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होती हैं और व्यक्ति की शिक्षा, स्वभाव तथा रुचि का फल होती हैं। आज का मनुष्य विकास के एक लम्बे रास्ते को तय करके बना है और यह बात उसकी असंख्य और हमेशा बढ़ती हुई आवश्यकताओं से प्रकट है।

२. **आवश्यकताओं का उदय कैसे होता है?** (How do Wants arise ?) :—आवश्यकताओं की उत्पत्ति तीन मुख्य स्रोतों से मालूम होती है :—

(क) हमारी प्राथमिक आवश्यकताएँ हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से जन्म लेती हैं। हमारा शरीर ऐसा बना है कि उसे निश्चित अरसे के बाद नियमित रूप से भोजन चाहिए। उसे अपनी सुरक्षा के लिए कपड़े तथा आश्रय चाहिए।

(ख) इन प्राथमिक आवश्यकताओं से ऊपर हमारी अन्य बहुत सी आवश्यकताएँ हैं जो हमारी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति से उत्पन्न होती हैं। हम अकेले-अकेले नहीं रहते। हम सब एक संगठित समाज के सदस्य हैं और अन्य साथियों के साथ रहते हैं। इसलिए हमारी सामाजिक जिम्मेदारियाँ हैं और हमें अपने चारों ओर के मनुष्यों की आशाओं के मुताबिक बनना पड़ता है। कपड़ों के मामले में, सामाजिक प्रथाओं के पालन में, किस मुहल्ले में हम रहें यह तय करने में, यहाँ तक कि हम क्या

खाएँ और कैसे खाएँ, हम दूसरे लोगों के मतों और विचारों से प्रभावित होते हैं। इन सब और ऐसे ही अन्य मामलों में हम अपना स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले पाते।

(ग) एक और चीज जो हमारी आवश्यकताओं को जन्म देती है विज्ञापन और प्रचार है जो उत्पादकों द्वारा किया जाता है। हम अक्सर यह देखते हैं कि कुशल और लगातार प्रचार से हमारे अन्दर वस्तुओं को पाने की इच्छा उत्पन्न होती है—ऐसी वस्तुओं की भी जिनकी हमें ज़रूरत नहीं है किन्तु जिन्हें उत्पादकों ने बाजार में रख दिया है। चारों ओर, हमारे ऊपर विज्ञापनों की बौछार है। वे हमें बताते हैं कि नाश्ते में हम अमुक खाना अवश्य खाएं, उस विशेष ऋतु में हम अमुक जूते अवश्य पहनें, हम कोई खास कलम इस्तेमाल करें, आदि आदि।

एक प्रमुख अमरीकी लेखक, डा० डॉड (Dr. Dodd) का विचार है कि हम सब की चार प्रकार की इच्छाएँ या कामनाएँ होती हैं :—

(१) प्रतिष्ठा की इच्छा (Wish for Recognition)।

(२) विभिन्नता व नवीनता की इच्छा (Wish for Variety)।

(३) सुरक्षा की इच्छा (Wish for Security), और

(४) प्रतिक्रिया की इच्छा (Wish for Response)।

यह इच्छाएँ सारी आर्थिक कार्यवाही के मूल में होती हैं।

३. **मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताएँ** (Characteristics of Human Wants) :—मानवीय आवश्यकताओं के गहन अध्ययन से निम्नलिखित विशेषताएँ पता लगी हैं :—

(i) **मानवीय आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं** : हमने पिछले अध्याय में यह अध्ययन किया था कि मनुष्य तृप्त होने वाला नहीं है और उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती ही रहती हैं। हम यहाँ सर्फ दोहराएँगे कि मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं। एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी उत्पन्न होती है और यह कभी खत्म न होने वाला चक्कर चलता ही रहता है। मनुष्य का 'मन' (mind) ऐसा है कि वह कभी पूरा सन्तुष्ट नहीं होता। वह और अधिक माल के लिए उत्सुक रहता है। जब तक कोई जीवित है उसकी आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं।

(ii) **एक इच्छा-विशेष तृप्त हो सकती है** : यद्यपि इच्छाओं का योग—कुल इच्छाएँ—तो असीम है, किन्तु साधन प्राप्त होने पर किसी एक इच्छा–विशेष की तृप्ति करना सम्भव है। यदि किसी को मोटरकार की इच्छा है, वह लेकर सन्तुष्ट हो जाएगा। अगर भूखा है तो खाना खाकर तृप्त हो सकता है। एक इच्छा-विशेष की सन्तुष्टि सम्भव है।

(iii) **इच्छाएँ परिपूरक हैं** : अकेली एक वस्तु स्वयं किसी इच्छा को कम ही सन्तुष्ट कर पाती है। साधारणतया एक इच्छा को तृप्त करने के लिए उसके साथ और वस्तुओं की भी जरूरत पड़ती है। अगर हम एक पत्र लिखना चाहें तो हमें एक कलम भी खरीदना पड़ेगा और काग़ज और स्याही भी। अकेला कलम काफी न होगा।

यह तो हमारा दैनिक अनुभव है कि हमें वस्तुओं के कुछ समूह चाहिएँ।

समूह में से अलग होकर एक वस्तु अकेली हमारी आवश्यकता पूरी नहीं कर सकती। उसे अन्य वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उसका उपयोग पूरा करने के लिए। जैसे मोटरकार को पेट्रोल और मोबिल ऑयल चाहिए, तब वह चलेगी; जूतों को फीते चाहिएँ; चाय के साथ दूध चीनी आदि चाहिए; और इसी प्रकार अन्य वस्तुएँ भी। तो हमारा निष्कर्ष यह है कि इच्छाएँ परिपूरक (complementary) हैं।

(iv) **इच्छाएँ प्रतिस्पर्धी हैं** : इच्छाएँ न केवल एक दूसरे को पूरा करती हैं, बल्कि स्पर्धा (competition) भी करती हैं। हमारी पसन्द के लिए विभिन्न वस्तुओं में आपस में होड़ लगती है। हमारे सब के पास खर्च करने को परिमित द्रव्य है जबकि हम कितनी ही वस्तुएँ एक समय में खरीदना चाहते हैं। हम सब को नहीं खरीद सकते। इसलिए हमें उनमें से कुछ को स्वीकार और कुछ को अस्वीकार करके चुनाव करना पड़ेगा। इस तरह हमारे खरीदने की विभिन्न वस्तुओं में स्पर्धा होती है।

(v) **कुछ इच्छाएँ परिपूरक भी हैं और प्रतिस्पर्धी भी** : श्रम और मशीनरी में स्पर्धा है। एक निर्माता किसी हद तक एक के बदले में दूसरी वस्तु रख सकता है। इसके साथ-साथ यह भी है कि दोनों साथ चलते हैं। श्रम बिना मशीन के और मशीन बिना श्रम के व्यर्थ है। कारखानों में दोनों का उपयोग होता है। इस प्रकार वे एक दूसरे के साथ स्पर्धा ही नही करते वरन् एक दूसरे की कमी को पूरा भी करते हैं।

(vi) **इच्छाएँ वैकल्पिक हैं** : किसी एक विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए अनेक उपाय हैं। अगर आप प्यासे हैं तो आप सोडा, शरबत, लस्सी कुछ भी गर्मियों में पी सकते हैं और चाय, काफी, या गरम दूध जाड़े में। हमारे सामने अनेक विकल्प हैं। फैसला उनकी कीमतों पर और अपने पास कितना धन है इस पर निर्भर होता है।

(vii) **इच्छाएँ समय, स्थान और व्यक्ति के साथ-साथ बदलती हैं** : इच्छाएँ हमेशा वही नहीं रहती हैं या हर एक के साथ एक-सी नहीं रहतीं। भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न वस्तुएँ चाहते हैं और एक ही आदमी अलग-अलग समय में और अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग चीजें चाहता है।

(viii) **इच्छाएँ बिक्री के उन्नत उपायों और विज्ञापनों से प्रभावित होती हैं** : हम हमेशा अपनी जरूरत की चीजें ही नहीं खरीदते। अक्सर हम किसी खास ब्रांड की चीजें इसलिए खरीद लेते हैं कि कुशल विज्ञापनकर्त्ता या चतुर सेल्समैन हमें बहका लेते हैं, चाहे उससे अच्छी और वस्तुएँ उपलब्ध हों।

(ix) **इच्छाएँ अपनी अनिवार्यता** (Urgency) **में कम ज्यादा होती हैं** : सभी चीजें समान रूप से अनिवार्य नहीं हैं। कुछ इच्छाएँ दूसरों की अपेक्षा अधिक जरूरी या अनिवार्य (Urgent) हैं। और साधारणतया हम पहले उनकी पूर्ति करते हैं। अन्य को स्थगित कर देते हैं।

(x) **इच्छाएँ आदतों में परिवर्तित हो जाती हैं** : यदि कोई एक इच्छा

नियमित रूप से कुछ समय तक पूरी होती रहे तो आदमी उसके उपभोग का आदी हो जाता है। इस तरह से वह आदत (habit) बन जाती है। तब वह उसी विशेष वस्तु का सदैव उपभोग करते रहना चाहता है। इसी तरह से नए-नए लड़के अक्सर पक्के सिगरेट पीने वाले बन जाते हैं।

(xi) **इच्छाएँ प्रथाओं और परम्पराओं का भी फल हैं** : प्रथा अब भी दुनिया पर शासन करती है। हम सब, चाहे गांव में रहते हों या शहर में थोड़े-बहुत प्रथाओं के गुलाम हैं। हमारी अधिकतर इच्छाएँ परम्परागत हैं। वे हमारे ऊपर समाज द्वारा लादी जाती हैं। चाहे हम पसन्द करते हों या न करते हों, हमें अक्सर शादी-ब्याह, मरने-जीने में रीति-रिवाजों पर खर्च करना पड़ता है।

इच्छाओं की विशेषताओं का गहन अध्ययन इसलिए जरूरी है क्योंकि वे अर्थशास्त्र के विज्ञान के कुछ सब से महत्त्वपूर्ण नियमों को जन्म देती हैं। उदाहरण के लिए, इस जानकारी से कि मनुष्य की एक इच्छा अकेली तृप्त हो सकती है, हमने घटती हुई उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Utility) निकाला कि हर वस्तु की प्रत्येक क्रमागत वृद्धि पहली से कम उपयोगिता रखती है। फिर इच्छाओं के प्रतिस्पर्धी स्वभाव से हमें प्रतिस्थापन का सिद्धान्त (Law of Substitution) मिला। इच्छाओं की कुछ विशेषताओं से, जैसे इस बात से कि वे कई-कई इकट्ठी चलती हैं; और आदत बन जाती हैं, एक जर्मन विचारक डा० ऐंजल (Dr. Engel) ने अपना पारिवारिक व्यय का सिद्धांत तय किया, जिसका हम बाद में अध्ययन करेंगे।

४. **आवश्यकताओं का वर्गीकरण** (Classification of Wants) :—जिन वस्तुओं और सेवाओं की हमें जरूरत पड़ती है उनका साधारणतया इस तरह वर्गीकरण किया जाता है, निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ (necessaries), सुविधा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ (comforts), और विलास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ (luxuries)। अब हम एक-एक पर विचार करेंगे।

(i) **निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ** (Necessaries) : इनको और विभाजित कर सकते हैं :—

(क) **जीवन-रक्षक आवश्यकताएं** (Necessaries of Existence) : ये वे चीजें हैं जिनके बिना हम जिन्दा नहीं रह सकते, जैसे कुछ आहार, कपड़ा और आश्रय।

(ख) **निपुणता-रक्षक आवश्यकताएं** (Necessaries of Efficiency) : यह वह पदार्थ हैं जो हमारे जीवित रहने के लिए तो आवश्यक नहीं हैं, किन्तु हमें अच्छे कर्मकार बनाने के लिए जरूरी हैं। जैसे एक विद्यार्थी के लिए मेज और कुर्सी निपुणता-रक्षक आवश्यकता है। इनके होने पर वह ज्यादा अच्छी तरह पढ़-लिख सकता है।

(ग) **प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताएँ** (Conventional Necessaries) : ये वे वस्तुएँ हैं जिनका हमें सामाजिक प्रथा के कारण उपयोग करना पड़ता है, या इसलिए कि हमारे साथ के लोग हमसे उनके इस्तेमाल की आशा करते हैं। यह स्पष्ट है कि हम किसी अद्भुत तरीके से कपड़े नहीं पहन सकते। हमें अपने स्तर के अनुसार ही

कपड़े पहनने पड़ेंगे।

'प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताएँ' नाम उन वस्तुओं के लिए भी प्रयुक्त होगा जिनके लोग आदी हो गए है। जैसे तम्बाकू या शराब।

(ii) **सुविधा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ** (Comforts) : जीवन-निर्वाह की जरूरतें पूरी करने के बाद हमें कुछ आराम भी चाहिए। एक विद्यार्थी के लिए पुस्तक तो नितान्त आवश्यक है ; मेज़ कुर्सी उसकी कार्यक्षमता के लिए जरूरी है, किन्तु गद्देदार कुर्सी आराम की चीज़ है। आराम की चीज़ों से जीवन अधिक भरा पूरा हो जाता है।

सुविधा-सम्बन्धी आवश्यकता और निपुणता-रक्षक आवश्यकता में भेद करने के लिए हम यह कहेंगे कि पहली वस्तु (आराम की वस्तु) से हमारा हित उस पर किए गए खर्च के मुकाबले में कम होता है, जबकि दूसरी वस्तु (कार्यक्षमता की आवश्यकता) से स्वास्थ्य और कार्यक्षमता को अधिक लाभ होता है।

(iii) **विलास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ** (Luxuries) : मनुष्य सुविधाओं पर भी चुप नहीं बैठ जाता। सुविधा की वस्तुएँ प्राप्त हो जाने पर वह विलासिता भी चाहता है। विलासिता की परिभाषा यह की गई है कि वह अनावश्यक वस्तु है; एक ऐसी चीज़ है जिसके बिना हमारा काम बखूबी चल सकता है। कीमती फर्नीचर, सुन्दर कारें, फुव्वारे लगा हुआ स्नानगृह, रेशमी कपड़े, गहने-जेवर, रेफ्रीजरेटर लगा हुआ घर, बिजली के कुकर, मुलायम बिस्तर, घुलाई की मशीनें, और बड़े स्वादिष्ट व्यंजनों का कीमती खाना, यह सब विलास की वस्तुएँ हैं। यह जरूरी नहीं और इनके बिना भी स्वस्थ तथा उपयोगी जीवन बिताया जा सकता है।

सुविधा की वस्तुओं पर व्यय किए हुए द्रव्य का कुछ मुआवज़ा मिलता है। किन्तु विलास पर किए गए व्यय का कोई फायदा नहीं। उससे कुछ हासिल नहीं होता। बल्कि कभी-कभी निश्चित हानि होती है।

क्या हम विलासिता को उचित कह सकते हैं ? : कुछ लोग हैं जो विलासिता की सभी चीज़ों को आर्थिक दृष्टि से व्यर्थ और नैतिक दृष्टि से बुरा बताते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग कहते हैं कि हर एक को पूरा नैतिक अधिकार है कि जो कुछ उसके पास है उसका उपभोग करे। समझदार आदमी कहता है कि हक है लेकिन "चीज़ों को खराब क्यों किया जाय ?" पर सामाजिक दृष्टि से सोचें तो हमें, किसी विशेष व्यय का समूचे समाज पर क्या असर पड़ता है, यह देखना पड़ेगा। इस तरह विलासिता की समस्या इन विभिन्न मतों के कारण जटिल हो गई है।

विलास-सम्बन्धी आवश्यकताओं का इन दलीलों से समर्थन किया जाता है :—

(क) विलास-सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन से लोगों को काम मिलता है और किसी देश के उद्योग और व्यापार के लिए हितकर है। इस तरह उससे भी एक प्रकार की समाज-सेवा होती है और थोड़े से लोगों को आनन्द भी मिल जाता है।

(ख) विलास पर व्यय से बेकार धन अमीरों के हाथ से निकल कर समाज के उन कामकाजू और उद्योगी सदस्यों के पास चला जाता है, जिनको इसकी जरूरत है और जो धन का अधिक लाभप्रद उपयोग करते हैं। धन का यह तबादला

समाज के लिए हितकर है क्योंकि इससे धन के बंटवारे में अधिक बराबरी आ जाती है।

(ग) विलास-सामग्री (luxury goods) के उत्पादन में कारीगरों की निपुणता और कौशल बढ़ता है।

(घ) विलास की इच्छा से नए आविष्कारों को प्रेरणा मिलती है, नए श्रम-बचत (labour saving) के उपाय पता लगते हैं, और नए प्रकार के माल बनते हैं। इस तरह इससे शिल्पिक (technical) और औद्योगिक प्रगति होती है।

(ङ) विलास-सामग्री का उपभोग समाज के लिए हितकर है क्योंकि इससे लोग अधिक सभ्य, सुसंस्कृत और कलाप्रेमी बनते हैं।

इन युक्तियों में निस्सन्देह काफी बल है। इसलिए विलास पर किया गया सभी व्यय बुरा नहीं कहा जा सकता। कोई रूढ़ नियम इस बारे में नहीं बनाया जा सकता। बहुत कुछ तो किए जाने वाले व्यय के रूप पर निर्भर है। इसमें संदेह नहीं कि कुछ व्यय तो व्यक्ति के लिए हानिकारक और सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय है ही जैसे नाच-गाने और शराब पर किया गया व्यय। इसके अतिरिक्त, हम इससे सहमत नहीं हैं कि नौकरी में वृद्धि, आविष्कारों की प्रेरणा, और शिल्पिक एवं औद्योगिक प्रगति को प्रोत्साहन केवल विलास-सामग्री के उत्पादन द्वारा ही मिल सकता है। एक विशाल-प्रासाद बनाने की अपेक्षा कोई महाराजा यदि चीनी या सूती मिल स्थापित करे तो इन उद्देश्यों को अधिक सफलता मिलेगी और गरीबों के लिए अधिक कपड़ा और चीनी भी प्राप्त होगी।

विलासिता पर किए गए व्यय मानव-कल्याण में वृद्धि नहीं करते। इतना ही कहा जा सकता है कि उनमें से कुछ हानि-रहित हैं जबकि उनमें से अनेक तो निश्चित रूप में अहितकर हैं। किसी भी हालत में, इनमें से अधिकतर तो व्यर्थ का उजाड़ना ही है।

६. **अपव्यय (उड़ाना) क्या है?** (What is Waste?):—हम यह भी साफ-साफ समझ लें कि आखिर फूंकना क्या है? यह तय करने के लिए कि कोई व्यय फिजूल है या नहीं, हमें उस पर खर्च किए हुए द्रव्य और उससे प्राप्त हित या लाभ की तुलना करनी पड़ेगी। एक आदमी घुड़दौड़ में गया। उसने वहाँ १००० रु० गंवा दिया। यदि वह घुड़दौड़ देखने से उसे जो सुख मिला उसी की बात सोचता है, और समझता है कि जुए में मिला हुआ आनन्द उसकी हानि के बराबर है तो उसके दृष्टिकोण से उसने कुछ नहीं खोया। जहाँ तक उस व्यक्ति का मामला है, उसका व्यय तो आर्थिक दृष्टि से ठीक है। उसकी हानि किसी और के लिए लाभ है। किन्तु यदि उसकी हानि इतनी है कि उसके साधनों या सम्पदा में बहुत कमी आ गई है और वह यह महसूस करता है कि खेल महंगा पड़ा तो यह अवश्य नुकसान हुआ।

सामाजिक दृष्टिकोण से व्यय अपव्यय होगा यदि उस कार्य में प्रयुक्त श्रम और पूंजी से जो मिला, वह उससे कम है जितना उस पूंजी और श्रम को कहीं और लगाने से मिला होता। और जब व्यक्तिगत तृप्ति व्यय की गई सामाजिक सम्पत्ति के बराबर नहीं है, तब तक भी क्षय है।

७. **निर्वाह-सम्बन्धी, सुविधा-सम्बन्धी और विलास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ सापेक्षिक शब्द हैं** (Necessaries, Comforts and Luxuries are Relative Terms) :—यह याद रखना जरूरी है कि हम वस्तुओं पर हमेशा के लिए पक्के या स्थायी लेबिल नहीं चिपका सकते कि अमुक वस्तु निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकता है और अमुक विलास-सम्बन्धी । हम यह नहीं कह सकते कि कार हमेशा विलासिता की वस्तु है और कमीज हमेशा निर्वाह के लिए आवश्यक। वही वस्तु एक प्रकार की परिस्थितियों में आवश्यक हो सकती है और दूसरी हालतों में विलासिता। एक कॉलेज के विद्यार्थी के लिए एक प्रकार की पोशाक जरूरी है, पर एक देहाती के लिए वही विलासिता की वस्तु है। एक छोटे शहर में जहाँ दूरी थोड़ी है, किसी व्यक्ति के लिए कार विलास की वस्तु है, किन्तु एक व्यस्त पदाधिकारी या डाक्टर के लिए किसी बड़े शहर में वही नितान्त आवश्यक है।

कल जो चीजें विलासिता में गिनी जाती थीं, वे ही अब प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकता बन गई हैं। जीवन-स्तर के ऊँचा होने का और सम्पन्नता का यह स्वाभाविक परिणाम है। उच्च वर्गों को जो सुविधाएँ पहले प्राप्त थीं, वे अब मजदूरों के लिए भी आवश्यक समझी जाती हैं।

इसी प्रकार एक वस्तु हिन्दुस्तान में विलास है पर वही इंग्लिस्तान में आवश्यक है। ओवरकोट और बिजली के हीटर यहाँ विलासिता की वस्तु हैं, और वहाँ आवश्यकता की।

तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पदार्थ निर्वाह-संबंधी अथवा विलास-संबंधी कहे जा सकते हैं, किन्तु देश, काल, जलवायु, जनता व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर। वे व्यक्ति, देश, काल पर अवलम्बित हैं। कोई भी वस्तु सदैव के लिए या हर व्यक्ति के लिए, इन बातों को भूल कर, आवश्यक या विलास नहीं कही जा सकती।

८. **किस क्रम से हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं ?** (What is the order in which we satisfy our wants ?) :—साधारणतया उत्तर होगा कि जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पहले, सुविधा सम्बन्धी उसके बाद, और विलास सम्बन्धी सब के बाद। यही उचित क्रम भी होना चाहिए। बुद्धिमत्ता का रास्ता तो यही है कि अपनी जरूरी आवश्यकताओं को पहले संतुष्ट करें, फिर बाद में सुविधा और विलास की सोचें, अगर हमारे साधन इतने हों तो।

किन्तु व्यवहार में इतनी सीधी बात नहीं होती। लोग हमेशा इतनी बुद्धिमता से व्यवहार नहीं करते। कुछ उपभोक्ताओं में इतनी समझ ही नहीं है कि वे यह देख सकें कि उनके लिए क्या जरूरी है। कुछ रुपया खराब करने के बाद ही वे समझ पाते हैं कि उन्होंने फिजूल खर्च किया है।

चुनते समय हम बहुत गलत विज्ञापनों से बहक जाते हैं। अपने सम्बन्धियों और मित्रों की ओर भी बहुधा अपना कुछ कर्त्तव्य समझते हैं, जो अनावश्यक हो तो भी हम उस पर बहुत कुछ व्यय कर देते हैं।

साधारणतया हमारी अधिक जरूरी आवश्यकताएँ ही हमारे ध्यान में पहले आती हैं।

६. **जीवन-स्तर**—(Standard of Living) :—'जीवन-स्तर' शब्द अस्पष्ट-सा है। इसकी निश्चित परिभाषा करना कठिन है। फिर भी इसमें यथार्थता है। लोगों के मस्तिष्क में उनके अपने जीवन-स्तर के बारे में अच्छा खासा चित्र रहता है। अगर वे यह पाते हैं कि उनका जीवन-स्तर खतरे में है तो, वे 'सक्रिय-कदम' (direct action) उठाने को भी तैयार हो सकते हैं। हिन्दुस्तान के रेलवे और डाक तार विभाग के कर्मचारियों ने हड़ताल करने का निश्चय किया था जब उनकी मजदूरी से उनके जीवन-स्तर का भली भाँति निर्वाह कठिन हो गया था।

जीवन-स्तर से अभिप्राय है वे निर्वाह-सम्बन्धी, सुविधा-सम्बन्धी व विलास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ जिनको पूरा करने का एक व्यक्ति आदी है। हम जानते हैं कि यदि कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति, काफी समय तक हम किसी विशेष प्रकार से करते रहें, तो पुनः उठती रहती हैं और आदत बन जाती हैं। उसको तब वे वस्तुएँ और सेवाएँ मिलनी ही चाहिएँ, अन्यथा वह खुश नहीं रह पाता। ऐसी वस्तुएँ उसकी बाकायदा जरूरतें बन जाती हैं और इन्ही से उसका 'जीवन-स्तर' बनता है। इनमें उसका भोजन, कपड़े, मकान, आमोद-प्रमोद आदि सभी सम्मिलित हैं। संक्षेप में, जीवन-स्तर का अर्थ है उसका रहने का ढंग।

एक बच्चा किसी विशेष स्तर में जन्म लेता और पलता है। किन्तु उसका यह पारिवारिक स्तर अपरिवर्तनशील नहीं है। जब तक वह बच्चा बड़ा होता है, यह स्तर चढ़ता गिरता रहता है और जब वह स्वयं वयस्क होकर कमाने लगता है तब भी उसमें परिवर्तन होता रहता है। किन्तु उसका आरम्भिक जीवन, उसकी शिक्षा-दीक्षा, रुचि, स्वभाव, महत्त्वाकांक्षाएँ और सामाजिक वातावरण जिसमें वह रहता है—सब उस पर प्रभाव डालते हैं। जैसे-जैसे ये बदलते हैं, उसका जीवन-स्तर भी बदलता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि व्यक्ति अपना जीवन स्तर अपनी इच्छाओं अथवा कल्पनाओं से ही निश्चित नही करता। उसे यह भी सोचना पड़ता है कि समाज उससे क्या चाहता है। उसका जीवन-स्तर उसकी अपनी इच्छाओं और उसके समाज की आशाओं के बीच एक समझौता है।

फिर किसी व्यक्ति का जीवन-स्तर केवल उसकी अपनी ही चीज नहीं है। वह तो स्वयं एक इकाई है जो किसी सामाजिक समूह का अंग है। किसी समूह अथवा राष्ट्र के जीवन-स्तर का उसके कुल उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भूखे और नंगे मजदूर स्वभावतः कम निपुण कर्मकार होंगे।

यदि भारत का जीवन-स्तर ऊँचा उठे तो चीनी, दूध, कपड़े और दूसरी वस्तुओं की कुल माँग बहुत ऊपर उठ जायगी। उनका उत्पादन अधिक करना होगा। इससे सारे समाज के कल्याण में वृद्धि होगी और विशेषकर श्रम की कार्यक्षमता में।

किसी देश के जीवन-स्तर से उसका आर्थिक व राजनैतिक संगठन, औद्योगिक कार्यक्षमता एवं आर्थिक प्रगति का निश्चय होता है।

१०. **जीवन-स्तर और जीवन का स्तर** (Standard of living and Standard of life) :—कभी-कभी जीवन स्तर (Standard of living) और जीवन के स्तर (Standard of life) में कुछ भेद किया जाता है। जीवन-स्तर से जैसा हम

पहले ही बता चुके हैं, अर्थ होता है हमारे खर्च का दर्जा अर्थात जिन पदार्थों और जिन सेवाओं का हम उपभोग करते हैं। जीवन का स्तर (Standard of life) इससे अधिक व्यापक शब्द है। इससे तात्पर्य होता है किसी जीवन के आदर्श। इसमें एक व्यक्ति का अपने अभौतिक उद्देश्यों (non-material requirements) पर किया गया व्यय भी सम्मिलित होता है। "सादा रहना और उच्च विचार रखना" लोकप्रिय उक्ति है। "सादा रहना" (simple living) कहने से इशारा एक निम्न जीवन-स्तर की तरफ होता है। किन्तु "उच्च विचार" (high thinking) से एक ऊँचे जीवन के स्तर व आदर्श का निर्देश होता है। महात्मा गाँधी का जीवन-स्तर निम्न था किन्तु उनका जीवन का स्तर अत्यन्त उच्च था।

११. एंजिल का उपभोग का सिद्धान्त (Engel's Law of Consumption): —'किसी परिवार का जीवन-स्तर उसके पारिवारिक बजट से पता लगता है। डा० अर्नेस्ट एंजिल, जो किसी समय प्रशियन स्टेटिस्टिकल ब्यूरो के अध्यक्ष थे, ने सन् १८५७ में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो अनेक पारिवारिक आय-व्ययकों के गम्भीर अन्वेषण से उन्होंने पाया था। उन्होंने विभिन्न वर्गों के लोगों के खर्चों का विश्लेषण करके निम्न निष्कर्ष निकाले :—

(i) जैसे-जैसे आय बढ़ती है भोजन तथा अन्य निर्वाह-संबंधी आवश्यकताओं पर प्रतिशत व्यय कम होता जाता है और जैसे-जैसे घटती है वह बढ़ता जाता है।

(ii) प्रतिशत विलास-सम्बन्धी तथा अन्य सांस्कृतिक अथवा मनोविनोद सम्बन्धी आवश्यकताएँ आय के बढ़ने के साथ बढती और घटने के साथ घटती हैं। निम्न आय (Low Incomes) के मामलों में वे लगभग होती ही नहीं। जब आय ऊँची होती है तो उपभोग अवश्य अधिक विविध हो जाता है।

(iii) किराया, ईंधन और प्रकाश पर प्रतिशत व्यय लगभग हर आय के लोगों के लिए एकसा है।

(iv) चाहे जो भी आय हो, कपड़े लत्तों पर प्रतिशत व्यय लगभग एकसा रहता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि हम प्रतिशत व्यय की बात कर रहे हैं न कि कुल व्यय की। धनवान तो अपने भोजनों पर एक निर्धन की अपेक्षा अधिक व्यय करता ही है। किन्तु वास्तव में वह अपनी आय का कम प्रतिशत भाग भोजन पर व्यय करता है। गरीब आदमी की लगभग पूरी की पूरी आय जीवन की निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताओं पर व्यय हो जाती है।

भारत में भी पारिवारिक वजट का अध्ययन हुआ है। डा० हेरोल्ड मान (Dr. Harrold Mann) ने इस प्रकार का एक अन्वेषण दक्षिण में किया था। पंजाब के बोर्ड आफ इकनामिक इन्क्वायरी ने भी इस बात की गहरी खोज की थी कि पंजाब में किसान, शिल्पकार तथा कारखानों के मजदूर अपनी आय कैसे व्यय करते हैं। इन अन्वेषणों से एंजिल के सिद्धान्त की पुष्टि हुई।

इस अध्याय से तुम क्या सीखते हो ?

आवश्यकताएँ कैसे उदय होती हैं :—हमारी आवश्यकताएं जन्म लेती हैं

(i) स्वाभाविक-प्रवृत्तियों,

(ii) आर्थिक व सामाजिक स्थिति, तथा

(iii) विज्ञापनों से।

जितना मनुष्य अधिक सभ्य होता जाता है वह जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति से संतुष्ट नहीं होता। वह बेहतर भोजन, अधिक और फैशन वाले कपड़े और अधिक आराम देने वाला और सुरुचिपूर्ण निवास-स्थान चाहता है।

मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताएँ

(i) मानवीय आवश्यकताएँ अपरिमित हैं।

(ii) प्रत्येक आवश्यकता अकेली तृप्त हो सकती है।

(iii) आवश्यकताएँ परिपूरक हैं।

(iv) आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्धी हैं।

(v) कुछ आवश्यकताएँ परिपूरक भी हैं और प्रतिस्पर्धी भी।

(vi) एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक वैकल्पिक उपाय होते हैं।

(vii) आवश्यकताएँ देश, काल और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न होती हैं।

(viii) आवश्यकताएँ विज्ञापन और विक्रेताओं की कुशलता से प्रभावित होती हैं।

(ix) आवश्यकताएँ अनिवार्यता में भिन्न होती है।

(x) आवश्यकताएँ आदत बन जाती हैं।

(xi) आवश्यकताएँ प्रथा और रूढ़ि का भी परिणाम हैं।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण (Classification of Wants)

(i) निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ :—

(क) जीवन-रक्षक अवश्यकताएँ, अर्थात् वे वस्तुएँ जिनके बिना व्यक्ति जिन्दा नहीं रह सकता।

(ख) निपुणता-रक्षक आवश्यकताएँ अर्थात वे पदार्थ जो हमें अधिक निपुण बनाते हैं।

(ग) प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताएँ—जो सामाजिक प्रथाओं तथा रूढ़ियों के कारण हैं, अथवा जिनकी आदत हो गई है।

(ii) सुविधा सम्बन्धी आवश्यकताएँ : वे वस्तुएँ जो हमें आराम पहुँचाती हैं, और हमारी निपुणता में भी सहायक सिद्ध होती है।

(iii) विलास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ : वे वस्तुएँ जो अनावश्यक या व्यर्थ हैं। यह हानिकारक अथवा हानिरहित हो सकती हैं, किन्तु हमारी कार्यक्षमता नहीं बढाती।

विलास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ अच्छी हैं या बुरी ? विलास-सम्बन्धी आवश्यकताओं का समर्थन किया जाता है क्योंकि वे

(क) काम पैदा करती हैं,

(ख) धनवानों से निर्धनों के हाथ में धन दिलवाती हैं,

(ग) कर्मकारों की कुशलता तथा दस्तकारी को प्रोत्साहन देती हैं,

(घ) कठोर श्रम के लिए प्रेरणा देती हैं; और

(ङ) किसी दुर्दिन के लिए सामग्री जुटाती हैं और हमें अधिक सुसंस्कृत बनाती हैं।

किन्तु यह सब उद्देश्य रुपए को उद्योग या व्यापार में लगाने से अधिक फलीभूत हो सकते हैं बजाय विलास पर व्यय करने के।

अपव्यय क्या है ? व्यक्ति के दृष्टिकोण से रुपया व्यर्थ जाता है यदि उससे प्राप्त तृप्ति व्यय किए हुए द्रव्य के बराबर न हो।

सामाजिक दृष्टि से द्रव्य उजड़ता है यदि उसके द्वारा उत्पादन के जिन साधनों का उपयोग हुआ है उनको और कहीं लगाने से जो प्राप्त हो सकता था उससे कम हुआ हो।

निर्वाह-सम्बन्धी, सुविधा-सम्बन्धी तथा विलास-सम्बन्धी आवश्यकताएँ सापेक्षिक शब्द हैं :—

एक परिस्थिति में जो विलास-सम्बन्धी आवश्यकता है वही किसी दूसरी परिस्थिति में कुछ और आवश्यकता समझी जा सकती है।

किस क्रम में आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है ?—

अधिक जरूरी आवश्यकताओं की पहले तृप्ति की जाती है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं निश्चय करता है कि क्या अधिक अनिवार्य है। यह उसके विवेक, कर्त्तव्य-भावना, शिक्षा, रुचि तथा स्वभाव पर अवलम्बित है।

जीवन स्तर : इसका अर्थ है रहने-सहने का ढंग। अर्थात् वे आवश्यकताएँ—निर्वाह, सुविधा तथा विलास-सम्बन्धी जिनकी पूर्ति का व्यक्ति आदी हो चुका है। पहले तो यह अपने पूर्वजों से ही प्राप्त होती हैं, किन्तु बाद में अपनी स्वयं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति, शिक्षा, रुचि और स्वभाव द्वारा बदल जाती हैं। जीवन-स्तर मनुष्य की अपनी इच्छाओं और समाज की आशाओं के बीच में एक समझौता है।

एंजिल का उपभोग का सिद्धान्त :—

(क) भोजन के ऊपर प्रतिशत व्यय आय की वृद्धि के साथ कम होता है।

(ख) विलास, सुविधाओं और आमोद-प्रमोद पर प्रतिशत व्यय आय की वृद्धि के साथ बढ़ता है।

(ग) प्रकाश, ईंधन तथा किराए पर प्रतिशत व्यय सभी आय के व्यक्तियो के लिए वही रहता है।

(घ) कपड़ों पर प्रतिशत व्यय लगभग सभी आय के व्यक्तियों के लिए एक-सा है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. Describe the more important characteristics of human wants and point out their importance in the theory of consumption. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९३५)

देखिए विभाग ३

2. Discuss the main characteristics of human wants. Is the multiplication of wants desirable ? (उत्तर प्रदेश, १९४२)

[देखिये विभाग ३—यदि आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, तो आर्थिक कार्यवाही भी बढ़ेगा और आर्थिक प्रगति होगी। जीवनस्तर में सुधार होगा और राष्ट्रीय कार्यक्षमता ऊँची उठेगी। किन्तु किसी व्यक्ति के लिए अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाना सदैव हितकर नहीं होगा, जब तक कि उसकी आय भी न बढ़े।]

3. Define 'wants.' Discuss :

(*a*) The effect of circumstances on wants.

(*b*) Characteristics of wants. (यू० पी० बोर्ड, १९५३)

देखिए विभाग ३ और उपर्युक्त प्रश्न का भी उत्तर दीजिए।

4. Explain and illustrate the distinction between necessaries, comforts and luxuries. Give Indian examples in support of your answer. (दिल्ली, १९४८)

देखिए विभाग ४।

4. Show how the classification of wants into necessaries, comforts and luxuries does not primarily refer to articles of consumption, but their units, and varies according to the indvidual consumer, the time and place. Give Indian examples wherever possible. (राजपूताना, १९४५)

देखिए विभाग ७

6. Is the consumption of luxuries beneficial from the economic point of view ? (नागपुर, १९४४)

देखिए विभाग ५

7. "What is luxury for one may be a necessity for another." Explain with illustrations.

8. Distinguish between standard of living and standard of life. Mention some of the influences that have formed your standard of living. देखिए विभाग ९ और १०

9. Explain how your wants may change in the next ten years.

[आप कदाचित् किसी वृत्ति को अपना लेंगे और आपका एक परिवार होगा। आपकी आवश्यकताएँ उसी के अनुसार बढ जायेंगी।]

10. What is family budget ? What are the main items included in it ? Give a typical budget you may have studied.

(राजपूताना, १९४५)

Or,

What is family budget ? Draw up a family budget and discuss the importance of various items in it from the point of view of Engel's Law. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५३)

[पारिवारिक आय-व्ययक या बजट किसी परिवार के आय के मुकाबले उसका अनेक मदों पर व्यय का एक विवरण है। उसमें मुख्य मद होते हैं :—खाना, कपड़ा, ईंधन, मकान, प्रकाश, चिकित्सा, यात्रा, शिक्षा, सामाजिक रस्में, मनोविनोद, ब्याज की अदायगी आदि। नीचे एक मजदूर के सामान्य पारिवारिक बजट का एक दृष्टान्त दिया है, जिसकी आय ६०) रु० मासिक है :

भोजन	...	...	...	४५)
कपड़ा	...	...	...	४)
किराया	...	...	...	५)
शिक्षा	...	...	...	१)
चिकित्सा	...	...	...	१)
ऋण पर सूद	...	...	...	२)
यात्रा	...	...	...	१)
विविध	...	...	...	१)
मनोविनोद	...	...	...	कुछ नहीं
बचत	...	...	...	कुछ नहीं
			कुल	६०)

11. State and explain Engel's Law of Family Expenditure. How far is it applicable to Indian conditions ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४०)

देखिए विभाग ११

वाद-विवाद का विषय

(i) Increase in desires is the cause of human suffering.

(ii) "Desire for recognition is the strongest social motive."

उपभोग (CONSUMPTION)

जितना अधिक हम उपभोग करते हैं, हमारी आवश्यकता उतनी ही घट जाती है !

(The more we have, the less we want !)

१. **उपभोग** (Consumption) **क्या है ?** (What is Consumption ?):— आवश्यकताओं (wants), उनकी प्रकृति और गुण-दोषों के बारे में तो हम पिछले अध्याय में अध्ययन कर चुके हैं। अर्थशास्त्र (Economics) के जिस विभाग में आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति का अध्ययन होता है, उसको उपभोग (consumption) कहते हैं।

पदार्थों और सेवाओं द्वारा अभाव-पूर्ति (satisfaction of wants) का नाम ही उपभोग है। जब हम प्यास बुझाने के लिए एक गिलास पानी पीते हैं तो इसका अर्थ होता है, हमने पानी का उपभोग किया। जब कक्षा में विद्यार्थी कुर्सियों पर बैठते हैं तो अर्थशास्त्र में इसको कहते हैं, कि विद्यार्थियों ने कुर्सियों का उपभोग किया। मान लीजिए कि एक व्यक्ति बीमार है और डाक्टर को बुलाया जाता है ; तो, रोगी ने डाक्टर की सेवाओं का उपभोग किया। जब-जब हम पदार्थ (commodity) या सेवाओं का उपभोग करते हैं, तो वही उपयोग (use) उपभोग (consumption) कहलाता है।

एक दूसरी परिभाषा के अनुसार उपयोगिता (utility) का विनाश ही उपभोग (Consumption) है। मनुष्य भौतिक-तत्त्व का सृजन नहीं कर सकता, और न ही वह इसका विनाश कर सकता है। भौतिक-तत्त्व तो इस संसार में विद्यमान हैं ही, और ये रहेंगे भी। मनुष्य सिर्फ इनका रूप बदल सकता है। जब एक व्यक्ति आम खाता है तो वह उसके तत्वों का, जिनसे आम बना है, नाश नहीं करता वरन् वह केवल इनका रूप बदल देता है। पहले यह आम मानव-आवश्यकता (human want) की पूर्ति कर सकता था यानी इसमें उपयोगिता (utility) थी, अब इसमें से वह शक्ति लुप्त हो गई है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आम खा करके मनुष्य ने उसकी उपयोगिता का नाश कर दिया। आम का उपभोग किया जा चुका।

उपभोग के द्वारा उपयोगिता का विनाश उसी समय और जल्दी से हो सकता है, जैसे आम या दूध आदि का या इस विनाश का क्रम लम्बा और धीरे-धीरे हो सकता है, जैसे फर्नीचर आदि का।

पर केवल उपयोगिता के विनाश का अर्थ उपभोग नहीं होता। अगर कोई मकान आग में जलकर भस्म हो जाय तो आर्थिक दृष्टि से यह नहीं माना जायेगा कि उसका उपभोग हो चुका। मानव आवश्यकताओं की पूर्ति का नाम ही उपभोग है। यदि किसी सेवा या कार्य से किसी मानव-आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो हम उसे उपभोग का नाम नहीं देंगे। व्यवहार में तो आय (money income) का व्यय करना ही उपभोग कहलाता है। दूध, भोजन और दूसरे तरह-तरह के पदार्थ जिनका हम उपभोग करते हैं हमें मुफ्त नहीं मिलते, हमें उन पर खर्च करना पड़ता है। इसलिए उपभोग में आय का व्यय (expenditure of income) तो होता ही है।

२. **उपभोग के प्रकार** (Types of Consumption) :—अर्थशास्त्र में उपभोग के तीन भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं:—

(i) **प्रत्यक्ष या अन्तिम उपभोग** (Direct or Final Consumption) : मैं अपनी कमीज पहिन-पहिन कर फाड़ता हूँ, मैं एक खरबूजा खाता हूँ, इन उदाहरणों से प्रकट है कि दोनों वस्तुओं का उपभोग हो चुका है और भविष्य में उनसे कोई लाभ नहीं हो सकता। इनका उपभोग अन्तिम रूप से हो चुका है। इन्होंने तात्कालिक और प्रत्यक्ष रूप से मेरी संतुष्टि की है। ठीक इसी तरह उपभोग की दूसरी वस्तुएँ भी मानव इच्छाओं की सीधे और अंतिम रूप से संतुष्टि करती हैं। तरबूज की भाँति कुछ वस्तुएँ तो क्षणिक उपयोग के बाद खत्म हो जाती हैं, परन्तु कई चीजें जैसे कमीज, फर्नीचर आदि अधिक टिकाऊ होते हैं, और उनका उपयोग अथवा उपभोग अधिक काल तक हो सकता है। H 330.11 D98P H2820

(ii) **उत्पादक या परोक्ष उपभोग** (Productive or Indirect Consumption) : आप एक क्षण के लिए अपने मन में कपड़ा सीने की मशीन का ध्यान कीजिए। अब आप बताइये कि क्या आप इस मशीन से काम लेते हैं या इसका उपभोग करते हैं? इस मशीन से हमें प्रत्यक्ष रूप से कोई संतुष्टि प्राप्त नहीं होती। मशीन से हम कपड़े सीते हैं और इसी प्रकार का उपभोग हम वास्तव में करना भी चाहते हैं। सिलाई की मशीन का तो परोक्ष (indirect) रूप से ही उपभोग है। वास्तव में तो इसके द्वारा सी गई कमीज और दूसरे वस्त्रों का ही उपभोग होता है। यह परोक्ष उपभोग का उदाहरण है। ठीक इसी तरह उत्पादन के समस्त उपकरण (instruments of production) हमारी संतुष्टि परोक्ष रूप से ही करते हैं। उनका उपभोग किसी दूसरी उपभोग की वस्तु के बनाने में होता है।

(iii) **निरुपयोगी उपभोग** (Wasteful Consumption) : अग्नि-कांड, भूचाल या ज्वार-भाटे के कारण जब किसी भवन, वस्तु आदि की हानि या क्षति होती है तो अर्थशास्त्र में इसे निरुपयोगी उपभोग कहते हैं। वास्तव में इसको हम उपभोग नहीं कह सकते चूँकि इस प्रकार की हानि से किसी भी मानव-अभाव या आवश्यकता की संतुष्टि और पूर्ति नहीं होती। हम देखते हैं कि उपभोग ही उत्पादन का उद्देश्य है। इसलिए आर्थिक कार्यवाही (economic activity) उपभोग से ही आरम्भ होती है। किन्तु हर वस्तु का, जिसका उत्पादन या निर्माण होता है, उपभोग होना भी आवश्यक है। इस प्रकार उपभोग में ही मानव प्रयत्नों और कार्यवाहियों का शुरू भी

है और अंत भी।

३. हम उत्पादन से पहले उपभोग का अध्ययन क्यों करते हैं? (Why do we study consumption before production?) :—उपभोग (consume) होने से पहले किसी वस्तु का उत्पादन किया जाना जरूरी है। इसलिए क्रमानुसार सबसे पहले उत्पादन ही आता है। पर हम किसी वस्तु का उत्पादन क्यों करते हैं? इसलिए कि किसी न किसी को उसकी आवश्यकता है। आवश्यकता न होने पर तो चीज का उत्पादन किया ही नही जाता। इसलिए तर्क से तो उपभोग पहले आता है।

आवश्यकता होने पर ही (यानी, वस्तु का उपभोग करने की इच्छा से ही) सारे मानवीय प्रयत्नों का आरम्भ होता है और फलस्वरूप उत्पादन किया जाता है। इसलिए सचमुच उपभोग का विषय पहले आता है और इसका अध्ययन भी सर्वप्रथम किया जाता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन में उपभोग ने अपना उचित स्थान प्राप्त कर लिया है और सबसे पहले रखा भी इसे ही गया है। काफी समय तक अर्थशास्त्रियों ने इसे पीछे रखा था। परन्तु अब उन्होंने अनुभव कर लिया है कि उपभोग कितना है और कैसा है। इसी से लोगों की कार्यक्षमता निश्चित होती है और इसीलिए सारी आर्थिक उन्नति की नींव में भी यही है। इसलिए अब उपभोग के महत्व को भली-भांति पहिचान लिया गया है।

४. उपभोग और उत्पादन का गठ-बन्धन (Consumption and Production go side by side) :—केवल प्राचीन समाज के बारे में ही ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्य पहले उत्पादन करता था और उसके बाद उसका उपभोग करने की बात सोचता था। आधुनिक समाज मे तो दोनों सिलसिले एक साथ चलते हैं। हम गेहूँ बोने के बाद फसल पकने तक इन्तजार नहीं करते। इतने समय तक प्रतीक्षा कर भी कौन सकता है? जब तक फसल पके, लोगों को तो अनाज चाहिए ही। यह तभी सम्भव है जब गेहूँ का उत्पादन पिछले वर्ष भी हुआ हो, और उसका एक भाग वर्ष के लिए उठा कर स्टाक में रख दिया गया हो। हर व्यक्ति एक ही समय में उपभोक्ता और उत्पादक होता है (Every body is both a consumer and producer)। कभी-कभी हम ऐसा सोचते हैं कि उपभोक्ता और उत्पादक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि युद्ध काल में उपभोक्ताओं को हानि हुई और उत्पादकों को लाभ हुआ। किंतु यह विचार भ्रमपूर्ण है। हर व्यक्ति एक ही समय में उत्पादक और उपभोक्ता दोनों होता है। उपभोक्ता के रूप में यदि वह हानि में रहता है तो उत्पादक के रूप में लाभ में।

५. उपभोग का महत्व (Importance of Consumption) :—आधुनिक अर्थशास्त्री उपभोग के महत्व पर ठीक-ठीक जोर देते हैं। इस बात को तो पहले ही समझाया जा चुका है कि उपभोग सारी आर्थिक चेष्टाओं का आदि और अन्त है। मनुष्य में इच्छा होती है और वह उसकी तृप्ति की कोशिश करता है। प्रयत्न पूरा होने पर फल मिलता है, आवश्यकता की तृप्ति। हमारे आर्थिक प्रयत्न की जननी आवश्यकता आदि है और तृप्ति उसका अन्त। उपभोग सारी आर्थिक चेष्टाओं का

आरम्भ और अन्त माना गया है। उत्पादन के लिए जो पहला धक्का है वह उपभोग ही लगाता है। इस तरह उपभोग से ही उत्पादन को दिशा और प्रेरणा मिलती है।

इतना ही नहीं कि उपभोग करने वाले उत्पादन शुरू भर करवा देते हैं बल्कि उनकी इच्छाओं के अनुसार ही सारी उत्पादक-कार्यवाही (productive activity) चलती है। यदि उपभोक्ता प्रसन्न होते हैं तो व्यापार उन्नति करता है और उत्पादन बढ़ता है। और अगर उपभोक्ता किसी चीज को नापसन्द कर दें या यह मान लें की इसकी कीमत अधिक है तो आखिरकार उस वस्तु का उत्पादन बन्द ही हो जाएगा। उपभोक्ता मालिक है और आर्थिक कार्यवाही के सारे क्षेत्र में उसकी हकूमत चलती है।

सारे आर्थिक जीवन का स्रोत आवश्यकताओं का होना है और उनका बढ़ना और फैलना ही सारी उन्नति का मूल-मंत्र है। आवश्यकताओं का विस्तार और आर्थिक उन्नति साथ-साथ चलते हैं। उपभोक्ता की तृप्ति के लिए निर्माता अधिक अच्छे और लाभकारी उपायों की खोज करते रहते हैं। इससे नये-नये उत्पादनों और रीतियों का पता चलता है और नये-नये यंत्रों का आविष्कार होता है। प्रत्येक आर्थिक चेष्टा जो अभावपूर्ति के लिए की जाती है, कई आवश्यकताओं को जन्म देती है। जितनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उतनी ही वे और अधिक बढ जाती हैं। "खाने से भूख लगने लगती है।" इसके अतिरिक्त अपने अभावों की पूर्ति करने के प्रयत्न में मनुष्य की योग्यताओं को भी अवसर मिलता है। सफल व्यापारियों के साथ-साथ सधे हुए श्रमिकों का भी एक समुदाय तैयार हो जाता है। अर्थशास्त्र के प्रत्येक विभाग में उपभोग का व्यापक प्रभाव दीख पड़ता है। उपभोक्ता ही उत्पादन का निर्देश और पथ-प्रदर्शन करते हैं। उपभोक्ताओं की माँग की तेजी ही मंडी में कीमतें तय करती है। इस तरह उपभोग विनिमय (exchange) पर भी अपना प्रभाव दिखाता है। उपभोग के बिना विनिमय का प्रश्न ही न उठता। वितरण (distribution) अर्थात् जमींदारों, मजदूरों, पूंजीपतियों और संगठनकर्ताओं की आय का बंटवारा प्रत्येक वर्ग के अपने-अपने उपभोग (जीवन-स्तर) को नियत करता है, और यह जीवन-स्तर जवाब में उनकी आमदनी पर असर डालता है। क्योंकि जीवन-स्तर उनकी कार्यक्षमता तय करता है और इसी कार्यक्षमता पर राष्ट्रीय आय में उनका अंश निर्भर रहता है। इससे अधिक उपभोग का महत्त्व और क्या हो सकता है ?

६. **घटती हुई उपयोगिता का नियम** (The Law of Diminishing Utility) :—उपभोग के बारे में एक बड़ा मत्त्वपूर्ण नियम है कि वस्तु के उपभोग करने से, उससे प्राप्त होने वाली तृप्ति घटती जाती है।

जैसे-जैसे हम एक वस्तु को अधिकाधिक पाते जाते हैं, वैसे-वैसे हमें उसकी चाह कम होती जाती है। यह प्रत्येक उपभोक्ता का अनुभव होता है कि जैसे-जैसे वह एक वस्तु-विशेष का उपभोग करता जाता है वैसे-वैसे उससे अगली इकाई से तृप्ति की मात्रा घटती जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इसकी उपयोगिता हर कदम पर घटती जाती है।

यदि हम बहुत प्यासे हैं और पीने के लिए पानी का एक गिलास मोल लेते हैं,

तो पानी पीकर हमारी तृप्ति होगी। चूंकि हमारी इच्छा पूरी हो चुकी होती है, हम पानी का दूसरा गिलास मोल लेना न चाहेंगे। यही हाल दूसरी वस्तुओं का भी होता है।

मार्शल इस नियम की परिभाषा इस प्रकार करता है :—

"किसी वस्तु के 'स्टाक' में वृद्धि होने से व्यक्ति को जो अधिक लाभ (extra benefit) मिलता है वह जैसे-जैसे स्टाक बढ़ता है, घटता जाता है।"

निम्नलिखित तालिका (table), जिसमें रसगुल्लों के एक काल्पनिक उपभोक्ता का उदाहरण लिया गया है, इस नियम को भली-भांति दिखाती है :

(१) रसगुल्लों की संख्या (No. of Rasgullas)	(२) सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)	(३) कुल उपयोगिता (Total Utility)
१	१५	१५
२	१३	२८
३	१०	३८
४	८	४६
५	४	५०
६	२	५२
७	०	५२
८	−२	५०
९	−३	४५

जैसे-जैसे उपरोक्त उपभोक्ता रसगुल्ले खाता जाता है, वैसे-वैसे अतिरिक्त या सीमान्त (additional or marginal) उपयोगिता घटती जाती है। सातवें रसगुल्ले से अतिरिक्त तृप्ति प्राप्त नहीं होती और आठवें और नवें से प्रतिकूल उपयोगिता (negative utility) प्राप्त होती है (देखिये स्तम्भ २)। उनका उपभोग तृप्ति के स्थान पर अरुचि उत्पन्न करता है।

यदि आप तीसरे स्तम्भ (कॉलम) पर नजर डालें तो आपको मालूम होगा कि एक हद तक कुल उपयोगिता (total utility) बढ़ती जाती है। यह भी जंचता है कि दो रसगुल्लों की उपयोगिता एक से अधिक होनी चाहिए, और क्रमशः तीन की कुल उपयोगिता दो से अधिक। परन्तु यदि आप ध्यान से देखें तो आपको मालूम होगा कि यद्यपि कुल उपयोगिता बढ़ती है, लेकिन इस वृद्धि की दर घट रही है। उदाहरण के लिए जब यह काल्पनिक सज्जन दूसरा रसगुल्ला खाते हैं, तो उपयोगिता बढ़कर २५ से १८ हो जाती है, पर जब वह तीसरा रसगुल्ला खाते हैं तो कुल उपयोगिता सिर्फ दस ही बढ़ती है। स्तम्भ २ में दिखाया गया है कि उपयोगिता किस दर से बढ़ती है। यह स्पष्ट है कि यह वृद्धि (increase) घटती हुई दर (diminishing rate) पर होती है।

इस नियम का रेखाचित्र (Diagram) **द्वारा प्रदर्शन :** घटती हुई उपयोगिता के नियम (The Law of Diminishing Utility) को रेखा-चित्र (डायग्राम) में इस तरह रख सकते हैं :—

चित्र में क ख और अ म दो अक्ष (axis) हैं। क ख रेखा के साथ-साथ

वस्तुओं की इकाइयाँ दिखाई गई हैं और अ म रेखा के साथ-साथ प्रति इकाई उपभोग (consumption) के अनुसार उपयोगिता (utility) का माप दिखाया गया है। और य य' रेखा उपयोगिता वक्र (utility curve) बताती है। अ ब उपयोगिता (utility)

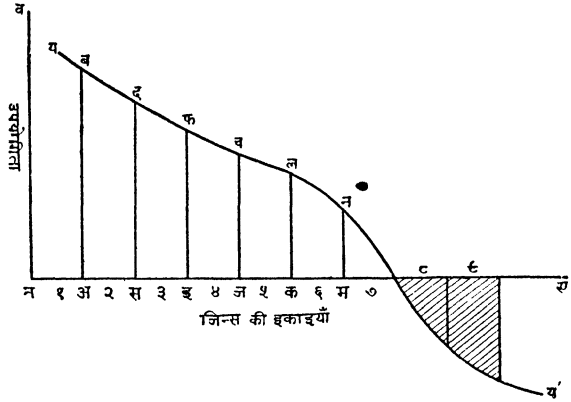

बताती है, जब एक रसगुल्ला खाया जाता है। स द अतिरिक्त उपयोगिता (additional utility) बताती है, जब दो रसगुल्ले खाये जाते हैं। स द (रेखा) माप में अ ब से छोटी है। अतिरिक्त उपयोगिता (additional utility) उत्तरोत्तर इकाइयों द्वारा प्रदर्शित की गई है जिनको इ फ, ज क्ष, क ल, म न रेखाओं में दिखाया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हर कदम पर अतिरिक्त उपयोगिता घटती जाती है। परन्तु इससे आगे सातवें चरण पर उपयोगिता (utility) शून्य (zero) हो जाती है, और उसके बाद उपयोगिता प्रतिकूल हो जाती है, जैसा कि चरण ८ और ९ में ख रेखा के अन्तर्गत य य' वक्र-रेखा के साथ-साथ छाया भाग में दिखाया गया है।

७. आरम्भिक उपयोगिता (Initial Utility) :—इसका अर्थ होता है ऐसी उपयोगिता जो प्रारम्भ में या पहली इकाई से प्राप्त होती है। उपरोक्त तालिका में आरम्भिक उपयोगिता ६५ है।

कुल उपयोगिता (Total utility) : तालिका के स्तम्भ ३ पर नजर डालिये। इसमें कुल उपयोगिता (total utility) को हर चरण पर दिखाया गया है। उदाहरण के लिए, यदि आप एक रसगुल्ला खाएँ तो कुल उपयोगिता १५ होगी; परन्तु यदि आप दो रसगुल्ले खाएँ तो कुल उपयोगिता २८ होगी, आदि आदि।

शून्य उपयोगिता (Zero Utility) : जब एक वस्तु की एक इकाई का उपभोग (consumption) करने के बाद कुल उपयोगिता (total utility) में कोई जोड़ (addition) न हो, तो इसको शून्य उपयोगिता (zero utility) का बिन्दु (point) कहते हैं। उपरोक्त तालिका में छठी इकाई के उपभोग के बाद कुल उपयोगिता (total utility) ५२ होती है। सातवीं इकाई के उपयोग के बाद भी कुल उपयोगिता (total utility) ५२ ही रहती है। इस तरह सातवीं इकाई पर कोई वृद्धि नहीं होती। यह स्थान शून्य उपयोगिता का है ऐसी उपयोगता (utility)।

निषेधात्मक (negative) या उल्टी ही जाती है।

प्रतिकूल उपयोगिता : अगर किसी वस्तु का प्रयोग बेहद बढ़ जाए तो सन्तुष्टि देने की बजाए उससे कष्ट हो सकता है। उस स्थिति में उसे प्रतिकूल उपयोगिता कहते हैं।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) : सीमान्त उपयोगिता उस बिन्दु या चरम सीमा की उपयोगिता है जहाँ पहुँचकर उपभोक्ता और लेने से मना कर देता है। इसीलिये उसे अन्तिम उपयोगिता (final utility) भी कहते हैं। परन्तु उपभोक्ता रुकता कहाँ है ? यदि आप अपने किसी मित्र के यहाँ रसगुल्लों की दावत पर आमन्त्रित हों तो आप पूर्ण सन्तुष्टि के तल (level of satiety) पर पहुँचकर ही ठहरेंगे, यानी जब आप और अधिक रसगुल्ले खाने की हालत में नही रहेंगे (यानी जब आप छक जायेंगे)। दूसरे शब्दों में आप शून्य उपयोगिता (zero utility) पर रुकेंगे। किन्तु ऐसा तब होता है जब आपको रसगुल्लों का दाम नहीं चुकाना पड़ता।

वास्तव में किसी को भी प्रतिदिन दावत के न्योते नही मिलते। आमतौर से उपभोक्ता (consumer) को खाने-पीने पर पैसा खर्च करना पड़ता है। ऐसी हालत में तो उसको अपने मन में वह जो कीमत (price) देता है और उसको जो आनन्द प्राप्त होता है उन्हें तोलते रहना पड़ता है। जब तक उपयोगिता (utility) कीमत (price) से ज्यादा होगी, तब तक वह उपयोग करता जाएगा। परन्तु जैसे-जैसे वह उपयोग करता चलता है उपयोगिता (utility) धीरे-धीरे घटती जाती है। एक समय ऐसी सीमा आ जायेगी जब कि कीमत (price) और उपयोगिता (utility) दोनों बराबर हो जाएंगी। स्पष्ट है कि इस सीमा पर पहुँचकर वह खाना बन्द कर देगा, क्योंकि अगर वह और आगे बढता है तो उपयोगिता कीमत से कम हो जाती है, और इस तरह वह घाटे में चला जाता है। यही सीमान्त उपयोगिता का बिन्दु है। इस बिन्दु पर पहुँचकर जो फायदा (benefit) उसे मिलता है वह उस कीमत के बराबर होता है जो वह अदा करता है।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) : की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह कुल उपयोगिता (total utility) में उस आखिरी इकाई (last unit) की उपयोगिता का जोड़ है जिसे इस्तेमाल करना ठीक माना गया हो। पृष्ठ ५८ पर दी गई तालिका के स्तम्भ २ में हर चरण पर सीमान्त उपयोगिता दिखाई गई है। यदि कोई उपभोक्ता पाँचवाँ रसगुल्ला खाकर उठ जाय तो उसकी सीमान्त उपयोगिता ४ होगी।

यह कहना अनुचित होगा कि इस जगह सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) पांचवें रसगुल्ले की उपयोगिता हुई। सभी रसगुल्ले एक जैसे हैं और उनमें भिन्न उपयोगिता नहीं हो सकती। लेकिन चूंकि वह विशेष रसगुल्ला पांचवें चरण पर खाया गया है, इसलिए उपयोगिता उससे पहले के हर रसगुल्ले से कम होगी। इस तरह यह कहना ठीक होगा कि सीमान्त उपयोगिता वह उपयोगिता है जो कुल उपयोगिता में उस इकाई से जमा होती है जिसका इस्तेमाल किनारे पर उचित समझा गया था।

सीमा (Margin) कोई निश्चित नहीं होती। यह आगे पीछे होती रहती है। यदि कीमत (Price) बढ़नी है तो हम पहिले ही रुक जायेंगे। और यदि कीमत गिरती है तो हम अधिक खरीदेंगे।

८. **सीमान्त उपयोगिता और कीमत** (Marginal Utility and Price) :— उपरोक्त तालिका के छठें विभाग को देखिये। स्तम्भ २ में सीमान्त उपयोगिताएँ (marginal utilities) दिखाई गई हैं। मान लीजिए कि सीमान्त उपयोगिता की प्रति इकाई एक पैसे के बराबर है। मान लीजिए कि एक रसगुल्ले का मूल्य ८ पैसे है। बस हम चौथे रसगुल्ले पर खरीदना बन्द कर देंगे। तीसरे (रसगुल्ले) पर इसकी उपयोगिता (utility) १० पैसे के बराबर है, जब कीमत ८ पैसे है, और हमें इससे अगले (चौथे) रसगुल्ले को खरीदने का प्रलोभन होता है, परन्तु इससे अगले का नहीं। इस बिन्दु पर इसकी (रसगुल्ले की) कीमत ८ पैसे है और उपयोगिता भी ८ पैसे। दोनों समान हो जाती हैं। अगर रसगुल्ले का मूल्य २ पैसे प्रति रसगुल्ला कम हो जाय तो हम छटा भी खरीद लेंगे, क्योंकि फिर इस बिन्दु पर आकर ही उपयोगिता (utility) और कीमत (price) बराबर होंगे।

जब हम किसी वस्तु के लिये कोई कीमत देने को तैयार होते हैं तो इसका निश्चित अर्थ यह होता है कि तृप्ति कीमत के बराबर तो जरूर है (अधिक चाहे हो)। इस प्रकार हम कहते हैं कि कीमत सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) को मापती है या सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) कीमत की सूचक है।

सीमान्त उपयोगिता और कीमत का सम्बन्ध भली भांति समझ लेना चाहिए। यदि कीमत बढ़ जाती है तो सीमान्त उपयोगिता भी बढ़ जाती है और इसके विपरीत वह कम हो तो यह भी कम हो जाती है। दोनों ही (कीमत और सीमान्त उपयोगिता) समान हो जाते हैं। परन्तु यह कहना भूल होगी कि सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित अथवा निश्चित करती है। यह (सीमान्त उपयोगिता) तो केवल इसको प्रकट करती है। सीमान्त उपयोगिता और कीमत दोनों ही माँग और पूर्ति (demand and supply) के नियम द्वारा तय होते हैं।

९. **घटती हुई उपयोगिता के नियम की सीमाएँ या अपवाद** (Limitations of or Exceptions to the Law of Diminishing Utility) :—घटती हुई उपयोगिता के नियम का कहना है कि जब हम पदार्थ की इकाइयों का अधिकाधिक उपभोग करते जाते हैं, तो उपयोगिता धीरे-धीरे कम होती जाती है। परन्तु यह नियम विशेष अवस्थाओं में ही ठीक उतरता है। ये अवस्थाएँ (assumptions) जो मान ली जाती हैं निम्नलिखित हैं :—

(i) **इकाइयाँ** (Similar Units) : वस्तु की सभी इकाइयाँ एक जैसी होनी चाहियें। यदि इकाइयाँ समान न होंगी तो यह नियम लागू न होगा। यदि दूसरा आम बहुत बढ़िया हुआ तो उससे पहिले आम की अपेक्षा उपयोगिता और तृप्ति अधिक होगी।

(ii) **उपयुक्त इकाइयाँ** (Suitable Units) : जिस पदार्थ का उपभोग किया जाना हो उसकी इकाइयाँ बहुत छोटी नहीं होनी चाहियें। यदि हमें तेज प्यास में चमचों से पानी दिया जाय तो आगे-आगे हर चमचे से और अधिक तृप्ति मिलती

जाएगी। परन्तु, यदि इकाई पानी का एक गिलास है तो यह नियम तत्काल ही लागू हो जाएगा। बहुत छोटी इकाइयों के सम्बन्ध में नियम काफ़ी देर के बाद लागू होता है। आरम्भ में घटने के स्थान पर उपयोगिता बढ़ती है।

(iii) **उपयुक्त अवधि** (Suitable Period) : इकाइयों का उपभोग उपयुक्त अवधि में ही होना चाहिए। यदि आप सुबह का खाना १० बजे खाते हैं और रात का ८ बजे, और इस बीच में कुछ नहीं खाते, तो रात का भोजन कलेवे की अपेक्षा अधिक तृप्ति देने वाला होगा। परन्तु यदि आपको भोजन के एक घण्टे के बाद ही दूसरा खाना दिया जाय, तो यह नियम निस्सन्देह लागू हो जाएगा। इसलिए यह नियम तभी लागू होता है जब किसी पदार्थ की इकाइयाँ एक के पश्चात् दूसरी जल्दी-जल्दी ली जाएँ।

(iv) **दुष्प्राप्य संग्रह** (Rare Collections) : दुष्प्राप्य तथा संग्रहणीय वस्तुओं के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति को दुष्प्राप्य सिक्के जमा करने का शौक है तो ज्यों-ज्यों वह अधिक सिक्के जमा करेगा उसकी खुशी बढ़ती जाएगी।

(v) **सामान्य व्यक्ति** (Normal Person) : यह तो हम मान कर ही चलते हैं कि हम सामान्य व्यक्तियों की ही चर्चा कर रहे हैं। लेकिन कुछ व्यक्ति असामान्य भी होते हैं। उदाहरण के लिए कंजूसों को ले लीजिए। जितना अधिक द्रव्य कंजूस के पास इकट्ठा हो जाता है, उसको मिलने वाली तृप्ति की मात्रा भी बढ़ जाती है। इसलिए यह नियम असामान्य व्यक्तियों (abnormal persons), जैसे कंजूस, शराबी और संगीतज्ञों आदि पर लागू नहीं होता जो अपने शौक की वस्तु को अधिकाधिक चाहते हैं। इस दशा में उपभोग (consumption) चाह को और जगाता है।

इस प्रसंग में इतना कह देना अनुचित न होगा कि बदलते हुए फैशन से या उपभोक्ता (consumer) की दूसरी वस्तुओं में परिवर्तन से और कभी-कभी दूसरे व्यक्तियों के पास जो कुछ है उसमें परिवर्तन भी उपयोगिता घटने के इस नियम (The Law of Diminishing Utility) को अस्त-व्यस्त कर देता है। परन्तु वास्तव में यह नियम (law) मानव-व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करता है।

१०. क्या घटती हुई उपयोगिता का नियम, द्रव्य पर भी लागू होता है ? (Does the Law of Diminishing Marginal Utility apply to Money ?):— कभी-कभी यह कहा जाता है कि घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम को द्रव्य (money) पर लागू नहीं किया जा सकता। चूंकि द्रव्य से नाना प्रकार की सेवाएँ (services) और पदार्थों को खरीदा जा सकता है, इसलिए द्रव्य की लालसा का कोई अन्त नहीं। ज्यादा द्रव्य का तो सदैव स्वागत ही होगा चाहे किसी व्यक्ति के पास पहिले से कितना भी पैसा क्यों न हो। जितना अधिक पैसा उसके पास होगा, वह उतना ही अधिक अपने पास और जमा करना चाहेगा। उससे वह न सिर्फ तरह-तरह के भौतिक पदार्थों (material objects) का भोग करेगा, वरन् इससे उसका गौरव, शक्ति और प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। इसलिए, यह दावा किया जाता है कि यह नियम द्रव्य पर लागू नहीं होता।

लेकिन थोड़ा सोचने से ही यह मालूम हो जाएगा कि द्रव्य भी इस नियम के लिए कोई अपवाद नहीं है। हमारे धन कोष में प्रत्येक वृद्धि चाहे वह कितनी भी वांछनीय क्यों न हो पहली से कम आनन्द देती है, हम उसको कम महत्व देते हैं। जैसे-जैसे एक व्यक्ति धनवान होता जाता है, वह पैसा खर्च करने में उतना ही लापरवाह हो जाता है। वह धन को निरर्थक विलास-सामग्री पर ही बरबाद कर देता है जिससे उसका कोई हित नहीं होता। इसका मतलब यह हुआ कि वह आदमी अधिक धन (additional wealth) को इतना महत्व, नहीं देता जितना अगर उसके पास कम धन होता तब देता या यह कह लीजिए कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) उसके लिए घट जाती है। इसीलिए सरकार धनवान व्यक्तियों पर कर लगाती है। वे जितने धनवान होते जाते हैं, उनको उतने ही अधिक कर देने पड़ते हैं। उत्तरोत्तर कराधान (Progressive taxation) का मूलभूत सिद्धान्त घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम (Law of Diminishing Marginal Utility) पर ही आश्रित है।

११. घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम का महत्व (Importance of the Law of Diminishing Marginal Utility) :—जैसा हमने ऊपर समझाया है, घटती हुई उपयोगिता का नियम मानव-व्यवहार के बुनियादी सिद्धान्त को अभिव्यक्त करता है। यह नियम प्रायः जीवन के हर क्षेत्र में लागू है :—

(१) यह तो हम देख ही चुके हैं कि सरकार इस नियम को कराधान (taxation) के लिए उपयोग में लाती है। जैसे-जैसे व्यक्ति का धन (wealth) बढ़ता जाता है, उस पर और अधिक कर लगा दिये जाते हैं, क्योंकि धनवान के लिए धन की उपयोगिता (utility of money) निर्धन की अपेक्षा कम होती है।

(२) इस नियम का उपयोग मंडी (market) में कीमत (price) निश्चित करने में भी लागू होता है। किसी वस्तु की अधिकता जब सीमान्त उपयोगिता कम कर देती है, उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए कीमत (price) कम कर दी जाती है। जितनी अधिक पूर्ति होती है, उसकी निकासी के लिए कीमत उतनी ही कम होनी चाहिए, और इसके ठीक विपरीत भी ऐसा ही होता है।

(३) समाजवादी भी, जब वे धन के समान वितरण (equal distribution of wealth) की बात करते हैं, इसी नियम का सहारा लेते हैं। उनका तर्क यह होता है कि सामाजिक दृष्टि से धनिकों के पास फालतू धन (excess wealth) इतना हितकर नहीं होता, जितना कि उस धन को गरीबों को दे देने से होगा। गरीबों के पास यह धन उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं (urgent needs) को पूरी करेगा, और उसकी उपयोगिता उनके लिए अधिक होगी।

(४) **घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम** (The Law of Diminishing Marginal Utility) : हमारे दैनिक खर्च नियमित (regulate) करता है। हम जानते हैं कि जब हम कोई वस्तु अधिक खरीदते हैं तो उसकी सीमान्त उपयोगिता गिर जाती है। हमारे पास द्रव्य की परिमित मात्रा (limited amount) ही होने से, हम उसको किसी अनावश्यक पदार्थ की अधिक मात्रा पर व्यय नहीं कर सकते।

इसलिए हम उस बिन्दु पर पहुँच कर खरीदना बन्द कर देते हैं, जहाँ व्यय किए गए धन की उपयोगिता खरीदी गई वस्तु की अन्तिम इकाई की उपयोगिता के बराबर हो जाती है। हम बाकी धन को दूसरी वस्तुओं पर व्यय करते हैं।

१२. अधिकतम संतुष्टि के प्रतिस्थापन अथवा समान सीमान्त प्राप्ति का नियम (Law of Substitution of Maximum Satisfaction or Equimarginal Returns) :—अर्थशास्त्र के अनुसार इस नियम को एक बुनियादी सिद्धान्त (fundamental principle) माना गया है। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है मनुष्य की इच्छाएँ (wants) अपरिमित (unlimited) होती हैं, और उनकी पूर्ति के साधन बहुत परिमित होते हैं। इसलिए हर एक बुद्धिमान उपभोक्ता (consumer) अपने रुपये पैसे का, जो उसके पास है, पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहता है और उससे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करता है।

अपने रुपये-पैसे का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए, हम पहिले अपने मन ही मन प्रति आने से मिलने वाली तृप्ति की कल्पना करते हैं। अगर हम इस निर्णय पर पहुँचे कि एक प्रकार से खर्च की गई इकन्नी से हमें दूसरे प्रकार खर्च की गई इकन्नी की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है तो हम पहिले पदार्थ पर ही व्यय किए जायेंगे, और तब तक व्यय करते रहेंगे, जब तक पहिले और दूसरे से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) बराबर न हो जायें। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हम अधिक उपयोगिता (greater utility) वाले पदार्थ की इकाइयों को कम उपयोगिता (less utility) वाले पदार्थ की इकाइयों से बदल (substitute) लेते हैं। इस प्रतिस्थापन या तबादले (substitution) का परिणाम यह होता है कि पहिले वाले पदार्थ की सीमान्त उपयोगिता कम हो जाती है और दूसरे की अधिक—और दोनों पदार्थों की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हो जाती हैं। इसी नियम को कई नामों से पुकारते हैं, जैसे प्रतिस्थापन का नियम (Law of Substitution) या समान-सीमान्त-प्राप्ति (Equi-marginal Returns) या समान-सीमान्त उपयोगिता (Equi-marginal Utility) का नियम आदि।

निम्नलिखित तालिका को ध्यान से देखिये :—

इकाइयाँ (Units)	नारंगियों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility of oranges)	सेबों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility of apples)
१	१०	८
२	८	६
३	६	४
४	४	२
५	२	०
६	०	—२
७	—२	—४
८	—४	—६

मान लीजिये कि नारंगियाँ और सेब दोनों एक आने में एक—इस भाव मिलते हैं। यह भी मान लीजिये कि हमारे पास खर्च करने के लिये ७ आने हैं। यदि हम ३ आने नारंगियों पर और ४ आने सेबों पर खर्च करते हैं तो क्या परिणाम होगा। तीसरी नारंगी की उपयोगिता ६ है और चौथी की २। जैसे-जैसे नारंगियों की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है हम सेबों की अपेक्षा नारंगियाँ अधिकाधिक मात्रा में खरीदते है। अगर एक सेब के स्थान पर हम एक नारंगी मान लेते हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि हम ४ नारंगियाँ और ३ सेब खरीदते हैं। ऐसा करने से नारंगियों और सेबों की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है अर्थात् ४। इस तरह से ही हमें अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है १०+८+६+४=२८ यह है ४ नारंगियों की कुल उपयोगिता (total utility) और ८+६+४=१८ यह है ३ सेबों की कुल उपयोगिता और दोनों का योग होता है २८+१८=४६, अर्थात् कुल उपयोगिता जो नारंगियों और सेबों से प्राप्त होती है वह है ४६। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं ४ नारंगियों और ३ सेबों को जिनको १ आना प्रति नारंगी या सेब की दर पर खरीदा गया है, अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है। और दूसरे किसी भी उपाय से उपयोगिता ४६ नहीं होती।

इस तरह हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हमें अधिकतम संतुष्टि तभी मिलती है जब अधिक लाभदायक वस्तु को कम लाभदायक वस्तु की जगह दे देकर सीमान्त उपयोगिताओं को समान (equalise) कर लेते हैं। इस सिद्धान्त को रेखाचित्र (diagram) की सहायता से भी समझा जा सकता है।

प्रतिस्थापन या अधिकतम संतुष्टि के नियम का रेखाचित्र द्वारा निरूपण : चित्र में त, ए और त व दो अक्ष (axis) दिखाए गए हैं। त ए रेखा पर मुद्रा (money) को मापा गया है और त व के साथ-साथ उपयोगिताओं को। मान लिया कि एक व्यक्ति के पास त म′ जितना धन है (७ आने) जिनको वह नारंगियों और सेबों पर व्यय कर सकता है, जिनकी घटती हुई सीमान्त उपयोगितायें क्रम से दो वक्र रेखाओं, अ प और त र द्वारा प्रदर्शित की गई हैं। यदि उपभोक्ता त म मुद्रा (३ आने) सेबों पर व्यय करे और म म′ मुद्रा (४ आने) नारंगियों पर तो उसको अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होगी क्योंकि ऐसा करने से दोनों की सीमान्त उपयोगितायें बराबर हो जाएँगी। (प म=प′ म′)। इसके अलावा दूसरे किसी भी उपाय से कुल संतुष्टि (total satisfaction) कम मात्रा में प्राप्त होगी।

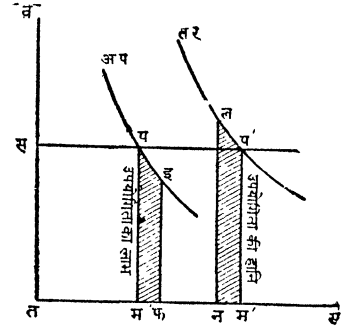

अब इसी चित्र से दूसरी ओर मान लीजिए कि ग्राहक म फ मुद्रा (१ आना) सेबों पर अधिक व्यय करता है और उतनी ही मुद्रा (१ आना) नारंगियों पर कम करता है। [न म′ (=म फ)] इस प्रकार रेखा-चित्र के छाया वाले क्षेत्र (shaded area) में उपयोगिता की हानि

दिखाई गई है जो क्रमशः इस प्रकार है, ल न' प' और प म फ इ क्योंकि म फ=न म' और प म=प' म'। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि ल न म' प' (नारंगियों के कम उपभोग के कारण उपयोगिता में कमी) प म फ इ (सेबों के अधिक उपयोगिता में वृद्धि) से बड़ा है। फलस्वरूप इस नये मेल से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता कम होती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेबों और नारंगियों का कोई और मेल इतनी सन्तुष्टि नही देता जितनी कि उस समय मिलती है जब सेबों और नारंगियों की सीमान्त उपयोगितायें समान (प म=प' म') हो जाती हैं।

इस नियम की कुछ सीमायें (Limitations of the Law) : (i) यदि उपभोक्ता अनजान हो या फैशन के पीछे या प्रथा के अनुसार व्यवहार करे तो वह पैसे का गलत इस्तेमाल करेगा। तब वह केवल आर्थिक दृष्टिकोण से कार्य नहीं करता। कारण शायद उसको अधिकतम सतुष्टि न मिल पाए चूंकि उसकी सीमान्त उपयोगिताओं में और उसके व्यय में बराबरी नही हो सकेगी।

(ii) ठीक इसी तरह अयोग्य व्यवस्थापक को भी कारोबार में लगाई हुई भूमि (land), श्रम (labour) और पूंजी (capital) से अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं होगा।

(iii) जहां साधन (resources) परिमित नहीं हैं वहां भी यह नियम लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए हम कह सकते है, प्रकृति के निर्मूल्य उपहारों (free gifts of nature) जैसे प्रकाश, जल, वायु आदि के प्रयोग पर।

१३. प्रतिस्थापन अथवा अधिकतम संतुष्टि के नियम का व्यावहारिक महत्व (Practical Importance of the Law of Maximum Satisfaction of Substitution) :—यह नियम काफी व्यावहारिक महत्व रखता है।

(१) हर चतुर उपभोक्ता अपने खर्चे का ब्योरा बनाते समय समझ-बूझ कर इस नियम का पालन करता है। एस० ई० टॉम्स के शब्दों मे कहा जा सकता है कि उसके "व्यय का वितरण इस प्रकार होता है कि एक मूल्य विभिन्न क्रयों की सीमाओं पर समान उपयोगिताएं मापता है।" हर एक को अपनी आय (income) इस प्रकार व्यय करनी चाहिए कि उसे अधिकतम संतुष्टि मिले। ऐसा तभी संभव है जब वह धन का व्यय इस ढंग से करे कि खरीदे हुए सभी पदार्थों की सीमान्त इकाइयों से उसे समान संतुष्टि मिले।

(२) उत्पादन (production) के क्षेत्र में भी यह नियम काफी महत्त्वपूर्ण है। निर्माता को उत्पादन के विभिन्न साधनों (factors of production) का सहारा लेना पड़ता है। उसका ध्येय अधिकतम शुद्ध लाभ (net profit) प्राप्त करना होता है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसे एक साधन (factor) का दूसरे से प्रतिस्थापन (substitution) करना आवश्यक होता है। जिससे उनका सब से ज्यादा किफायती मेल (most economical combination) हो सके। वह श्रम के स्थान पर यंत्रों को, या इसके विपरीत, यंत्रों के बजाय श्रम को लगाता है, जिससे श्रम और यंत्र दोनो की सीमान्त उपयोगिता या सीमान्त उत्पादकता (productivity) समान हो जाए।

(३) सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करते समय सरकार भी इस नियम से लाभ उठाती है। सार्वजनिक राजस्व (public revenues) को इस ढंग से खर्च किया जाता है कि समुदाय (community) का अधिक से अधिक कल्याण हो सके।

१४. उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) :—अर्थशास्त्र का यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है और विद्यार्थियों को इसे अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। अपने प्रतिदिन के कार्यों में हम देखते है कि किसी पदार्थ पर हम जो पैसा खर्च करते हैं वह प्रायः उसके उपयोग से मिलने वाली सन्तुष्टि से कम होता है। लोगों को कई बार ऐसा कहते सुना जाता है "मेरा काम अमुक वस्तु के बिना नहीं चल सकता था और मैं तो इसके लिए कहीं अधिक खर्च करने को तैयार था।"

कुछ वस्तुओं के विषय में तो उपभोक्ता की बचत का विचार बिलकुल साफ ही है; जैसे पोस्टकार्ड, समाचार-पत्र, दियासलाई आदि। ये सभी वस्तुएँ बड़ी उपयोगी हैं और साथ-साथ सस्ती भी। इसलिए, यदि आवश्यकता आ पड़े तो हम इन पर, जितना वास्तव में खर्च करते हैं, उससे कहीं अधिक खर्च करने को तैयार होंगे। इसलिए इन वस्तुओं के क्रय (purchase) से हमें काफ़ी मात्रा में कीमत से अधिक संतुष्टि मिलती है। अर्थशास्त्र में, इसी का नाम उपभोक्ता की बचत पड़ गया है।

जितनी कीमत हम देते हे और जितनी देने के लिए तैयार हैं उन दोनों में जो अन्तर होता है वह उपभोक्ता की बचत है।

उपभोक्ता की बचत =हम जितना व्यय करने को प्रस्तुत होते हैं—हम जो व्यय वास्तव में करते हैं। इसी नियम को, विद्यार्थियों की सरलता के लिए, नीचे दिए रेखाचित्र की सहायता से समझाया गया है।

उपभोक्ता की बचत का रेखा-चित्र द्वारा स्पष्टीकरण : चित्र में त ए और त व दो अक्ष-दण्ड (axes) दिखाये गये हैं। त ए रेखा के द्वारा उपभोग की गई वस्तुओं

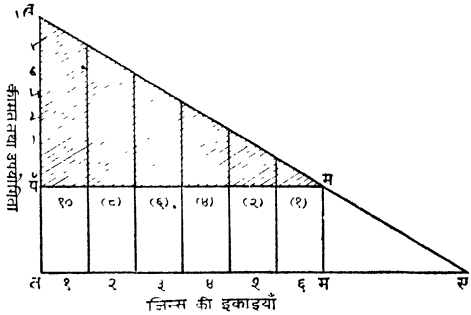

की इकाइयाँ दिखाई गई हैं और त व रेखा के साथ-साथ कीमत (price) और उपयोगिता (utility)। अब मान लीजिए कि कीमत का एक आना उपयोगिता के एक आने के बराबर है। एक व्यक्ति एक समय में ६ इकाइयाँ खरीदता है। इसलिए छठी इकाई सीमान्त इकाई (marginal unit) कहलायेगी। यहाँ कीमत और उपयोगिता समान हो जाते है।

छठी इकाई के लिए दी गई कीमत उतनी ही है जितनी अन्य इकाइयों पर

प्रति इकाई के अनुसार दी गयी है। इसलिए, वह कुल मिला कर ६ आने खर्च करता है। लेकिन उपभोग की गई ६ इकाइयों से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता है (१०+८+६+४+२+१)=३१, या दूसरे शब्दों में कह लीजिए, ३१ आने के बराबर (चूंकि एक इकाई का मूल्य हमने एक आना माना है)। परन्तु वास्तव में वह कुल ६ आने ही खर्च करता है। इस प्रकार उसे २५ आने भर अतिरिक्त संतुष्टि (excess satisfaction) प्राप्त होती है। यानी यहाँ उसे 'उपभोक्ता की बचत' २५ आने भर मिली।

इस रेखा-चित्र में उपभोक्ता की बचत छाया वाले क्षेत्र प म' व के द्वारा दिखाई गई है। यदि आप कुल उपयोगिता (यानी वह भाग जो इस रेखा-चित्र में वक्र रेखा और अक्ष-दण्डों के बीच दिखाया गया है) में से वास्तविक व्यय की गई कीमत घटा दें (यानी त म म' प बिन्दुओं के बीच का समकोण चतुर्भुज (rectangle) तो आपको 'उपभोक्ता की बचत' मालूम हो जायेगी।

उपभोक्ता की बचत=कुल उपयोगिता—व्यय की गई कुल राशि।

१५. **उपभोक्ता की बचत की समालोचना** (Criticism of Consumer's Surplus) :—कई आधारों को लेकर "उपभोक्ता की बचत" की धारणा (concept) की आलोचना हुई है जो इस प्रकार है :—

(१) कुछ आलोचक ऐसा मानते हैं कि यह विचार बिल्कुल काल्पनिक (imaginary) है। इस नियम में सिर्फ इतना ही बताया गया है कि आप जो व्यय करना चाहते हैं उसकी कल्पना कर लें और सिर्फ जितना आप वास्तव में व्यय करते हैं उसे कल्पित राशि में से घटा दें। इसलिए यह नियम कोरी कल्पना (hypothesis) है। आप कुछ भी कह सकते हैं कि मैं इतने तक व्यय करने को तैयार हूँ।

(२) इस बचत की ठीक-ठीक माप अत्यन्त कठिन है। यह बात कुछ ही लोग कह सकते हैं कि वे एक वस्तु पर इतना तक व्यय करने को तैयार हैं। और अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग राशि व्यय करने को तैयार होंगे। इसलिए यह हिसाब लगाना बड़ा टेढ़ा काम होगा कि हर एक व्यक्ति कितना व्यय करने को तैयार है। इस प्रकार मंडी (market) में उपभोक्ता की कुल बचत की जाँच नहीं की जा सकती और न उसका माप ही हो सकता है।

(३) ऐसा भी कहा जाता है कि यदि उपभोक्ता को मंडी में खरीदते समय अपनी "उपभोक्ता की बचत" पर विश्वास हो तो वह उस वक्त तक खरीदता चला जाएगा जब तक कि उसे मिलने वाली अतिरिक्त (excess) उपयोगिता लुप्त न हो जाए। किन्तु यह युक्ति तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि उपभोक्ता किसी वस्तु विशेष से प्राप्त होने वाली बचत (surplus) के पीछे नहीं भागता है। उसे तो दूसरी वस्तुओं से मिलने वाली उपयोगिताओं की भी तुलना करके देखना होता है।

(४) यह नियम जीवन-रक्षक तथा प्रतिष्ठा-रक्षक तथा रूढ़िगत आवश्यकताओं पर लागू नहीं होता। उनमें तो जो बचत होती है वह अपरिमित है। प्यास से तड़पता हुआ व्यक्ति यदि पानी न मिले तो पानी के एक गिलास के लिए क्या कुछ खर्च करने को तैयार न होगा।

डा० मार्शल ने आलोचकों के इन सभी आक्षेपों का ब्यौरेवार उत्तर दिया है। उन्होंने समझाया है कि यह धारणा (concept) इतनी काल्पनिक (unreal) नहीं है जितना कि आलोचक इसे मान बैठे हैं। नगर में रहने वाले व्यक्ति को थोड़े ही मूल्य पर अनेक सुविधाएँ (amenities) प्राप्त हो जाती हैं। किन्तु इसके विपरीत यदि कोई ग्रामीण उन्हीं सुविधाओं को प्राप्त करना चाहे तो उसे उससे कई गुणा अधिक व्यय करना पड़ेगा। इस प्रकार नगरों में रहकर २०० रु० प्रति मास आय पाने वाला व्यक्ति, दूर गाँव में रह कर उतनी ही आय वाले व्यक्ति से, अधिक संतुष्टि प्राप्त करेगा। नगर में रहने वाले को 'उपभोक्ता की बचत' बहुत होती है क्योंकि उसे कई वस्तुएँ कम दामों पर मिल सकती हैं।

१६. **उपभोक्ता की बचत की धारणा का महत्व** (Importance of the Concept of Consumer's Surplus) :—उपभोक्ता की बचत की धारणा सिर्फ किताबी नहीं है। इसका सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टिकोणों से जीवन में बड़ा महत्व है और यह अनेक प्रकार से लाभदायक सिद्ध होता है :—

(१) कर लगाने और उनकी दर (rate) निश्चित करते समय यह नियम वित्तमंत्री (Finance Minister) का बहुत सहायक होता है। वह विशेषकर उन्हीं वस्तुओं (commodities) पर कर (tax) बढ़ाते हैं जिन पर "उपभोक्ता की बचत" अधिक होती है। उन वस्तुओं पर जनता सरलता से अधिक व्यय करने को राजी हो जायेगी। इस प्रकार के करों से न सिर्फ राज्य (State) को अधिक आय होगी बल्कि जनता को भी अपेक्षाकृत कम कष्ट होगा। यदि उन वस्तुओं पर जिन पर "उपभोक्ता की बचत" कम होती है कर लगाया गया होता तो उन्हें अधिक कष्ट होता।

(२) यह धारणा व्यापारी के लिए भी लाभदायक सिद्ध होती है। वह उन पदार्थों की कीमत बढ़ा सकता है जिन पर "उपभोक्ता की बचत" की मात्रा अधिक होती है। परन्तु साधारणतया यह सच होगा जब वह व्यापारी एकाधिपति (monopolist) हो और उस वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण (control) रखता हो।

(३) "उपभोक्ता की बचत" की धारणा का फायदा होता है जब हम दो स्थानों में (जैसे कि नगर और ग्राम में) रहने के फायदों की परस्पर तुलना करें। इसलिए वह स्थान जहाँ अधिक सुविधाय सस्ते दामों पर मिल सकती हैं रहने के लिए अवश्य अधिक उपयुक्त होगा।

१७. **अर्थशास्त्र के अनुसार व्यय करते समय जानने योग्य बातें** (Economics of Spending) :—व्यय किए जाने वाले धन से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए निम्नलिखित कुछ बातों का जानना बहुत आवश्यक है :—

(१) विलास सामग्री (Luxuries) पर कम से कम खर्च करना चाहिए। व्यय करते समय हमें एक प्रश्न सदैव अपने मन में रखना चाहिए, "क्या हम अपने स्वास्थ्य या निपुणता (efficiency) को हानि पहुँचाये बिना इस वस्तु का त्याग कर सकते हैं ?"

(२) अपने खर्चे के ब्योरे की योजना (बजट) पहिले ही बना लेनी चाहिये।

आय-व्यय का ठीक-ठीक लेखा बना लेना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो आकस्मिकताओं (contingencies) का भी पूरा-पूरा प्रबन्ध रखना चाहिए।

(३) हमें सचमुच किसी वस्तु की कितनी आवश्यकता है यह ठीक-ठीक जान लेना चाहिए। हमें किसी भी वस्तु को सिर्फ सस्ता होने के खयाल से नहीं खरीदना चाहिए।

(४) हमें अपने पैसे का तब तक पूरा-पूरा फायदा नहीं मिल सकता जब तक हम किसी वस्तु के गुणों को पूरा-पूरा परखना नहीं सीख लेते। भोला खरीदार किसी वस्तु के बाहरी आकर्षण से मुग्ध होकर उस वस्तु को खरीद सकता है जो सिर्फ काम-चलाऊ ही हो।

(५) हमें इस बात का ठीक-ठीक पता करना चाहिए कि अमुक वस्तु कहाँ सस्ते दामों पर मिल सकती है, और वहाँ जाकर उस वस्तु को खरीदने में हमें कभी आना-कानी नहीं करनी चाहिए। यदि कोई वस्तु चाँदनी चौक में कम दामों पर मिल सकती है तो सिर्फ सुविधा के प्रलोभन से हमें कनॉट प्लेस से नहीं खरीदनी चाहिए।

(६) सौदा और मोल-तोल करने में हमेशा पक्के रहना चाहिए। प्रायः ऐसा देखा गया है कि लोग भाव-ताव करने में शर्माते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं, क्योंकि यदि सौदा महंगा मिलता है तो दुकानदार की अपेक्षा हम ही अधिक दोषी ठहरते हैं।

(७) सब से अधिक आवश्यकता तो इस बात की होती है कि हम बड़े ध्यान से विभिन्न आवश्यकताओं (wants) को परखें और उचित आवश्यकता को अपने सामने रखें। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा पर ५,००० रु० व्यय करना, उसके विवाह-संस्कार पर २,००० रु० व्यय करने से कहीं बेहतर है। बड़ी-बड़ी दावतों या चाय-पार्टियों पर पैसा खराब करने से यह बेहतर होगा कि घर में काम आने लायक एक अच्छा सा रेडियो सेट खरीद लिया जाये।

परन्तु इन सब बातों के बाद भी यही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार, हर व्यक्ति, एक ओर प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना दूसरी ओर उसे प्राप्त करने के लिए होने वाले कष्ट से, ठीक-ठीक कर लेता है। दृष्टान्त के लिए कनॉट प्लेस की बड़ी-बड़ी दुकानों पर किसी अमुक वस्तु के लिए एक आना फालतू देना, चाँदनी चौक तक सड़कों पर घिसटते फिरने से ज्यादा सुविधाजनक मालूम पड़ता है।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

उपभोग क्या है ? (What is Consumption ?) : इसका अर्थ है, वस्तुओं और सेवाओं (services) द्वारा मानव अभावों या आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति। दूसरे प्रकार से इसकी परिभाषा में इसका अर्थ बताया गया है उपयोगिताओं का विनाश करना, चाहे वह शीघ्र हो या धीरे-धीरे। परन्तु साथ-साथ विद्यार्थियों को यह भी न भूलना चाहिए कि सिर्फ उपयोगिता के विनाश को उपभोग नहीं कहते। मानव अभाव की पूर्ति इसका अत्यन्त आवश्यक अंग है। जैसे हम कह सकते हैं कि आग लग कर भस्म हुए मकान को उपभोग में नहीं गिना जा सकता।

उपभोग के प्रकार (Types of Consumption)

(i) प्रत्यक्ष या अन्तिम उपभोग (Direct or Final Consumption) : यह

उपभोक्ता के माल (goods) के बारे में बताता है। इससे हमारी इच्छाओं (wants) की पूर्ति सीधे-सीधे होती है।

(ii) उत्पादक या परोक्ष उपभोग (Productive or Indirect Consumption) : इसका अर्थ है मशीनों और दूसरे मध्यस्थ माल (उपकरणों) का इस्तेमाल।

(iii) निरुपयोगी उपभोग (Wasteful Consumption) का अर्थ है वह विनाश जिससे हमें संतुष्टि प्राप्त न हो।

उपभोग का अध्ययन उत्पादन से प्रथम क्यों किया जाता है ? (Why is consumption studied before production ?) : क्योंकि यह तर्कसंगत (logical) है। उपभोग करने की इच्छा पहिले जागृत होती है और वस्तु का उत्पादन उसके बाद किया जाता है। दूसरा कारण यह भी है कि उत्पादन की अपेक्षा उपभोग को अधिक-महत्त्वपूर्ण माना गया है।

उपभोग और उत्पादन का क्रम साथ-साथ चलता है (Consumption and Production go side by side) : ऐसा नहीं होता कि पहले उत्पादन करने के बाद उसका उपभोग किया जाये। असल में तो दोनों क्रम साथ साथ चलते हैं और फिर हर व्यक्ति उपभोक्ता और उत्पादक दोनों होता है।

उपभोग का महत्व (Importance of Consumption) : वास्तव में उपभोग आर्थिक कार्यवाही (economic activity) का आदि और अंत दोनों है। उत्पादन का रूप और परिमाण (nature and volume) उपभोग से नियंत्रित होता है। जिस हद तक उपभोक्ता 'मालिक' है वहां तक वह उत्पादन पर नियन्त्रण रखता है। इच्छाओं का वर्द्धन ही सारी आर्थिक प्रगति का मूल है। उपभोग से अर्थशास्त्र के प्रत्येक विभाग पर प्रभाव पड़ता है।

घटती हुई उपयोगिता का नियम (The Law of Diminishing Utility) : किसी वस्तु का जितना आधिक्य (abundance) होता है उतना ही कम हम उसे अपने पास रखना चाहते हैं। "एक व्यक्ति को जो किसी वस्तु के भंडार (stock) की वृद्धि द्वारा अतिरिक्त फायदा (extra benefit) मिलता है, वह स्टाक के बढ़ने के साथ घटता जाता है"—मार्शल

इस नियम की कुछ सीमाएं इस प्रकार हैं (Limitations of the Law) : यह नियम तब तक लागू नहीं होता जब तक—

(१) इकाइयां एक रूप से समान (identical) न हों,

(२) इकाइयां उपयुक्त आकार (suitable size) की न हों,

(३) इकाइयों को एक समय पर उपभोग में लिया गया हो,

(४) यह नियम दुष्प्राप्य तथा संग्रहणीय वस्तुओं पर लागू नहीं होता,

(५) यह नियम असामान्य व्यक्तियों के लिए जैसे कंजूस, शराबी, विद्वानों आदि पर भी लागू नहीं होता। इन व्यक्तियों के लिए जैसे-जैसे उपभोग की मात्रा बढ़ती जाती है, उनके चरित्र में (उस वस्तु विशेष के प्रति उनकी आसक्ति में) अन्तर हो जाता है।

क्या घटती हुई उपयोगिता का नियम द्रव्य (money) पर भी लागू होता है ? (Does the Law of Diminishing Utility apply to money ?) : हाँ ! उत्तरोत्तर करारोपण (progressive taxation) का सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधारित है कि यह नियम द्रव्य पर भी लागू होता है।

घटती हुई उपयोगिता के नियम का महत्व (Importance of the Law of Diminishing Utility) :

(१) यह नियम सार्वजनिक वित्त (Public Finance), जैसे उत्तरोत्तर कराधान (progressive taxation) पर लागू होता है।

(२) व्यापार में भी यह नियम लागू होता है यानी अधिक सप्लाई का अर्थ होता है गिरी हुई कीमत।

(३) इस नियम के आधार पर ही धन (wealth) का अधिक समान (even) वितरण (distribution) न्याययुक्त माना जाता है।

(४) यह नियम हमारे खर्चे को तरतीब देता (regulates) है।

आरम्भिक उपयोगिता (initial utility) वह जो हमें उपभोग की प्रथम इकाई से प्राप्त होती है।

कुल उपयोगिता (total utility) वह जो हमें उपयोग की कुल इकाइयों से प्राप्त होती है।

शून्य उपयोगिता (zero utility) वह इकाई है जिसके उपभोग से कुल उपयोगिता में कोई योग (addition) नहीं होता।

प्रतिकूल उपयोगिता (negative utility) वह इकाई है जिसके उपभोग से संतुष्टि के बजाय अरुचि होती है।

सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) वह बिन्दु है जहाँ तक उपभोग करना ठीक होता है, या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि दी गई कीमत और प्राप्त हुआ हित समान हो जाते हैं। कीमत सीमान्त उपयोगिता की माप है। सीमान्त उपयोगिता, कुल उपयोगिता में उस इकाई द्वारा किया गया जोड़ (addition) है जिसे इस योग्य मान लिया जाता है।

अधिकतम संतुष्टि या प्रतिस्थापन या समान-सीमान्त प्राप्ति का नियम (The Law of Maximum Satisfaction or the Law of Substitutions or Equimarginal Returns) : हर व्यक्ति अपने परिमित साधनों से अधिकतम संतुष्टि पाने की इच्छा से उपभोग की जाने वाली वस्तुओं में, अधिक उपयोगिता वाले पदार्थों का प्रतिस्थापन कर लेता है। इस तरह खरीदी गई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता एक दूसरे के बराबर हो जाती है।

इस नियम की सीमायें : यह नियम लागू नहीं होगा, यदि :

(क) उपभोक्ता अपरिचित या फैशन का पुजारी या रूढि पर चलने वाला हो।

(ख) उत्पादक कम योग्यता वाला हो और उत्पादन के विभिन्न साधनों को या उनकी इकाइयों (respective units) को तुलनात्मक दृष्टि से न जांच सके।

(ग) साधन अत्यन्त परिमित हों।

इस नियम का व्यावहारिक महत्व :

(१) इस नियम का सहारा लेकर, उपभोक्ता अपनी संतुष्टि को अधिकतम बढा सकता है।

(२) व्यापारी अपने लाभ (profit) की सीमा को बढा सकता है।

(३) सार्वजनिक राजस्वों की सहायता से, सरकार लोक-कल्याण में अधिकतम वृद्धि कर सकती है।

"उपभोक्ता की बचत" (Consumer's Surplus) : उपभोक्ता की बचत का द्रव्य में माप (money measure) वह अन्तर है जो एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए जितना खर्च करने के लिये तैयार है और जो वह वास्तव में खर्च करता है, उन दोनों का अन्तर है।

उपभोक्ता की बचत = कुल उपयोगिता − (क्रय की गई इकाइयां × कीमत)।

आलोचना :

(१) यह नियम काल्पनिक (hypothetical) है।

(२) इसकी ठीक-ठीक माप करना कठिन है।

(३) यदि उपभोक्ता को यह मालूम हो जाय तो वह बचत के खत्म होने तक खरीदता जाए।

(४) यह नियम जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर लागू नही होता। यद्यपि 'उपभोक्ता की बचत' के नियम को बाकायदा सिद्ध (prove) नहीं किया जा सकता तो भी इतना सच है कि यह नियम कपोल-कल्पित नही है। यह नियम वास्तव में ठीक है। यह आपके अनुकूल वातावरण के महत्व को प्रकट करता है।

इस नियम का महत्व :

(१) सार्वजनिक राजस्व (public revenue) में इस नियम का बड़ा महत्व है। जिन पदार्थों में उपभोक्ता की बचत की अधिक गुंजाइश होती है वही पदार्थ कराधान या उसकी वृद्धि के लिये अच्छे माने जाते हैं।

(२) एकाधिपति ऐसे माल की कीमत बढ़ा सकता है।

(३) इस नियम से हम यह भी आसानी से तय कर सकते हैं कि अपना निवास कहां रखें।

अर्थशास्त्र के अनुसार व्यय करते समय जानने योग्य बातें (Economics of Spending) : निम्नलिखित नियमों का सदैव पालन करना चाहिए :—

(१) विलास-सामग्री पर कम से कम खर्च करना चाहिए।

(२) अपने खर्चे का ब्यौरा (बजट) पहिले ही बना लेना चाहिए।

(३) हमें सचमुच किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है यह ठीक-ठीक जान लेना चाहिए।

(४) यह सदैव पता रखना चाहिए कि कौन वस्तु कहां सस्ती मिलती है ?

(५) मोल-तोल या भाव करने में कभी भी हिचकना नहीं चाहिये।

(६) आपको वास्तव में क्या मोल लेना है इस पर विचार कर लेना चाहिये। इस बात का ठीक-ठीक निर्णय कर लेना चाहिए कि क्या खरीदना है और क्या नहीं।

(७) दिखावटी चीजों के बजाय टिकाऊ चीजें ही खरीदनी चाहियें।

विभिन्न विश्वविद्यालयों के प्रश्न पत्रों में आये निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए

1. What is consumption ? Are the following consumption :

(*a*) Seeing a cinema show ; (*b*) Taking a glass of water from a domestic servant ; (*c*) Looking at a watch ? Give reasons for your answers. (दिल्ली, १९१९)

(उपरोक्त सभी उपभोग के विषय है। वस्तुओं या सेवाओं के उपभोग द्वारा हर विषय से संतुष्टि आर्थिक रूप से मिलती है।)

2. What exactly do you mean by consumption ? What is the relation between consumption and production ?

(यू० पी० १९४१, १९५३)

देखिये विभाग १, ३ और ४

3. "Consumption is the end of all economic activity." Do you agree with this statement ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५५)

देखिये विभाग ५

4. What is utility ? Distinguish between total and marginal utility. How will you measure it ? (बम्बई, १९५३)

देखिये विभाग ६, ७ और ८

Or

State the distinction and relation between marginal utility and total utility. (कलकत्ता, १९५५)

5. "The Law of Diminishing Utility holds good for all kinds of satisfactions." Explain and examine this statement. (पं० वि०, १९३५)

Or

Explain and illustrate the law of diminishing utility with its limitations. (अजमेर, १९५५)

देखिये विभाग ६, ९ और ११

6. Discuss the significance of the Law of Diminishing Utility (*a*) in taxation, and (*b*) in the theory of value.

देखिये विभाग ११

7. Enunciate the Law of Maximum Satisfaction. Illustrate with a diagram and discuss its practical importance.

(यू० पी० बोर्ड, १९५३ Supplementary)

देखिये विभाग १२ और १३

8. How would you spend a rupee on the purchase of tea, sugar and milk if their marginal utilities are as under :

	Ist Chhtk.	2nd Chhtk.	3rd Chhtk.	4th Chhtk.	5th Chhtk.
Tea	100	80	60	40	20
Sugar	80	60	40	20	10
Milk	60	40	20	10	5

The prices per chhhatak are : tea 4 as., sugar 2 as., milk I anna. (उत्तर—२ छटांक चाय , ३ छटांक चीनी और २ छटांक दूध।

9. What do you understand by consumer's surplus ? Mention any three articles from your domestic consumption in which you enjoy large consumer's surplus ?

देखिये विभाग १४। नमक, दियासलाई और अखबार से 'उपभोक्ता की बचत' अधिक मात्रा में प्राप्त होती है।

10. Explain clearly the doctrine of consumer's surplus and point out its main limitations. Use diagrams.

(अजमेर १९५३, सागर १९५२)

What is the importance of this concept in Economics ?

(बम्बई, १९४०)

Or

Examine the concept of Consumer's Surplus. How can this surplus be measured ?

(पटना, १९५४)

देखिये विभाग १४, १५ और १६। मूल्यांकन (valuation) में 'उपभोक्ता की बचत' के कारण एकाधिपति को कीमत तय करने में सहायता मिलती है। सार्वजनिक राजस्व में, वित्त मंत्री को कराधान के समय वस्तुओं की छांट करने में सहायता मिलती है।

11. From your study of consumption can you lay down a few rules for spending money ?

देखिये विभाग १७

मांग (DEMAND)

खरीदने की इच्छा तथा क्रय शक्ति

१. **विषय-प्रवेश** (Introduction) :—पिछले अध्याय में हमने उपभोग का अध्ययन किया था। उपभोक्ता को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए कोई चीज चाहिए। पर किसी वस्तु की इच्छा या अभाव ही उस वस्तु की मांग नहीं है। मांग शब्द का अर्थशास्त्र में एक विशेष अर्थ है। क्योंकि यह शब्द अर्थशास्त्र में बार-बार आता है, इसलिए इसको भली-भाँति समझ लेना जरूरी है।

२. **मांग का अर्थ** (Meaning Of Demand) :—साधारण भाषा में मांग शब्द बहुत से अर्थों में प्रयुक्त होता है, और अक्सर हम मांग (demand) को इच्छा (desire) ही समझ बैठते हैं।

इच्छा (desire) है किसी वस्तु या सेवा को पाने की अभिलाषा। किन्तु मांग का अर्थ इच्छा मात्र से कहीं अधिक है। माग का अर्थ होता है कि एक व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तु के लिए रुपया देने को तैयार और समर्थ है। एक भिखारी की इस कामना का कि वह दिल्ली से बम्बई विमान-यात्रा करे, कोई महत्व या मूल्य नहीं है, क्योंकि वह इस यात्रा के लिए पैसा नही दे सकता। दूसरी ओर, एक व्यापारी की हवाई जहाज से बम्बई जाने की इच्छा "मांग" (demand) है, क्योंकि वह उसका व्यय उठाने में समर्थ है, और पैसा देने को तैयार है। इस प्रकार, 'मांग' का अर्थ है वह अभिलाषा जिसके पीछे रुपया देने का सामर्थ्य और तैयारी हो।

व्यय करने का सामर्थ्य तथा तैयारी दोनों आवश्यक है। यदि कोई पैसा देने को तैयार तो है, पर उसके पास देने को है नही तो उसकी अभिलाषा मांग नही होगी। इसी प्रकार यदि वह पैसा देने में तो समर्थ है, किन्तु देने को तैयार नही, तो उसकी अभिलाषा कारगर मांग (effective demand) में न गिनी जाएगी।

इसके अतिरिक्त, मांग से एक कीमत (price) का निर्देश होता है, और एक अरसे का भी जिसके अन्दर मांग ने पूरा होना है। यह तो स्पष्ट है, कि किसी भी व्यक्ति की किसी वस्तु के लिए मांग वह वस्तु किस कीमत पर मिलती है इस पर निर्भर है। आदमी कम कीमत पर ज्यादा खरीदता है और ज्यादा कीमत पर कम। इसी प्रकार मांग समय की अवधि पर भी बदलती रहती है। एक परिवार की गेहूँ की एक महीने की मांग एक दिन की मांग से अधिक है।

इस प्रकार, मांग (demand) की परिभाषा यह की जा सकती है : "मांग का अर्थ है वह परिमाण (मिकदार) जो किसी नियत कीमत पर निश्चित समय के लिए मांगा जाता है।"

३. **मांग अनुसूची** (Demand Schedule) :—यदि हम वे विभिन्न परिमाण लिख डालें जो कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह, विभिन्न कीमतों पर खरीदने को तैयार होगा तो हमें उस व्यक्ति या समूह की मांग अनुसूची (demand schedule) मिल जाएगी। दूध के उपभोक्ता की एक "मांग-अनुसूची" नीचे दी गई है :—

कीमत	प्रति दिन की मांग का परिमाण
रु० १ ० ० प्रति सेर	कुछ नहीं
० १२ ० ,, ,,	,,
० १० ० ,, ,,	आधा सेर
० ८ ० ,, ,,	एक ,,
० ६ ० ,, ,,	दो ,,
० ४ ० ,, ,,	तीन ,,
० २ ० ,, ,,	चार ,,

बाजार-अनुसूची (Market Schedule) : ऊपर एक व्यक्ति-विशेष की मांग-अनुसूची दी गई है। किन्तु हम एक बाजार अनुसूची भी बना सकते हैं जिसमें किसी बाजार में तमाम उपभोक्ताओं द्वारा भोगे गए दूध का कुल परिमाण दिखाया जाय। हम उन उपभोक्ताओं को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : (अ) जिनकी मासिक आय १००) तक है ; (ब) जिनकी आय १००) से ५००) तक है ; और (स) जिनकी आय ५००) से ऊपर है। हम यह देख सकते हैं कि प्रत्येक वर्ग प्रत्येक कीमत पर कितना दूध खरीदेगा और तब उन सब मांगों का योग कर सकते हैं, जैसे :—

प्रति सेर कीमत (रुपयों में)	'स' वर्ग की मांग (सेरों में)	'ब' वर्ग की मांग (सेरों में)	'अ' वर्ग की मांग (सेरों में)	कुल (सेरों में)
२ ० ०	२	....	...	२
१ ० ०	५	२	...	७
० १२ ०	५	३	....	८
० १० ०	५	३½	१	९
० ८ ०	५	४	१	१०
० ६ ०	५	४	२	११
० ४ ०	५	४	३	१२
० २ ०	५	४	४	१३
० १ ०	५	४½	४½	१४

४. **मांग-अनुसूची बनाने में कठिनाइयाँ** (Difficulties in Constructing a Demand Schedule) :—एक व्यक्ति की मांग-अनुसूची बनाना कठिन है। यह सब कल्पना के अनुसार है। कोई व्यक्ति भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि अगर कीमतें भिन्न हों तो वह कितना खरीदेगा। इसलिए अनुसूची में कुछ कीमतें काल्पनिक हैं। दूध की कीमत २) सेर या १ आना सेर शायद कभी भी न हो। तब किसी से यह पूछने से क्या लाभ कि तुम इन कीमतों पर कितना खरीदोगे ? एक

बाजार-अनुसूची बनाना कहीं अधिक कठिन है और अधिक काल्पनिक।

५. मांग-अनुसूची की व्यावहारिक उपयोगिता (Practical Utility of the Demand Schedule) :—यद्यपि वैज्ञानिक रूप से सही मांग-अनुसूची बनाना सम्भव नहीं है, फिर भी यह बात सच है कि विभिन्न कीमतों पर भिन्न-भिन्न परिमाण में वस्तुएँ क्रय की जाती हैं। मांग-अनुसूची निम्न प्रकार से लाभप्रद है :—

(१) आखिरकार, व्यवसायी अपनी बुद्धि से इस बात का अन्दाजा लगाते ही हैं कि किसी विशेष कीमत ऊँची—या नीची होने पर—कितनी बिक्री होगी। एकाधिकार रखने वाले कभी-कभी जान-बूझकर मांग बढ़ाने के लिए कीमतें कम कर देते हैं।

(२) किसी वस्तु की बिक्री पर करों की विभिन्न दरें लगाने का क्या फल होगा, यह जानने के लिए वित्त-मन्त्री को मांग-अनुसूचियों की सहायता लेनी पड़ती है। परिगणना (calculation) चाहे मोटी और अपूर्ण हो, फिर भी उससे मदद मिलती है और वह उपयोगी सिद्ध होती है।

६. मांग वक्र (Demand Curve) :—विभाग ३ में दी गई एक व्यक्ति की मांग-अनुसूची की सहायता से हम निम्न प्रकार का वक्र (वक्र-रेखा) बना सकते हैं, यदि हम परिमाणों को त ए पर मापें और कीमतों को त व पर।

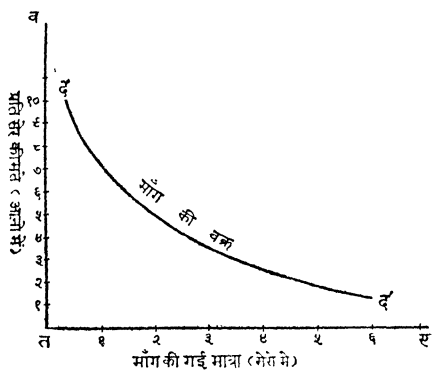

जब कीमत सिर्फ दस आने सेर होती है तब उपभोक्ता केवल आधा सेर खरीदता है। हम त ए अक्ष (axis) पर ½ बिन्दु चल कर १० आने के सामने एक बिन्दु रख देते हैं। दूसरे बिन्दुओं की स्थिति भी इसी प्रकार निश्चित करके और उन बिन्दुओं को एक रेखा द्वारा जोड़ कर हमें द द' वक्र मिलता है।

हम देखते हैं कि मांग वक्र की ढाल बाएँ से दाएँ है। क्यों? ऊपर पांचवें अध्याय में हमने देखा था कि उपभोक्ता वस्तु को तब तक खरदीता जाता है जब तक उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर नहीं हो जाती। तभी उसकी कुल उपयोगिता अधिकतम होगी। अगर उसका मूल्य कम होगा तो अपनी सीमान्त उपयोगिता को उसके बराबर लाने के लिए उसे अधिक खरीदना होगा। इसका कारण यह है कि सीमान्त उपयोगिता घटने के नियम के अनुसार अधिक उपभोग से ही सीमान्त उपयोगिता कम की जा सकती है। इसलिए मांग वक्र साधारणतः दायीं ओर को ही झुकता है।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि व्यक्ति के मांग-वक्र के समान समूचे बाजार का मांग-वक्र भी बनाया जा सकता है जिसके लिए विभाग ३ में दी बाजार

मांग अनुसूची लेनी होगी। उसकी ढाल भी बाएँ से दाएँ होगी क्योंकि कीमत कम होने पर (i) पुराने खरीदार (ऊपर दिये कारणों से) ज्यादा खरीदेंगे और (ii) कुछ नए लोग भी खरीदना शुरू कर सकते हैं।

७. मांग का नियम (Law of Demand) :—हमने देखा कि मांग का क्या मतलब है, और हमने मांग-अनुसूची का भी अध्ययन कर लिया। मांग-अनुसूची से हमने जाना कि मांग कीमत के साथ बदलती है। अब हम मांग का नियम (law of demand) निर्धारित कर सकते हैं। यह नियम कहता है कि मांग में कीमत की अपेक्षा विपरीत (उल्टी दिशा में—inversely) परिवर्तन होता है, अर्थात् यदि कीमत बढ़ती है तो मांग संकुचित (contract) होती है और इसका उल्टा भी सही है।

"एक निर्दिष्ट समय में, किसी वस्तु (commodity) या सेवा के लिए प्रचलित कीमत पर मांग, उससे अधिक कीमत होने पर जितनी मांग होती, उससे अधिक, और प्रचलित कीमत से कम कीमत होने पर जितनी मांग होती, उससे कम होती है।"—एस० ई० टांमस (S. E. Thomas)।

"एक निर्दिष्ट समय में" (at a given time) की यह शर्त अत्यन्त महत्व-पूर्ण है, क्योंकि विभिन्न कालों में, भिन्न परिस्थितियों के कारण, कीमत के न बदलने पर भी, मांग भिन्न हो सकती है।

मांग के नियम के अपवाद (Exceptions to the Law of Demand) : मांग का नियम कहता है कि मांग कीमत के घटने पर बढ़ेगी और कीमत बढ़ने पर कम होगी। किन्तु यह नियम निम्नलिखित दशाओं में लागू न होगा :—

(i) यदि किसी वस्तु के दुर्लभ (shortage) हो जाने का डर हो जाय तो कीमतें बढ़ती रहने पर भी उसकी बिक्री बढ़ जाएगी।

(ii) कीमत गिर जाने पर भी वस्तु का क्रय कम होगा यदि वह फैशन के बाहर चली गई है या प्रचलित नहीं रही है।

(iii) जब किसी वस्तु का प्रयोग बड़प्पन या सम्मान की निशानी समझा जाता है तब उसकी कीमत कम हो जाने पर वह कम खरीदी जाएगी क्योंकि जन-साधारण उसे खरीदना शुरू कर देंगे।

(iv) कभी-कभी लोग किसी चीज की कीमतें गिरने के बारे में अनजान रहते हैं और वे अधिक नहीं खरीदते।

८. मांग के घटने-बढ़ने (कमी-वृद्धि) में और विस्तार-संकुचन में अन्तर है (Increase and Decrease in Demand distinguished from Extension and Contraction of Demand) :—जो मांग का नियम ऊपर बताया गया है वह केवल मांग के विस्तार (extension) तथा संकुचन (contraction) से सम्बन्धित है। जब मांग केवल कीमत के परिवर्तन के कारण घटती-बढ़ती है तब हम इसे उसका विस्तार या संकुचन कहते हैं।

वृद्धि तथा विस्तार (Increase and Extension) : यदि कोई आदमी अधिक दूध इसलिए खरीदता है कि दूध की कीमत घट गई है, तो यह मांग का विस्तार है। किन्तु यदि कीमत से अलग, स्वतन्त्र रूप से, मांग में परिवर्तन होता है; अर्थात्

यदि कोई मनुष्य अधिक खरीदता है, इसलिए नहीं कि कीमत घट गई है, बल्कि किसी अन्य कारण से, तो इसे मांग का बढ़ना या वृद्धि कहा जाएगा।

विस्तार (extension) : कम कीमत पर अधिक मांग।

वृद्धि (Increase) : अधिक मांग उसी या उससे अधिक कीमत पर।

उपभोक्ता की मांग में वृद्धि का अर्थ यह है कि वह एक वस्तु पर, परिस्थितियों में किसी परिवर्तन के कारण, पहले से अधिक पैसा खर्चने के लिए तैयार है।

कमी और संकुचन (Decrease and Contraction) : यदि कोई आदमी इसलिए कम खरीदता है कि कीमतें बढ़ गई हैं तो यह सीधा सादा "मांग के संकुचन" का मामला है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति कीमत की ओर ध्यान न देते हुए या उसके बावजूद भी, कम खरीदता है तो यह मांग की कमी कही जाएगी। इस मामले में, फैशन अथवा परिस्थितियों में अन्तर आ जाने के कारण यह हो सकता है कि एक उपभोक्ता कीमत उतनी ही रहने पर भी कम माल खरीदे या कीमत कम हो जाने पर भी उतना ही माल खरीदता रहे जितना वह पहले ले रहा था।

संकुचन (Contraction) : ऊँची कीमत पर कम मांग।

कमी (Decrease) : उतनी ही कीमत पर कम मांग, या कम कीमत पर उतनी ही मांग।

रेखाचित्र द्वारा मांग की वृद्धि और कमी, विस्तार तथा संकुचन का दिग्दर्शन (Diagrammatic Representation of Increase and Decrease, Extension and Contraction of Demand) : चित्र १ में मांग का विस्तार तथा

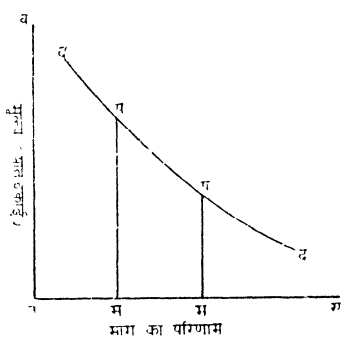

(१)

मांग का विस्तार तथा संकुचन

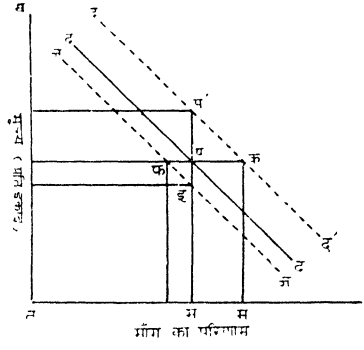

(२)

मांग की वृद्धि और कमी

संकुचन दिखाया गया है। जब कीमत प म से प′ म′ तक गिर जाती है, माँग त म से त म′ तक विस्तृत हो जाती है। दूसरी ओर यदि कीमत प′ म′ से प म तक बढ़ती है तो मांग त म′ से त म तक संकुचित हो जाती है। यहाँ हम एक ही वक्र (curve) पर ऊपर नीचे चलते हैं जिससे प्रकट होता है कि मांग में परिवर्तन कीमत बदलने के कारण ही होता है।

चित्र २ मांग की वृद्धि और कमी को प्रकट करता है। यहाँ हमें एक बिल्कुल

नया वक्र (बिन्दुओं से बना हुआ) पुराने वक्र के ऊपर या नीचे मिलता है। यह दिखाता है कि मांग की परिस्थितियाँ ही एक दम बदल गई हैं। द द' मांग की वृद्धि दिखाता है। पहले हम प म कीमत पर त म खरीदते थे। किन्तु अब हम प' म कीमत जो कि बढ़ी हुई कीमत है त म खरीदते हैं। हम उतनी ही मात्रा अधिक कीमत पर खरीदते हैं। या हम पहले से अधिक मात्रा (त म') उसी कीमत पर (क म'=प म) खरीदते हैं। इसी प्रकार से नीचे का बिन्दु वक्र ज ज' भाग में कमी दिखाता है।

९. **मांग में परिवर्तन क्यों होता है ?** (Why Demand Changes ?) :— माँग में परिवर्तन का अर्थ उसमें वृद्धि या कमी होता है, न कि केवल विस्तार एवं संकुचन। इसलिए, जब हम यह जानना चाहें कि मांग में परिवर्तन क्यों होता है, तब हमें उन कारणों को बताना पड़ेगा जो मांग की नई परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं जिनसे मांग वक्र ऊपर (चित्र २ में द द' की तरह) या नीचे (चित्र २ ज ज' की तरह) चला जाता है। यह तो स्पष्ट है कि वे कारण कीमत नहीं हैं।

निम्न कारण मांग में परिवर्तन लाते हैं :—

(i) **फैशन में अन्तर** : जब वस्तुएँ फैशन में नहीं रहतीं तो उनकी माँग कम हो जाती है, चाहे वे सस्ती हो जायँ।

(ii) **ऋतु में परिवर्तन** : इसका प्रभाव भी फैशन के प्रभाव के समान होता है। जब ऋतु बदलती है, मांग मे भी परिवर्तन हो जाता है। गरम कपड़ो की कीमत कम हो जाने से भी गर्मियों में उनकी मांग नहीं बढ़ती।

(iii) **चालू द्रव्य-परिमाण में अन्तर** : यदि चलन में द्रव्य का परिणाम बढ़े तो लोगों की क्रय-शक्ति अधिक हो जाएगी। फलस्वरूप मांग भी बढ़ जायगी। आज हम अपने को इसी स्थिति में पाते हैं। मुद्रा स्फीति (inflation) हो गई है ; तो मांग बढ़ गई है और कीमतें भी बढ़ गई हैं। द्रव्य के परिमाण में कमी का भी इसी प्रकार विपरीत दिशा में प्रभाव पड़ता है।

(iv) **जनसंख्या में अन्तर** : जनसंख्या में घट-बढ़ या उसके स्वरूप में परिवर्तन होने से भी मांग में परिवर्तन होगा। यदि किसी देश की जन्म-दर बढ़ेगी तो अधिक खिलौनों और बच्चा गाड़ियों की मांग होगी जबकि किसी दूसरे देश में जहाँ बूढ़ों की संख्या अधिक होगी दवाइयों और घूमने की छड़ियों की मांग बढ़ जाएगी।

(v) **धन के वितरण में अन्तर** : यदि धन का अधिक सामान वितरण हो जाता है तो निर्वाह और सुविधा सम्बन्धी आवश्यकताओं की वस्तुओं की, जिनका गरीब लोग साधारणतया अधिक उपयोग करते हैं, मांग बढ़ जाएगी क्योंकि निम्नवर्ग के लोग पहले की अपेक्षा सम्पन्न हो जाएँगे। विलास-सामग्री की मांग गिर जाएगी।

(vi) **वास्तविक आय** (Real Income) **में परिवर्तन** : वास्तविक आय में वृद्धि का अर्थ है कि वस्तुएँ सस्ती हों जिससे उसी आय के लोग अधिक माल खरीदने में समर्थ हों। यह आवश्यक नहीं है कि वे निर्वाह-सामग्री अधिक खरीदें। व्यय की सारी योजना ही नए सिरे से बनेगी और वस्तुओं की मांग बदल जाएगी। सम्भव है कुछ सुविधा या विलास की वस्तुओं की मांग भी बढ़ जाए।

(vii) **आदत, रुचि या प्रथाओं में अन्तर** : मांग किसी समाज की रुचियों, आदतों तथा प्रथाओं पर निर्भर है। इनमें से किसी में अन्तर पड़ने से माँग में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मान लो लोग लस्सी की बजाय चाय का शौक पैदा कर लें, उससे चाय का मांग—वक्र दायीं ओर ऊँचा हो जाएगा, अर्थात माँग बढ़ जाएगी।

(viii) **शिल्पिक प्रगति** : आविष्कारों व खोजो से बाजार में नई वस्तुएँ आती हैं। इसके फलस्वरूप पुरानी चीजों की मांग नहीं रहती। जैसे आजकल ग्रामोफोन का स्थान रेडियो सेट ले रहे हैं।

(ix) **सस्ते विकल्पों** (Substitutes) **का पता लगना** : जैसे वनस्पति घी के निर्माण से घी के स्थान पर एक सस्ता विकल्प प्राप्त हो गया है। इसलिए असली घी की मांग कम हो गई है।

(x) **विज्ञापन** (Advertisement) : लगातार और कुशल विज्ञापनों द्वारा प्रचार से नई प्रकार की माँगे उत्पन्न हो सकती हैं। जैसा कि पेटेंट दवाओं और शृङ्गार के प्रसाधनों के बारे में होता है।

१०. मांग की लोच (Elasticity of Demand) :—हमने देखा कि मांग का विस्तार या संकुचन कीमत के उतार-चढाव के साथ होता है। मांग की यह विशेषता अथवा गुण जिससे वह कीमत के अन्तर—(कमी-वृद्धि) के साथ-साथ बदलती, बढती-घटती है—मांग की लोच (elasticity) कहलाती है। लोच (elasticity) का मतलब है कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप मांग की बदलने की प्रवृत्ति (responsiveness)।

बदलने की यह प्रवृत्ति कम भी हो सकती है और बहुत भी। जैसे नमक है, उसके मूल्य में काफी कमी आने से भी चाहे मांगे का खास विस्तार न हो जब कि सन्तरों के भाव में थोड़ी कमी से उनकी मांग का काफी विस्तार हो सकता है। इस लिए पहली मांग बेलोच व दूसरी लोचदार कहलाती है।

"मांग की लोच (elasticity) या प्रतिकारकता (responsiveness) बाजार में उतनी कम या ज्यादा कही जाएगी जितना कि मांगा हुआ परिमाण कीमत के एक खास उतार पर, कम या ज्यादा बढ़ता है; और कीमत के एक खास चढ़ाव पर, कम या ज्यादा घटता है।"—मार्शल

परन्तु मांग पूरी तरह "लोचदार" या "बेलोच" नही हो सकती। पूरी लोच का मतलब होगा कि मूल्य में जरा सी कमी (या वृद्धि) से मांग में अनन्त विस्तार (या संकुचन) हो जाए। बिल्कुल "बेलोच" मांग का अर्थ होगा कि कीमत कितनी ही क्यों न बदल जाय मांग में कुछ भी फरक नहीं पड़ता। ये दोनों अवस्थाएँ वास्तविक जगत से दूर की हैं। इसीलिए लोच के केवल 'कम' या 'ज्यादा' होने की ही बात की जाती है।

इस चीज को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम मांग-लोच को रेखा-चित्र द्वारा दिखा सकते हैं।

इन दोनों चित्रों व अक्ष पर फ कीमत का उतार बताता है और ज मांग क त म से त म′ तक विस्तार।

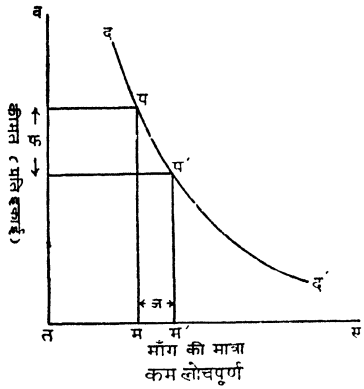

(१)

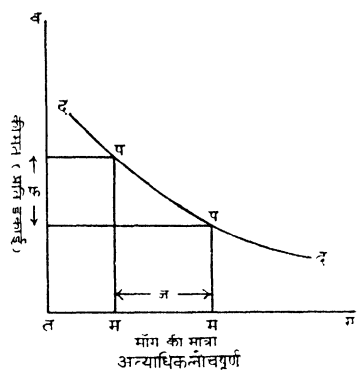

(२)

चित्र १ में, कीमत का उतार काफी है किन्तु मांग का विस्तार थोड़ा है। इस उदाहरण में, कीमत के जवाब में माग की प्रतिक्रिया (response) इतनी अधिक नहीं है। मांग केवल कुछ ही लोचदार है।

चित्र २ में, कीमत थोड़ी ही गिरी है किन्तु मांग का विस्तार अपेक्षाकृत अधिक बढ़ा है। इसलिए यह मांग अधिक लोचदार है। यह बात ध्यान से समझ लेनी चाहिए कि मांग की लोच (elasticity) वक्र की ढाल (slope) से पता नहीं चलती जैसी कि आम धारणा है। लोच हमेशा किसी मूल्य पर ही होती है। माग-वक्र के भिन्न बिन्दुओं की लोचें भिन्न-भिन्न होगी। इसलिए वक्र की ढाल को देख कर ही हम नहीं कह सकते कि मांग कम लोच वाली है या ज्यादा। ऐसा वक्र भी बनाया जा सकता है जिसकी लोच हमेशा इकाई रहे पर जिसकी ढाल बदलती जाए। ऐसे वक्र को 'रेक्टेंगुलर हाइपरबोला' (rectangular hyperbola) कहते हैं।

११. **लोच की माप** (Measurement of Elasticity) :—मांग की लोच का मापने के तीन उपाय हैं।

पहला उपाय—इसमें, मूल्य में बदल आने से उस वस्तु पर होने वाले कुल व्यय में जो अन्तर पड़ता है उसे देखते हैं। नीचे दी हुई रुमालों की मांग-अनुसूची देखिए :

(१) कुल व्यय के द्वारा (२) डा० मार्शल का उपाय (३) गणित काउपाय।

प्रति रूमाल कीमत रुपयों में	मांग की संख्या	कुल व्यय (रुपयों में)	
२ ० ०	२	४ ० ०	(१)
१ ० ०	३	३ ० ०	(२)
० १२ ०	४	३ ० ०	(३)
० १० ०	५	३ २ ०	(४)

जब व्यय किये गये द्रव्य की कुल राशि उतनी ही रहती है, [जैसे ऊपर (२) और (३) संख्या में], तो लोच इकाई कहलाती है।

जब व्यय किए गए द्रव्य की कुल राशि कीमतें घटने पर बढ़ती (या कीमतें बढ़ने पर घटती) हैं तो लोच इकाई से अधिक कही जायगी (जैसे ३ और ४)।

जब व्यय किये गए द्रव्य की कुल राशि कीमत गिरने पर कम होती (या कीमत बढने पर बढ़ती है) तो लोच इकाई से कम होगी (जैसा कि संख्या १ और २ में है)।

इस उपाय को रेखा-चित्र से भी प्रकट किया जा सकता है। त ए के साथ कुल खर्चा और त व के साथ कीमत अंकित कीजिए। हमें त ल प म वक्र मिलता है जो कि पीछे की ओर झुका हुआ है। इसमें तल भाग इकाई से कम लोच दिखाता है क्योंकि मूल्य में वृद्धि और कमी से कुल खर्चे में क्रमशः वृद्धि और कमी आती है। ल प में लोच इकाई है क्योंकि मूल्य बदलने से कुल व्यय पर कोई परिणाम नहीं होता। प म में इकाई से अधिक लोच है क्योंकि मूल्य बढ़ने से कुल खर्चा कम होता है और मूल्य कम होने से कुल खर्चा बढ़ता है।

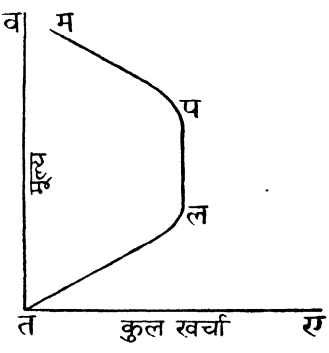

दूसरा उपाय—इस उपाय में जिसको डा० मार्शल ने प्रस्तुत किया है, मांग वक्र के किसी बिन्दु पर लोच ढूंढ़ने के लिए उस बिन्दु पर एक स्पर्शज्या (tangent) खींचनी चाहिए। मान लीजिए हमने द द' मांग वक्र के बिन्दु प पर लोच को मापना है। प में से होती हुई स्पर्शज्या (tangent) खींचिए जो त ए को 'ल' पर और त व को म पर काटे। तो प बिन्दु पर माँग की लोच हुई $\frac{\text{ल प}}{\text{प म}}$

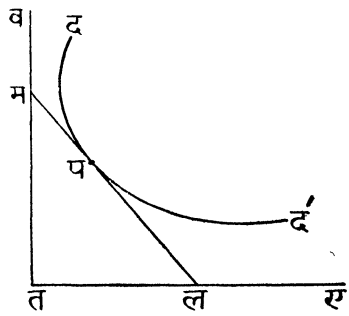

लोच इकाई से अधिक, इकाई या इकाई से कम होगी जैसे कि ल प प म से अधिक हो, उसके बराबर हो या उससे कम हो।

इसी तरह मांग वक्र के किसी और बिन्दु पर कितनी लोच है यह पता लग सकता है।

तीसरा उपाय—इसमें हम मूल्य के प्रतिशत परिवर्तन की तुलना मांग में हुए प्रतिशत परिवर्तन से कर के लोच को माप सकते हैं। लोच इकाई, इकाई से अधिक और इकाई से कम होगी जब कि मांग में बदल क्रमशः उसी अनुपात में है, अनुपात से अधिक है अथवा अनुपात से कम है। इसका सूत्र (फ़ार्मूला) यह बना—

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग में प्रतिशत बदल}}{\text{मूल्य में प्रतिशत बदल}}$$

१२. मांग की लोच का घटती हुई उपयोगिता के नियम से सम्बन्ध (Relation of Elasticity of Demand with the Law of Diminishing Utility) :—माँग की लोच की धारणा घटती हुई उपयोगिता के सिद्धान्त से निकाली गई है।

घटती हुई उपयोगिता का सिद्धान्त कहता है कि जैसे-जैसे हम किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ पाते जाते है, प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता घटती जाती है। कुछ वस्तुओं में उपयोगिता तेजी से गिरती है। उदाहरणार्थ अपनी सब्जी में यदि हम जरा-सा नमक ज्यादा डाल दें तो उपयोगिता एक दम इतनी नीचे गिर जाएगी कि हम उससे ज्यादा नमक बिलकुल नहीं चाहेगे। ऐसी वस्तुओं में मांग बेलोच (inelastic) है। कीमत बढ़े या घटे हम नमक की मात्रा उतनी ही खरीदते रहेगे। दियासलाई इसी तरह का दूसरा उदाहरण है।

किन्तु ऐसी वस्तुएं हैं जिनमें उपयोगिता, मात्रा के बढ़ने पर, शीघ्र नहीं घटती। हम जल्दी ही उनसे ऊब नही जाते। जैसे, सभी विलास-सामग्री के बारे में यही बात है, इन वस्तुओं में मांग लोचदार (elastic) है। यदि कीमत गिरती है तो अधिक विलास-सामग्री खरीदी जाएगी। उदाहरण के लिए यदि अंडे-मछली की कीमत गिर जाय तो साधारण आय वाले लोग भी उन्हें खरीदेंगे।

इस तरह मांग की लोच घटती हुई उपयोगिता के सिद्धान्त से सम्बन्धित है।

१३. मांग की लोच का उपभोक्ता की बचत से सम्बन्ध (Relation between Elasticity of Demand and Consumer's Surplus) :—हम जानते हैं कि जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं की मांग अपेक्षाकृत बेलोच है। उनकी कुछ भी कीमत हो, हम उन्हें खरीदेगे ही। जरूरी आवश्यकताओं के लिए हम जितना खर्च करते हैं, उससे कहीं अधिक खर्च करने को तैयार हैं, क्योंकि यह वस्तुएँ आमतौर पर सस्ती रहती हैं, इसलिए ऐसी वस्तुओं में बड़ी "उपभोक्ता की बचत", (consumer's surplus) रहती है, क्योंकि "उपभोक्ता की बचत", उपभोक्ता कितना देने को तैयार है और वास्तव में कितना पैसा देता है, इसके अन्तर के बराबर है। विलास के लिए हम कोई बड़ा त्याग करने को तैयार नही होते। उनके लिए हमारी मांग लोचदार है। इनमें 'उपभोक्ता की बचत' थोड़ी है।

इसलिए हमारा निष्कर्ष है कि जब मांग बेलोच (inelastic) होती है तब उपभोक्ता की बचत अधिक होती है और जब मांग लोचदार होती है तब कम।

१४. मांग की लोच में भिन्नता कब होती है ? (When does Elasticity of Demand vary) ? :—(i) निर्वाह-सामग्री (necessaries) के लिए मांग कम लोचदार या अपेक्षाकृत बेलोच होती है। कुछ भी दाम हों, हमें उन्हें हमेशा खरीदना पड़ेगा।

(ii) विलास-सामग्री के लिए मांग कम ज्यादा लोचदार होती है। उनकी कीमत में जरा-सी कमी मांग को प्रोत्साहित करती है और जरा-सी वृद्धि मांग को निरुत्साहित करती है। इसलिए कीमत के उतार-चढ़ाव पर क्रमशः मांग में काफी विस्तार या संकुचन होता है।

किन्तु यह याद रखना चाहिए कि निर्वाह (necessaries) तथा विलास (luxuries) शब्द सापेक्षिक (relative) हैं। जो एक के लिए विलास है, वही दूसरे के लिए निर्वाह हो सकता है। इसलिए उसी एक वस्तु की मांग कुछ लोगों के लिए लोचदार और कुछ के लिए बेलोच हो सकती है।

(iii) जिन वस्तुओं के विकल्प (substitutes) प्राप्य हैं, उनकी मांग लोचदार है, उदाहरण के लिए चाय और कॉफी। यदि इनमें से किसी एक की कीमत गिरती है तो वही अधिक परिमाण में खरीदी जायगी। यदि कीमत बढ़ेगी तो मांग संकुचित हो जाएगी और बदले में लोग उसके विकल्प को खरीदने लगेंगे। इसलिए ऐसी वस्तुओं की कीमतों के परिवर्त्तन पर उनकी मांग का विस्तार अथवा संकुचन अधिक होता है।

(iv) किसी वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं तब उसकी मांग लोचदार होती है। ऐसी वस्तु की कीमत गिरने पर उसका उपयोग कम आवश्यक उपयोगों में भी होने लगता है। इसलिए मांग विस्तृत हो जाती है। इसका उलटा भी सही है।

(v) जब हम किसी वस्तु की खरीद स्थगित कर सकते हैं, तब उसकी मांग लोचदार होती है। जब कीमत घटती है तब वह ज्यादा खरीदी जाती है और कीमत बढ़ने पर कम।

(vi) मांग की लोच कीमतों के तल (level) पर आश्रित है। यदि कीमत अत्यधिक या बहुत कम है तो उसकी मांग अपेक्षाकृत बेलोच होगी। मध्यम कीमतों के लिए मांग लोचदार है।

१५. "मांग की लोच" की धारणा का महत्व (Importance of the Concept of Elasticity of Demand) :—मांग के लोच की धारणा का बड़ा व्यवहारिक महत्व है।

(१) यह व्यवसायी को अपने माल की कीमतें रखने में सहायता करती है। यदि मांग बेलोच है तो वह जानता है कि लोग खरीदेंगे ही, चाहे जो दाम रक्खे जाएँ। और ऐसी चीजों के दाम बढ़ाने में वह समर्थ होता है। यदि वह एकाधिकारी (monopolist) है तब तो जरूर ही कीमत बढ़ाएगा और अधिक लाभ लेगा।

(२) वित्त-मन्त्री भी करारोपण (taxation) के लिए वस्तुओं का निर्वाचन करते समय मांग की लोच को ध्यान में रखते हैं। यदि वह राजस्व के बारे में निश्चित होना चाहते हैं तो उन्हें ऐसी वस्तुओं पर कर लगाना होगा जिनकी मांग बेलोच है। ऐसी चीजों पर कर लगाने से फायदा होगा जिनको लोग कर लगाने के बाद, कीमतें बढ़ने पर भी, खरीदते रहें। यदि मांग लोचदार है तो लोग कम खरीदेंगे और सरकारी राजस्व फिर कम रह जाएगा।

१६. परस्पर सम्बन्धित मांग (Inter-connected Demand) :—हम मांग की चर्चा ऐसे करते हैं मानों किसी वस्तु की मांग स्वयं ही सब से अलग कोई बात हो। ऐसा वास्तव में नहीं होता। एक वस्तु की मांग अन्य वस्तुओं की मांग से सम्बन्धित हो सकती है। और बहुधा यही होता है।

निम्न कुछ बातों पर ध्यान दीजिए :—

(क) **संयुक्त मांग** (Joint Demand) : जब बहुत-सी वस्तुएँ किसी संयुक्त प्रयोजन के लिए मांगी जाती हैं तो उसे हम संयुक्त मांग (joint demand) कहते हैं। चाय बनाने के लिए दूध, चीनी और चाय की पत्तियों की आवश्यकता पड़ती है। एक मकान बनाने के लिए ईंटें, गारा, लकड़ी और बढ़ई तथा राजगीरों की सेवाएँ चाहिएँ। इन सब चीजों की मांग एक साथ होती है और यह संयुक्त मांग के उदाहरण हैं।

एक वस्तु की आवश्यकता इसी प्रकार की अन्य संयुक्त मांगों के साथ एक साथ भी पड़ सकती है। उदाहरण के लिए, दूध की जरूरत न सिर्फ चाय, कॉफ़ी और ओवल्टीन बनाने के लिए है, वरन् रसगुल्ले और बर्फी बनानेने के लिए भी है।

जब वस्तुओं की संयुक्त मांग होती है, तब उनकी कीमतें अन्तिम उद्देश्य से प्रभावित होती हैं। जैसे, ईंटों की कीमत और राजगीरों की मजदूरी अन्त में मकानों की मांग से प्रभावित होगी। मकान बनाने के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु की मांग इस पर निर्भर होगी कि मकान बनाने में उस वस्तु विशेष की आवश्यकता कितनी अधिक है।

(ख) **प्रत्यक्ष तथा उद्भूत मांग** (Direct and Derived Demand) : उपर्युक्त उदाहरण में अन्तिम उद्देश्य की मांग, अर्थात् मकानों की मांग प्रत्यक्ष (direct) मांग कहलाती है जबकि विभिन्न प्रकार की उन वस्तुओं और सेवाओं की माँग जो उस अन्तिम उत्पादन के लिए आवश्यक हैं और उसी के आधार पर बनती हैं, उद्भूत (derived) मांग कहलाती है।

ईंट-चूने की मांग मकान बनाने की मांग से उत्पन्न या उद्भूत होती है। वास्तव में तो हमें मकान चाहिए और अन्य वस्तुओं की मांग इसलिए होती है कि हमको मकान की आवश्यकता है और मकान बनाना है।

(ग) **मिश्रित मांग** (Composite Demand) : जिस वस्तु को अनेक उपयोगों में लाया जा सकता है, उसकी मांग मिश्रित मांग (composite demand) है। यह उसके विभिन्न उपयोगों को मिलाकर बनती है। कोयला गर्म करने, खाना बनाने और भाप-इंजन चलाने के काम आ सकता है। तो कोयले की मांग इन सब उपयोगों की मांगों से मिलकर बनती है। इसलिए इसे मिश्रित मांग कहते हैं।

इन सब परस्पर सम्बन्धित माँगों के मामले में कीमतें कैसे तय होती हैं, यह बाद के किसी अध्याय में बताया जाएगा।

१७. उदासीनता वक्र:—कुछ काल से अर्थशास्त्रियों ने बाजार में उपभोक्ता के व्यवहार का विश्लेषण करने के लिए उदासीनता वक्रों का प्रयोग करना शुरू किया है। जैसा हम देख चुके हैं, मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त हैं। परन्तु उसके पास साधन कम हैं। इसलिए उसे चुनाव करना पड़ता है कि एक वस्तु खरीदे या दूसरी। मांग वक्र जिसका अध्ययन हमने ऊपर किया दिखाता है कि किसी एक चीज के मूल्य के बदलने से उसके क्रय में परिवर्तन होता है। वह अर्थशास्त्र के आधारभूत संघर्ष—"यह वस्तु या वह वस्तु"—का चित्रण नहीं करता। उदासीनता वक्र ज्यादा वास्तविक हैं

क्योंकि वे दो या अधिक वस्तुओं का एक साथ विचार करते हैं। फिर, हमारा मांग-वक्र इस मान्यता पर टिका हुआ है कि उपयोगिता या सन्तुष्टि को मुद्रा या अन्य किसी इकाई में मापा जा सकता है। जैसा कि पांचवें अध्याय में कहा गया है। वह सम्भव नहीं है। उदासीनता वक्र केवल संतुष्टि-स्तरों को ध्यान में लेते हैं इसलिए वे ऊपर कही गई त्रुटि को भी दूर करते हैं।

उच्चतर विश्लेषणों में, इन्हीं विशेषताओं के कारण, अर्थशास्त्री उदासीनता वक्रों का उपयोग करने लग पड़े हैं।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा है ?

मांग (demand) का अर्थ है एक वस्तु को खरीदने की ताकत तथा तैयारी के साथ इच्छा।

मांग सदैव एक निर्दिष्ट कीमत (given price) पर और एक खास अरसे के लिए (per unit of time) पर होती है। इसलिए मांग की परिभाषा हो सकती है, "वह मिकदार जो किसी निर्दिष्ट कीमत पर एक विशेष कालावधि में मांगी जाती है।"

मांग-अनुसूची (Demand Schedule) : यह तालिका है जिसमें निर्दिष्ट समय में (in a given time) विभिन्न कीमतों पर मांगी गई मात्राओं का हिसाब होता है। यह काल्पनिक है, वैज्ञानिक ढंग से पक्की नहीं। किन्तु व्यवहार में इसके कई उपयोग हैं। यह व्यवसाय तथा करारोपण की समस्याओं को सुलझाने में सहायता करती है।

मांग का नियम (Law of Demand) : किसी निर्दिष्ट समय में, किसी वस्तु अथवा सेवा की प्रचलित कीमत पर जो मांग होती है वह उस मांग से ज्यादा होती है जो उससे अधिक कीमत पर होती, और उस मांग से कम जो उससे कम कीमत पर होती अथवा "कीमत गिरने पर मांग का विस्तार तथा कीमत उठने पर मांग का संकुचन होता है।"

अपवाद (Exceptions) :—

(१) ऊंची कीमत पर भी मांग अधिक हो जाएगी यदि आगे वस्तु के न मिलने का डर हो।

(२) कम कीमत पर भी कम मांग रहेगी यदि उसका फैशन नहीं रहा।

(३) यह नियम उन वस्तुओं पर लागू नहीं होता जो बड़प्पन और सम्मान की निशानी समझी जाती हैं।

(४) यह नियम तब लागू नहीं होता जब खरीदने वाले अनजान हों।

मांग की वृद्धि और विस्तार (Increase of Demand and Extension of Demand) : मांग के विस्तार का अर्थ है कीमतों के गिरने पर अधिक मांग।

मांग की वृद्धि का अर्थ है कि उसी कीमत पर अधिक मांग अथवा ऊंची कीमत पर उतनी ही मांग।

मांग की कमी और संकुचन (Decrease of Demand and Contraction of Demand) : मांग के संकुचन का अर्थ है कि कीमत बढ़ने पर उसकी कम खरीद।

मांग की कमी का अर्थ है कि उसी कीमत पर कम खरीद अथवा कीमत गिर जाने पर भी उतनी ही खरीद।

मांग में परिवर्तन के कारण (Causes of change in Demand) : निम्न बातों में से किसी एक में अन्तर मांग में परिवर्तन ले आएगा : फैशन, ऋतु, द्रव्य, आय, जनसंख्या, धन का बंटवारा, वास्तविक आय, आदतें, प्रथाएँ, शिल्पिक प्रगति, विकल्पों की खोज, विज्ञापन आदि।

मांग की लोच (Elasticity of Demand) : इसका अर्थ है कीमत में अन्तर के जवाब में मांग की संवेदनशीलता (sensitiveness) या प्रतिकारकता (responsiveness)। "बाजार में मांग का लोच अधिक या कम होता है यदि मांगा गया परिमाण कीमत के किसी

निर्दिष्ट उतार पर अधिक या कम बढ़ता है, और कीमत के निर्दिष्ट चढ़ाव पर अधिक या कम घटता है।"—(मार्शल)

लोच की माप (Measurement of Elasticity) : जब व्यय किया गया कुल द्रव्य उतना ही रहता है तब लोच इकाई है, जब कुल व्यय कीमत की गिरावट के साथ बढ़ता या कीमत की वृद्धि के साथ घटता है, लोच इकई (unity) से कम है। यदि कुल व्यय कीमत के गिरने से कम होता या कीमत के बढ़ने से बढ़ता है तो लोच इकाई से अधिक है। या हम कह सकते हैं कि लोच क्रमशः इकाई है, इकाई से अधिक है, या इकाई से कम है, यदि मांग में परिवर्तन कीमत के अन्तर की तुलना में उसी अनुपात (proportionate) है, उसके अनुपात से अधिक है या उसके अनुपात से कम है।

लोच का घटती हुई उपयोगिता के नियम से सम्बन्ध (Relation of Elasticity to the Law of Diminishing Utility) : यदि उपयोगिता शीघ्र घटती है, तो मांग बेलोच (inelastic) है और यदि उपयोगिता धीरे-धीरे या कम घटती है तो मांग लोचदार है।

लोच का उपभोक्ता की बचत से संबंध (Relation of Elasticity to Consumer's Surplus), यदि मांग बेलोच है तो उपभोक्ता की बचत अधिक है; यदि मांग लोचदार है तो उपभोक्ता की बचत कम है।

वे परिस्थितियां जिनमें मांग लोचदार है अथवा बेलोच (Cases where demand is inelastic or elastic) :

(१) निर्वाह-आवश्यकताएँ—बेलोच।

(२) विलास-आवश्यकताएँ—लोचदार।

किन्तु निर्वाह और विलास—इन शब्दों का अर्थ हालात पर निर्भर है।

(३) विकल्पों के लिए—लोचदार।

(४) जब किसी वस्तु के अनेक उपभोग होते हैं—लोचदार।

(५) जब मांग स्थगित की जा सकती है—लोचदार।

(६) लोच का मान (degree) कीमतों का तल (level) पर भी आश्रित है।

मांग के लोच का महत्त्व (Importance of Elasticity of Demand):—

(१) यह व्यवसायियों को, विशेषकर एकाधिकारियों को, कीमतें निर्धारित करने में सहायता देता है।

(२) यह सार्वजनिक वित्त (public finance) में उपयोगी है कि कौनसी वस्तुओं को कर लगाने (taxation) के लिए चुना जाय।

आपस में सम्बन्धित मांग (Inter-connected Demand) : संयुक्त मांग (Joint Demand) वह है जब कई वस्तुएँ एक ही प्रयोजन के लिए चाहियें, जैसे कि एक मकान बनाने के लिए बहुत सी वस्तुएँ।

प्रत्यक्ष मांग (Direct Demand) : अन्तिम उत्पादन की मांग प्रत्यक्ष मांग कही जाती है।

उद्भूत मांग (Derived Demand) : किसी और वस्तु के निर्माण के लिए जरूरी वस्तु की मांग उद्भूत मांग कही जाती है।

मिश्रित मांग (Composite Demand) : जब एक वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं, तब यह उन तमाम उपयोगों का मिश्रण होती है।

उदासीनता वक्र—मांग वक्र एक समय पर एक चीज को ही लेता है। वास्तविक संसार में हमें एक वस्तु अधिक या दूसरी इस प्रकार चुनना पड़ता है। उदासीनता वक्र दो या अधिक वस्तुओं का एक साथ विचार करते हैं। फिर, वे उपयोगिता को मांग वक्र की तरह स्थूल इकाइयों (objective units) में मापने का प्रयास नहीं करते।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is demand ? Can you draw a market demand curve for sweets during the Dewali festival ? (दिल्ली १९४९)

देखिये विभाग २ और ३ ।

2. Write a note on the demand schedule.

(कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४१)

देखिये विभाग ३ ।

3. Explain the law of demand. Explain its limitations.

(सागर १९५३, कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५३)

देखिये विभाग ७ ।

4. Explain why the demand for a commodity falls when its prices. Is it always true ? (पटना, १९५६)

देखिये विभाग ६ ।

5. Examine the factors which bring about a change *i.e.* increase or decrease in demand for goods. (प. वि. १९५४)

देखिये विभाग ३ ।

6. What do you understand by "elasticity of demand" ? Distinguish extension from increase of demand.

(दिल्ली, १९५०, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५३)

देखिये विभाग ८ और १० ।

7. Explain the concept of elasticity of demand. Show how elasticity of demand is related to the law of demand. (दिल्ली १९५३)

[देखिये विभाग १० । मांग का नियम कहता है कि मांग कीमत के साथ बदलती है और लोच यह बताती है कि यह परिवर्तन अधिक होता है या कम ।]

8. What do you mean by 'Elasticity of Demand' ? What are the factors on which elasticity depends ? Give examples.

(अजमेर १९५३, जम्मू व काश्मीर १९५३)

देखिये विभाग १० और १४ ।

Or

Why is the demand for some commodities more elastic than for others ? (सागर, १९५२)

9. Explain "Elasticity of demand." Name five goods of daily use having comparatively elastic demand and five having comparatively inelastic demand for your own family. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५३)

देखिये विभाग १० ।

10. What do you mean by elasticity of demand ? With reference to elasticity why do salts, tea, and motor cars differ ?

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४३)

देखिये विभाग १० ।

[नमक जीवन-निर्वाह की आवश्यकता है । इसलिए इसकी मांग बेलोच है । चाय किसी हद तक काफी का विकल्प है । इसलिए मांग लोचदार है । मोटरकार विलासिता की वस्तु है और इसकी मांग लोचदार है ।]

11. What do you mean by elasticity of demand ?
   (*a*) When is elasticity of demand less than unity ?
   (*b*) What is the nature of demand for the following—
   (i) Salt
   (ii) Perfume सुगंध्य
   (iii) Opium अफ़ीम
   (iv) Ticket for a circus show.

(दिल्ली, १९५५)

देखिये विभाग १० और ११

12. Consider the effect of elasticity, of demand on (*a*) taxation, and (*b*) monopoly profit. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३६)

देखिये विभाग १५ ।

13. Distinguish between joint demand, and composite demand.
(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४४)

देखिये विभाग १६ ।

अध्याय ७

उत्पादन का स्वरूप

(NATURE OF PRODUCTION)

उपयोगिता के स्थान पर मूल्य का उत्पादन

(Producing value rather than Utility)

१. **प्रवेशिका** (Introduction) :—हमने उपभोग का अध्ययन समाप्त कर दिया और अब हम उत्पादन के अध्ययन की ओर चलते हैं।

हम जानते हैं कि उपभोग और उत्पादन में घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। वास्तव में वे दोनों एक ही कार्यवाही के दो चरण (stages) हैं। उपभोग उसका अन्तिम चरण है। इसके अलावा, एक ही चरण को उपभोग और उत्पादन दोनों भी समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए एक बढ़ई जो मेज बनाता है, एक ओर तो फर्नीचर का उत्पादन करता है, दूसरी ओर उसी समय लकड़ी का उपभोग करता है। इस प्रकार से वह उपभोक्ता और उत्पादक दोनों है।

अब हम उत्पादन के स्वरूप को देखें।

२. **उत्पादन क्या है ?** (What is Production ?) :—एक बढ़ई मेज बनाता है। उसने धन का उत्पादन किया। किन्तु उसने लकड़ी पैदा नही की। वह तो पहले से ही थी। तब उसने वास्तव में किया क्या ? उसने लकड़ी का रूप बदल दिया और उसे एक उपयोगिता दे दी जो उसमें पहले न थी। इस प्रकार उसने "रूपगत उपयोगिता" (form utility) पैदा की।

यदि वह उस मेज को किसी बड़े शहर में बेचता है तो उसकी अच्छी कीमत उठेगी। तब उसमें और भी अधिक उपयोगिता आ जाएगी। उस मेज को शहर लेजाना "स्थानीय उपयोगिता" (place utility) पैदा करना है।

यदि उस मेज को वह उस वक्त तक अपने पास रखता है जब तक उसकी अधिक मांग न हो जाय तो वह उसको और अधिक कीमत पर बेच सकता है। अर्थात् उसकी कीमत में वृद्धि होगी। इस स्टोर करने से "सामयिक उपयोगिता" (time utility) उत्पन्न होती है।

इन उदाहरणों में, धन का उत्पादन हुआ किन्तु पदार्थ (matter) का नहीं। जिस प्रकार मनुष्य भूत (matter) का नाश नहीं कर सकता, वह पदार्थों का निर्माण भी नहीं कर सकता। उपर्युक्त उदाहरणों में उसने केवल उपयोगिताओं का सृजन किया। इस तरह तीन प्रकार की उपयोगिताएँ हैं :—

(i) रूप-उपयोगिता (form utility)

(ii) स्थान-उपयोगिता (place utility)
(iii) समय-उपयोगिता (time utility)

तब क्या उत्पादन का अर्थ केवल उपयोगिता का सृजन है ?

उपर्युक्त उदाहरणों में, उपयोगिताओं का सृजन हुआ है और भौतिक माल अथवा धन का उत्पादन भी हुआ। ऐसा होना हर हालत में जरूरी नहीं है। ऐसी उपयोगिता का भी सृजन हो सकता है जो बाजार में बेची न जा सके। जैसे ऑक्सीजन (Oxygen) की एक नली का मैदानों में कोई खरीदार न मिलेगा क्योंकि वहाँ हवा की बहुतायत है। ऐसी उपयोगिता की प्राप्ति—और निस्सन्देह ऑक्सीजन बहुत बड़ी उपयोगिता है—उत्पादन नहीं समझी जा सकती। किसी वस्तु में उपयोगिता होते हुए भी उसमें कुछ मूल्य न हो यह सम्भव है। जैसे हवा में। अर्थशास्त्र में उत्पादन का अर्थ होता है धन या मूल्य का उत्पादन न केवल उपयोगिता का। उत्पादन की सर्वोत्तम परिभाषा है धन या मूल्य का सृजन या वृद्धि। यह केवल पदार्थों की ही नहीं, डाक्टर, वकील, शिक्षक आदि की सेवाओं की भी हो सकती है। उत्पादन, संक्षेप में; सभी उपयोगिताओं का सृजन नहीं है। बल्कि केवल उन उपयोगिताओं का, जिनका कुछ विनिमय-गत मूल्य (value-in-exchange) है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि उत्पादन का कार्य तब तक पूरा नहीं होता जब तक कि वस्तु उपभोक्ताओं के हाथों तक न पहुँचे। एक मेज के बन जाने से ही उसे "उत्पादित" नहीं समझा जायगा। उसे विभिन्न लोगों के हाथ से गुजरना पड़ेगा तब वह अपने उपभोक्ता तक पहुँचेगी और तभी उसे 'उत्पादित' कहा जायगा।

अर्थशास्त्र में हमें उत्पादन के शिल्पिक पहलू से कोई वास्ता नहीं है। हम यह अध्ययन नहीं करते कि कपड़ा कैसे बुना जाता है। उसे बनाने की कला नहीं सीखते। यह काम जुलाहों, कातने-बुनने वालों, रंगरेजों आदि का है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को तो सिर्फ रूई की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं—कातना, बुनना, रंगना आदि—को देखना होता है जिनमें से यह अपने अन्तिम ग्राहक के हाथों में पहुँचने से पहले गुजरती है।

अधिक उत्पादन (Over-Production) **क्या है ?** : उपभोक्ता की दृष्टि से तो कभी भी आवश्यकता से अधिक उत्पादन नहीं हो सकता। जो कुछ भी उत्पादित किया गया है उस सब का उपभोग हमेशा किया जा सकता है और फिर भी और की जरूरत रहेगी। सम्पन्न से सम्पन्न देश में भी भूखे और नंगे हैं। अधिक-उत्पादन (over-production) का शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता कि जितना माल उपभोग किया जा सकता है उससे अधिक पैदा हो गया है और कुछ बेकार जाने का भय है। अधिक-उत्पादन, उत्पादक के दृष्टिकोण से होता है। कभी ऐसा होता है कि उत्पादित वस्तुएँ लाभ पर नहीं बेची जा सकतीं। उत्पादन की लागत उस समय की प्रचलित कीमत से ज्यादा हो जाने के कारण उस कीमत पर वह माल बेचना लाभप्रद (profitable) नहीं होता। बहुत बेकारी के कारण भी किसी माल की मांग गिर सकती है। इस तरह से बाजार में बहुतात (glut) हो सकती है जिसे हम अधिक-उत्पादन (over-production) कहते हैं। यह उद्योग के त्रुटिपूर्ण संगठन के कारण हो

सकता है या उत्पादकों के अनुचित आशावाद के कारण अथवा लागत और कीमतों के गलत अनुमान से।

३. **उत्पादक उपजीविकाओं का वर्गीकरण** (Classification of Productive Occupations):—उत्पादक उपजीविकाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(i) **औद्योगिक-धन्धे** (Industrial Occupations) : निम्न प्रकार (types) के हैं :—

(क) **प्रकृति से निकलने वाले उद्योग** (Extractive Industries) : फसलों का उत्पादन, खनिज पदार्थों का निकालना, मछली पकड़ना आदि इस कोटि में हैं।

(ख) **निर्माण उद्योग** (Manufacturing Industry) : जैसे, गन्ने से चीनी बनाना, रूई से कपड़ा, पिग आयरन से इस्पात, आदि।

(ii) **व्यापारिक उद्योग** (Commercial Occupations) : इस कोटि मे निम्न क्रियाएँ सम्मिलित हैं : —

(क) खरीदने, बेचने और माल जमा करने (stocking) में व्यवसायियों —दलालों और दूसरे मध्यस्थों (middle-men)—के कार्य।

(ख) गाड़ी, लारी, रेल आदि के द्वारा किया गया माल लेजाने का कार्य।

(ग) बैंकिग और बीमा कम्पनियो की सेवाएँ जिनसे पूंजी संचित की जाती और व्यापार व उद्योग को दी जाती है।

(iii) **उपभोक्ता को प्रत्येक्ष सेवाएं** (Direct Services to the Consumer) : इसमें वकील, डाक्टर, शिक्षक, घरेलू नौकरों की अपने ग्राहकों या मालिकों को दी गई सेवाएँ हैं। इसी में सरकारी अफसरों और सैन्यबल की सेवाएँ भी सम्मिलित हैं।

४. **उत्पादन पर प्रभाव डालने वाले कारण** : किसी देश में उत्पादन का परिमाण निर्धारित करने वाले कई कारण होते हैं :—

(i) **प्राकृतिक कारण** : किसी देश में उत्पादन का परिमाण व स्वरूप, उसकी जलवायु, जलवृष्टि, भूमि के गुण आदि पर आश्रित है। उत्पादन प्राकृतिक दुर्घटनाओं से भी कम हो जाता है जैसे भूचाल, बाढ़, सूखा और ओले पड़ने से।

(ii) **राजनीतिक कारण** : सरकार का रूप और स्वभाव भी किसी देश में उत्पादन परिमाण पर बहुत प्रभाव डालता है। रूस में, सोवियत सरकार ने आयोजन (planning) द्वारा उत्पादन में जबर्दस्त वृद्धि प्राप्त की है। एक बड़े अरसे तक भारत सरकार देश में कच्चे माल के उत्पादन को प्रोत्साहन देती थी और निर्माण-उद्योग को निरुत्साहित करती थी।

(iii) **शिल्पिक** (technical) **उन्नति** : उत्पादन बहुत कुछ देश की शिल्पिक प्रगति तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर भी निर्भर है। नये पदार्थों, नए तरीकों और नई मशीनों की खोज का प्रभाव उत्पादन के परिमाण पर अवश्य पड़ेगा।

(iv) **साख, महाजनी और परिवहन तथा संचार के साधनों का विकास** :

बिना सुचारु बैंक-व्यवस्था और सस्ते तथा कारगर परिवहन तथा संचार के साधनों के, उत्पादन अवश्य पीछे रह जायगा। यह किसी देश के उत्पादन के बढ़ने के लिए प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं।

(v) किसी देश में रहने वाले लोगों का चरित्र भी उत्पादन के स्वरूप और परिमाण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। परिश्रमी, शिक्षित और गम्भीर व्यक्ति हमेशा दूसरों से अधिक और बेहतर माल बनाते है।

५. **उत्पादन के साधन** (Factors of Production) :—धन के उत्पादन में अनेक साधनों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, कपड़ा बनाने के लिए पहले भूमि चाहिए जो कपास दे, फिर उसे कपड़े में बदलने के लिए कातने-बुनने वालों की सेवाओं की जरूरत होगी, साथ ही हमको मशीनें और औज़ार खरीदने के लिए द्रव्य भी चाहिए। और सबसे अधिक एक संगठनकर्त्ता (organiser) चाहिए जो तमाम व्यवसाय (business) को संगठित करे और प्रयुक्त होने वाले सभी साधनों का सहयोग स्थापित करे। इन साधनों को अर्थशास्त्री क्रमशः भूमि (land), श्रम (labour), पूंजी (capital) और संगठन (organisation) या उद्यम (enterprise कहते हैं।

भूमि (land) से हमारा मतलब न केवल जमीन से है, जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है, बल्कि स्थल, जल और वायु के सभी प्राकृतिक साधनों से है, जो मनुष्य को उपलब्ध है।

श्रम (labour) न सिर्फ एक कुली या अकुशल (unskilled) मजदूर का काम है बल्कि सभी प्रकार का शारीरिक या मानसिक परिश्रम है जो आय प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

पूंजी का अर्थ न केवल व्यवसाय में प्रयुक्त होने वाली नगदी है, वरन् औजार, मशीनें और उत्पादन के दूसरे उपकरण भी हैं।

संगठन (organisation) है उपर्युक्त तीनों साधनों को साथ जुटाना और उनसे समुचित रूप में कार्य लेना। इनमें श्रमिकों को उनके परिश्रम के लिए पुरस्कार देना भी सम्मिलित है।

इन साधनों को क्रमशः जमीदार, श्रमिक, पूंजीपति और संगठन कर्त्ता (organiser) या उद्यमी (entrepreneur) देते हैं। उनकी आय क्रमशः किराया (rent), मजदूरी (wages), ब्याज (interest) और लाभ (profit) कहलाती है।

६. **क्या इन चारों साधनों को दो गिना जा सकता है ?** :—कुछ अर्थशास्त्रज्ञ यह दृष्टिकोण सामने रखते हैं कि साधन चार नहीं हैं केवल दो ही मूल या आधारभूत साधन हैं। उनका तर्क है कि पूंजी कोई स्वतन्त्र या मौलिक साधन नहीं है, वरन् बचत का फल है। श्रमिक भूमि पर कार्य करते हैं और जितना स्वयं उपभोग करते हैं उससे अधिक पैदा करते हैं। इस तरह जो वे पैदा करते हैं उसका एक अंश बच जाता है और धन के उन रूपों में बदल जाता है जो आगे उत्पादन में सहायक होते हैं। यही पूंजी है। इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और इसे भूमि और श्रम में ही गिनना चाहिए।

संगठन या उद्यम के लिए भी, उनका यह कहना है कि यह केवल श्रम का एक रूप है। अर्थशास्त्री श्रम में सब प्रकार का शारीरिक व मानसिक कार्य शामिल करते हैं। तब संगठन भी उसी में क्यों न गिना जाय ?

इस तरह हमारे पास केवल दो साधन बच रहते हैं, भूमि और श्रम। या कहें, प्रकृति और मनुष्य। अन्य दोनों साधन, पूंजी और उद्यम इनमें सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त मत की दलील बिल्कुल ठीक है किन्तु यथार्थवादी नहीं है। आधुनिक काल में पूंजी का जबर्दस्त महत्व है। इसने श्रम को पृष्ठभूमि में छोड़ दिया है और भूमि का महत्व कम कर दिया है। इससे कौन इन्कार कर सकता है कि आज पूंजीपति ही शासन करता है ? बिना पूंजी के उत्पादन नगण्य होगा। इसके अपने महत्व के कारण, पूंजी को उत्पादन के साधनों में एक स्वतन्त्र स्थान दिया जाना चाहिए।

फिर यद्यपि संगठन एक प्रकार का मानसिक कार्य ही है, फिर भी इस कार्य को सामान्य मानसिक श्रम से भिन्न समझना चाहिए। यह एक विशिष्ट प्रकार का कार्य है। इसमें न सिर्फ उत्पादन के सारे काम का प्रारम्भ का निर्देशन, नियंत्रण और संचालन है, बल्कि सब से ज्यादा उसमें जोखिम (risk) लेना भी शामिल है। आधुनिक काल में, जहाँ उत्पादन के अन्य तीन साधन बिखरे हुए पड़े रहते हैं और उत्पादन कार्य अत्यन्त जटिल और खर्चीला है, एक संगठन-कर्त्ता अथवा उद्यमी की सेवाओं का महत्व कम नहीं समझा जा सकता। उत्पादनों के साधनों में उसकी अपनी एक जगह होनी चाहिए और वह भी बहुत ऊँची।

इस तरह हम फिर उसी मत पर लौट आते हैं कि उत्पादन के दो नहीं वरन् चार साधन हैं : भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन।

७. उत्पादन के साधनों की संख्या के बारे में आधुनिक मत :—आज के अर्थशास्त्र के विचारक जैसे (बेन्हम), यह कहते हैं कि उत्पादन के साधन दो चार नहीं बल्कि लाखों हैं। जो भी वस्तु उत्पादन में काम आती है वह उसका एक साधन है। भूमि का प्रत्येक एकड़ स्वयं एक साधन है और ऐसे ही प्रत्येक कर्मकार, प्रत्येक रुपया और प्रत्येक उद्यमी स्वयं एक साधन है। इस प्रकार इन साधनों में से प्रत्येक की संख्या लाखों ही नहीं बल्कि असंख्य है। हम अधिक से अधिक यह कर सकते है कि समान भूमि, कर्मकारों, मशीनों और उद्यमियों को एक ही पंक्ति में रखकर श्रेणी (group) को एक साधन गिन सकते हैं। किन्तु तब भी साधनों की संख्या हजारों में जाएगी। आधुनिक अर्थशास्त्री पुराने परम्परागत वर्गीकरण पर इस आधार पर आपत्ति करते हैं कि बिल्कुल भिन्न वस्तुओं को एक श्रेणी में रख दिया गया है। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं कि टाइपिस्ट और एक राज दोनों के काम को 'श्रम' का सांझा नाम देकर एक ही कोटि में कैसे रखा जा सकता है ? वे यह भी कहते हैं कि क्योंकि यह सभी साधन समान आर्थिक सिद्धान्तों से शासित हैं इसलिए इन्हें अलग-अलग रखने के कोई मायने नहीं।

यह विचारधारा भी तर्कसंगत है किन्तु हम चार साधनों के प्राचीन वर्गीकरण को ही अपनाएँगे। इससे उत्पादन के विभाग के अध्ययन में सुविधा होती है।*

हम अध्ययन के इस आरम्भिक स्तर पर विद्यार्थी को ऐसी सूक्ष्म बातों पर विवाद करके चक्कर में नहीं डालना चाहते।

८. **उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता** (Efficiency) :—उत्पादन केवल किसी साधन के आकार (size) पर निर्भर नहीं है। यह उसकी कार्यक्षमता (efficiency) अर्थात् उसकी उत्पादन के सामर्थ्य (capacity) पर भी बहुत कुछ निर्भर है। किसी के पास हजारों एकड़ बालू की जमीन हो किन्तु वह उससे कुछ भी न पाएगा। जापानी, यद्यपि संख्या में थोड़े हैं, किन्तु एक वर्ष मे करोड़ों चीनियों और भारतीयों से अधिक उत्पादन कर लेते हैं। केवल सख्या से कुछ नही होता। इसी प्रकार एक बिल्कुल नए ढंग की मशीन पुरानी अप्रचलित मशीन से कही अधिक उत्पादन करती है एक योग्य संगठनकर्ता एक छोटे से व्यवसाय से भी काफी लाभ कमा सकेगा। इसलिए किसी साधन की कार्यक्षमता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

कार्यक्षमता प्राकृतिक हो सकती है और प्रयत्नों से पैदा भी की जा सकती है। बंजर जमीन को वैज्ञानिक रीतियों द्वारा उपजाऊ बनाया जा सकता है। श्रमिकों को सिखाया जा सकता है। पूंजी को उचित रूप से संगठित किया जा सकता है और उद्यमी को आँकड़े तथा अन्य उपयोगी जानकारी देकर सहायता एवं शिक्षा दी जा सकती है। अच्छे गुणों को बढ़ाया और बुरे गुणों को मिटाया जा सकता है। इस प्रकार कार्यक्षमता बहुत हद तक मनुष्य द्वारा निर्मित है।

९. **उत्पादन के साधनों की गतिशीलता** (Mobility) :—उत्पादन की कार्यक्षमता किसी हद तक उत्पादन के साधनो की गतिशीलता (mobility) पर भी निर्भर है। गतिशीलता का अर्थ केवल एक स्थान से दूसरे स्थान पर शारीरिक हिलना-डुलना नही है, वरन् एक उपयोग से दूसरे उपयोग में बदले जाने की क्षमता भी है।

कुछ ही ऐसे साधन होगे जो केवल किसी विशेष उपयोग में ही लाए जा सकें और किसी में नहीं। अधिकतर को एक से बदल कर दूसरे उपयोगों में भी लाया जा सकता है। भूमि से अनेक फसलें उपजाई जा सकती हैं। श्रम एक धन्धे, स्थान अथवा उद्योग से दूसरे में जा सकता है। एक मशीन तक विभिन्न वस्तुओं अथवा एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न किस्मों का उत्पादन कर सकती है। उद्यमी तो खैर एक व्यवसाय से दूसरे की ओर जा ही सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि अधिकतर उत्पादन के साधन पर्याप्त रूप में गतिशील (mobile) हैं। उनमें से बहुत कम बिल्कुल रूढ़ एवं निर्दिष्ट हैं।

कुछ मामलों में गतिशीलता सरल है। उदाहरण के लिए चीनी कारखाने का एक एकाउन्टेन्ट सरलता से सूती मिल का भी एकाउन्टेन्ट बन सकता है। उसका काम वही रहता है यद्यपि वह एक उद्योग से दूसरे में चला गया है। अन्य मामलों में, गतिशीलता बड़ी कठिन भी है जैसे एक पेशे या स्थान को बदलना।

गतिशीलता से कभी-कभी हानि भी हो सकती है यदि उद्यमी एक व्यवसाय से दूसरे की ओर जाता है।

उत्पादन-व्यवस्था की अपने आप को ढाल लेने की शक्ति (adaptability) उत्पादन के साधनों की गतिशीलता (mobility) पर आश्रित है। पिछले महायुद्ध ने

दिखाया कि उत्पादन-व्यवस्था काफी हद तक मोड़ी जा सकती है। जो देश युद्ध में फंसे थे उन्होंने शान्ति-अर्थ-व्यवस्था (peace economy) के स्थान पर युद्ध-अर्थ-व्यवस्था (war economy) शीघ्र ही ग्रहण कर ली और बाद में इसके विपरीत भी वे सरलता से कर सके ।

१०. उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्व (Relative Importance of Production) :—यह कहना कठिन है कि उत्पादन का कौन-सा साधन अधिक महत्त्व-पूर्ण है और कौन कम। सभी समान रूप से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण लगते हैं।

भूमि हमें प्रकृति के उपहार देती है; वह हमें आर्थिक कार्यवाहियों के लिए स्थान देती है; कच्चा माल देती है। जो कुछ भी आज हमारे उपयोग में है अन्त में तो भूमि से ही आता है। भूमि के बिना मानव-जीवन की कल्पना करना असम्भव है।

किन्तु भूमि अकेली क्या कर सकती है? मनुष्य की सहायता के बिना यह जरा-सा ही तो उपजा सकती है—शायद यहाँ वहाँ कुछ जंगली फल और बेर ही तो। जंगली वनस्पतियों से वर्त्तमान मानव जन-संख्या का गुजारा नहीं हो सकता। मनुष्य को भूमि पर कार्य करना पड़ता है जिससे उत्पादन में वृद्धि हो। इसलिए श्रम उतना ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। मनुष्य के प्रयास द्वारा ही उत्पादन इतना अधिक बढ़ा और अनेक प्रकार का हुआ है। वास्तव में, हर वस्तु पर जो हम देखते हैं, या प्रयोग में लाते हैं, मानवीय श्रम की मुहर लगी है।

पूंजी एक वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति करती है। औजारों के बिना मनुष्य अधिक उत्पादन नहीं कर सकता। यदि मनुष्य ने आज प्रकृति पर विजय पायी है, यदि वह हवा में उड़ सकता है, महासागर पर तैर सकता है, सागर के गर्भ में डुबकी लगा सकता है या पृथ्वी के अन्तराल में घुस सकता है, तो केवल मात्र मशीनों की सहायता से। जो समुदाय केवल भूमि और उसकी सम्पत्ति पर निर्भर हो, वह सदैव गरीबी के गढ़े में पड़ा रहेगा। आज का युग यन्त्र का युग है। 'औद्योगीकरण करो या मरो', यही सर्वसाधारण नारा है। किन्तु बिना पूंजी के औद्योगीकरण असम्भव है। आज का उत्पादन पूंजीवादी उत्पादन (capitalist production) कहलाता है वह बिना वजह के नहीं। पूंजी की महत्ता बढ़ा-चढ़ा कर कहना असम्भव है।

उद्यमी या संगठनकर्त्ता उत्पादन में अत्यावश्यक भाग पूरा करता है। वही तो उत्पादक यंत्र की स्थापना और आरम्भ के लिए उत्तरदायी है। उसी के नेतृत्व में उत्पादन आगे बढ़ता है और नूतन मार्ग खोजता है।

इस प्रकार से हम समझ सकते हैं कि आधुनिक उत्पादन के लिए सभी साधनों की समान आवश्यकता है। किन्तु वे सदैव समान रूप से महत्त्वपूर्ण न थे। किसी विशेष साधन की महत्ता देश के आर्थिक विकास के काल पर आश्रित है। आखेट और पशु-पालन काल में निस्सन्देह भूमि ही सब से बढ़ कर थी। खेती के काल में श्रम ने भूमि की महत्ता कम कर दी और अपने आधिपत्य के लिए संघर्ष किया। किन्तु श्रम को पूर्ण सफलता न मिली। आज पूंजी और उद्यमी ही सबसे अधिक प्रभाव-शाली हैं और दूसरे साधनों का महत्व छिप-सा गया है।

इसके अतिरिक्त उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्व उद्योग के अनुसार

कम ज्यादा हो जाता है । जिन उद्योगों में कच्चे माल का व्यय अधिक है, उनमें हम कह सकते हैं कि भूमि अधिक महत्त्वपूर्ण है । जहाँ अधिक लागत की मशीनों का प्रयोग होता है, पूँजी की अधिक महत्ता है । और इसी प्रकार से क्रमशः अगले अध्यायों में हम प्रत्येक साधन का अब बारी-बारी से विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे ।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा है ?

उपभोग उत्पादन पर निर्भर है और उत्पादन उपभोग पर ।

उत्पादन और उपभोग सापेक्ष शब्द हैं । वे एक ही कार्यवाही के विभिन्न चरण हैं । प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी ।

उत्पादन क्या है ? इसका अर्थ है मूल्य का सृजन या वृद्धि । क्या इसका अर्थ उपयोगिता का सृजन है ? नहीं । इसका अर्थ है धन या मूल्य का सृजन । किसी वस्तु में उपयोगिता होते हुए भी सम्भव है उसमें मूल्य न हो ।

अधिक उत्पादन (over production) क्या है ? अधिक उत्पादन केवल उत्पादक के ही दृष्टिकोण से होता है जब वे अपना माल लाभ पर नही बेच सकते और स्टाक एकत्रित हो जाते हैं । उपभोक्ता के दृष्टिकोण से अधिक-उत्पादन नहीं हो सकता क्योंकि वे तो सदैव जितना उत्पादन हो उसका उपभोग कर सकते हैं और सदैव और अधिक की इच्छा करते हैं ।

उत्पादक धंधों का वर्गीकरण :

(१) औद्योगिक (Industrial) : (क) निष्कर्षक (extractive), (ख) निर्माणकारी (manufacturing)

(२) व्यावसायिक (Commercial) : (क) क्रय-विक्रय, (ख) परिवहन, (ग) महाजनी और बीमा ।

(३) उपभोक्ताओं की सीधे सेवा, उदाहरणतया घरेलू नौकरों और वकीलों आदि की सेवाएँ ।

उत्पादन पर प्रभाव डालने वाले कारण :

(१) प्राकृतिक कारण जैसे जलवायु, बाढ़, भूचाल ।

(२) राजनीतिक कारण ।

(३) शिल्पिक प्रगति ।

(४) संचार एवं परिवहन के साधनों का विकास ।

(५) साख और महाजनी (बैंकिंग) का विकास ।

(६) जनता का चरित्र ।

उत्पादन के साधन : चार साधन :

(१) भूमि (land) : अर्थात् प्राकृतिक सम्पदा ।

(२) श्रम (labour) : समस्त मानसिक व शारीरिक कार्य जो द्रव्य के लिए किया जाय ।

(३) पूँजी (capital) : उत्पादन के सभी सहायक जैसे औजार, उपकरण आदि ।

(४) संगठन (organisation) : सभी अन्य साधनों को जुटा कर उत्पादन की जोखिम उठाने का कार्य ।

क्या चारों साधनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है ? : कुछ अर्थशास्त्रियों की दलील है कि पूँजी भूमि और श्रम के संयुक्त प्रयास का फल है और संगठन केवल एक प्रकार का श्रम है । इसलिए वे यह जोर डालते हैं कि भूमि और श्रम, केवल दो ही साधन हैं, या प्रकृति और मनुष्य ।

आधुनिक अर्थशास्त्री सोचते हैं कि साधन लाखों हैं । उनका कहना है कि विभिन्न वस्तुओं का एक शीर्षक के नीचे वर्गीकरण करना गलत है ।

उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता (efficiency) : उत्पादन बहुत कुछ उत्पादन के

साधनों की कार्यक्षमता (efficiency) पर आश्रित है। कार्यक्षमता स्वाभाविक भी हो सकती है और अर्जित भी।

उत्पादन के साधनों की गतिशीलता (mobility) : गतिशीलता का अर्थ है या तो साधनों का एक स्थान से दूसरे को जाना अथवा एक उपयोग से दूसरे उपयोग में बदलना।

उत्पादन की कार्यक्षमता तथा अर्थतंत्र की दलने की शक्ति उत्पादन के साधनों की गतिशीलता पर निर्भर है।

उत्पादन के साधनों की सापेक्षिक महत्ता : सभी साधन महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं। उनकी सापेक्षिक महत्ता उद्योग के प्रकार (type) तथा किसी देश के आर्थिक विकास के काल पर निर्भर है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is meant by production in Economics ? In the light of your answer discuss the claim of the following to be called producers :—

(*a*) Farmers, (*b*) Hunters, (*c*) Miners, and (*d*) Middlemen.

(दिल्ली, १९४६)

देखिये विभाग २

2. Mention some of the causes which affect the volume of production in a country. Why is production low in India ?

देखिये विभाग ४

भारत में उत्पादन निम्न कारणों से कम है :

(१) कृषि के लिए पर्याप्त जल की कमी।
(२) छोटे खेत।
(३) किसान की गरीबी और अशिक्षा तथा खेती के आदिम उपाय।
(४) उद्योग का त्रुटिपूर्ण संगठन।
(५) विदेशी स्पर्धा।
(६) प्राकृतिक स्रोतों का आंशिक उपयोग अथवा अनुपयोग।
(७) श्रम की अपेक्षाकृत अकुशलता।
(८) पर्याप्त उधार तथा महाजनी सुविधाओं की कमी।
(९) परिवहन के साधनों की कमी।
(१०) अकुशल प्रशासन।

3. What is production ? What are the factors of production ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९३६)

देखिये विभाग २ और ५

4. "Land, Labour and Capital have been called three requisites of production. Explain this statement and offer any criticism upon it that you may think desirable. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९२९)

देखिये विभाग ५।

5. What do you mean by the efficiency of a factor of production ? On what does the efficiency of land and capital depend ? (उत्तर प्रदेश, १९४०)

देखिये विभाग ८।

6. What do you understand by 'mobility' of the factors of production ? Enumerate the factors that deter it. (बम्बई, १९५४)

देखिये विभाग ९

7. Discuss the relative parts played by Man and Nature in production. Which of the two do you consider as more fundamental and why ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९३७)

देखिये विभाग १०

उत्पादन के साधन
(AGENTS OF PRODUCTION)

भूमि (Land)

'भूमि' का अर्थ केवल जमीन नहीं है

१. अर्थशास्त्र के अनुसार "भूमि" के शाब्दिक अर्थ :—अर्थशास्त्र मनुष्य के दैनिक जीवन का शास्त्र है। इस में साधारण भाषा शब्दों का ही प्रयोग होता है। परन्तु हमारे विज्ञान में उन साधारण शब्दों के भी विशेष अर्थ और व्याख्या हो जाती है, कभी यह संकुचित तो कभी बहुत व्यापक। जैसे मूल्य (value) शब्द का अर्थ बहुत सीमित और संकुचित होता है, परन्तु इसके विपरीत भूमि (land) शब्द का अर्थ बहुत व्यापक और विस्तृत होता है।

अर्थशास्त्र में भूमि (land) शब्द से निरा जमीन का तल (surface of earth) ही नहीं माना जाता। इसके उलट यह शब्द अधिक बडे अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, और इसमें सारे प्राकृतिक उपहार (जिनमें भूमि भी शामिल है) माने जातेहैं। इसमें समस्त प्रकृति, जड़ और चेतन (living and lifeless), सम्मिलित मानी जाती हैं। इसमें सभी प्राकृतिक साधन शामिल हैं जो हमें वायु, जल और भूमि से बिना किसी मूल्य के मिलते हैं। पहाड़ी और मैदानी दोनों तरह की जमीन इसमें गिनी जाती है। नदी और नाले, समुद्र, खनिज सम्पत्ति, वर्षा जल-शक्ति, मीन-क्षेत्र, वन और प्रकृति द्वारा दिये हुए सारे स्रोत, जिनका उपयोग मानव करता है, इसी नाम (भूमि) में आते हैं। इस तरह भूमि में सभी प्राकृतिक साधन जो पृथ्वी के ऊपर नीचे या पृथ्वी पर उपलब्ध हैं, आ जाते हैं। डा० मार्शल ने ठीक ही कहा है कि, 'भूमि' का अर्थ केवल जमीन ही नहीं है, वरन् उसमें वे सारे पकरण व सामग्रियाँ सम्मिलित हैं, जिन्हें प्रकृति मानव की सहायता के लिए मुफ्त भेंट करती है, जैसे जमीन, पानी हवा, प्रकाश और जलवायु।

२. उत्पादन के साधन के रूप में भूमि का महत्व (Importance of Land as a factor of Production) :—उत्पादन के साधन के रूप में भूमि का भारी महत्व है। यह तो पहिले ही कहा जा चुका है कि हर वस्तु, जिसका उपयोग हमारे दैनिक जीवन में है, शुरू में भूमि से मिलती है। वास्तव में भूमि को सारी भौतिक विभूतियों का मूल स्रोत कहने में कोई गलती नहीं है।

किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि उसके प्राकृतिक साधनों के साथ बंधी हुई है। प्रायः यह सच है कि हर देश (आर्थिक महत्व की दृष्टि से) वैसा होता है जैसा

प्रकृति ने उसे रच दिया है। यह भी सम्भव है कि प्राकृतिक साधनों से भरा-पूरा होने पर भी कोई देश, किन्हीं कारणों से, निर्धन रहे जैसे भारत। परन्तु उसके विपरीत यदि प्रकृति की किसी देश पर कृपा नहीं हुई तो उसको समृद्ध बनाने का कार्य बड़ी टेढ़ी खीर होगा।

स्पष्ट है कि किसी भी देश के कृषि-धन (agricultural wealth) की गुण और मात्रा इसी बात पर निर्भर है कि उसकी मिट्टी (soil), जलवायु और वर्षा कैसी है। कृषि द्वारा उत्पादित ये वस्तुएँ ही देश के उद्योग और व्यापार की नींव बनती हैं। और फिर, औद्योगिक समृद्धि निर्भर है देश में कोयले की खानों पर और बिजली पैदा कर सकने वाले जल-प्रपातों (झरनों) पर।

उद्योगों के केन्द्र कहाँ बनें यह कच्चे माल और शक्ति की निकटता पर निर्भर है जिसका निश्चय प्रकृति ने किया होता है। देश की स्थलरचना (topography) पर यातायात के सुलभ और अच्छे साधनों का होना निर्भर है।

इस तरह आर्थिक जीवन की सभी बातें—कृषि, व्यापार और उद्योग—उन प्राकृतिक साधनों से प्रभावित हैं जिन्हें अर्थशास्त्री 'भूमि' का नाम देते हैं। किसी भी देश के लोगों का जीवन, उपजीविका और जीवन-स्तर बनाने में उस देश की भूमि या प्रकृति का निश्चित प्रभाव पड़ता है।

३. उत्पादन के साधन के रूप में भूमि की विशेषताएँ (Peculiarities of Land as a Factor of Production) :—उत्पादन के साधन के रूप में भूमि बहुत विलक्षण (peculiar) है। इसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो इसे दूसरे साधनों से अलग करती हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(i) **भूमि प्रकृति का मुक्त उपहार है** (Land is a free gift of Nature) : यह मनुष्य द्वारा बनाई हुई या रची हुई चीज नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि हमें यह जिस रूप में भी प्राप्त हुई है, स्वीकार करनी पड़ती है। यह तो सच है कि मनुष्य प्रकृति में सुधार और वृद्धि का प्रयत्न सदैव करता रहता है। परन्तु वह उस पर पूर्ण रूप से विजयी नहीं हो सकता। बंजर भूमि और प्रतिकूल जलवायु औद्योगिक और व्यापार कार्यों के लिए सदैव बाधा बने रहते हैं।

(ii) **भूमि की मात्रा सदा के लिए तय होती है** (Land is permanent) : इसका विनाश करना भी सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त सभी साधन नाशवान् हैं, किन्तु भूमि को पूर्णतया नष्ट करना सम्भव नहीं है, यहाँ तक कि अणु बम (Atom bomb) द्वारा नष्ट और विध्वंस भूमि भी समय ले कर ठीक की जा सकती है, और कुछ समय बाद उसके पहले के प्राकृतिक गुण फिर उसमें लाये जा सकते हैं।

(iii) **भूमि विस्तार में सीमित होती है** (Land is limited in Area) : यद्यपि खारे समुद्र का पानी सुखाकर भूमि को कृषियोग्य बनाने के कई सफल प्रयत्न किये जा चुके हैं, जिससे संसार की कृषि-योग्य भूमि में कुछ विस्तार हो सकता है किन्तु इन प्रयत्नों से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। हालैंड में इस तरह से भूमि के विस्तार का कार्य हुआ है। परन्तु इस प्रकार प्राप्त की गई भूमि बहुत कम मात्रा में पायी जाती है और सारे विश्व की भूमि के मुकाबले में बहुत थोड़ी है।

(iv) **भूमि जड़ (निश्चल) होती है** (Land lacks mobility) : भूमि को एक स्थान से उखाड़ कर दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। भौगोलिक शब्दों में इसमें गतिशीलता (mobility) नहीं पायी जाती। परन्तु इसका उपयोग विभिन्न कार्यों के लिये किया जा सकता है, इसलिए दूसरे दृष्टिकोण से इसे गतिशील माना गया है।

(v) **भूमि विविध प्रकार की होती है** (Land is of infinite variety) : भूमि मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं होती। प्रकृति ने इसे ऐसा बनाया है कि इसके अलग अलग भाग भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता, कि रेतीली परत (sandy soil) का कहाँ अन्त होता है और चिकनी मिट्टी (clay) का कहाँ आरम्भ। यह एक दूसरे में मिले हुए हैं। इतनी ज्यादा बारीकी वाले अन्तर किसी और दूसरी वस्तु या उत्पादन के साधन में नहीं पाए जाते। विभिन्न भूखण्डों की स्थिति भी अलग-अलग होती है।

४. भूमि के गुणों में भिन्नता क्यों होती है ? (Why Qualities of Land Differ ?) :—कुछ कारणों और परिस्थितियों से भूमि के गुणों में भेद पाया जाता है।

(क) **उपजाऊपन के भेद** (Differences in fertility) : कुछ भखण्ड और प्रदेश रेतीले (sandy) होते हैं और कुछ चट्टानी (rocky)। कुछ सूखे (dry) और कुछ काफी वर्षा वाले होते हैं। कुछ में अच्छा जलवायु पाया जाता है, और कुछ ऐसे होते हैं कि मनुष्य वहाँ रह ही नहीं सकता। मिट्टी (soil) के अंश (constituents) भी कई प्रकार के होते हैं।

(ख) **स्थिति के भेद** (Differences in location) : भूमि का वह खण्ड जो मंडी के समीप है दूर स्थित-खण्ड की अपेक्षा सुविधाजनक होता है। स्थिति भेद करने का एक बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। यह भी सम्भव है कि मौके की जमीन कम उपजाऊ हो और इसके विपरीत बेमौके की जमीन अधिक उपजाऊ हो।

५. भूमि की उत्पादन शक्ति पर प्रभाव डालने वाले कारण (Factors affecting Productivity of Land) : यह तो हम ऊपर समझा चुके हैं कि गुणों में भूमि-खण्ड परस्पर भिन्न क्यों होते हैं। इसी प्रकार के दूसरे कारण उसकी उत्पादन शक्ति पर भी प्रभाव डालते हैं :—

(क) **प्राकृतिक साधन** (The Natural Factor) : प्राकृतिक कारण जैसे मिट्टी, जलवायु, वर्षा का जल, स्थल-रचना (topography), और प्राकृतिक समुद्रतट भी किसी भूमि के उपजाऊ होने न होने का कारण बनते हैं। यदि भूमि अधिक रेतीली मिट्टी वाली या शुष्क जलवायु-प्रधान (dry climate) है तो वहाँ उपज अपेक्षाकृत कम होगी। इसके विपरीत टोमट मिट्टी (alluvial soil), अनुकूल जलवायु और समयानुकूल जलवृष्टि से धनधान्यपूर्ण उपज होती है, और ऐसे भूमि-खण्ड पर घनी आबादी (dense population) अपना निर्वाह कर सकती है।

(ख) **मनुष्य का कार्य** (The Human Factor) : मनुष्य सहज ही में प्रकृति के सामने आत्मसमर्पण नहीं करता। यदि प्रकृति दयालु नहीं होती तो वह उससे संघर्ष करता है और उसमें सुधार करने के प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए, यदि

वर्षा के जल की कमी होती है, तो वह नहर के जल का प्रबन्ध करता है। यदि मिट्टी में कुछ तत्वों का अभाव होता है तो वह नहर के जल का प्रबन्ध करता है। यदि मिट्टी में कुछ तत्वों का अभाव होता है तो वह रासायनिक खाद (chemical manure) द्वारा उसे ठीक करता है। वास्तव में मनुष्य प्रकृति की त्रुटियों (deficiencies) को दूर करने में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।

(ग) **स्थिति का साधन** (The Situation Factor) : भूमि की स्थिति का बड़ा महत्व होता है। नगर या मंडी से दूर स्थित उर्वरा (fertile) भूमि को भी बेकार छोड़ दिया जाता है। कारण यह होता है कि उसके परिवहन पर पड़ते से अधिक पैसा खर्च होने का डर बना रहता है। इन उपजाऊ भूमि-खण्डों की तुलना नगर और मंडी के समीप कम उपजाऊ भूमि-खण्डों से नहीं की जा सकती।

६. **विस्तृत और गहन खेती** (Extensive and Intensive Farming) :— यहाँ यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि विस्तृत और गहन खेती क्या होती है। यदि किसी भूमि-खण्ड पर अधिकाधिक श्रम (labour) और पूंजी (capital) लगाई जाय तो इस खेती की प्रणाली को गहन खेती (intensive farming) कहेंगे। श्रम और सम्पत्ति की अधिकता में कृत्रिम सिंचाई (artificial irrigation), रासायनिक खाद और मशीनों का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग भी सम्मिलित है। इस दशा में भूमि से प्रति एकड़ अधिक उपज होती है। इस प्रकार खेती करके किसान भूमि से अधिक उपज करना चाहता है। इस प्रकार की खेती उन्नत देशों में की जाती है जहाँ पर जनसंख्या के मुकाबले कृषि-योग्य भूमि कम है।

दूसरी ओर विस्तृत खेती (extensive farming) का अर्थ होता है भूमि के अधिक क्षेत्रफल पर खेती करना। इस प्रणाली के अनुसार किसान जितनी भूमि पर कार्य कर सकता है करता है। परन्तु खेती की प्रणाली प्राचीन और अवैज्ञानिक होती है और अपेक्षाकृत प्रति एकड़ उपज भी कम होती है। परन्तु गहन कृषि के मुकाबले में, जिसमें श्रम और पूंजी अधिक व्यय की जाती है, उपज अधिक होती है। नई जमीन पर अपेक्षाकृत कम मेहनत की जाती है पर वह अधिक फसल देती है। और जब उस जमीन की ताकत घट या मर जाती है तो और नई जमीन ले ली जाती है। यहाँ सिर्फ बुआई की जाती है और पकने पर फसल काट ली जाती है। १०० वर्ष पहिले संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा में इसी प्रकार की खेती की जाती थी।

७. **क्या विस्तृत कृषि का अर्थ बड़े पैमाने पर खेती करना है और गहन कृषि का अर्थ छोटे पैमाने पर खेती करना ?** (Does Extensive Cultivation mean Large-scale Farming and Intensive Cultivation Small-scale Farming ?) :— यह कोई जरूरी नहीं है। ऐसा अनुमान होना स्वाभाविक है कि एक किसान के पास अगर विस्तृत क्षेत्र है तो उसकी खेती बड़े पैमाने पर होती होगी। ठीक इसी तरह गहन कृषि का अर्थ छोटे पैमाने की खेती मालूम होती है। इस प्रणाली के अनुसार अधिकाधिक श्रम और पूंजी एक भूमि-खण्ड पर व्यय करके अधिक उपज की आशा की जाती है।

परन्तु ऐसा हमेशा ही नहीं होता। विस्तृत और गहन खेती का भेद खेत के

आकार का अन्तर नहीं है बल्कि कृषि-उपायों (Methods) का है। कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया और रूस में भी जहाँ भूमि का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, खेत बड़े-बड़े हैं, और कभी-कभी तो मीलों लम्बे होते हैं। परन्तु फिर भी इनमें खेती के गहन (intensive) उपाय ही बरते जाते हैं। भूमि में धन की बड़ी राशि व्यय की जाती है। भूमि को ट्रेक्टरों (tractors) की सहायता से जोता जाता है; बीज भली प्रकार छाँटा जाता है; सिंचाई की वपुल सुविधाएँ होती हैं और खाद काफी मात्रा में दिया जाता है। कृषि कार्य पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से होता है। संक्षेप में हम इसे गहन खेती कह सकते हैं।

भारत जैसे देश में, खेत बहुत छोटे होते हैं और फसल भी बहुत गिरी हुई होती है। हमारी खेती की रीति (method) विस्तृत है। हमारी आर्थिक अवनति का यह एक बड़ा कारण माना जाता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद और विशेषकर १९५०-५१ से पंचवर्षीय योजनाओं का सिलसिला शुरू होने के कारण गहन खेती को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा है। यह महत्व आगे और भी बढ़ता जाएगा क्योंकि हम खाद्य और उद्योगों के कच्चे माल में आत्म-निर्भर होना चाहते हैं।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

'भूमि' का अर्थ (The Meaning of Land) : 'भूमि' का अर्थ केवल जमीन या मिट्टी नहीं होता। यह समस्त प्राकृतिक साधनों का भूमि पर, भूमि के ऊपर और भूमि के नीचे सम्मिलित नाम है।

उत्पादन के साधन के रूप में भूमि का महत्व (Importance of Land as a Factor of Production) :

(१) यह सारी भौतिक विभूतियों का मूल स्रोत है।
(२) किसी भी देश की आर्थिक उन्नति उसके प्राकृतिक साधनों पर निर्भर होती। हैं
(३) कृषि-सम्बन्धी उपज की मात्रा और गुण इसी पर निर्भर हैं।
(४) औद्योगिक उन्नति भी इसी से सम्भव होती है।
(५) उद्योगों का स्थानीयकरण (localisation) इसी से निर्धारित होता है।
(६) परिवहन के साधनों का विकास भी इसी से प्रभावित होता है।

भूमि की विशेषताएँ (Peculiarities of Land) :

(१) यह प्रकृति का उपहार मानी जाती है।
(२) यह स्थायी होता है।
(३) यह सीमित होती है।
(४) यह गतिहीन निश्चल होती है।
(५) इसके बहुत से भेद होते हैं।

भूमि के गुणों में विभिन्नता क्यों होती है (Why Land differs in Quality ?) : उपजाऊपन और स्थिति, इन दो कारणों से भूमि में परस्पर भेद पाया जाता है।

भूमि की उत्पादन-शक्ति पर प्रभाव डालने वाले कारण (Factors affecting Productivity of Land) :

(१) प्राकृतिक या स्वाभाविक गुण।
(२) मानवीय कारण—सिंचाई, खाद इत्यादि।
(३) मंडियों से दूरी।

विस्तृत और गहन कृषि (Extensive and Intensive Farming) : जब भूमि का प्रचुर मात्रा में उपयोग होता है तो इस प्रणाली को विस्तृत खेती कहते हैं। ऐसा लगता है कि इस प्रकार किसान के पास आवश्यकता से अधिक भूमि होती है। गहन खेती का अर्थ होता है वैज्ञानिक कृषि-प्रणाली। इस रीति के अनुसार फसलों का नियमित हेर-फेर (systematic rotation), ठीक तरह का बीज, गहरी जुताई, पर्याप्त मात्रा में सिंचाई और आधुनिक उपकरणों का उपयोग होता है।

विस्तृत कृषि का जरूरी अर्थ यह नहीं है कि बड़े पैमाने पर खेती हो और गहन कृषि का अर्थ छोटे पैमाने पर खेती हो। दोनों का भेद रीति (method) का है न कि खेती में काम आने वाली भूमि की मात्रा का।

परीक्षा प्रश्न

1. Define land and discuss its importance as a factor of production. What are the factors that affect the productivity of land ?

(देहली, १९५०)

देखिये विभाग १, २ और ५

2. A country is what nature has made it ? Discuss.

[देखिये विभाग २। किसी देश की समृद्धि केवल उसके प्राकृतिक साधनों पर ही अवलम्बित नहीं होती। दूसरे साधन भी होने चाहियें। लोगों के पास पर्याप्त मात्र में पूंजी होनी चाहिए और उनको शक्तिसम्पन्न और साधनयुक्त होना चाहिये। भारत प्राकृतिक उपहारों और साधनों का भंडार है परन्तु फिर भी काफी पिछड़ा हुआ है। इसका कारण यह है कि सामाजिक और राजनैतिक साधन उसके हक में नहीं।]

3. Distinguish between Intensive and Extensive Cultivation. Does extensive cultivation necessarily mean large-scale farming ? Give reasons.

देखिये विभाग ६ और ७

4. In what respects is land fundamentally different from the other factors of production ? (उत्तर प्रदेश, १९३९)

देखिये विभाग ३

5. Describe carefully the term 'Extensive' and 'Intensive' cultivation. To what extent is the latter process of cultivation being carried on in India ? What are the chief difficulties to be met with in its adoption in India ? (उत्तर प्रदेश, १९२९)

[देखिये विभाग ६। भारत में गहन कृषि की प्रणाली बहुत कम है। इसका विशेष कारण पूंजी की कमी और कृषि के आधुनिक साधनों से अनभिज्ञता है।]

उत्पादन के साधन (क्रमशः)

श्रम (Labour)

स्वान्तः सुखाय कार्य श्रम नहीं है

१. अर्थ (Meaning) :—ड्रिल मास्टर का कहना है कि "मेरा काम तब शुरू होता है जब दूसरे खेलते हैं।" जो वह कहता है, सच है। जो दूसरों के लिए खेल है, उसके लिए आय प्राप्त करने का उपाय है। यदि हम स्वास्थ्य के लिए व्यायाम करते हैं, यदि माँ बच्चे का पालन करती है, यदि पिता अपने पुत्र को स्वयं शिक्षा देता है, या यदि एक व्यक्ति अपने बाग के पौधों को अपने आनन्द के लिए सींचता है, तो यह सब कार्य अर्थशास्त्र में "श्रम" नहीं कहलाते। वे द्रव्य प्राप्त करने के लिए नहीं किए जाते। अपना काम स्वयं अपने आनन्द के लिए, स्वान्त सुखाय करना, चाहे वह जितना भी कठोर परिश्रम हो, आर्थिक दृष्टि से 'श्रम' (labour) नहीं है। जब तक काम किसी प्राप्ति की आशा से न किया जाय, अर्थात् द्रव्य अथवा पदार्थों के रूप में उसका फल न मिले, तब तक उसे "श्रम" (labour) नहीं कह सकते।

साधारण भाषा में "श्रम" (मजदूरी) से हमारा मतलब होता है कुलियों द्वारा किया गया काम—कठोर शारीरिक परिश्रम, आम तौर पर अकुशल (unskilled)। किन्तु अर्थशास्त्र में "श्रम" पद का अर्थ अधिक व्यापक है। इसका अर्थ केवल अकुशल, शारीरिक परिश्रम नहीं है। इसमें मानसिक श्रम भी सम्मिलित है। इस तरह इसमें मजदूरों, इन्जीनियरों, क्लर्कों, टाइपिस्टों, प्रबन्धकों, पुलिस के तथा अन्य सरकारी पदाधिकारियों, शिक्षकों, वकीलों, घरेलू नौकरों आदि सभी का काम आ जाता है। सब तरह का काम अर्थशास्त्र में श्रम कहलाता है।

श्रम की परिभाषा यह हो सकती है कि : "बुद्धि या शरीर का कोई कार्य जो आंशिक अथवा पूर्ण रूप में किसी पदार्थ (माल) को प्राप्त करने, अर्थात् आय की दृष्टि से किया जाय, न कि केवल कार्य द्वारा प्राप्त आनन्द के लिए"—(मार्शल)

एक बात का उल्लेख आवश्यक है। अर्थशास्त्र में 'श्रम' का जो मतलब लिया जाता है उसमें सिर्फ मनुष्यों का काम आता है। पशुओं की मेहनत उसमें शामिल नहीं। उसे पूँजी द्वारा हुआ कार्य गिना जाता है।

२. उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive Labour) :—बहुत काल तक अर्थशास्त्रियों में असहमति थी कि किस प्रकार का श्रम उत्पादक कहा जा सकता है और कौन-सा अनुत्पादक।

१८वीं सदी में फ्रांस में अर्थशास्त्र की एक परिपाटि, (school) फीजियोक्रेट्स

(Physiocrats) के अनुसार केवल कृषि ही उत्पादक श्रम था, क्योंकि केवल उसी में वास्तविक उत्पादन होता था। एडम स्मिथ के ख्याल में वही कार्य उत्पादक था जिससे कोई स्थूल वस्तु बनती थी। वकीलों, प्रोफेसरों, गाने वालों की सेवाओं को उस विचार में उत्पादक नहीं माना गया। बाद में, माल निर्माण का कार्य भी उत्पादक गिना जाने लगा। धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि व्यापारी का कार्य वस्तुओं को जमा करने और लाने ले जाने का कार्य भी उनके मूल्य में वृद्धि करता है। महाजनी (बैंकिंग) और बीमा का काम भी 'उत्पादक' की श्रेणी में आ गया। आजकल सभी प्रकार का कार्य; चिकित्सा, वकालत, शिक्षण आदि यहाँ तक कि घरेलू नौकरों का काम भी उत्पादक समझा जाता। दूसरे शब्दों में, आर्थिक दृष्टि से सभी श्रम उत्पादक है।

आजकल 'अनुत्पादक श्रम unproductive labour) का पद केवल उस श्रम के लिए प्रयुक्त होता है जो क्षय हो जाता है या जिसका निर्देशन गलत होता है, या वह श्रम जो अपना प्रयोजन पूरा नहीं कर पाता। इन उदाहरणों में भी कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि श्रम उत्पादक है, क्योंकि जब उस श्रम का उपयोग किया गया था उस समय उसका प्रयोजन था उत्पादन। यह तो बाद में ही मालूम पड़ा कि उससे कुछ प्राप्त नहीं हुआ। गलत रूप से निर्देशित श्रम भी उत्पादक है, कम से कम मजदूर की दृष्टि से, क्योंकि उसे उसके लिए मजदूरी मिल जाती है। वह अनुत्पादक केवल समाज की दृष्टि से है।

३. श्रम की विलक्षणताएँ (Peculiarities of Labour) :—भूतकाल में श्रम को एक साधारण पदार्थ की भाँति समझा जाता था जो बाजार में बिकने और खरीदने के लिए आता था। उस समय यह नहीं माना जाता था कि श्रम न केवल एक उद्देश्य का (उत्पादन का) साधन है, वरन् स्वयं भी एक साध्य (उपभोक्ता) है। अब यह अन्तर, जो श्रम को अन्य पदार्थों से पृथक् करता है, सामने रखा जाता है। इसलिए हमें श्रम की उन विलक्षणताओं (peculiarities) को देखना पड़ेगा जो उसे अन्य पण्यों से भिन्न बनाती हैं।

(१) **श्रम, श्रमिक से पृथक् नहीं किया जा सकता** : एक श्रमिक का कार्य उसे स्वयं ही करना पड़ता है। किसान घर पर रहकर अपना 'श्रम' खेत पर नहीं भेज सकता। एक डाक्टर को अपने मरीज के पास सशरीर स्वयं जाना होगा। और यदि कोई श्रम कोई विशेष रूप ग्रहण कर लेता है, जैसे किसी विद्वान के विचार पुस्तक के रूप में आ जाते हैं। तो वह सीधा-सादा श्रम नहीं रह जाता। पुस्तक श्रम का फल है और वह एक भौतिक पदार्थ है। इसलिए वह कहीं भी भेजी जा सकती है।

(२) **श्रमिक अपना श्रम बेंचता है, स्वयं को नहीं** : जो कुछ किसी श्रमिक के प्रशिक्षण पर व्यय किया गया है वह उसका श्रम बेचकर वापिस नहीं मिल सकता। यह कदाचित् गुलामी की प्रथा के समय सम्भव था, किन्तु वे दिन अब चले गए।

(३) **श्रम बाकी सब पदार्थों से अधिक नाशवान है** : कहते हैं समय उड़ता है। किन्तु यदि यह सच है तो श्रम भी उसके साथ उड़ता है। जो दिन बिना काम किए चला गया वह अब वापस नहीं आ सकता।

(४) **श्रमिकों में "सौदा करने" की शक्ति मालिकों के बराबर नहीं है :** यह इसलिए क्योंकि श्रम को संचित नहीं किया जा सकता। और मजदूर निर्धन और अशिक्षित हैं। इसलिए यद्यपि उनके पास हड़ताल का शस्त्र है जिसे वे मालिकों के विरुद्ध प्रयोग करते हैं, किन्तु वह हथियार उन्हें भी हानि पहुँचाता है। अधिकतर औद्योगिक देशों में शक्तिशाली मजदूर यूनियनों के बन जाने से औद्योगिक मजदूर को काफी सहायता मिली है और कहीं-कहीं मालिकों के विरुद्ध पासा ही पलट गया है। जब श्रमिक मालिकों से अलग-अलग व्यवहार करने की बजाय सामूहिक रूप से व्यवहार करना सीख जाते हैं, तब वे कमजोर नहीं रह जाते।

(५) श्रमिक, एक यन्त्र से भिन्न है, क्योंकि उसकी अपनी भावनाएँ और रुचियाँ हैं। वह सबसे अच्छा काम तब करता है जब वह खुश होता है और दिल लगा कर काम करता है। आराम, अवकाश, स्वस्थ वातावरण, मनोविनोद और सब से अधिक पदाधिकारियों का सद्व्यवहार उसकी कार्यक्षमता बढ़ाता है।

(६) **श्रम, पूंजी तथा अन्य पदार्थों से कम गतिशील है :** जो ऊपर कहा गया है उससे ही यह परिणाम निकलता है कि श्रमिक मशीन नहीं है।

(७) **श्रम की पूर्ति (सप्लाई) उसकी मांग पर निर्भर नहीं है और शीघ्र बढ़ाई या घटाई नहीं जा सकती :** श्रमिकों का अन्य पदार्थों की भाँति आदेशानुसार निर्माण या उत्पादन नहीं हो सकता। यदि वे अत्यधिक हैं, तो उनकी संख्या केवल प्रवास या भुखमरी जैसे कष्टकर उपायों से ही कम की जा सकती है।

(८) **श्रमिकों के उत्पादन की लागत की गणना करना सरल नहीं है :** यह भी इसलिए कि श्रम एक विलक्षण वस्तु है।

(९) **श्रमिक अपनी निपुणता में भिन्न होते हैं :** इसलिए औजारों तथा यन्त्रों के समान वे बदले नहीं जा सकते।

४. **किसी देश की श्रम शक्ति** (Labour Strength of a Country) : किसी देश की श्रमशक्ति उसके श्रम की संख्या और गुण दोनों पर आश्रित है। गुण से उनकी कार्यक्षमता तथा काम करने की सामर्थ्य का अभिप्राय है। अब हम श्रम के इन पहलुओं पर विचार करेंगे—परिमाण तथा गुण पर।

५. **मालथस का जनसंख्या का सिद्धान्त** (Malthusian Theory of Population) :—श्रम का परिमाणात्मक पहलू जनसंख्या की वृद्धि से सम्बन्धित है। जनसंख्या का सुपरिचित सिद्धान्त मालथस का सिद्धान्त है। टामस राबर्ट मालथस (Thomas Robert Malthus) ने अपना यह सिद्धान्त १७९८ में अपनी पुस्तक 'ऐस्से ऑन पापुलेशन" (Essay on Population) में प्रतिपादित किया था। उसने इस सिद्धान्त में बाद में और भी संशोधन किए किन्तु उसकी प्रमुख बातें ज्यों की त्यों रहीं।

मालथस ने लिखा कि जनसंख्या में ज्यामितिक वृद्धि (Geometrical Progression) होती है जैसे, $२^१$, $२^२$, $२^३$, $२^४$, $२^५$ (अर्थात् २, ४, ८, १६, ३२); जबकि खाद्य-पूर्ति में समानान्तर वृद्धि (Arithmetical Progression) होती है, जैसे २, ४, ६, ८, १०, १२...। इसका परिणाम यह होता है कि खाद्य अवश्य ही

जनसंख्या की अपेक्षा कम पड़ जायगा।

बाद में मालथस ने अपने सिद्धान्त का गणित-सम्बन्धी अंश त्याग दिया क्योंकि उसे प्रमाणित नहीं किया जा सका। उसने "ज्यामितिक वृद्धि" और "समानान्तर वृद्धि" पदों का प्रयोग केवल अपने सिद्धान्त पर जोर डालने के लिए किया था।

संक्षेप में, मालथस का सिद्धान्त इन शब्दों में कहा जा सकता है—

"प्रजनन की शक्ति मानव में नैसर्गिक है, जैसी कि वनस्पति तथा पशुओं में भी है। यदि यह निर्बाध रूप से प्रयुक्त हो, तो इस शक्ति से संख्या में शीघ्र वृद्धि होगी। गुणन प्रकृति का नियम है। इसलिए जनसंख्या जोर-शोर से बढ़ती है।"

किन्तु खाद्य का उत्पादन, क्योंकि घटती हुई उपज के नियम (law of diminishing returns) के अधीन है इसलिए उसमें इतनी शीघ्र वृद्धि नहीं होती।

जब जनसंख्या तेजी से बढ़ती है किन्तु खाद्य सप्लाई धीरे-धीरे, तो यह परिणाम स्पष्ट है कि जनसंख्या खाद्य सप्लाई से आगे बढ़ जाएगी। जब खाद्य सप्लाई कम रह जाएगी तो लोग भूखों मरेंगे और दुख भोगेंगे।

अपने को इस आगामी दुःख से बचाने के लिए मालथस ने कहा कि लोगों को निरोधक उपायों का उपयोग करना चाहिए, जैसे आत्मसंयम तथा देर में विवाह करना आदि। यदि निरोधक प्रतिबन्ध (preventive checks) न लगाए गए तो निश्चयात्मक प्रतिबन्ध (positive checks), जैसे रोग, युद्ध, अकाल आदि लागू होंगे। इस प्रकार जनसंख्या कम होकर अपनी सीमा में आ जाएगी—उतनी हो जाएगी जितनी के लिए खाद्य प्राप्त हो सकता है।

६. **मालथस के सिद्धान्त की आलोचना** (Criticism of Malthusian Theory) :—मालथस के सिद्धान्त ने एक विवाद का तूफ़ान खड़ा कर दिया। आलोचकों ने निम्न आधारों पर उसका विरोध किया :—

(i) इसका गणनात्मक पहलू सही नहीं है। मालथस ने उत्तर दिया कि गणनात्मक अंश उसके सिद्धान्त का आवश्यक अंग नहीं है। उसका उपयोग तो उसने केवल अपनी बात पर उचित जोर देने के लिए किया था।

(ii) यह सिद्धान्त खेती में अनुभव में आने वाले घटती हुई उपज के नियम पर आधारित है। किन्तु यह कहा गया कि इस नियम का मुकाबला खेती के वैज्ञानिक उपायों का प्रयोग करके किया जा सकता है। अब तक की कृषि की प्रगति ने मालथस के भय को निर्मूल साबित किया है। किन्तु क्या हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि विज्ञान की प्रगति जनसंख्या की वृद्धि के साथ हमेशा कदम मिला सकेगी? क्या अन्त में विज्ञान की हार न होगी?

(iii) यह सिद्धान्त वास्तविक तथ्यों से सच साबित न हुआ। मालथस भविष्य की प्रगति को पहले से ही न देख सकता था। उन्नत देशों में लोग इतने सन्तति निरोधक उपायों का प्रयोग करते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि लगभग रुक गई है। इसका ज्वलन्त उदाहरण फ्रांस है। फिर जनसंख्या में वृद्धि मालथस की बताई हुई दर से नहीं हुई है। उन्नत देशों में जन्म-दर (birth rate) तथा मरण-दर (death rate) दोनों ही कम हो गई हैं। आज जन्म-दर तथा मरण-दर का अन्तर, संजीवन-

गति (survival rate) पहले से बहुत कम हो गई है। पिछली शताब्दी में इंगलिस्तान की जनसंख्या की दसवर्षीय वृद्धि १५% से ५% रह गई।

लोग अब अपने जीवन-स्तर को अधिक महत्व देते हैं। वे या तो विवाह स्थगित कर देते हैं या करते ही नहीं, जब तक वे, जिस जीवन-स्तर के आदी हो चुके हैं, उसे बनाए रखने की स्थिति में न हों।

आज आर्थिक सम्पन्नता (खुशहाली) का स्तर पहले से ऊँचा है। खाद्य-सामग्री पहले से कही अधिक बढ़ी हुई तथा विविध है। मालथस की निराशाजनक भविष्य-वाणी सच साबित नहीं हुई। पश्चिमी देशों में लोगों के स्वास्थ्य और शरीर पहले से कहीं अच्छे हैं।

(iv) धन और सम्पन्नता परोक्ष रूप में जनसंख्या को रोकते हैं। यह बताया गया है कि धनी परिवारों में गरीबों की अपेक्षा कम बच्चे पैदा होते हैं। इस वक्तव्य का वैज्ञानिक प्रमाण तो नहीं है किन्तु आँकड़ों (statistics) से ऐसी प्रवृत्ति पता चलती है।

इसमें संदेह नहीं कि मालथस कुछ ज्यादा निराशावादी था। पश्चिम में जनता उस संकट से बच गई है जिसकी भविष्यवाणी उसने की थी। कृषि, व्यापार एवं उद्योग में हुई प्रगति से और उन्नत देशों में हुए सामाजिक सुधारों से उसका भय गलत साबित हुआ है।

किन्तु हिन्दुस्तान और चीन जैसे पिछड़े हुए देशों के लिए भी क्या यह सच है? उनकी लाखों करोड़ों की जनता भीषण निर्धनता में ग्रस्त है। कोई निरोधात्मक प्रतिबन्ध प्रयोग में नही लाए जाते। इसलिए निश्चयात्मक प्रतिबन्ध, जैसे अकाल, युद्ध और रोग खुल कर खेल रहे हैं। क्या हम सन्देह कर सकते हैं कि मालथस ने जो कुछ कहा वह ऐसे देशों पर लागू होता है?

फिर, उसका सिद्धान्त किसी देश विशेष पर भले ही लागू न होता हो, किन्तु समूचे विश्व पर तो मोटे तौर पर लागू हो सकता है। एक देश खाद्य का आयात करके या कोई दूसरे उपाय अपनाकर अपने को भले ही बचा ले। किन्तु विश्व की कुल जनसंख्या अपनी कुल खाद्य-सप्लाई से अधिक अवश्य हो जाएगी। यदि यह न होता तो पश्चिमी देश और ब्रिटिश डोमिनियन्स एशिया वालों के आने पर रोक न लगाते। गोरे लोग एशिया की बढ़ती हुई जनता से अपनी रक्षा करने के लिए दीवारें खड़ी करने को आतुर हैं, जिससे वे अपना जीवन-स्तर बनाए रख सकें।

७. जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Population): जनसंख्या का सिद्धान्त "आदर्श जनसंख्या सिद्धान्त" (Optimum theory) के नाम से जाना जाता है। मालथस के सिद्धान्त ने, कोई देश अधिक से अधिक कितनी जनसंख्या का निर्वाह कर सकता है, इस पर अपना ध्यान रक्खा। यदि वह अधिक से अधिक सीमा पार हो गई तो उस देश के लिए दुःख और संकट ही भाग्य में बदा है। "आदर्श सिद्धान्त"—आप्टिमम थ्योरी—के अनुसार ऐसी कोई अधिकतम सीमा नहीं है। यदि एक देश अपनी सम्पदा में विकास करता है तो वह अपनी जनसंख्या भी तदनुकूल बढ़ा सकता है।

'आदर्श जनसंख्या सिद्धांत' (Optimum Population theory) कहता है कि यदि हम किसी एक समय एक देश में तब तक जो विकास वहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति का हो चुका है उसको ध्यान में रखें, तो एक विशेष जनसंख्या है जो उसके लिए सर्वोत्तम है। यही आदर्श संख्या है। वह देश इस संख्या को ही सर्वोत्तम दशा में बनाए रख सकता है। किन्तु यदि जनसंख्या इस 'आदर्श' (Optimum) संख्या से अधिक बढ़ती है तो अत्यधिक-जनसंख्या (over-population) हो जाएगी क्योंकि तब उपलब्ध माल अत्यधिक व्यक्तियों में बँट जाएँगे। यदि वास्तविक जनसंख्या इस योग्यतम, आदर्श—आप्टिमम-से कम है तो "अल्प-जनसंख्या" (under-population) होगी। इसका अर्थ यह होगा कि उपलब्ध स्रोतों के सर्वोत्तम उपभोग के लिए, उन्हें काम में लाने के लिए, पर्याप्त संख्या में लोग न होंगे। दोनों दशाओं में—अर्थात् अत्यधिक व अल्प संख्या में—प्रति व्यक्ति आय जितनी होनी चाहिए उससे कम होगी। इस "आदर्श" (optimum) स्तर पर ही प्रति व्यक्ति आय सबसे अधिक होगी। "यह आदर्श स्तर तब पहुँचता है, जब अन्य साधनों के उपलब्ध परिमाण से (यह साधन भी स्वयं परिवर्तनशील है), प्रति व्यक्ति अधिकतम (maximum) उत्पादन होने लगता है।"—सिल्वरमैन (Silverman)। 'आदर्श-जनसंख्या' को रेखा-चित्र द्वारा भी सरलता से प्रकट किया जा सकता है। किसी देश की सम्पत्ति-स्रोतों का विकास कम, साधारण, या अच्छा हो चुका हो सकता है जिसे हम क, ख, ग आदि नाम दे सकते हैं। इनमें से कोई एक स्तर ले लीजिए। अब त ए के साथ जनसंख्या अंकित की जाए और त व के साथ प्रतिव्यक्ति आय। त प जनसंख्या पर सबसे ज्यादा प्रति-व्यक्ति आय प म मिलती है जबकि विकास का एक निश्चित स्तर है। त प से कम जनसंख्या अत्यल्प होगी और उससे ज्यादा आबादी अत्यधिक। उन दोनों अवस्थाओं में प्रति व्यक्ति आय प म से कम रहेगी।

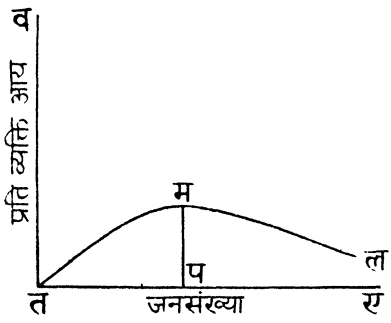

यह आदर्श जनसंख्या (Optimum population) सम्पदा स्रोतों (resources) से सम्बन्धित है। यह संख्या रूढ़ नहीं है। आज हम यह कहते हैं कि भारत की जनसंख्या अत्यधिक है। किन्तु हम अपने सम्पत्ति-स्रोतों (resources) को पूर्णतया विकसित कर लें और अपना राष्ट्रीय धन बढ़ा लें तो भारत में अत्यधिक जनसंख्या नहीं रहेगी। इसका अर्थ यही है कि हम विकास के एक निचले दर्जे से उठकर एक ऊँचे दर्जे पर पहुँच गए। ऊँचा दर्जा कुदरती तौर पर ज्यादा आबादी को अधिक प्रति-व्यक्ति आय पर पाल सकता है। इस प्रकार एक छोटी सी आबादी भी अत्यधिक जनसंख्या (over-population) हो सकती है, यदि उपलब्ध स्रोत पर्याप्त न हों; और यदि पर्याप्त मात्रा में स्रोत प्राप्त हों तो बड़ी जनसंख्या भी अत्यधिक नहीं

होगी। संक्षेप में यह सिद्धान्त जन-संख्या को सम्पत्ति-स्रोतों से सम्बन्धित कर देता है, मालथस की तरह देश के स्रोतों से अलग, जनसंख्या की बात निरपेक्ष ढंग से नहीं करता।

८. **श्रम की कार्यक्षमता** (Efficiency of Labour) :–हमने देखा है कि किसी देश की श्रम शक्ति (labour strength) का अन्दाज़ा लगाते समय जनता की संख्या और उसकी कार्यक्षमता दोनों को लेना पड़ेगा। हमने जनसंख्या के सिद्धांत में परिमाणात्क पहलू पर काफी विचार कर लिया है। अब हम श्रम की कार्यक्षमता (efficiency) की समस्या पर विचार करेंगे।

अंग्रेज़, अमरीकी तथा जापानी श्रम, भारतीय श्रम की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम (efficient) तथा निपुण समझा जाता है। इसका क्या कारण है ?

कर्मकार की कार्यक्षमता दो प्रकार के कारणों पर अवलम्बित है—वे जो (क) उसकी कार्य करने की शक्ति पर प्रभाव डालते हैं, और वे जो (ख) उसकी कार्य करने की इच्छा पर प्रभाव डालते हैं। श्रमिक की कार्य करने की शक्ति और क्षमता पर जो प्रभाव डालते हैं वे कारण निम्नलिखित हैं:—

(i) **नैसर्गिक मूलवंशीय** (Racial) **गुण** : जालन्धर के जाट काँगड़ा के राजपूतों अथवा गुड़गांव के मेवों की अपेक्षा अधिक अच्छे किसान हैं। आदमी जिस मूलवंश (race) का होता है उसके कुछ गुण विरासत में पाता है। कुछ जातियां अन्य की अपेक्षा अधिक परिश्रमी होती हैं। ये गुण व्यक्ति के हाथ में नहीं और बहुत कुछ प्राकृतिक वातावरण तथा जलवायु पर निर्भर हैं।

(ii) **अर्जित गुण** : कुछ गुण ऐसे हैं जो कर्मकार को सामान्य अथवा शिल्पिक (technical) शिक्षा द्वारा प्राप्त होते हैं। इन गुणों में ईमानदारी, बुद्धि, धैर्य, निर्णय-शक्ति, स्वास्थ्य और शारीरिक शक्ति, मौलिकता, उत्तरदायित्व की भावना आदि भी कहे जा सकते हैं। इन गुणों पर श्रम की कार्यक्षमता निर्भर है।

(iii) **कमाई** : यदि एक कर्मकार अच्छी मज़दूरी कमा रहा है, तो वह अच्छा भोजन तथा जीवन-निर्वाह की अन्य वस्तुएँ पा सकता है। इनसे उसका स्वास्थ्य बल, सहन-शक्ति बढ़ेगी और वह निःसन्देह एक बेहतर कर्मकार बन सकेगा। अधिक मज़दूरी की बचत (economy of high wages) सब को मालूम है। "कम मज़दूरी महँगी मज़दूरी होती है" (low wages are dear wages)।

(iv) **नौकरी की दिशाएँ** : यदि कारखाना साफ सुथरा और हवादार है; यदि वातावरण स्वस्थ और आकर्षक है तो कर्मकार बेहतर काम कर सकेगा। इसी प्रकार, यदि मशीनरी आधुनिक है और कच्चा माल अच्छी किस्म का है, यदि प्रबन्धक (मैनेजर) कुशल है और श्रम शक्ति का बखूबी उपयोग कर सकता है, तो श्रम का उत्पादन बढ़ेगा।

(v) **काम के घंटे** : यह साबित हो चुका है कि ज्यादा देर तक काम का मतलब होता है निम्न कार्यक्षमता (low efficiency)। कर्मकार को थकावट घेर लेती है। वह बोझिल मन से और धीरे-धीरे काम करता है जिसका फल निम्न कार्यक्षमता हो जाता है। यदि कार्य दिवस बहुत लम्बा नहीं और आराम के लिए

उचित समय बीच-बीच में दिया जाता है तो कर्मकार अपनी शक्ति भर अच्छा काम कर सकेगा।

कर्मकार की कार्य करने की इच्छा उसकी उन्नति की महत्त्वाकांक्षा से बल पाती है। वह अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहता है। इसलिए कार्यक्षमता के लाभांश (efficiency bonus), या लाभ-बंटाई की योजनाएँ (profit-sharing schemes) और उसकी कर्त्तव्य की भावना साथ-साथ चलती और उसे प्रोत्साहन देती है। यह सब कारण उसके काम करने के उत्साह को बढ़ाते है। और जितनी ज्यादा उसमें लगन होगी उतनी ही अधिक उसकी उत्पादन-शक्ति होगी।

९. **कार्यक्षम श्रम के लाभ** (Advantages of Efficient Labour) :— कार्यक्षम श्रम व्यक्तिगत रूप में श्रमिकों के लिए, मालिकों के लिए, और सारे राष्ट्र के लिए भी हितकर है।

कर्मकार को अपनी कार्यक्षमता मे लाभ है ही। वह अपने सहयोगियों से आदर पाता है और मालिक से तारीफ। वह अधिक कमा भी सकता है और अधिक अच्छा जीवन स्तर बना सकता है।

कारखाने का मालिक भी कार्यक्षम श्रमिक से बड़ा लाभ उठा सकता है। ऐसे श्रमिक पर देख-रेख की ज़रूरत कम पड़ती है। वह कच्चा माल कम बर्बाद करता है और मशीन को सावधानी से बरतता है। मरम्मत का व्यय कम हो जाता है और उत्पादन की लागत कम हो जाती है।

अन्ततोगत्वा निपुण जनसंख्या से सारे राष्ट्र का हित होता है। राष्ट्रीय धन में वृद्धि होती है। कुशलता, बुद्धि और स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा उठता है। और सबसे अधिक तो यह अन्य देशों के उद्योगों का मुकाबला करने की ताकत बढ़ाता है। यह सब जानते हैं कि दुनिया के बाज़ार में जापान की औद्योगिक प्रभुता अधिकांश जापानी श्रम की कार्यक्षमता के कारण ही थी। निपुण श्रम राष्ट्र की एक बड़ी पूंजी (national asset) है। भारत का आर्थिक पिछड़ापन कुछ हद तक तो भारतीय श्रम की निम्न कार्यक्षमता के कारण है।

१०. **श्रम की गतिशीलता** (Mobility of Labour) :—सभी प्रकार के सामान में, मनुष्य को कहीं ले जाना सब से कठिन कहा जाता है। भूमि को छोड़कर शायद श्रम ही सबसे कम गतिशील (mobile) साधन है। मनुष्य एक न एक बहाना ढूंढ़ लेता है और अपने जन्म स्थान को छोड़ना नहीं चाहता।

श्रम की गतिशीलता निम्न रूप ग्रहण करती है:—

भौगोलिक गतिशीलता (Geographical Mobility) : इसका अर्थ है एक नगर से दूसरे को और एक राज्य या देश से दूसरे को जाना। सब प्रकार की गतिशीलताओं में यह सब से कठिन है। मनुष्य परिवर्तन से उतना ही डरता है जितना बच्चा अन्धकार से। वह जहाँ है वहीं रहना चाहता है। वह परिचित कठिनाइयों को पसन्द करता है बजाए इसके कि अपरिचित कठिनाइयों को निमंत्रण दे। नई और अनजानी जगहों के लिए उसे एक अस्पष्ट सा भय होता है। आदमी अपने सगे-संबन्धियों के बीच रहना चाहता है। धर्म, जाति और भाषा के अन्तर उसे दूर जगहों में जाने

से रोकते हैं। पंजाबी श्रमिक विशेषकर सिक्ख, अपेक्षाकृत अधिक गतिशील (mobile) हैं। वह दुनिया के लगभग सभी भागों में—अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, अफ्रीका आदि में—पाया जाता है। सभी उसे जानते हैं।

वृत्तिक गतिशीलता (Occupational Mobility) : यह दो प्रकार की है—खड़ी या ऊर्ध्वोत्तर (vertical) और पड़ी या क्षितिजीय (horizontal)। क्षितिजीय गतिशीलता (horizontal mobility) से अभिप्राय है कि एक श्रमिक एक धन्धे से दूसरे में चला जाता है किन्तु लगभग एक ही कोटि में। जैसे एक टाइपिस्ट नौकरी छोड़ कर उसी काम के लिए एक अपनी दूकान खोल लेता है। उसी औद्योगिक धरातल पर गतिशील होना अपेक्षाकृत सरल है। क्योंकि इसमें कोई कार्य परिवर्तन नहीं होता।

ऊर्ध्वांतर या खडी गतिशीलता (vertical mobility) : इसके विपरीत इसका अर्थ होता है किसी निम्न वृत्ति से उच्च वृत्ति की ओर जाना। उदाहरण के लिए एक मिस्त्री या मेकैनिक का एक मेकैनिकल इंजीनियर बन जाना या स्कूल के अध्यापक का कॉलेज में प्रोफेसर बन जाना। इस प्रकार की गतिशीलता सरल नहीं है। इसमें कार्य करने की सामर्थ्य और योग्यता बढ़ाने की आवश्यकता होती है और इसके लिए अवसरों और उनके उपयोग करने के साधनों का होना आवश्यक है।

११. श्रम की गतिशीलता की महत्ता (Importance of the Mobility of Labour) :—गतिशीलता स्वयं श्रमिक के लिए बड़ी लाभदायक है। निस्सन्देह बहुत से वे लोग जो अपने गाँव या घर छोड़कर दूर औद्योगिक केन्द्रों में या विदेशों में चले जाते हैं उनका भविष्य सुधर जाता है। वे आर्थिक रूप में अपने को ऊँचा उठा लेते हैं।

गतिशील श्रम शक्ति औद्योगिक ढाँचे के लिए भी लाभदायक है। हम नए उद्योगों की स्थापना और पुराने उद्योगों का विस्तार देखते हैं। इसी प्रकार उद्योग संकुचित और नष्ट भी होते है। यह आवश्यक है कि श्रम नष्टप्रायः उद्योगों से निकल कर उन्नतिशील उद्योगों में जाए। और केवल गतिशीलता द्वारा ही श्रम की सप्लाई उसकी माँग के अनुरूप हो सकती है।

यह भी कहना आवश्यक है कि जनसंख्या में वृद्धि श्रम की गतिशीलता बढ़ाती है। नई पीढ़ी नए उद्योगों की ओर जा सकती है। कोई देश, जिसकी जनसंख्या स्थिर हो, इस मामले में बड़ी असुविधा में पड़ेगा।

श्रम की गतिशीलता बेकारी को कम करती है। श्रम उन स्थानों से जहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है, उन स्थानों में जहाँ उसकी आवश्यकता है, चला जाता है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

श्रम का अर्थ : इसका अर्थ है "बुद्धि या शरीर का कोई परिश्रम जो पूर्णतया अथवा आंशिक रूप में, कार्य से प्राप्त प्रत्यक्ष आनन्द की अपेक्षा, कुछ अन्य पदार्थों को पाने के प्रयोजन से किया जाय।"

श्रम का वर्गीकरण :

(i) उत्पादक श्रम : सभी श्रम आर्थिक दृष्टि से उत्पादक है, यदि वह किसी प्रयोजन से किया जाय।

(ii) अनुत्पादक श्रम : वह श्रम जो गलत निर्देशन या अन्य किसी कारण से अपने प्रयोजन को सिद्ध न कर सके और जिसका क्षय हो।

किसी देश की श्रम-शक्ति निर्भर है उसकी—

(क) जनसंख्या और (ख) श्रम कार्यक्षमता, अर्थात् परिमाण और गुण दोनों पर।

जनसंख्या के सिद्धान्त :—

मालथस का सिद्धांत : जनसंख्या खाद्य-पूर्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है। यदि निरोधक प्रतिबन्धों का उपयोग करके जनसंख्या को बढ़ने से न रोका जाय तो युद्ध, अकाल और रोग जैसे निश्चयात्मक प्रतिबन्ध लागू हो जाएँगे और जनसंख्या घटकर अपने उचित आकार में आ जाएगी।

इसकी आलोचना :—

(१) इसका गणित का अंश सही नहीं है।

(२) यह घटती हुई उपज के नियम पर आधारित है जिसकी कार्यशीलता कृषि में विज्ञान के उपयोग से रुक गई है।

(३) इतिहास इसका साक्षी नहीं है। पाश्चात्य देशों में जनसंख्या इस तेजी से नहीं बढ़ी है। सम्पन्नता का स्तर, स्वास्थ्य और शारीरिक-बल आज बहुत अच्छा है। मालथस की निराशा-पूर्ण भविष्यवाणी सच नहीं हुई है।

(४) धन की वृद्धि और जीवन-स्तर में सुधार परोक्ष रूप में जनसंख्या को कम रखते हैं।

(५) मालथस ने खाद्य उत्पादन को अनुचित महत्ता दी। महत्त्व है, धन के उत्पादन का न कि केवल भोजन का।

निष्कर्ष—यद्यपि मालथस का सिद्धांत आज पश्चिम पर लागू नहीं होता किन्तु यह भारत, चीन जैसे कुछ पूर्वीय देशों में प्रचलित दशाओं में पूर्ण रूप से सार्थक है। विज्ञान की प्रगति और खाद्य-पूर्ति में वृद्धि सदैव जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ न चल सकेगी। वह सिद्धांत कुछ विशेष देशों पर चाहे लागू न होता हो किन्तु समूचे विश्व पर अवश्य लागू है।

जनसंख्या का आदर्श—ऑप्टिमम (optimum) सिद्धांत– सिद्धांत जिसे आधुनिक सिद्धांत कहते हैं—"आदर्श"—ऑप्टिमम—का अर्थ है सर्वोत्तम। "आदर्श" संख्या उचित संख्या है। यह संपत्ति-स्रोतों से संबंधित है। इस संख्या में प्रति व्यक्ति आय सर्वोच्च है।

श्रम की कार्यक्षमता—यह कार्य करने की शक्ति तथा इच्छा पर निर्भर है। निम्न कारण श्रम की कार्यक्षमता पर प्रभाव डालते हैं—

(१) मूल-वंश (race) के गुण।

(२) शिल्पिक तथा सामान्य शिक्षा द्वारा अर्जित गुण।

(३) कमाई।

(४) नौकरी की दशा।

(५) काम के घंटे।

(६) निजी गुण जैसे मौलिकता, ईमानदारी, लगन, कर्त्तव्य-भावना, महत्त्वाकांक्षा आदि।

कार्यक्षम श्रम के लाभ—

(१) मालिक के लिए अधिक कमाई।

(२) उत्पादक की कम लागत।

(३) समुदाय के लिए अधिक माल।

श्रम की गतिशीलता : विभिन्न प्रकार :

(क) भौगोलिक गतिशीलता : एक स्थान से दूसरे स्थान को।

(ख) वृत्तिक गतिशीलता।

(i) क्षितिजीय (horizontal)—अर्थात् एक ही स्तर पर उद्योगों में परिवर्त्तन।

(ii) ऊर्ध्वोत्तर (vertical) निम्न से उच्चतर वृत्ति की ओर चलन।

गतिशीलता की महत्ता :

(क) गतिशीलता से मजदूरों को आर्थिक लाभ होते हैं।

(ख) इससे श्रम की मांग के अनुसार उसकी पूर्ति समायोजित होती है।

(ग) श्रम नाशवान उद्योगों से हट जाता है।

(घ) यह बेकारी रोकता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. Define Labour : Will the following come under Labour ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९२६)

(*a*) Practice at the nets by a tennis player for winning the university match.

(*b*) A professor working in his garden on Sunday.

(*c*) The factory owner making a round of his factory.

(*d*) The poet Dante, painting a picture.

(*e*) The work of a factory manager.

[अर्थ के लिए देखिये विभाग १

(*a*) नहीं जीतने के आनन्द के लिए वह इतना कठिन अभ्यास कर रहा है न कि पैसे के लिए।

(*b*) नहीं, यह उसका शौक है और जीवन-निर्वाह का साधन नहीं।

(*c*) हाँ, यही उसका काम है। वह लाभ के लिए कर रहा है।

(*d*) नहीं, यह उसका काम न था। वह कवि था, चित्रकार नहीं।

(*e*) हाँ, उसे इसके लिए पैसा मिलता है।]

2. Distinguish between Productive and Unproductive Labour. Give two illustrations of each type. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३१)

देखिये विभाग २

3. In what respects does labour differ from other factors of production ?

देखिये विभाग ३।

4. Fully explain the Malthusian theory of population. How far is the teaching of Malthus relevant to the problem of population of the world in our days ? (आगरा, १९४४)

देखिये विभाग ५, ६

Or

Critically examine the Malthusian theory of population. Is India over-populated ? (बम्बई, १९५४)

5. What is meant by over, under and optimum population ? In what way is the optimum theory of population improvement on the Malthusian concept ? (बम्बई, १९५३)

देखिये विभाग ७

6. On what does the efficiency of labour depend ? How does the employer contribute to the efficiency of labour ?

(दिल्ली, १९४६ ; सागौर, १९५२)।

[देखिये विभाग ८। नियोजक कार्यक्षमता बढ़ा सकता है, मजदूरी शीघ्र देकर, अच्छा कच्चा माल और मशीन देकर, काम के घंटे कम करके, और कल्याण की सुविधाएं देकर।]

7. How does the efficiency of labour profit the consumer, the capitalist, the entrepreneur, the nation and the labourer himself?

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४०),

[उपभोक्ता को बेहतर और ज्यादा सस्ती वस्तुएँ मिलती हैं। पूंजीपति को सूद की दर अच्छी मिलेगी। उद्यमी को अधिक लाभ मिलेगा। राष्ट्र को औद्योगिक नेतृत्व और अधिक माल मिलेगा। श्रमिक की कमाई अधिक होगी।]

8. Explain what you understand by the phrase 'Mobility of Labour.' Mention three types of mobility. Also bring out the advantages of the mobility.

देखिये विभाग १० और ११

श्रम (LABOUR)

(क्रमशः)

श्रम का विभाजन (Division of Labour)

संयोजन के लिए विभक्त होना

१. परिचय (Introduction) :—पहले से भी अधिक आज उत्पादन एक सहकारी कार्य है। हज़ारों आदमी उस कागज के उत्पादन में सहयोग देते हैं जिस पर आप लिख रहे हैं, उस पुस्तक के उत्पादन में जिसे आप पढ़ रहे हैं। हज़ारों कर्मकार कच्चे माल के उत्पादन के लिए है और अन्य हज़ारों निर्माण तथा वितरण के कार्य में लगे हैं। वे सब एक ही ध्येय के लिए कार्य कर रहे हैं। और यह सहकारिता व सहयोग अस्त-व्यस्त नहीं है। यह संगठित सहकारिता है, जिसमें अनावश्यक दोहरापन नहीं है। इस सहयोग की प्रमुख विशेषता श्रम का विभाजन है।

२. श्रम के विभाजन का अर्थ (Meaning of Division of Labour) :—जब अनेक व्यक्ति किसी वस्तु के उत्पादन के लिए सयोजित होते हैं, तब कार्य का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाता है कि वस्तु के निर्माण को अनेक प्रक्रियाओं में विभक्त कर देते हैं। फिर प्रत्येक प्रक्रिया को पृथक् व्यक्तियों के दलों को दे दिया जाता है। अर्थशास्त्र में इस विशिष्टीकरण (specialisation) को श्रम का विभाजन कहते हैं। उदाहरण के लिए, हम देखें कि फर्नीचर के कारखाने में एक कुर्सी कैसे बनती है। एक दल पाए बनाता है, दूसरा उसकी पीठ, तीसरा गद्दी, और एक अन्य दल उन सब अंगों को जोड़ने का काम करता है। अन्त में कोई और दल कुर्सियों को पालिश करता है। यही श्रम का विभाजन है। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने पिन बनाने का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया। पिन बनाने का कार्य स्मिथ के समय में १८ विभिन्न क्रियाओं में विभक्त था।

३. श्रम का सादा तथा जटिल विभाजन (Simple and Complex Division of Labour) :—जब बहुत से आदमियों की संयोजित चेष्टा से कोई कार्य संपन्न होता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि किस आदमी ने कौन-सा अंश पूरा किया। यह सादे श्रम-विभाजन का मामला है। दस आदमी मिल कर लकड़ी का एक भारी लट्ठा उठाते हैं। तो आप नहीं कह सकते कि लट्ठे का कितना बोझा हर एक ने उठाया।

दूसरी ओर श्रम का जटिल विभाजन वह है जिसमें प्रत्येक कर्मकार या कर्मकारों का दल एक पृथक् और निश्चित कार्य करता है। उदाहरण के लिए कपड़ा बनाने में एक दल कताई करता है और दूसरा बुनाई।

४. श्रम-विभाजन के रूप (Forms of Division of Labour) :—श्रम-विभाजनकी प्रगति आर्थिक विकास के काल पर आश्रित है। जितनी समाज की है, उतना ही श्रम-विभाजन अधिक जटिल होता जाता है। हम श्रम-विभाजन के उन्नति होती निम्नलिखित मुख्य रूप अथवा स्तर बना सकते हैं :—

(i) सबसे पहले व्यापारों और धन्धों में विशिष्टीकरण था। मनु ने हिन्दू समाज को चार वर्णों में बाँटा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किन्तु व्यापार और धंधे बढ़ते गए, और अब हमारे सामने बढ़ई, जुलाहे, दुकानदार, किसान, वकील, शिक्षक, डाक्टर आदि अनेक धन्धे हैं। इस काल में प्रत्येक व्यक्ति पूरी वस्तु ही बनाता है। जुलाहा सभी क्रियाओं को स्वयं ही सम्पादित करके कपड़ा बनाता है। बढ़ई समूची कुर्सी बनाता है। और इसी प्रकार से और लोग भी काम करते हैं।

(ii) दूसरा काल कार्यों के विशिष्टीकरण का है। एक वस्तु का निर्माण कुछ सादी क्रियाओं में बंट जाता है और प्रत्येक क्रिया को लोगों के अलग-अलग दल करते हैं। इसे प्रक्रिया विशिष्टिकरण (specialisation of process) भी कहते हैं। उदाहरण के लिए, कपड़ा बनाने का कार्य कातने, बुनने, रंग और फिनिशिंग करने की क्रियाओं में विभक्त हो जाता है। यही वास्तव में श्रम-विभाजन है।

(iii) **अधूरी प्रक्रिया द्वारा विशिष्टीकरण** : श्रम-विभाजन के इस रूप में, प्रत्येक प्रक्रिया को अनेक उप-क्रियाओं (sub-processes) में बाँट देते हैं। आज के कारखानों में पिन बनाने के कार्य को केवल अठारह क्रियाओं में ही नहीं, बल्कि कहीं अधिक क्रियाओं में विभक्त करते हैं। कातने, बुनने आदि में भी असंख्य क्रम हैं। आज के युग में श्रम-विभाजन बहुत अधिक सूक्ष्म एवं जटिल हो गया है। इसने समाज के एक व्यक्ति की दूसरे पर निर्भरता को बहुत बढ़ा दिया है।

(iv) **प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम-विभाजन** : इसका अर्थ है कि कुछ स्थान, ज़िले, नगर, या क्षेत्र किसी विशेष प्रकार की वस्तु बनाने में विशिष्ट हो जाते हैं। वे इसके लिए प्रसिद्ध हो जाते हैं जिससे कि उन्हें दूर देशों से आदेश मिलने लगते हैं। जैसे लुधियाना ने होज़री का माल बनाने में विशेषता प्राप्त की है, करतारपुर ने फर्नीचर में, अलीगढ़ ने तालों में, बंगाल ने जूट में, आदि।

५. श्रम विभाजन के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of Division of Labour) :—श्रम-विभाजन का आर्थिक क्षेत्र में बड़ा दूरगामी असर पड़ता है। इसके अच्छे बुरे दोनों फल हुए हैं। एक ओर तो कहीं कम लागत पर बड़े परिमाण में माल बनाना आज सम्भव हो गया है। दूसरी ओर प्रमाणीकृत (standardized) सब प्रकार से समान माल का बड़ी मिकदार में उत्पादन होता है जिसमें व्यक्तिगत रुचि को स्थान नहीं है। उत्पादन अधिक जटिल और पूंजीवादी हो गया है। धन्धों की संख्या बढ़ गई है। मज़दूर को आज अपने काम का केवल एक अंश ही सीखना पड़ता है। इससे उसका काम सरल हो जाता है किन्तु साथ ही वह अविविध (monotonous) और उबा देने वाला (boring) भी हो गया है। मज़दूर में पूरी चीज़ बनाने का हुनर या कुशलता (skill) नहीं रही है। अब वह अपने औज़ारों का या उत्पादित वस्तु का भी मालिक नहीं रहा है। पूंजीपति पर ही उसका पूर्ण

आश्रय रह गया है। श्रम-विभाजन ने हमारी परस्पर-निर्भरता बढ़ा दी है। इसने श्रम-पूंजी के संघर्ष की समस्या ला खड़ी की है, जिसका समाधान अभी तक सन्तोष-जनक रूप में समाज नहीं कर पाया है।

श्रम विभाजन के अच्छे और बुरे प्रभाव इस पद्धति के गुण-दोषों से पता लगते हैं जिनकी विवेचना नीचे की गई।

६. श्रम-विभाजन के गुण (Merits of Division of Labour) : अर्थशास्त्री श्रम-विभाजन से होने वाले लाभों के बारे में बड़ा उत्साह दिखाते हैं। यह पद्धति कर्मकार को निम्न प्रकार से हित पहुँचाती है :—

(१) **उचित स्थान पर उपयुक्त व्यक्ति** : श्रम-विभाजन में यह अधिक सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति वही काम पाएगा जिसके वह सर्वथा उपयुक्त है। ग़लत स्थानों पर अनुपयुक्त व्यक्ति नहीं लगेंगे। काम बेहतर होगा। दूसरी ओर, ज़रा कल्पना कीजिए कि एक किसान और उसकी पत्नी अपना-अपना काम बदल लेते हैं। किसान खाना बनाता है और पत्नी खेत जोतती है। नतीजा क्या होगा, आप स्वयं सोच लें।

(२) **कारीगर विशेषज्ञ** (Expert) **बन जाता है** : अभ्यास से पूर्णता आती है। मज़दूर की कुशलता और दस्तकारी में वृद्धि होती है। मजदूर का हित होता है। वह कम समय में बेहतर नतीजे देता है।

(३) **बोझिल कार्य मशीन कर लेती है** : श्रम-विभाजन द्वारा यह सम्भव होता है कि बोझिल काम मशीन पर डाल दिया जाय। आदमी केवल हलका काम करते हैं जिससे उनकी मांस पेशियों पर कम ज़ोर पड़ता है।

(४) **कम प्रशिक्षण अपेक्षित है** : जब मजदूर को कार्य का एक अंश मात्र करना पड़ता है तब उसे उतना ही सीखना जरूरी है। लम्बा और कीमती प्रशिक्षण अनावश्यक हो जाता है।

मज़दूरों के इन हितों के अतिरिक्त श्रम-विभाजन से औद्योगिक पद्धति तथा समूचे समाज को और भी लाभ होते हैं :—

(५) **आविष्कार** : जब कोई आदमी एक ही काम बार-बार करता है, उसको कुछ नए विचार आने स्वाभाविक हैं। इससे अनेक आविष्कारों का जन्म होता है।

(६) **मशीनरी का प्रचार** : श्रम-विभाजन द्वारा काम कुछ सरल चेष्टाओं तक ही सीमित हो जाता है। और देर-सबेर इन यांत्रिक गतियों को पूरा करने के लिए कोई न कोई मशीन बन जाती है।

(७) **सस्ती चीजें** : श्रम-विभाजन और मशीनरी के उपयोग से बड़े पैमाने पर विपुल उत्पादन सम्भव होता है और सस्ती चीज़ें बन पाती हैं। गरीब आदमी भी उन्हें खरीद सकता है। यह समाज के लिए हितकर है।

(८) **औज़ारों के उपयोग में बचत** : हर मज़दूर को तमाम औज़ारों की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसे थोड़े से ही उपकरण चहिएं जो लगातार काम आते रहते हैं।

(९) **समय की बचत** : मज़दूर को एक क्रिया से दूसरी पर नहीं जाना पड़ता। वह एक ही काम में लगा रहता है। इसलिए वह समय बरबाद किए

बिना काम करता रहता है।

(१०) **उद्यमी की उत्पत्ति** : जब काम विभक्त हो जाता है तो उसका संयोजन एवं सहयोग करने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इससे उद्यमी का उदय होता है जो संगठन के कार्य का विशेषज्ञ होता है। इससे समाज की उत्पादक कार्यक्षमता में उन्नति होती है।

७. **श्रम-विभाजन के दोष** (Demerits of Division of Labour) :—श्रम विभाजन कुछ अर्थों में व्यक्तिगत मजदूरों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है।

(१) **अ-विविधता** (monotony) : एक ही कार्य को बार-बार, बिना किसी परिवर्तन के, करने से मानसिक क्लान्ति (mental fatigue) हो जाती है। काम उबा देने वाला और मलिन हो जाता है।

(२) **सृजनात्मक प्रवृत्ति का हनन** : क्योंकि अनेक व्यक्ति एक वस्तु के निर्माण में योग देते हैं, इसलिए यह कोई नहीं कह पाता कि मैंने इस वस्तु का सृजन किया है। मनुष्य की सृजनात्मक प्रवृत्ति (creative instinct) को सन्तोष नहीं मिलता। अपने कार्य से उसे गर्व तथा आनन्द नहीं प्राप्त होता।

(३) **कुशलता की हानि** : कर्मकार की शिल्पिक कुशलता का ह्रास होता है। सारी वस्तु को बनाने के स्थान पर अब कर्मकार केवल कुछ सादी-सी क्रियाओं को दोहराता रहता है। कर्मकार की वह कुशलता जिससे कभी वह कलात्मक वस्तुओं का निर्माण करता था, नष्ट हो जाती है।

(४) **गतिशीलता से बाधा पड़ती है** : श्रमिक कार्य का केवल एक अंग करता है। वह उतना ही जानता है, उससे अधिक नहीं। यदि वह परिवर्त्तन चाहे तो उसके लिए वैसा ही काम कहीं और पाना कदाचित सम्भव न हो।

(५) **बेकारी का डर** : यदि मजदूर को एक कारखाने से निकाल दिया जाता है तो जिस काम में उसने विशिष्टीकरण किया है उसे ढूँढने के लिए दूर-दूर खोज करनी पड़ेगी, तब भी शायद उसे काम न मिले।

(६) **व्यक्तित्व के विकास में बाधा** : यदि एक व्यक्ति पिन का अठारहवाँ हिस्सा ही बनाता रहा है तो वह आदमी का भी अठारहवाँ अंश ही रह जाता है। मनुष्य अपने शरीर और मन में उतनी ही उन्नति करता है जितना किसी कार्य में उसकी योग्यताओं का उपयोग होता है। कार्य की कोई संकुचित परिधि स्वभावतया श्रमिक के शारीरिक एवं मानसिक विकास में बाधा पहुँचाती है। उसका उपक्रम और मौलिकता मर जाती है। उसका दृष्टिकोण घुट जाता है और वह एक मशीन के स्तर पर आ जाता है।

(७) **उत्तरदायित्व की भावना का क्षय** : क्योंकि कोई पूर्ण वस्तु नहीं बनाता इसलिए पूरे उत्पादन के लिए कोई भी उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। जब फल बुरा होता है तो हर आदमी किसी दूसरे पर जिम्मेदारी डालने की चेष्टा करता है।

श्रमिकों के लिए अहितकर होने के अतिरिक्त, श्रम-विभाजन की इस पद्धति ने अनेक सामाजिक दोषों को जन्म दिया है।

(८) कारखाना-पद्धति के दोष : श्रम-विभाजन ने कारखाना पद्धति (factory system) को जन्म दिया है जो दोषों से परिपूर्ण है। चारों ओर के प्राकृतिक सौन्दर्य को नष्ट करके, बच्चों और स्त्रियों का शोषण कर, उत्पादन और प्रबन्ध में व्यक्तित्व का अंश मिटा कर, यह पद्धति उद्योग और मनुष्य की मानवीयता का हनन कर देती है।

(९) वितरण की समस्या : जब कोई श्रम-विभाजन न था, एक कारीगर स्वतन्त्र रूप से पूरी वस्तु बनाता था। वह अपना मूल्य पा लेता था और कोई कठिनाई न होती थी। किन्तु श्रम-विभाजन के अन्तर्गत अनेक व्यक्ति एक वस्तु के निर्माण में योग देते हैं। उन सबको उत्पादन का उचित भाग मिलना चाहिए और यह भाग निर्धारित करना सरल नहीं है। इस प्रकार वितरण की समस्या दुष्कर हो जाती है। यह समाज को दो विरोधी शिविरों में विभक्त कर देती है : श्रम और पूंजी। मालिक और उसके आदमी के बीच में खाई रोज़-ब-रोज़ बढ़ती जाती है और उसको पाटना कठिन होता जा रहा है।

(१०) निर्भरता : एक देश की दूसरे देश पर निर्भरता, जो श्रम-विभाजन का स्वाभाविक परिणाम है, युद्ध-काल में भयंकर सिद्ध होती है।

निष्कर्ष : श्रम-विभाजन निःसन्देह अनेक त्रुटियों से भरा हुआ है। किन्तु इसके लाभ इसके दुर्गुणों से कहीं अधिक हैं। इसके दोष काम के घण्टे कम करके और मज़दूर को अधिक अवकाश देकर घटाए जा सकते हैं। आज न तो यह वांछनीय ही है और न ही सम्भव कि इस पद्धति का अन्त कर दिया जाय। इसने श्रम-शक्ति का अधिक कारगर उपयोग करके और पूंजी की बचत करके उत्पादन को अधिक सुचारु बना दिया है। सस्ती सेवाओं और माल का प्रवाह आज अधिक बड़ा है, जो मनुष्य की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करके उसे अधिक सम्पन्न जीवन बिताने का अवसर देता है। श्रम-विभाजन के हक में निःसन्देह अधिक कहा जा सकता है।

८. **श्रम-विभाजन की शर्तें** :—श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को लागू करना कुछ शर्तों पर निर्भर है। इसके पहले आर्थिक व सामाजिक विकास की एक सीढ़ी पर पहुँचना आवश्यक है। इसकी कुछ शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) सहयोग की भावना : श्रम-विभाजन सभ्यता की एक उन्नत अवस्था पर ही सम्भव है। यदि लोग झगड़ालू हैं और मिल कर खुशी से काम नहीं कर सकते तो श्रम-विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता। लोगों में सहयोग की भावना, समझौते और मेलजोल की भावना अनिवार्य है। बना लेन-देन (give and take) की प्रवृत्ति के श्रम-विभाजन आरम्भ नहीं किया जा सकता।

(२) बाज़ार का आकार : बाज़ार का आकार दूसरी महत्त्वपूर्ण शर्त है। यदि बाजार छोटा है तो श्रम-विभाजन का कोई मूल्य नहीं। श्रम-विभाजन में बड़ी संख्या में लोगों को एक प्रक्रिया या उसके छोटे से अंश का कार्य सौंपना पड़ता है। इसका फल होता है बड़े पैमाने पर उत्पादन, जो किसी वस्तु की बड़ी मांग और विस्तृत व्यापार की कल्पना करके चलता है।

यदि एक गाँव में प्रतिदिन एक कमीज़ की ही ज़रूरत पड़े तो एक दर्ज़ी ही

वह माँग पूरी कर सकता है। तब श्रम-विभाजन का क्षेत्र ही नहीं है। किन्तु जैसे-जैसे वह प्रसिद्धि प्राप्त करता है उसे आस-पास के गाँवों से आर्डर मिलने लगते हैं। उस हालत में उसके लिए कुछ सहायक रखना उपयोगी सिद्ध होगा। अब विशिष्टीकरण शुरू होता है। विशेषज्ञ होने के नाते वह कटाई करेगा; उसके पुराने शागिर्द सिलाई कर सकते हे और नयों को आरम्भिक कार्य जैसे, लोहा करना, बटन लगाना आदि दिए जा सकते हैं। जैसे-जैसे मंडी का विस्तार होता है श्रम-विभाजन की परिधि और क्षेत्र बढ़ता है। इसीलिए कहा जाता है कि—

श्रम-विभाजन बाज़ार के विस्तार द्वारा परिमित है।

(३) **मांग का स्वभाव** : श्रम-विभाजन के लिए यही ज़रूरी नहीं है कि बाज़ार बड़ा हो, वरन् यह भी कि माँग स्थिर हो। एक बड़ी किन्तु अस्थिर मांग श्रम-विभाजन के क्षेत्र को सीमित कर देगी।

(४) **उद्योग का स्वभाव** : कुछ उद्योग ऐसे हैं कि उनमें कार्य का निश्चित और पृथक् प्रक्रियाओं में विभक्तीकरण सम्भव नहीं होता। यहाँ भी श्रम-विभाजन की सम्भावना थोड़ी है। कृषि एक ऐसा ही उद्योग है।

(५) **उपज का नियम** : जिन उद्योगों में घटती हुई उपज का नियम कारगर होता है, अधिक उत्पादन का अर्थ होता है अधिक लागत। इसलिए उत्पादन कम रखना पड़ता है जिसका अर्थ है श्रम-विभाजन का क्षेत्र परिमित हो जाता है। जहाँ बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होता है वहाँ श्रम-विभाजन के लिए अधिक अवसर हैं।

(६) **श्रम और पूंजी की उपलब्धता** : श्रम-विभाजन का अर्थ है बड़े पैमाने पर उत्पादन। बड़ी संख्या में कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे मशीनों क उपयोग तथा श्रम का विभाजन होता चलता है, अधिक द्रव्य मशीनों पर व्यय करना पड़ता है। यदि श्रम और पूंजी की अपेक्षित मात्रा नहीं मिलती तो श्रम-विभाजन को विस्तृत नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष : अधिकतर देशों में यह शर्तें पूरी करना कठिन नहीं है। ऐसे उद्योग भी हैं जिनमें छोटे पैमाने पर उत्पादन होता है और ऐसे भी जिनमें बड़े पैमाने पर। पहले में श्रम-विभाजन की अधिक सम्भावना नहीं है। दूसरे में जटिल श्रम-विभाजन आवश्यक है।

उद्योग का स्थानीयकरण
(Localisation of Industry)

९. **स्थानीयकरण का अर्थ** (Meaning of Localisation) :—उद्योगों के स्थानीयकरण अथवा श्रम के भौगोलिक या प्रादेशिक विभाजन का अर्थ है कि कुछ नगर व क्षेत्र किसी वस्तु या वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्ट हो जाते हैं। उनमें से कुछ प्रान्तीय प्रसिद्धि पा लेते हैं; कुछ तमाम देश में और संसार के कुछ अन्य भागों में भी। काश्मीर की कुछ वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की हो गई हैं। मैसूर सिल्क सारे भारत में जाना जाता है और शेफील्ड की कटलरी विश्व भर में प्रसिद्ध है।

भारतीय उद्योगों में से जिनका स्थानीयकरण हो गया है वे हैं बम्बई और अहमदाबाद में सूती कपड़े का उद्योग, यू० पी० और बिहार में चीनी उद्योग, कलकत्ता का जूट मिल उद्योग तथा टाटा नगर का लोहा तथा इस्पात उद्योग। यह स्थान अपनी उत्पादित वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं। इस प्रकार के विशिष्टीकरण को उद्योगों का स्थानीयकरण (localisation) अथवा केन्द्रीकरण (centralisation) कहते है।

१०. **स्थानीयकरण के कारण** (Causes of Localisation) :—अनेक कारण हैं जो कुछ क्षेत्रों में कुछ वस्तुओं के विशिष्टीकरण के लिए उत्तरदायी हैं। अंशतः तो जलवायु, भूमि के गुण, खनिज पदार्थों की उपस्थिति तथा शक्ति स्रोतों का आविर्भाव आदि प्राकृतिक कारण हैं। फिर आर्थिक कारण भी होते हैं जैसे श्रम तथा पूंजी की उपलब्धि, और बाज़ारों से निकटता। कभी-कभी राजनैतिक कारणों से भी स्थानीयकरण में सहायता मिलती है। वे बाहरी प्रतियोगिता को कम करने के लिए तथा अन्य प्रकार के संरक्षण देते हैं।

अब हम इन कारणों की विस्तार से चर्चा करेंगे।

(i) **अनुकूल जलवायु** : कुछ उद्योगों को एक विशेष प्रकार की जलवायु चाहिए। जैसे कातने और बुनने के लिए नमीदार जलवायु। कुछ औषधियों के निर्माण तथा जड़ी बूटियों के उत्पादन के लिए भी शीतोष्ण जलवायु चाहिए। जलवायु का कारण किसी उद्योग का स्थानीयकरण करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बम्बई की नम जलवायु सूती कपड़ा उद्योग के लिए विशेषकर उपयुक्त है और वहां सूती कपड़ा उद्योग स्थानीयकृत है।

(ii) **कच्चे माल की निकटता** : कच्चे माल की निकटता भी स्थानीयकरण की आवश्यक शर्त है, यदि माल भारी हो। एक सीमेन्ट का कारखाना चूना, पत्थर की चट्टानों के निकट ही बनाना पड़ेगा। लोहा और इस्पात उद्योग लोहे की खानों के निकट ही स्थित होना चाहिए। साथ ही कोयले की खानें और काफी पानी भी निकट होकर जरूरी है। यह शर्तें सब से अच्छी बिहार और बंगाल में पूरी होती हैं।

(iii) **शक्ति-स्रोतों से निकटता** : एक कारखाना चलाने के लिए शक्ति आवश्यक है। किसी नहर या नदी का ऊँचाई से गिरता हुआ झरना बिजली पैदा करने के काम में लाया जा सकता है। या फिर निकट ही कोयला उपलब्ध हो। मद्रास, बम्बई, उत्तरप्रदेश और पंजाब कोयले में तो निर्धन हैं किन्तु जल-विद्युत (hydro-electricity) में धनी हैं।

(iv) **भूमि की उर्वरता** : जो उद्योग कृषि पर आश्रित हैं, जैसे चीनी, डेरी, फल तथा शाक, कैनिंग (भोजन को डब्बों में बन्द करना) आदि उद्योग—इनके लिए बड़े क्षेत्र में चारों ओर उर्वरा भूमि आवश्यक है। इन उद्योगों को ऐसे क्षेत्रों में स्थापित करना असम्भव होगा जहाँ रेगिस्तानी मैदान हों।

(v) **बाज़ार से निकटता** : यदि बाज़ार निकट है तो यातायात की लागत कम होगी। अनेक विदेशी कम्पनियों ने भारत में कारखाने खोल लिए हैं जिससे वे अपने उपभोक्ताओं के निकट आ जाएँ और यातायात की लागत कम हो जाए।

(vi) **प्रशिक्षित श्रम की उपलब्धि** : कुछ क्षेत्रों की पैतृक कुशलता की परम्परा है। वहाँ प्रशिक्षित श्रम पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है। नियोजकों को वहाँ कार्यक्षेत्र, तथा निपुण श्रम पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करने में कठिनाई न होगी। पूँजीपतियों के लिए अपने कारखाने वहाँ खोलने का बड़ा प्रलोभन है।

(vii) **पूँजी की उपलब्धि** : कोई भी व्यवसाय सफलतापूर्वक स्थापित या विस्तृत नहीं किया जा सकता जब तक कि पर्याप्त उधार की सुविधाएं उचित दर पर प्राप्य न हों। किसी स्थान पर बैंकों और साहूकारों की उपस्थिति व्यापारी और औद्योगिक कम्पनियों (concerns) की स्थापना को प्रोत्साहन देती है।

(viii) **राजनैतिक संरक्षण** : कभी-कभी राज्य कुछ सुविधाएँ—कन्सेशन—दे देता है जैसे मुफ्त जमीन की मंजूरी, सस्ती पूँजी का एडवान्स, अनुदान, संरक्षक शुल्क और क्रय की गारंटी। इससे कुछ क्षेत्रों में उद्योग आकर्षित होते हैं। अनेक भारतीय उद्योग करों की दीवारों (tariff walls) के संरक्षण में पले हैं। देशी रियासतों में अनेक मिलें वहाँ के राजाओं द्वारा दिए गए कन्सेशनों से आकर्षित होकर आरम्भ हुई थीं।

(ix) **पहले आरम्भ करने का आवेग** : कभी-कभी किसी उद्योग के किसी क्षेत्र-विशेष में स्थानीयकरण का कोई विशेष कारण नही होता सिवाय इसके कि कुछ व्यवसायियों ने उसे वहाँ पहले-पहल शुरू किया। इससे उस उद्योग को बल मिला और वह दिनोंदिन बढ़ता गया। लुधियाने के होज़री उद्योग की वर्त्तमान उन्नत दशा का यही कारण है।

११. **स्थिरता के कारण** (Causes of Persistence) : हम देखते हैं कि कुछ उद्योग किसी क्षेत्र में स्थानीयकृत हो गए हैं और वहीं रहना चाहते हैं यद्यपि उनके वहाँ स्थानीयकरण के मूल कारण समाप्त हो चुके हैं। यदि उस औद्योगिक क्षेत्र में कोई नया कारबार भी खोला जाता है तो उसमें भी उसी प्रदेश में चले जाने की प्रवृत्ति होती है। जैसे जो भी व्यक्ति होज़री का कारखाना खोलना चाहेगा उसे लुधियाना में खोलने में आसानी होगी। क्यों ?

इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **प्रशिक्षित श्रम** : किसी और नगर में होज़री का काम जानने वाले मज़दूरों की इतनी संख्या नहीं मिलेगी जितनी लुधियाना में। जो कारखाने वहाँ काम कर रहे हैं वे एक प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र हो जाते हैं और वे एक तरह से प्रशिक्षित श्रम की पूर्ति करते रहते हैं। तथा उद्योगी उन पर निर्भर हो सकता है यह कम आकर्षण नहीं है।

(२) **उधार सुविधाएँ** : एक औद्योगिक केन्द्र में बहुत से बैंक शुरू हो जाते हैं। काफी मात्रा में उधार लेने की सुविधाएँ इससे प्राप्त हो जाती हैं। यह भी बड़ी सुविधा है।

(३) **विशिष्ट परिवहन** : परिवहन के साधन भी विशिष्ट हो जाते हैं और उस विशेष उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, रेलवे की तरफ से साइडिंग्स (sidings) बना दी जाती हैं।

(४) **सहायक उद्योग** (Subsidiary Industries) : बहुत से सहायक उद्योगों का भी उस स्थान में विकास हो जाता है। मुख्य उद्योग को इनसे अमूल्य सहायता प्राप्त होती हैं। जैसे लुधियाने में ब्लीचिंग, धुलाई और रंगसाज़ी के उद्योग विकसित हो गए हैं। यह होज़री (hosiery) उद्योग के लिए सहायक है।

(५) **औद्योगिक जड़ता** (Industrial Inertia) : एक उद्योग जहाँ स्थित होता है वहीं बने रहने की उसकी प्रवृत्ति होती है जब तक कि उस स्थान में कोई निश्चित त्रुटियाँ न उत्पन्न हो जाएँ। छोटी-छोटी असुविधाओं और कठिनाइयों तक का सामना तो उद्योग करता रहेगा क्योंकि मनुष्य जहाँ है वहाँ से हटना नहीं चाहता यदि उसके बस में हो तो।

(६) **दूसरे कारण हैं** : स्थान की प्रतिष्ठा प्रचार में सहायक होती है। पत्रिकाओं के प्रकाशन, शिल्पिक शोध-संस्थाएँ और स्थानीय उद्योगों के हितों की सुरक्षा के लिए संगठन वहाँ बन जाते हैं।

१२. **स्थानीयकरण के लाभ** :—किसी उद्योग के एक स्थान में स्थानीयकरण हो जाने से अनेक लाभ होते हैं। उपर्युक्त विभाजन में हमने देखा है कि क्यों कोई उद्योग एक स्थान पर स्थानीयकृत हो जाने पर उसी जगह बने रहने की प्रवृत्ति रखता है। स्थानीयकरण के अनेक लाभ हैं।

इनको संक्षेप में निम्न प्रकार से कह सकते है :—

(i) श्रम प्रशिक्षित हो जाता है। दस्तकारी और निपुणता पीढ़ी दर पीढ़ी श्रमिकों में आती जाती है।

(ii) एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए एक नियमित बाज़ार उस स्थान में विकसित हो जाता है। इस प्रकार का श्रम उस स्थान में नौकरी मिलने की पूर्ण आशा से चला जाता है। इस प्रकार के श्रम की खोज करने वाले नियोजकों को भी वह श्रम वहाँ मिल सकता है।

(iii) वित्तीय सुविधाएँ उत्पन्न और परिवर्द्धित होती हैं। वहाँ बैंक शुरू हो जाते हैं।

(iv) संचार तथा परिवहन के साधन भी बन जाते है।

(v) सहायक (subsidiary) अथवा अनुपूरक (supplementary) उद्योगों के आरम्भ करने का प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार पूँजी और श्रम के नियोजन के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। उपवस्तुएँ (byproducts) आर्थिक उपयोगों में आ जाती हैं।

(vi) विशेष माल के लिए स्थान की प्रसिद्धि बाज़ार को मशहूर कर देती है। आर्डर दूर-दूर से आने लगते हैं। इस प्रकार बाज़ार सुनिश्चित हो जाता है।

(vii) शिल्पिक पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हो जाता है। प्रशिक्षण तथा शोध-संस्थाएँ स्थापित हो जाती हैं जिनसे उद्योगपति को बड़ा लाभ होता है।

(viii) इससे उस स्थान को समृद्धि मिलती है।

(ix) सामूहिक कार्यवाही सम्भव होती है। उद्योगपति अपने को संघों में

संगठित कर लेते हैं जिससे वे अपने हितों की रक्षा कर सकें और यही श्रमिक भी करते हैं।

(x) उद्योग में अनेक सुधार हो जाते हैं क्योंकि विचार-विनिमय का अवसर मिलता है। उद्योग में स्वस्थ प्रतियोगिता भी हो जाती है।

१३. स्थानीयकरण की हानियाँ (Disadvantages of Localisation) :— उद्योगों का स्थानीयकरण पूर्ण दोष-रहित वरदान नहीं है। इसके साथ अनेक दोष भी सम्बद्ध हैं। वे हैं :—

(१) मुख्य उद्योग पर निर्भरता खतरनाक है। उस उद्योग में मन्दी आने पर स्थान के तमाम उद्योगों पर संकट आ जाता है। एक ही टोकरी में अपने सारे अंडे रखना बुद्धिमानी नहीं है।

(२) नियोजन का क्षेत्र निबन्धित हो जाता है। केवल एक प्रकार के श्रम के लिए ही नौकरी मिलती है। जिस केन्द्र में नौकरी का अधिक विभिन्न क्षेत्र है वहाँ, मजदूर के सारे कुटुम्ब को नौकरी मिल सकती है। किन्तु यहाँ केवल उनमें से कुछ को काम मिलेगा और परिवार की कुल कमाई कम हो जाएगी।

(३) अत्यधिक-विशिष्टीकरण (Over-specialisation) से दूसरे केन्द्रों पर निर्भरता बढ़ जाती है जो युद्ध-काल में बड़ी खतरनाक है। हम आवश्यक सामग्री व मशीनरी का आयात शायद न कर पाएँ। विदेशी बाजारों में माल बेचने की निर्भरता भी खतरनाक है।

(४) श्रम की गतिशीलता कम होती है।

(५) शहरों में भीड़-भड़क्का हो जाता है और इसका श्रमिकों व उनके बच्चों के स्वास्थ्य और क्षमता पर बुरा असर पड़ता है। बम्बई, कलकत्ता व कानपुर में ऐसा ही होता है।

(६) कुछ निर्माताओं की बेईमानी से बाकी सबको बदनामी उठानी पड़ती है। अगर एक स्थान की वस्तुओं को बुरा कहा जाने लगा तो ईमानदार निर्माता भी नुकसान उठाएँगे।

(७) युद्धकाल में बमबारी से सारा उद्योग नष्ट हो सकता है।

१४. उपचार (Remedies) :—स्थानीयकरण की इन त्रुटियों को दूर करने के लिए दो उपचार सुझाए गए हैं :—

(i) **अनुपूरक उद्योग** : अनेक छोटे उद्योग जो मुख्य उद्योग को सहायता पहुँचा सकें स्थापित किए जाते हैं। यह बेकारी का डर कम कर देते हैं और अगर मन्दी (depression) आए तो उसकी तीव्रता कम कर देते हैं।

(ii) **विकेन्द्रीकरण** : किसी उद्योग को कम भीड़ वाले केन्द्रों में स्थानान्तरित कर देना अधिक मितव्ययी मालूम होगा। इससे केन्द्रीकरण के कुछ दोष कम हो जाएँगे। ऐसा विकेन्द्रीकरण इधर कुछ दिनों से हो रहा है। उदाहरण के लिए, सूती कपड़ा मिलें बम्बई से दूर दूसरे केन्द्रों में भी स्थापित हो रही हैं।

१५. विकेन्द्रीकरण या विस्थानीकरण (Decentralisation or De-localisation) : जैसा ऊपर कहा गया है, हाल में कुछ उद्योग अपना मूल स्थान छोड़ कर

अन्य स्थानों में प्रवास कर गए हैं या विदेशों में चले गए हैं। कुछ मामलों में तो आरम्भ में जो लाभ स्थानीयकरण से थे, उनके खत्म हो जाने के कारण और कुछ में इसलिए कि उससे अधिक सुविधाएँ अन्यत्र प्राप्त हैं।

निम्न मुख्य कारण इस प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं:—

(१) **बिजली का आगमन** : बिजली आने के बाद से यह ज़रूरी नहीं है कि कारखाने कोयले की खानों या नदियों और जलधाराओं के निकट बनाए जाएँ। बिजली हज़ारों मील दूर के उत्पादक केन्द्र से प्राप्त हो सकती है। इसलिए, यदि स्थानीयकरण शक्ति-स्रोत के सामीप्य के कारण था तो वह कारण अब समाप्त हो गया है।

(२) **परिवहन के साधनों का विकास** : अधिक उन्नत परिवहन के साधनों के कारण दूर देशों की मंडियों में भी पहुँच हो सकती है और दूरगत कच्चे माल के स्रोतों से भी लाभ उठाया जा सकता है। इसलिए, आज किसी उद्योग के लिए कच्चे माल अथवा मंडी के निकट होना जरूरी नहीं है, यदि अधिक महत्त्वपूर्ण लाभ कहीं और मिल सकें।

यह भी कहना ज़रूरी है कि परिवहन के साधनों का विकास दोनों दिशाओं में कारगर होता है। यह केन्द्रीभूत होने में भी और विकेन्द्रीकरण में भी, दोनों में सहायता पहुँचाता है। केन्द्रीभूत होने में (concentration) यह इस प्रकार सहायक है कि यदि कच्चे माल की स्थानीय सप्लाई अपर्याप्त हो जाय तो उसे बाहर से आयात किया जा सकता है। उद्योग उसी स्थान पर स्थानीयकरण के अन्य लाभ प्राप्त करने के लिए विकसित होगा। किन्तु यह विकेन्द्रीकरण (decentralisation) में भी सहायक है। उदाहरण के लिए यदि कच्चे माल की अपेक्षा मंडी अधिक महत्त्वपूर्ण है तो कारखाने वहाँ से हट कर मंडियों के निकट स्थापित हो सकते हैं और कच्चा माल वहाँ आयात किया जा सकता है।

(३) **पुराने केन्द्रों में अधिक लागत** : पुराने औद्योगिक केन्द्रों में लागत में वृद्धि और साथ ही अन्य स्थान पर अधिक सुविधाओं की प्राप्ति विकेन्द्रीकरण में सहायक है। यदि उद्योगों के बढ़ने के साथ-साथ यह हो कि किराए बढ़ जाएँ, और म्युनिसिपल कर बढ़ जाएँ, तो निर्वाह-व्यय भी बढ़ जाएगा जिससे ऊँची मज़दूरी देनी पड़ेगी। इन सब कारणों से वहाँ कारखाने खोलना अमितव्ययी होगा। दूसरी ओर कारखानों के लिए सस्ती जगहें और कहीं मिल सकती हैं। हमारा सूती मिल उद्योग विकेन्द्रीकृत हो रहा है। बंबई महँगी जगह मालूम होती है। वह पंजाब जैसे उपभोग-केन्द्रों से बहुत दूर भी है। देशी रियासतों के राजाओं ने बहुत-सी और सुविधाएँ भी दीं। जैसे, सस्ते ऋण, मुफ्त जमीनें, राज्य-संरक्षण, शेयर पूँजी में अंशदान, न्यूनतम लाभांश (dividend) की गारण्टी, आदि। इसलिए अनेक सूती मिलें हैदराबाद और इन्दौर जैसी रियासतों में स्थापित हो गईं।

(४) माल के एकत्रित और वितरण करने के अधिक उन्नत संगठन बन गए हैं जिन्होंने स्थानीय मंडियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता खत्म कर दी है।

(५) पिछले महायुद्ध ने यह बताया कि केन्द्रीकरण खतरनाक है, क्योंकि भीड़-

भाड़ का क्षेत्र हवाई बमबारी से अधिक नष्ट हो सकता है। इसलिए बुद्धिमान सरकारों ने उद्योग के फैलाव (spreading out) को प्रोत्साहन दिया है।

अधिकतर भारतीय उद्योग अति-केन्द्रीकरण (over-centralisation) से ग्रस्त है। इसलिए किसी हद तक विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। किन्तु विकेन्द्रीकरण का अर्थ नियन्त्रण (control) का विकेन्द्रीकरण नहीं होता। किसी अविकसित क्षेत्र में शुरू की गई मिल भी उन्हीं लोगों की हो सकती है जो उद्योग में प्रमुख हैं। एक स्वीडिश कम्बाइन (Swedish Combine) ने सारे भारत में दियासलाई के कारखानों का जाल बिछा दिया है। यहाँ उत्पादन विकेन्द्रीकृत है किन्तु मिलकियत केन्द्रीकृत ही है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

श्रम-विभाजन का अर्थ (Meaning of Division of Labour) : इसका अर्थ है किसी वस्तु को बनाने के कार्य का अनेक प्रक्रियाओं में विभक्तीकरण तथा श्रमिकों के विभिन्न दलों में से प्रत्येक को एक विशेष प्रक्रिया सौंपना।

सादा तथा जटिल श्रम-विभाजन (Simple and Complex Division of Labour): जब हम यह नहीं पता लगा पाते कि प्रत्येक मजदूर ने संयोजित कार्य में से कितना अंश किया, तब सादा श्रम-विभाजन (Simple Division of Labour) है।

जब प्रत्येक मनुष्य को एक अधूरी किन्तु पृथक् क्रिया पूरी करने के लिए सौंपी जाती है तब जटिल श्रम-विभाजन है।

श्रम-विभाजन के स्वरूप (Forms of Division of Labour) :

(i) व्यापारों का विशिष्टीकरण।
(ii) कार्यों का विशिष्टीकरण।
(iii) पूर्ण प्रक्रियाओं का विशिष्टीकरण।
(iv) अपूर्ण प्रक्रियाओं का विशिष्टीकरण।
(v) प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम-विभाजन।

श्रम-विभाजन के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of Division of Labour) : प्रभाव अच्छे और बुरे दोनों होते हैं।

(१) उत्पादन सस्ता है किन्तु विपुल उत्पादन व्यक्तिगत रुचियों की संतुष्टि नहीं करता।

(२) उत्पादन अधिक पूंजीवादी हो जाता है।

(३) श्रमिक का कार्य सरल हो गया है किन्तु अविविध और एकांगी। बेकारी का खतरा बढ़ गया है। वह नियोजक की मर्जी पर आश्रित है।

(४) आर्थिक उन्नति हुई है। किन्तु श्रम बनाम पूंजी की समस्या उठ खड़ी हुई है।

श्रम-विभाजन के गुण (Merits of Division of Labour) :

(१) उपयुक्त व्यक्ति उचित स्थान पर।
(२) अभ्यास मनुष्य को पूर्ण बनाता है।
(३) मशीनें मनुष्य को कठिन और उबाने वाले काम से बचाती हैं।
(४) यह मशीनों के प्रचलन की ओर ले जाता है।
(५) लम्बा प्रशिक्षण श्रमिक के लिए आवश्यक नहीं रहता।
(६) विपुल उत्पादन सस्ता होता है।
(७) प्रमाणीकृत उत्पादन मंडी का विस्तार करता है।
(८) समय की बचत।
(९) उद्यमी के कार्य के विशिष्टीकरण ने उत्पादकता बढ़ा दी है।

श्रम-विभाजन के दोष (Demerits of Division of Labour) :

(१) कार्य उबाने वाला और मलिन हो गया है।
(२) सृजनात्मक प्रवृत्ति का हनन करता है।
(३) श्रम की गतिशीलता (mobility) में बाधा डालता है।
(४) बेकारी बढ़ाता है।
(५) कारीगर संकुचित विचारधारा का हो गया है।
(६) इसने श्रमिक की दायित्व की भावना का अन्त कर दिया है।
(७) श्रमिक की कुशलता कम हो गई है।
(८) कारखाना-पद्धति के दोष।
(९) वितरण की समस्या अधिक कठिन होती गई है।
(१०) अधिक विशिष्टीकरण का अर्थ है दूसरों पर अत्यधिक निर्भरता।

श्रम-विभाजन की शर्तें (Conditions of Division of Labour) :

(१) सहकारिता तथा समझौते की भावना।
(२) मंडी का आकार।
(३) मांग का स्वभाव।
(४) व्यापार की परिस्थितियाँ।
(५) उद्योग की विशेषता।
(६) श्रम और पूंजी की उपलब्धि।

उद्योगों का स्थानायकरण या केन्द्रीकरण (Localisation or Centralisation of Industries) :

इसका अर्थ—कुछ क्षेत्र या स्थान कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं।

स्थानीयकरण के कारण :

(१) प्राकृतिक कारण जैसे जलवायु (२) कच्चे माल से निकटता (३) शक्ति-स्रोतों से निकटता (४) भूमि की उर्वरता (५) मंडियों से निकटता (६) पूंजी की उपलब्धि (७) प्रशिक्षित श्रम की उपलब्धि (८) राजनैतिक संरक्षण (९) पहले आरम्भ करने का आवेगा।

स्थानीयकरण की अनवरत प्रवृत्ति (Persistence) के कारण :

(१) प्रशिक्षित श्रम उपलब्ध होता है।
(२) वित्तीय सुविधाएँ।
(३) परिवहन के साधन विशिष्टीकृत होते हैं।
(४) अनुपूरक और सहायक उद्योग स्थापित होते हैं।
(५) औद्योगिक जड़ता।
(६) शिल्पिक पत्र-पत्रिकाएँ, शोध एवं प्रशिक्षण संस्थाएँ।

स्थानीयकरण के लाभ :

(१) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि।
(२) उस प्रकार के श्रम को नौकरी की गारण्टी। नियमित श्रम बाजार का विकास।
(३) बैंकों की उन्नति।
(४) अनुपूरक और सहायक उद्योगों को प्रोत्साहन।
(५) परिवहन व संचार के साधनों का विकास।
(६) बाजार प्रसिद्धि से विस्तृत होता है।
(७) शिल्पिक पत्रिकाएँ, शोध तथा प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित होती हैं।
(८) स्थान सम्पन्न हो जाता है।
(९) उद्योगपतियों और श्रमिकों द्वारा संयुक्त कार्यवाही सम्भव होती है।
(१०) उद्योग में सुधार।

स्थानीयकरण से हानियाँ और उनका उपचार :

(१) एक उद्योग पर पूर्ण निर्भरता।

(२) नियोजन का क्षेत्र संकुचित हो जाता है।

(३) अत्यधिक विशिष्टीकरण का अर्थ है विदेशों पर निर्भरता।

(४) कुछ व्यवसायियों की बेईमानी का स्थान में रहने वाले सभी पर प्रभाव पड़ता है।

(५) श्रम की गतिशीलता में कमी।

(६ भीड़-भड़क्के से श्रमिकों के स्वास्थ्य और क्षमता पर बुरा असर पड़ता है।

(७) हवाई बमबारी से युद्ध में खतरा।

उपचार :

(क) सहायक उद्योगों की स्थापना।

(ख) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण :

विकेन्द्रीकरण या विस्थानीयकरण के कारण :

(१) बिजली का आगमन।

(२) परिवहन के साधनों का विकास।

(३) पुराने स्थानों में व्यय में वृद्धि तथा नए स्थानों में रियायतों की उपलब्धि।

(४) माल इकट्ठा करने और वितरण करने के लिए अधिक उन्नत संगठन।

(५) बमबारी का भय।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What do you understand by 'Division of Labour' ? What are its various forms ? (दिल्ली, १९५०)

देखिए विभाग २, ४

2. (*a*) What do you understand by Division of Labour ?

(*b*) "Division of Labour is limited by the extent of the market". Explain. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३)

[श्रम विभाजन के अर्थ के लिए देखिए विभाग १, ३, ४; दूसरे भाग के लिए देखिए विभाग ८, २.]

3. Give the advantages and disadvantages of division of labour. (सागोर, १९५२)

देखिए विभाग ६, ७

Or

Describe the advantages of Division of Labour and point out its limitations. (कलकत्ता, १९५५)

देखिए विभाग २, ५

4. (*a*) Is it correct to say that the extent of the market is limited by division of labour ?

(*b*) Is Divison of Labour necessarily beneficial ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३)

[(क) किसी हद तक तो यह सच है कि मंडी का विस्तार श्रम-विभाजन द्वारा परिमित होता है। श्रम-विभाजन का फल होता है बड़े पैमाने पर उत्पादन का प्रमाणीकरण (standardisation)। इससे मंडी का विस्तार बढ़ जाता है। इसलिए मंडी का विस्तार श्रम-विभाजन द्वारा परिमित है। किन्तु यह कहना अधिक सही होगा कि श्रम-विभाजन मंडी के विस्तार पर निर्भर है। जितनी बड़ी मंडी होगी उतना ही श्रम-विभाजन लागू करने का क्षेत्र अधिक होगा। [देखिए विभाग ८ (२)] सच तो यह है कि मंडी और श्रम-विभाजन एक दूसरे पर आश्रित हैं।

(ख) नहीं, यह लाभदायक हो ही, ऐसा जरूरी नहीं है। निस्सन्देह श्रम-विभाजन के अनेक फायदे हैं। (देखिए विभाग ६) किन्तु उसकी कुछ हानियाँ भी हैं (देखिए विभाग ७) फिर भी मोटे तौर पर यह फायदेमन्द है।]

5. Is it true to say that division of labour increases immobility of labour? Show how division of labour is limited by (*a*) the extent of the market, and (*b*) the nature of employment.

देखिए विभाग ७, ८

6. What is meant by 'Localization of Industry'? In what parts of India are the industries named below localized and what are the reasons for their localization there?

(*a*) Cotton Industry. (*b*) Glass Industry. (*c*) Leather Industry. (*d*) Iron and steel Industry, (*e*) Jute Industry.

[(क) सूती उद्योग (Cotton Industry)—बम्बई में स्थानीकृत है। यह नम जलवायु, मशीनरी और कपास के आयात और सूत के निर्यात के लिए, बन्दरगाहों की सुविधाओं, निकट में कपास के उपजाऊ क्षेत्रों, तथा वित्त एवं उद्यम-सम्बन्धी योग्यता की सुलभता के कारण है।

(ख) कांच-उद्योग (Glass Industry)—फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) में। मिट्टी और बालू जिसका उद्योग में उपयोग होता है पास में उपलब्ध हैं। मंडी काफी विस्तृत है।

(ग) चमड़ा उद्योग (Leather Industry)—उत्तर प्रदेश में कानपुर और आगरे में सरकारी संरक्षण (Patronage) तथा खालों की सुलभता के कारण। मद्रास राज्य के कुछ भागों में भी, क्योंकि चमड़े की कमाई (Tanning) करने की सामग्री एक पेड़ की छाल से उसी क्षेत्र में मिल जाती है।

(घ) लोहा और इस्पात उद्योग (Iron and Steel Industry)—बिहार, बंगाल में जहाँ लोहे और कोयले की खानें निकट हैं।

(ङ) जूट उद्योग (Jute Industry)—कलकत्ते के आसपास जहाँ कच्चा माल और शक्ति सरलता से प्राप्य है।

देखिए विभाग ६, १०

7. What are the factors leading to localization of Industry? Mention the consequences of such localization.

(आगरा १९४२; यू० पी० बोर्ड १९३३; बिहार १९५३; बम्बई १९५४)

Or

What to you mean by 'territorial division of labour'? Consider its merits and possible drawbacks. (दिल्ली १९५५; यू० पी० बोर्ड १९३२)

देखिये विभाग ६, १३

8. Discuss the causes, advantages and disadvantages of localization of industries. (अजमेर, १९५३)

देखिए विभाग ६, १०, १३ और १४

What are the causes which have led to the decentralization of industries?

देखिए विभाग १५

अध्याय ११

उत्पादन के साधन (क्रमशः)
(AGENTS OF PRODUCTION)

पूंजी और यन्त्र
(Capital and Machinery)

पूँजी का अर्थ केवल नकदी नहीं है

१. **प्रस्तावना** (Introduction) :—उत्पादन के पहले दो साधनों का अध्ययन हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं, यानी भूमि और श्रम का। इस पाठ में हम तीसरे साधन—पूंजी—पर विचार करेंगे जिसको पहला या बुनियादी साधन नहीं माना जा सकता। पहले दोनों साधनों के कारण यह साधन अस्तित्व में आया है। यह भूमि और श्रम की उपज है।

२. **पूंजी का स्वरूप** (Nature of Capital) :—सबसे पहले हमें यह बात साफ-साफ जान लेनी चाहिये कि 'पूंजी' शब्द अर्थशास्त्रियों द्वारा किस अर्थ में प्रयुक्त होता है। साधारण व्यक्ति के लिए तो पूंजी से नकदी (cash) या बैंक में जमा रुपयों का ही मतलब है। उसके लिए तो पूंजीपति (capitalist) साहूकार का नाम है। लेकिन एक व्यापारी के मन में पूंजी का मतलब दूसरा है। वह पूंजी के अर्थ समझता है साधन, औज़ार, यंत्र, आफ़िस के उपकरण, बैंक में जमा रुपया आदि अनेक वस्तुएँ।

अर्थशास्त्र के अनुसार पूंजी की परिभाषा इस प्रकार की जाती है : "भूमि को छोड़कर, यह मनुष्य के धन (wealth) के उस भाग को कहते हैं जिसे अधिक धन कमाने के कार्य में लगाया जाता है, या जिससे आय की प्राप्ति होती है। आप जरा अपने मन में किसी धनी व्यक्ति और उसकी पूंजी की कल्पना करें। सम्भव है, उसके पास कुछ भूमि हो, उसके पास रहने के लिये एक सुन्दर भवन है, कारखाना या दुकान चलती है, और आमोद-प्रमोद के लिये मोटरगाड़ी है। इनमें से भवन और उसको सजाने वाला फर्नीचर और मोटरगाड़ी से उसे प्रत्यक्ष संतुष्टि मिलती है। इनको पूंजी में नहीं गिना जाता है, क्योंकि ये साधन उसके अधिक उत्पादन में सहायक नहीं होते। परन्तु उसकी भूमि, कारखाने और दुकान से उत्पादन में सहायता मिलती है। भूमि में कुछ खास विलक्षणतायें होती हैं, इसलिये इसे पूंजी में नहीं गिना जाता। परन्तु कारखाना और दुकान पूंजी में शामिल हैं। इनकी सहायता से इनके स्वामी को

धन की और आय की प्राप्ति होती है। इन्हीं कारणों से निर्माता (manufacturer) के औज़ार और यंत्र और किसान के लिये बीज और बैल पूंजी माने जाते हैं।

पूंजी को हम व्यक्तिगत या सामाजिक दोनों दृष्टीकोणों से देख सकते हैं। व्यक्तिगत दृष्टि से पूंजी धन का वह भाग है जिससे आय की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से पूंजी धन का वह भाग माना जाता है जिससे धन का और अधिक उत्पादन होता है। पूंजी के कुछ ऐसे रूप भी होते हैं, जो दोनों प्रकार का कार्य सिद्ध करते हैं, जैसे कारखाना। उनसे (कारखाने आदि से) उत्पादन और आय दोनों प्राप्त होते हैं। कुछ माल (goods) ऐसे होते हैं जो व्यक्गित दृष्टि से तो पूंजी ठहरते हैं परन्तु सामाजिक दृष्टि से नहीं। युद्धकाल में सरकार द्वारा प्रचलित 'वार बॉंड' व्यक्तिगत दृष्टि से, क्योंकि यह व्यक्ति की आय के साधन हैं, पूंजी होते हैं। परन्तु सरकार उस जुटाये गये धन से बम आदि युद्ध-सामग्री तैयार करती है, जो नष्ट हो जाती है। ये उत्पादन की बजाय विनाश करती हैं और इन्हें किसी भी तरह पूंजी नहीं माना जा सकता। इसी श्रेणी में खर्चीले व्यक्ति द्वारा उधार लिये गये रुपये-पैसे को भी गिना जाता है। महाजन को तो इससे आय होती है परन्तु इस प्रकार ऋण लिया गया धन प्रायः व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिये यह सदैव हितकर होता है कि व्यक्ति और सामाजिक दृष्टिकोणों को अलग रखा जाय और उनका अलग-अलग अध्ययन भी किया जाय।

जब भूमि और श्रम (अर्थात् मनुष्य और प्रकृति) सहयोग स्थापित करते हैं और मिलकर कार्य करते हैं तो धन (wealth) का उपार्जन होता है। धन का एक भाग मानव आवश्यकताओं (human wants) की तात्कालिक और प्रत्यक्ष सन्तुष्टि में व्यय हो जाता है। और उसका दूसरा भाग स्थायी वस्तुओं के उत्पादन में लगा दिया जाता है, जो आगे चलकर परोक्ष (indirect) रूप में मानव अभावों (human wants) की तृप्ति करता है। यह बीच की चीज़ें जिनका उपयोग अधिक धन उत्पन्न करने में होता है पूंजी अथवा पूंजीगत माल (capital goods) के नाम से जाने जाते हैं। पैंसन (Penson) के अनुसार हम इस विचार को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं :—

उत्पादक प्रयास का परिणाम होता है धन।

धन का या तो उपभोग होता है या बचत।

बचाया गया धन पूंजी के रूप में काम आता है।

पूंजी नवीन उत्पादक प्रयास में सहायक होती है।

धन और पूंजी (Wealth and Capital) : पूंजी की उपर्युक्त परिभाषा से यह तो साफ हो जाता है कि पूंजी उन मूल्यवान आर्थिक वस्तुओं से निर्मित होती है जो दुर्लभ हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार इन वस्तुओं का नाम धन (wealth) है। इस प्रकार सारी पूंजी धन है, लेकिन सारा धन पूंजी नहीं। धन का केवल वही भाग जिसका उत्पादक उपयोग (productive use) होता है, पूंजी कहलाता है। ऐसी मोटरगाड़ी जिसका निजी आमोद-प्रमोद के लिये प्रयोग होता है धन तो

है, पर पूंजी नहीं कहलाती। इसलिए दोनों शब्द, धन और पूंजी, परस्पर पर्यायवाची (एक अर्थ वाले) नहीं हैं।

पूंजी और द्रव्य (Capital and Money) : बैंक में जमा करने पर पूंजी द्रव्य का रूप धारण कर लेती है। परन्तु पूंजी में सारा बारदाना, जैसे औज़ार, यंत्र, बीज आदि आते हैं जो द्रव्य द्वारा खरीदे जा सकते हैं। इस तरह धन पूंजी हो भी सकता है और नहीं भी। जब द्रव्य का, और द्रव्य कमाने के लिए प्रयोग होता है तो इसे पूंजी का नाम दे देते हैं, परन्तु जब इस द्रव्य को गाड़-दाब (hoard) कर रखा जाता है, तो इसका नाम पूंजी नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य पूंजी हो भी सकता है और नहीं भी।

पूंजी और आय (Capital and Income) : पूंजी और आय में भेद करना अत्यन्त आवश्यक है। कारखाना स्वामी की सम्पत्ति है, परन्तु उससे उसे प्रतिवर्ष जो लाभ (profit) होता है वह उसकी आय (income) मानी जाती है। पूंजी तो निधि है और आय एक प्रवाह। आय अपने नियमित समय पर मिलती है। इसका हिसाब प्रति मास या प्रति वर्ष होता है।

उपभोग की जाने वाली वस्तुएँ क्या पूंजी मानी जा सकती हैं? (Are Consumer Goods Capital ?) : पूंजी में उत्पादक वस्तुएँ शामिल हैं यानी ऐसी वस्तुएँ जो उत्पादन के काम आती हैं। परन्तु जब तक माल उत्पादक के पास होता है वह पूंजी ही माना जाता है। यदि किसी कारखाने के मालिक के पास गेहूँ का गोदाम भरा हो, जिसे वह मज़दूरों को खिलाने के काम में लाता हो, तो वह गेहूँ, उत्पादन में सहायक होने के नाते पूंजी ही माना जायेगा। इसी तरह खाद्य (food) को हम सहज ही दोनों अर्थों में समझ सकते हैं, अर्थात् उत्पादक सामग्री या खाद्य सामग्री। ऐसी मोटरगाड़ी जिसका उपयोग एक डाक्टर अपने सैर-सपाटे के लिये करता है पूंजी नहीं कही जा सकती, परन्तु जब वही कार किसी समय रोगी को देखने जाने के काम आती है तो वही डाक्टर की पूंजी बन जाती है। बैनहम (Benham) जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों ने कई उपभोग्य वस्तुओं (consumer goods) को पूंजी मान लिया है, क्योंकि उनसे उपभोक्ताओं को जो संतुष्टि मिलती है उससे वे और अधिक धन का उत्पादन करने में सफल होते हैं।

क्या भूमि पूंजी के अन्तर्गत आती है? (Is Land Capital ?) : उपर्युक्त तर्क के अनुसार तो भूमि को भी पूंजी ही मानना चाहिए क्योंकि यह भी एक प्रकार का धन है जिससे आय मिलती है। परन्तु भूमि इतना महत्त्वपूर्ण और विलक्षण साधन है कि इसको पृथक् रखना ही ज्यादा अच्छा है। भूमि मानव को प्रकृति का एक निर्मूल्य उपहार है; यह क्षेत्र में सीमित है, और इसके विविध रूप और गुण हैं। दूसरी ओर, पूंजी मनुष्य निर्मित है, और इच्छा होने पर उसको बढ़ाया भी जा सकता है। भूमि में गतिशीलता नहीं होती, जबकि पूंजी गतिमान होती है। भूमि की कोई सप्लाई कीमत नहीं होती और इसकी सप्लाई इसके प्रयोग की कीमत यानी लगान (rent) पर निर्भर नहीं होती, यदि इसका लगान कम हो जाय तो भी इसकी सप्लाई कम नहीं की जा सकती। परन्तु पूंजी की पूर्ति तो

उसकी कीमत यानी ब्याज के साथ बदलती है। इसलिए भूमि को पूंजी में नहीं गिना जाता।

३. **पूंजी का महत्त्व** (Importance of Capital) :—पूंजी के महत्त्व के बारे में दो राय नहीं हो सकतीं। सभ्यता के प्राचीनतम काल में भी मनुष्य को किसी न किसी प्रकार के औज़ारों की आवश्यकता होती थी। शिकारी को धनुष और बाण की, मछुए को मछली पकड़ने वाले जाल की। पशु-पालन काल में ढोर ही उसकी सम्पत्ति थे। और इसके बाद कृषि-काल में खेती के वे उपकरण जैसे हल, बैल आदि जिन्होंने उसे आत्म-निर्भर बनाया, महत्त्वपूर्ण हो गये। गहरी जुताई के बिना बीज बोना सम्भव नहीं था; और इस काम के लिए हल की आवश्यकता पड़ती थी। बीज डालने के लिए जिससे वे एक पंक्ति में ठीक-ठीक बोये जा सकें किसी न किसी तरह के औज़ार की आवश्यकता पड़ती थी। सिंचाई के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि कोई न कोई सहायक औज़ार हो।

आधुनिक काल में, जिसे हम औद्योगिक काल भी कह सकते हैं, पूंजी का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। आजकल क्रेनों, शक्तिशाली इंजिनों और तरह-तरह की नाजुक और सूक्ष्म मशीनों का उपयोग होता है। इसके अलावा रेलगाड़ी, जहाज़, कारखानों और फैक्ट्रियों का उपयोग भी बढ़ा है। इन सबको पूंजी माना जाता है। आज के युग में क्या इन सब यंत्रों की सहायता के बिना उत्पादन सम्भव है ? शायद इनकी सहायता के बिना कुछ ही वस्तुओं का निर्माण हो पाए। परन्तु यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इनके बिना संसार की जनसंख्या के लिए आवश्यक मात्रा में किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता।

कुछ कामों के लिए तो यंत्रों का प्रयोग अनिवार्य है। काफी कामों में ये मनुष्य की कार्य करने की क्षमता को बहुत बढ़ा देते हैं। सच तो यह है कि मानव ने प्रकृति पर जो विजय पाई है वह उसे इन यंत्रों ही से (जिन्हें हम पूंजी का नाम देते हैं) संभव हुई है।

किसी भी राष्ट्र की आर्थिक उन्नति उसकी पूंजी के अनुपात में होती है। जिस राष्ट्र के पास इन साधनों का अभाव होगा, वह सदैव पिछड़ा रहेगा। आज के युग में पूंजी उत्पादक साधनों में बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। श्रम की बारी इसके बाद आती है।

४. **पूंजी की उत्पत्ति और वृद्धि** (Origin and Growth of Capital) :—यदि प्राचीन काल में मानव को जाल की आवश्यकता होती तो उसे उसके (जाल के) बुनने के समय पेट भर भोजन की ज़रूरत होती थी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पूंजी जुटाने के लिए उसे अपने उपभोग में से कुछ बचाना ज़रूरी था। इस प्रकार कुछ अंशों में पूँजी उसकी प्रतीक्षा और संयम का परिणाम होती थी और कुछ अंशों में उसकी मेहनत और लगन का। सिर्फ हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने से पूंजी उत्पन्न नहीं होती।

एक बार बन जाने पर, पूंजी मानव की उत्पादन शक्ति को बढ़ाती है और अधिक पूंजी इकट्ठी करने में सहायक होती है। इस तरह पूंजी बढ़ती जाती है। जब शुरू में प्राचीन

मनुष्य ने मछली पकड़ने का जाल बनाया तो कम मेहनत से उसको ज्यादा मछली हाथ आने लगी और थोड़े कष्ट से उसका निर्वाह पहिले से अच्छा होने लगा। अब वह अधिक और कहीं अच्छे जाल बना सकने लगा।

किसी देश में पूंजी की वृद्धि दो बातों पर निर्भर है : (१) बचत करने की शक्ति (the power to save) और बचत करने की इच्छा (the will to save)। आइए, अब हम इन दोनों बातों का विस्तार से अध्ययन करें।

बचत करने की शक्ति किसी देश में कई बातों पर निर्भर होती है :—

(i) उनमें एक तो यह है कि उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक हो। यदि किसी देश में उत्पादन की मात्रा उसकी खपत या उपभोग से अधिक हो तो, पूंजी इकट्ठी होती रहेगी। इसलिए उत्पादन जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक पूंजी के जमा होने की सम्भावना बढ़ जाएगी। परन्तु उत्पादन में वृद्धि की सम्भावना तभी हो सकती है जब खेती, व्यापार और उद्योगों को ठीक-ठीक चलाया जाय। यदि खेती-बाड़ी का काम अवैज्ञानिक ढंग पर किया गया और उद्योग-धन्धों का पूरी तरह मशीनीकरण न किया गया तो उत्पादक कार्यक्षमता अपेक्षाकृत कम रह जायगी। इसके अलावा यह भी ज़रूरी है कि संचार और परिवहन के दूसरे साधन भी पूरी तरह विकसित हों। उत्पादन की मात्रा इस बात पर भी निर्भर करती है कि किसी देश की जलवायु और भौगोलिक स्थिति कैसी है, वहाँ की जनसंख्या कितनी है और उसका चरित्र कैसा है। जब ये चीजें अनुकूल होती हैं तब आय बहुत होती है और पूंजी इकट्ठी होती जाती है।

(ii) **पैसा लगाने के मार्ग** (Channels of Investment) : यदि देश में बैंक, बीमा कम्पनियों और पैसा लगाने के दूसरे सुरक्षित मार्ग खुले हों तो व्यक्ति की पैसा लगाने की क्षमता बढ़ जाती है। निपुण महाजनी व्यवस्था से पूंजी स्रोतों के इकट्ठा होने में बड़ी सहायता मिलती है। यदि ये स्रोत नहीं तो पूंजी बिखरी पड़ी रहेगी और अकारथ जाएगी।

(iii) **द्रव्य की अच्छी व्यवस्था, बचत को बढ़ावा देती है** (A good system of money stimulates saving) : यदि चल-द्रव्य (currency) कचपेन्दा, अप्रचलित या खराब हो तो लोग उसे जमा करने के प्रति उदासीन रहेंगे।

(iv) **कराधान की सुयोजित व्यवस्था** (A well-planned system of taxation) होने से सरकार को पैसा जमा करने में सहायता मिल जाती है। दूसरी ओर उद्योग और व्यापार के क्षेत्र के लिए भी काफी बच रहता है। भारी करों से तो व्यापार और उद्योग नष्ट हो जाते हैं। कुछ उद्योगपतियों का विचार है कि १९३९-४५ के युद्ध-काल में अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit Tax) लगने से भारतीय उद्योग को बाधा पड़ी और इसका विकास रुक गया। यह सच है कि भारी करों से पूंजी के संचय में निश्चित बाधा पड़ती है।

ऊपर बताये गये कारणों से बचत पर काफी असर पड़ता है। जैसे भारी कर आदि लगने से बचत करने के लिए उत्साह कम हो जाता है, परन्तु एक अच्छा बैंक बचत को बढ़ावा देता है।

बाहरी साधनों के अलावा, बचाने की इच्छा को प्रेरणा किसी अभिप्राय (motive) से मिलती है। वे अभिप्राय यह हैं :—

(v) **बुढ़ापे और अदृष्ट आपत्ति के लिए प्रबन्ध** (Provision against old age and unforeseen emergencies) : लोग पैसा इसलिए जोड़ते हैं कि वे यह भली भांति जानते हैं कि एक समय ऐसा भी आता है जब बुढ़ापे के कारण काम करके पैसा कमाना कठिन होता है। उस समय बचत पर ही निर्भर रहना पड़ता है। किसी आपत्ति-काल के लिए भी बचाना ज़रूरी होता है। कुछ आकस्मिक खर्चे और मुसीबतें आ ही जाती हैं, इसलिए उन्हें पूरा करने के लिए बचाना नितान्त आवश्यक है। हो सकता है बीमारी आ जाय, या किसी सगे-सम्बन्धी की सहायता करनी पड़े, या किसी मित्र को ज़रूरत पड़ जाय, इन सभी बातों के लिए बचाना ज़रूरी है।

(vi) **पारिवारिक मोह** (Family Affection) : मनुष्य इसलिए पैसा जोड़ता है कि उसके परिवार को ठीक तरह का जीवन व्यतीत करने के लिए पर्याप्त आय हो।

(vii) **व्यापार में सफलता पाने की इच्छा** (Desire for success in business) : मनुष्य की यह इच्छा कि वह व्यापार में सफल हो बचत को बहुत प्रेरणा देती है।

(viii) **सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव पैदा करने की इच्छा** (Desire to win social and political influence) : आज के युग में सामाजिक प्रभाव और राजनैतिक शक्ति पैसे ही से सम्भव है। मनुष्य पैसे से समाज में न सिर्फ मान और आदर ही पाता है बल्कि उससे वह विधान सभा में भी स्थान प्राप्त कर सकता है। जिन लोगों का मस्तिष्क इस दिशा में काम करता है वे पैसा कमाते भी हैं और जोड़ते भी हैं।

(ix) **व्यक्तिगत स्वभाव** (Force of Habit) : कुछ लोग तो लाचारी में बचाते हैं क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा होता है। ऐसा अक्सर कंजूसों के साथ होता है। व्यय करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध होता है और जोड़ना स्वाभाविक।

(x) **सूद की दर** (Rate of Interest) : सूद की दर जितनी अधिक होगी, बचत की प्रवृत्ति उतनी ही सहज और स्वाभाविक होगी। जब सूद की दर बढ़ती है तब बहुत से लोग, जो पहले जोड़ने की ओर ध्यान नहीं देते थे, इस ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

परन्तु इस प्रकार हम सूद की दर के महत्त्व को अधिक नहीं बढ़ा सकते। धनिक इसलिए नहीं बचाता कि उसको बचत से सूद मिलेगा वरन् इसलिए कि उसमें बचाने की क्षमता होती है। सूद से उस पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। ग़रीब आदमी भी, जो थोड़ी-सी राशि बचाता है (मान लीजिए १०० रु० प्रति वर्ष) वह आपातकाल के लिए उससे यदि वह १, २ रुपया ब्याज भी पा जाय तो हम उसे (ब्याज को) उसकी बचत के लिए कोई आकर्षण नहीं मान सकते।

कभी-कभी तो सूद की दर का प्रभाव उलटा पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति अपने लिए कोई निश्चित आय पाने के लिए बचाता है, तो सूद की दर जितनी

ज्यादा होगी, उतना ही उस आय को प्राप्त करने के लिए उसे अपेक्षाकृत कम राशि बचाने की आवश्यकता होगी। इसलिए वह उतना ही कम बचाएगा। इसी तरह इसके उलट भी होगा।

(xi) **देश में शान्ति और व्यवस्था** (Law and Order in the Country) : यदि किसी देश की सरकार वहाँ के लोगों के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा (security) की गारंटी लेती है, तो इसका प्रभाव भी लोगों की पैसा जमा करने की इच्छा और प्रवृत्ति पर बड़ा अच्छा पड़ता है। ऐसी शान्तिपूर्ण अवस्था में यह स्वभाविक है कि जो कुछ भी पूँजी लगाई जाएगी उसका फल अच्छा होगा। पूँजी संचय के लिए अरक्षा ही सबसे घातक शत्रु है।

हम अपने देश में देखते हैं कि इस प्रकार के शान्तिपूर्ण साधन जिनसे बचत की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है, प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं। इन साधनों का प्रभाव यहाँ काफी है। परन्तु इसके बावजूद भी बचत करने की शक्ति और प्रवृत्ति दोनों का अभाव-सा है। बचत करने की इच्छा तो है, परन्तु बचत करने का नितान्त अभाव-सा दीख पड़ता है। पश्चिमी देशों की अपेक्षा यहाँ कम बचत होती है और नतीजा यह है कि कम पूँजी इकट्ठी हो पाती है। यूरोप और अमरीका में औद्योगिक कार्यक्षमता (efficiency) काफी ऊँचे स्तर पर पहुँच गई है। लोगों को अधिक आय होती है जिससे उनके लिए बचत करना सरल है। वहाँ बचत के लिए हालात भी अच्छे हैं। इसमें आश्चर्य नहीं कि वहाँ के लोग ज्यादा धन इकट्ठा कर लेते हैं और इस बची हुई पूँजी को आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों के उत्पादन की वृद्धि के लिए भी लगाते हैं।

भारत में आजकल पूँजी इकट्ठा करने के लिए हालात खास अनुकूल नहीं हैं। दीर्घ काल की मुद्रा-स्फीति (inflation) के बुरे असर से अभी तक मध्य-वर्गीय लोग सँभल नहीं पाए हैं, इसलिए ये लोग जो प्रायः बचत करते थे, अब इस स्थिति में नहीं रहे। राष्ट्रीयकरण (nationalisation) के भय से पूँजीपति अपना पैसा उद्योग में फंसाने से डरते हैं। उद्योगपतियों का विचार है कि भारी कराधान (heavy taxation) और सरकार की उदार श्रम नीति ने व्यापारी की बचत-क्षमता (saving capacity) को बहुत ठेस पहुँचाई है। आर्थिक प्रगति की रफ्तार बढ़ाने के लिए सरकार ने पिछले दिनों पूँजी निर्माण को उन्नति देने के हेतु से कुछ पग उठाए हैं। उनमें टैक्स कम करना, राष्ट्रीयकरण किए जाने पर उचित क्षतिपूर्ति (मुआवज़ा) का आश्वासन आदि शामिल हैं। स्वयं अपनी ओर से अधिक पूँजी लगाकर भी सरकार ने इसमें काफ़ी योग दिया है।

५. **पूँजी के रूप** (Forms of Capital) :—पूँजी के सिर्फ़ दो ही रूप नहीं होते—यानी द्रव्य (money) और यन्त्र (machines)। इसके कई रूप होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है :—

स्थिर पूँजी (Fixed Capital) : इस नाम ही से यह साफ है कि इस प्रकार की पूँजी स्थिर किस्म की होती है, जैसे यन्त्र-तन्त्र (plant and machinery)। एक बार जमा देने के बाद यह बराबर बरसों तक काम देते हैं और टिकाऊ होते हैं।

परिचल पूंजी (Circulating Capital) : दूसरी ओर इस प्रकार की पूंजी टिकाऊ नहीं होती। यह अपना काम सिर्फ़ एक बार ही करती है। एक ही बार के उपयोग में यह नष्ट हो जाती है और इसका प्रयोग पूंजी के रूप में दोबारा नही हो सकता। जैसे इस श्रेणी में हम रूई और जूट का नाम गिना सकते हैं। यह वस्तुएँ निर्माण-काल में ही खत्म हो जाती हैं। परिचल पूंजी से हमारा मतलब तैयार माल या उपभोग्य माल (consumer goods) के कोठों (stocks) से भी है।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि एक ही वस्तु एक वर्ग के लिए स्थिर पूंजी (fixed capital) और दूसरे के लिए परिचल पूंजी (circulating capital) हो सकती है। एक ओर डेरी के लिए पशु-धन (livestock) स्थिर पूंजी है तो दूसरी ओर पशुपालक (breeder) के लिए यही पशु-धन परिचल पूंजी बन जाता है। ठीक इसी तरह मशीन निर्माता के लिए स्थिर पूंजी होती है, पर मशीन बनाने वाले कारखाने के लिए परिचल पूंजी।

उपयोजित पूंजी (Sunk Capital) : जब पूंजी का उपयोग ऐसा होता है कि उसको एक काम में लगा देने पर फिर वह उसमें से उखाड़ी या निकाली नहीं जा सकती तो ऐसी पूंजी को हम उपयोजित पूंजी (sunk capital) का नाम देते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कोई खेतिहर नल-कूप पर २५,००० रुपया लगाए। यह व्यय किया हुआ धन एक बार में ही डूब जाता है। इसका उपयोग दुबारा नहीं किया जा सकता।

प्लवमान पूंजी (Floating Capital) : इसका नाम प्लवमान पूंजी इस लिए पड़ गया है क्योंकि इसका उपयोग किसी भी काम में बार बार हो सकता है। द्रव्य (money) के रूप में पूंजी को किसी भी उद्योग में लगाया जा सकता है। इसी को प्लवमान पूंजी कहते हैं।

कार्यकारी पूंजी (Working Capital) : जो पूंजी कारोबार को चलाने और बनाये रखने के काम आती है उसे कार्यकारी पूंजी (working capital) कहते हैं, जैसे कच्चे माल का स्टॉक, अर्द्ध-निर्मित माल (semi-manufactured) और तैयार माल जिसको व्यापारी के लिए वह सदैव अपने गोदामों मे बनाए रखता है। जो द्रव्य मज़दूरों की मज़दूरी आदि पर व्यय किया जाता है उसे भी इसी प्रकार की पूंजी में शामिल किया जाता है।

पूंजी के कार्य (Functions of Capital): पूंजी धनोपार्जन में उपयोगी होने के कारण ही मूल्यवान समझी जाती है। वास्तव में उत्पादन का कार्य बिना उचित और पर्याप्त पूंजी के बिलकुल ही चौपट हो जाता है।

पूंजी द्वारा होने वाले बड़े-बड़े कार्य यह हैं :—

(i) **कच्चे माल की सप्लाई** (Supply of Raw Material) : पूंजी की सहायता से कच्चे माल की प्राप्ति होती है। प्रत्येक उद्योगपति के पास अच्छे किस्म की कच्चे माल की रसद ठीक समय पर आती रहनी चाहिए। रूई के कारखाने में कच्ची रूई उसके गोदामों में रहनी चाहिए, काग़ज़ बनाने के कारखाने में बाँस की छीलन और भूसा होना चाहिए, और चीनी के कारखाने में काफ़ी मात्रा में गन्ना

और दूसरे प्रकार के कारखानों में भी इसी प्रकार का और माल—यह सब कुछ निहायत ज़रूरी है वरना उत्पादन का कार्य नहीं चल सकता।

(ii) **यन्त्र या उपकरणों की सप्लाई** (Supply of Appliances or Machinery) : दूसरा कार्य जो पूंजी द्वारा होता है, वह है औज़ारों, उपकरणों और दूसरे यन्त्रों की प्राप्ति। यह तो ज़ाहिर है कि ये साधन उत्पादन के लिए अनिवार्य हैं। इनकी सहायता के बिना बड़े पैमाने पर (large-scale) उत्पादन असम्भव है। औज़ारों की आवश्यकता तो वैसे आर्थिक विकास के आरम्भिक काल में भी थी। परन्तु आज तो उनकी ज़रूरत और भी बढ़ गई है क्योंकि उत्पादन पूंजीवादी (capitalistic) हो गया है। पश्चिमी देशों में आधुनिक उद्योग ज्यादा से ज्यादा यंत्र-चालित हो गया है, यहाँ तक कि खेती के कामों में भी हर प्रकार के औज़ारों और मशीनों जैसे ट्रैक्टरों, बुलडोज़रों आदि से काम लिया जाता है।

हमारे देश भारत में जहाँ श्रम सस्ता और काफ़ी मात्रा में उपलब्ध है खेतों के कामों में मशीन और दूसरे श्रम की बचत करने वाले उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु फिर भी यहाँ बहुत सी मशीनों का कई प्रकार के कार्यों के लिए प्रयोग आरम्भ हो गया है। आधुनिक ढंग की मशीनों से सुसज्जित रूई का कारखाना अधिक माल बनाता है और उसमें प्रति इकाई लागत (cost) भी कम आती है। इसलिए मशीनों की सप्लाई पूंजी का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(iii) **गुज़ारे का सहारा** (Provision of Subsistence) : पूंजी उत्पादन के काम में लगे मज़दूरों को निर्वाह-योग्य पैसा देती है। उनको भोजन, कपड़ा और घर मिलना चाहिए। आजकल उत्पादन का स्वरूप बहुत जटिल हो गया है और काम पूरा होने तक उसे कई मार्गों से गुजरना पड़ता है। कभी-कभी तो माल निर्माण के बरसों बाद बाज़ार में पहुँचता है और उसके बाद निर्माता को उसका एवज़ मिल पाता है। इस खाई को भरने के लिए एक साधन की आवश्यकता होती है, और वह कार्य पूंजी के द्वारा सम्पन्न होता है। यह (पूंजी) उत्पादन के कार्य में लगे हुए मज़दूरों के निर्वाह में सहायक होती है।

(iv) **यातायात के साधनों का प्रबन्ध** (Provision of means of transport) : माल को सिर्फ़ तैयार करना ही एक काम नही है। उसे तैयार करने के बाद बाहर भेजना और मंडियों मे उपभोक्ता तक पहुँचाना भी है। इस कार्य के लिए मालगाड़ियों और मोटर-ट्रकों जैसे माल ढोने के साधनों की ज़रूरत होती है। पूंजी का एक भाग इस कार्य के लिए अलग रहना बहुत ज़रूरी है।

७. पूंजी की कार्यक्षमता (Efficiency of Capital) : उत्पादन की मात्रा सिर्फ़ इस बात पर ही निर्भर नहीं रहती कि उत्पादक के पास पूंजी की कितनी मात्रा है, वरन् इस पर भी कि उस पूंजी में कितनी कार्यक्षमता और गुण मौजूद हैं। एक अच्छी मशीन दो पुरानी और टूटी-फूटी मशीनों की अपेक्षा अधिक माल तैयार कर सकती है।

पूंजी की उत्पादक-शक्ति निम्नलिखित कारणों पर निर्भर होती है :—

(i) **गुण** (Quality) : पूंजी अच्छे किस्म की होनी चाहिए। **अव्वल दर्जे**

का माल तीसरे दर्जे की मशीन पर नहीं बनाया जा सकता। मशीन आधुनिक और नवीनतम होनी चाहिए। यह पुरानी और टूटी-फूटी न हो।

(ii) **उपयुक्तता** (Suitability) : यह बहुत ज़रूरी है कि उस कार्य-विशेष के लिए, जिसके लिए मशीन लगाई गई है, मशीन ठीक-ठीक काम करे। मान लीजिए कि काग़ज़ की मिल में जो मशीन लगी है वह बिना नुकसान के बाँस की लुग्दी पर काम नहीं कर सकती, तो इससे उसके काम की कार्यक्षमता ज़रूर ही घटेगी। ठीक इसी तरह कताई के कारखाने में अगर एक मशीन पर इतनी ज़्यादा तकलियाँ लगी हों जिनकी एक मज़दूर देख-भाल नहीं कर सकता तो यह ज़ाहिर है कि वह मशीन अनुपयुक्त है।

(iii) **सही सन्तुलन** (Proper Balance) : कारखाने के विभिन्न भाग भली भांति सन्तुलित होने चाहिएँ। भारतीय टैरिफ बोर्ड (The Indian Tariff Board) ने यह अनुभव किया कि भारत में चलने वाली चीनी और गत्ता मिलें ठीक तरह से सन्तुलित नहीं हैं। गत्ता मिलों में काग़ज़ बनाने वाले विभाग की अपेक्षा लुग्दी (pulp) बनाने वाला विभाग ज़्यादा बड़ा है। इसी तरह चीनी मिलों में साफ़ करने वाले विभाग की अपेक्षा गन्ना पेरने (crushing) का विभाग ज़्यादा बड़ा है। इस असन्तुलन का प्रभाव यह होता है कि लागत अधिक और उत्पादन कम होता है।

(iv) **प्रयोग का ढंग** (The Manner of Application) : अलग-अलग उपकरणों का किस तरह उपयोग किया जाय, इसी पर पूंजी का महत्त्व और कार्यक्षमता निर्भर रहती है। मशीन का गलत प्रयोग और गलत काम के लिए प्रयोग दोनों ही उसे हानि पहुँचाते हैं।

(v) **मज़दूर की निपुणता** (Labour Efficiency) : कीमती और नाजुक मशीनों को चलाने के लिए अनुभव और कुशलता की ज़रूरत होती है। अच्छी मशीनें अनुभवहीन और अशिक्षित हाथों में ठीक काम न करेंगी और खराब होने का डर हमेशा बना रहेगा। श्रम और पूंजी साथ-साथ काम करते हैं (labour and capital work together)। ज़ाहिर है कि एक की कार्यक्षमता दूसरे की निपुणता पर निर्भर है।

(vi) **कच्चे माल की नियमित और पर्याप्त सप्लाई** (Regular and adequate supply of the raw materials) : अच्छे किस्म का माल बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि कच्चे माल की सप्लाई नियमित रूप से और ठीक-ठीक हो। अच्छी मशीन पर यदि खराब कच्चा माल लगाया जाय तो तैयार माल बढ़िया नहीं बन सकता।

(vii) **प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यक्षमता** (Managerial Efficiency) : उत्पादन एक संगठित प्रयास है। अगर प्रबन्ध ठीक न हो तो सब काम चौपट हो जायेगा। वास्तव में सब कुछ कर्णधार की कार्य-कुशलता और व्यक्तित्व पर ही निर्भर है। अकुशल प्रबन्धक पूंजी से पूरा काम नहीं ले सकता।

८. **पूंजी की गतिशीलता** (Mobility of Capital) : पूंजी की गति-

शीलता का अर्थ है पूंजी का एक स्थान से दूसरे स्थान या एक देश से दूसरे देश को तबादले की सम्भावना। इसका अर्थ यह भी होता है कि पूंजी को कितने वैकल्पिक (alternative) भिन्न-भिन्न कार्यों में लगाया जा सकता है।

यह सच है कि मजदूर की अपेक्षा पूंजी सरलता से आ-जा सकती है परन्तु यह सोचना भ्रमपूर्ण होगा कि पूंजी पूर्ण रूप से गतिशील है। वास्तव में पूंजी की गतिशीलता इस बात पर निर्भर है कि पूंजी ने क्या रूप धारण कर लिया है। कार्यकारी पूंजी (working capital) पर्याप्त रूप से गतिशील होती है। द्रव्य के रूप में पूंजी पूर्णतया प्लवमान (floating) होती है और किसी भी काम में लगाई जा सकती है। इसे कहीं भी ले जाया जा सकता है। लन्दन और न्यूयार्क के बीच ब्याज की दर का जरा-सा भी अन्तर, थोड़े समय के लिए लाने वाली पूंजी को एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र की ओर ढकेल देगा। कच्चे अर्ध-निर्मित (semi-manufactured) माल में गतिशीलता इससे कुछ कम होती है। औज़ार और दूसरे उपकरण और सादी मशीनें, जिनकी प्रत्येक उद्योग में ज़रूरत पड़ती है, काफ़ी गतिशील होते हैं। परन्तु पूंजी का सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे महँगा भाग स्थिर तथा उपयोजित पूंजी (fixed or the sunk capital) में निहित होता है, जैसे, भारी मशीने, कारखाने, और कारखानों की इमारतें आदि। इस प्रकार की पूंजी में भौगोलिक गतिशीलता होती ही नहीं, और न ही उनको एक कार्य-विशेष में लग जाने पर आसानी से हटाकर दूसरे काम में बदला जा सकता है। यदि इससे अधिक लाभ न भी हो तो भी इसको (इस प्रकार की मशीनों को) उसी काम में चलाना पड़ता है।

इतने पर भी यह मानना एक बड़ी भूल होगी कि पूंजी पूर्णरूप से गतिहीन है। पूंजी व्यक्ति से अलहदा चीज़ है, इसलिए इसे गतिशील माना गया है। अब तो इसे (पूंजी) एक प्रकार से सार्वभौमिक मान लिया गया है। मशीनों में थोड़ी-बहुत हेर-फेर करने से उसके उपयोग की क्षमता को बढ़ाया जा सकता है और उनसे कई प्रकार का काम लिया जा सकता है। परन्तु यदि मशीन ऐसी हो कि उसमें एक ही तरह का माल तैयार हो सकता हो, तो भी उससे कई प्रकार के डिज़ाइन (design) बनाने सम्भव होते हैं। इसके अलावा पूंजी को और भी एक ढंग से लोचदार बनाया जा सकता है। नई बचत को नये कामों में लगाया जा सकता है और इसी प्रकार पुराने कारखानों को टूटने पर दोबारा उसी तरह का बनाने की बजाय बदलकर खड़ा किया जा सकता है। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से पूंजी में काफी मात्रा में गतिशीलता पाई जाती है, जितनी साधारणतया दिखाई पड़ती है उससे तो अधिक ही होती है।

इन बातों के बाद भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में कई बाधाएँ आती हैं। एक मुख्य कारण तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक सुरक्षा (International political security) का अभी तक अभाव-सा ही है। राज्य (state) द्वारा धन लगाने (investments) पर नियन्त्रण होने से भी पूंजी की गतिशीलता में अड़चन पड़ती है। इसके अलावा स्वदेशी पूंजी की पसन्दगी, और दूसरे देशों में भारी कराधान (heavy taxation)

की सम्भावना, दूसरे देश में लाभ कमा कर अपने देश को लाने की अनिश्चितता और कुछ अन्य कारणों से पूंजी स्वदेश के उद्योग धंधों में लगी रहती है, ये बातें इसकी गतिशीलता में बाधक बन जाती हैं। पूंजी का अपेक्षाकृत गतिहीन होना इसी से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (international trade) का सिद्धान्त (theory) बिलकुल भिन्न है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि श्रम और पूंजी (labour and capital) स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील होते तो किसी पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता ही न होती।

भारत में गतिशीलता और भी कम है। हमारे देश का क्षेत्रफल बहुत है और यहाँ तरह-तरह के लोग बसते हैं। इनकी भाषायें भिन्न हैं और एक दूसरे के रीति-रिवाज भी बहुत भिन्न हैं। विभिन्न राज्यों में कर-व्यवस्था भी समान नहीं है। पैसे वाले लोग अपने पैसे को ज़मीन, जायदाद में लगाना चाहते हैं और इसके अलावा ब्याज पर कर्ज़ देते हैं। हममें औद्योगिक और वाणिज्यिक (industrial and commercial) भावना का अभाव है। इसके अलावा पैसे को गाड़-दाब कर रखने (hoarding) और जेवरपत्ते की प्रवृत्ति प्रबल है। कम्पनियों का अवसर दिवाला निकलने और जाली कम्पनियाँ खुलने से भी पूंजी भयभीत हो जाती है। पर्याप्त महाजनी और साख (banking and credit) व्यवस्था का भी प्रचलन नहीं है। व्यापारिक सदाचार (business morality) का स्तर भी ऊँचा नहीं है। इन बातों से यह पता लगता है कि हमारी पूंजी एक स्थान से दूसरे स्थान तक क्यों नहीं जाती और उसमें गतिशीलता का अभाव क्यों है। हमारे लिए विदेशों में पूंजी लगाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, यद्यपि एक बार सर बेसिल ब्लैंकेट ने ऐसी आशा प्रकट की थी कि जल्दी ही भारतीय पूंजी राष्ट्रीय सीमा को पार कर लेगी और विदेशों में उद्योगों को स्थापित करने में लगाई जायगी।

९. **पूंजीवादी उत्पादन** (Capitalistic Production) :—आधुनिक युग में उत्पादन पूंजीवादी हो गया है, क्योंकि इसका मुख्य स्वरूप पूंजी का बड़े पैमाने (large scale) पर उपयोग है। पूंजी का एक बड़ा भाग उत्पादक माल (producer goods) बनाने पर ही व्यय हो जाता है। सादी से सादी चीज़ को बनाने के लिए भी कीमती मशीनों का उपयोग होता है। किसी उद्योग के एक कारखाने को ले लें, रूई का कारखाना, चीनी मिल, सीमेन्ट उद्योग या लोहा और इस्पात का कारखाना (iron and steel works), इन सभी में आप देखेंगे कि सारा काम कीमती यंत्रों की सहायता से किया जाता है।

मानव सभ्यता के आदि काल में भी पूंजी का उपयोग होता था। परन्तु उस समय पूंजी का अर्थ कुछ एक औज़ार ही था जिनको बनाने में अधिक खर्च नहीं करना पड़ता था। आज तो पूंजी सिर्फ अनिवार्य ही नहीं, कीमती भी है। यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि व्यापार आरम्भ करना हर एक के बूते की बात नहीं रही। इसके लिए बहुत पूंजी की ज़रूरत पड़ती है। कोई भी व्यापारी बिना पर्याप्त निधि (funds) के मंडी में लाभ से काम नहीं कर सकता। आज तो पूंजी ही पूर्ण रूप से उत्पादन पर छाई हुई है। इसलिए उत्पादन का नाम ही पूंजीवादी पड़ गया है।

पूँजीवादी उत्पादन घुमावदार उत्पादन होता है (Capitalistic Production is Roundabout Production) इसका अर्थ यह है कि ज्यादा प्रयास आज उत्पादन में सहायक औज़ारों को बनाने में किया जाता है और प्रत्यक्ष काम आने वाले पदार्थों पर कम। उद्योग में जितनी अधिक पूंजी लगी होगी उत्पादन की पद्धति उतनी ही चक्करदार होगी। समुद्र या नदियों के किनारे रहने वाला जंगली अपने हाथ से ही एक दो मछली पकड़ सकता है। इस अवस्था में उत्पादन सीधा और सरल है। परन्तु और अधिक मछली पकड़ने के लिए उसे जाल और नाव बनानी पड़ेगी, चाहे वह कितनी ही प्राचीन ढंग की क्यों न हों। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन ने अब परोक्ष (indirect) रूप धारण कर लिया है। आधुनिक युग में मछली उद्योग (fishing industry) तक इतना जटिल हो गया है कि उसमें यंत्र-चालित नौका, कीमती जाल और विस्फोटकों (explosives) की भी ज़रूरत पड़ गई है। कारखानों को काफी पैसा लगाकर ये उपकरण जुटाने पड़ते हैं, जिनसे अच्छे ढंग का मछली-उद्योग सम्भव हो सके। दूसरे शब्दों में उत्पादन अधिकाधिक परोक्ष और जटिल होता जा रहा है। उत्पादन के क्षेत्र में साधनों की कड़ियाँ बढ़ती जा रही हैं।

इन परोक्ष और जटिल उपायों को इसलिए काम में लाया जाता है कि ये तरीके अधिक निपुण और उत्पादक हैं। इन उपायों से निश्चित रूप से समुदाय की उत्पादन-क्षमता बढ़ती है। सच है, "यह लम्बा दीखने वाला मार्ग वास्तव में कार्य सिद्धि का सहज मार्ग निकला।"

मशीनरी का उपयोग
(Use of Machinery)

१०. प्रस्तावना (Introduction) :—आधुनिक युग मशीन का युग है। जिस ओर भी हम नज़र डालें हमें किसी न किसी रूप में मशीन का उपयोग दीख पड़ेगा। यन्त्र आधुनिक सभ्यता का प्रतीक बन गया है। प्रगतिशील देशों में तो आदमी का स्थान मशीनें अधिकाधिक लेती जा रही हैं। पाश्चात्य देशों में बिजली की चीजों ने साधारण घरों में घरेलू नौकरों की जगह ले ली है। जुताई, बुआई, कटाई, खेती को पानी देने आदि का काम भी यंत्रों से होता है। इन मशीनों पर काम करने के लिए सिर्फ कुछ एक मजदूरों की जरूरत होती है। कोयले के लदान करते और उतारते समय उसे हाथ से छूने की जरूरत नहीं पड़ती। कई तरह के डिब्बे-बन्द खाद्य पदार्थ भी मशीनों द्वारा बन्द होकर आते हैं, जिससे उसके निर्माता गर्व से यह विज्ञापन कर सकते हैं यह सारा कार्य बिना हाथ से छुए हुआ है। उत्पादन के क्षेत्रों में मानव-श्रम बड़ी तेज़ी के साथ घटता जा रहा है।

११. मशीन से फायदे (Benefits of Machinery) :—कुछ सुविधाओं के कारण मशीन का उपयोग नित्य-प्रति बढ़ता जा रहा है। हमें मशीन के उपयोग से निम्नलिखित मुख्य लाभ प्राप्त होते हैं:—

(१) प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग (Use of Natural Forces) : यंत्रों द्वारा प्रकृति की शक्तियों को मनुष्य ने अपने फायदे के लिए अपने बस में कर लिया है। हम हवा में उड़ सकते हैं ; हजारों मील दूर संदेश भेज सकते हैं ; झरनों

से जल-विद्युत उत्पन्न कर सकते हैं। यह सब मनुष्य ने मशीनों की सहायता से ही पाया है।

(२) **भारी और सूक्ष्म काम** (Heavy and Delicate Work) : जो कार्य मानव स्नायुओं द्वारा, भारी या सूक्ष्म होने के कारण, करना मुश्किल है, वह भी मशीनों की सहायता से होता है। क्रेन की मदद से भारी से भारी बोझा उठाया जा सकता है जो पहले कभी सम्भव न था। कोई भी व्यक्ति मकड़ी के जाले से बारीक रेशम का सूत नहीं कात सकता, लेकिन मशीन के द्वारा यह आसानी से सम्भव है।

(३) **तीव्र गति के कार्य** (Faster Work) : जब एक व्यक्ति हाथ से केवल कुछ एक दर्जन पिन ही बना सकता है, मशीनों की सहायता से वह हजारों पिन बना सकता है। चरखे से जितना काम एक वर्ष में सम्भव है, उतना ही मशीन की सहायता से एक दिन में। इसी कारण हम मशीन को अधिक महत्त्व देते हैं।

(४) **अधिक सही कार्य** (More Accurate Work) : कोई भी चित्रकार एक चित्र की दो प्रतिलिपियाँ एक दम एक-सी नहीं बना सकता। परन्तु मशीन द्वारा हजारों पदार्थ एक से बनाना आसान काम है। इसलिए उत्पादन का एक निश्चित स्तर बन जाता है।

(५) **व्यक्ति का श्रम-भार कम हो गया है** (Strain on human muscles relieved) : अब मजदूर का काम अधिक सहज हो गया है। अब तो उसे सिर्फ बटन या घुंडी दबाने भर की देर है। बस ! मशीन धड़ा-धड़ अपना काम शुरू कर देती है।

(६) **सस्ता माल** (Cheap Goods) : मशीन के उपयोग से बड़े पैमाने का उत्पादन आरम्भ हो गया है और फलस्वरूप वस्तुओं की कीमतें इतनी कम हो गई हैं कि जिसका हम पहले कभी अनुमान भी नहीं लगा सकते थे। और उपभोक्ताओं को कई प्रकार का सस्ता माल मिलने लगा है। आज एक साधारण वेतन पाने वाला व्यक्ति भी कई तरह की चीज़ें और सेवायें पा सकता है जो प्राचीन काल में एक धनिक को भी सहज में प्राप्त न थी। फलस्वरूप रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ गया है।

(७) **श्रम की गतिशीलता** (Mobility of Labour) : कई उद्योगों में मशीनों का ढांचा प्रायः एक जैसा होता है। इसलिए मजदूर एक उद्योग को छोड़ कर दूसरे में बड़े आराम से जा सकता है।

(८) **नई नौकरियाँ** (New Employment) : मशीनों का उद्योग बढ़ने से कई प्रकार की नई उपजीविकाओं (occupations) के अवसर मिल गए हैं। इसलिए रोजगार के अवसर बढ़ गए हैं।

(९) **अरुचिकर काम** (Disagreeable Jobs) : अब मशीनों द्वारा मैले-कुचैले या गन्दे काम जिन्हें करने की तबियत न होती थी, बड़ी आसानी से कर लिए जा सकते हैं। इसलिए अब लोगों को ऐसे कामों से मुक्ति मिल गई है।

१२. यंत्रों के दुरुपयोग (Abuses of Machinery) :—मशीनों का उपयोग

भी मानव के लिए सर्वथा हितकर या मंगलकारी नहीं है। जहाँ एक ओर इसमें निश्चित रूप से मानव-कल्याण के लिए असंख्य हित हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर इसमें दुर्गुणों का प्रभाव और दुरुपयोग भी दिखाई देता है। इसके दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) **बेरोजगारी** (Unemployment) : एक मशीन से कई व्यक्तियों का काम लिया जा सकता है। जैसे ही मशीन का उदय होता है व्यक्ति की जरूरत खत्म हो जाती है। मशीन को साफ करने, प्रबन्ध करने, निरीक्षण करने और चलाने के लिए मुट्ठी भर व्यक्ति काफी होते हैं। इसलिए मशीनों के प्रयोग से बेरोजगारी फैलती है।

क्या यह वास्तव में सच है कि बेरोजगारी मशीनों से फैलती है ? (Does Machinery Really Create Unemployment ?) : यह तो निश्चित है कि मशीनों के लगने से फौरन मजदूरों की छंटनी शुरू हो जाती है। लेकिन धीरे-धीरे मशीनों से नए-नए काम उत्पन्न होते हैं। मशीनों को सुधारने और बनाने के लिए लोगों की ज़रूरत पड़ती है; कीमतें कम होने से चीज़ों की मांग (demand) बढ़ जाती है, और इस तरह रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ जाता है। इसलिए उत्पादन बढ़ता है और उसमें विभिन्नता आती है। कई नए धन्धे शुरू हो जाते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि मशीनों द्वारा तत्काल तो मजदूरों का छंटनी का सामना करना पड़ता है, परन्तु आखिरकार इससे नये-नये धन्धे पनपते हैं।

(२) **नीरसता** (Monotony) : मशीन के उपयोग में आने से मजदूर का कार्य नीरस और उबाने वाला हो गया है। मजदूर को रोज़-रोज़ उन्हीं मशीनों में वही एक से काम करने पड़ते हैं। इससे उसके स्नायुओं पर अधिक भार पड़ने लगा है।

(३) **कौशल का ह्रास** (Loss of Skill) : ज्यादा कुशलता प्राप्त करने वाले शिल्पिक अब लुप्त से हो गए हैं। इस प्रकार के कौशल की अब जरूरत ही नहीं रही। जिस कौशल की आवश्यकता आज रह गयी है वह है सिर्फ मशीन चलाना। जिस व्यक्ति ने ढाके की बारीक मलमल बुनी थी अब उसे सिर्फ मशीन की देख-भाल करना है।

(४) **कलाहीन माल** (Goods not Artistic) : तैल अथवा जल-चित्र फोटोग्राफ की अपेक्षा बहुत सुन्दर होता है। चित्र में आकर्षक ढंग ही नहीं, अपनापन भी होता है। परन्तु फोटो तो व्यक्तित्व-रहित एक छाया-चित्र मात्र होता है।

(५) **निर्भरता** (Dependence) : मशीन के उपयोग से हमारी दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। पानी और बिजली के लिए हमें वाटर-वर्क्स (water-works) और पावर-हाउस (power house) पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस व्यवस्था में जरा भी खराबी आने से किसी भी समय पानी-बिजली में गड़बड़ी हो सकती है। इससे सिर्फ कष्ट ही नहीं होता, वरन् साधारण जीवन में गड़बड़ हो जाती है।

(६) **विनाशकारी** (Destructive) : मानव की विनाश करने और हानि

पहुँचाने की पैशाचिक क्षमता सहस्त्रों गुना बढ़ गई है। जरा अणु-बम (Atom bomb) का अनुमान कीजिये। जापान का हिरोशिमा नगर पल भर में नष्ट-भ्रष्ट हो गया। युद्ध अब बहुत भयंकर हो गए है।

(७) **अस्वच्छ वातावरण** (Insanitary Surroundings) : बड़े-बड़े कारखाने अपने चारों ओर के वातावरण को दूषित कर देते हैं और उसे गन्दा बना देते हैं। उनमें स्त्रियों और सुकुमार (tender) अवस्था के बालकों को भी काम करना पड़ता है। मशीनों और कारखानों ने कौटुम्बिक सुख और शान्ति को नष्ट कर दिया है और इसका फल नैतिक पतन और शारीरिक ह्रास हुआ है।

(८) **अत्यधिक विशिष्टीकरण** (Over-specialisation) : मशीनों से अत्यधिक विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है। मजदूर का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित होता है और उसे दूसरी बातों का ज्ञान नहीं होता। इसी विशिष्टीकरण के कारण बेरोजगारी का डर और बढ़ जाता है,

(९) **वर्ग-संघर्ष** (Class-conflict) : वर्ग-संघर्ष का मूल कारण मशीनों का दिन प्रति-दिन बढ़ता हुआ उपयोग ही है—एक ओर तो पूंजीपति होता है और दूसरी ओर मजदूर। इस वर्ग-संघर्ष के कारण ही सामाजिक एकता (social harmony) को धक्का लगा है। और यह संघर्ष और और आपसी फूट दिन-प्रतिदिन तेजी के साथ बढ़ती जा रही है।

निष्कर्ष (Conclusion) : इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि मशीनों के उपयोग से सामाजिक और आर्थिक बुराइयों का सूत्रपात होता है। परन्तु साथ-साथ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यह दुष्परिणाम विशेषतया मशीनों के दुरुपयोग के कारण उत्पन्न हुए हैं। वास्तव में मशीनों में स्वयं कोई दोष नहीं है। अपने भाइयों का अहित मनुष्य स्वयं करता है। और वह स्वयं ही उनको नौकर रखकर उनका शोषण (exploit) करता है। मशीन तो एक उपकरण मात्र है। यदि किसी का शोषण होता है तो इसका उत्तरदायित्व स्वयं मनुष्य पर ही है। और इस दुष्प्रभाव का निवारण भी किया जा सकता है।

यह सच है कि मशीन का काम नीरस और उबाने वाला होता है परन्तु यह भी है कि मजदूर को पहले से अधिक अवकाश (leisure) मिल जाता है। काम के घंटों को घटाया जा सकता है। कारखाने की दूसरी बुराइयों को रोका जा सकता है और सुधार किए जा सकते हैं। यह भी जरूरी नही है कि मशीन द्वारा बनाई गई सभी वस्तुएँ निम्न स्तर की हों। उनके गुणों में सुधार हो रहा है और वे भी अधिकाधिक कलात्मक होती जा रही हैं। आधुनिक कार आज के युग का एक सुन्दर नमूना है। यदि हमें अपने जीवन को पूर्ण बनाना है और दूसरे देशों के साथ उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में सफल स्पर्धा करनी है तो मशीनों का उपयोग नितान्त आवश्यक है।

१३. मशीन के उपयोग की सीमा कैसे निर्धारित होती है (What limits the use of Machinery) :—मशीन से तरह-तरह के लाभ होते हैं। लेकिन उनका सदैव प्रयोग करना संभव नहीं होता। निम्नलिखित परिस्थितियों में मशीन

के उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता :—

(१) **वैयक्तिक रुचि** (Individual Taste) : जब उत्पादन के द्वारा व्यक्तिगत रुचियों को पूरा करना होता है तो मशीनों का उपयोग संभव नहीं हो पाता। मशीन द्वारा सिर्फ एक निश्चित मान का उत्पादन ही हो सकता है। ग्राम का मोची कामदानी जूतियों पर नाना प्रकार की कढ़ाई और नमूने बना सकता है। हाथ-कर्घे पर बुनने वाला जुलाहा साफे और धोती के विभिन्न प्रकार के नमूने और कन्नियां बुन सकता है। ऐसे कामों में हाथ-कर्घा, शक्ति-चालक कर्घे से कहीं अधिक उत्तम होता है। इसलिए जहाँ प्रत्येक ग्राहक की अपनी रुचि होती है, वहाँ सिर्फ जुलाहा ही उसकी पूर्ति कर सकता है। उदाहरण के लिए दर्जी की जगह मशीन कभी नहीं लग सकती।

(२) **कीमती सामान** (Costly Materials) : जहाँ सामान बहुत कीमती होता है वहां भी मशीन का उपयोग नहीं किया जा सकता। मणिक, मोती आदि, सोने, चांदी और जवाहरात का काम भी मशीनों पर नहीं छोड़ा जा सकता। मशीन को काम में लाने से एक साथ अधिक मज़दूरों की ज़रूरत होती है। इसलिए ऐसे कामों में जहाँ कच्चे माल को रत्ती माशों में तोलना होता है मशीन को नहीं लगाया जा सकता।

(३) **उद्योग का स्वरूप** (Nature of Industry) : कुछ उद्योग ऐसे हैं कि उनका निबटारा कुछ मामूली मशीनी हरकतों (simple mechanical movements) पर नही छोड़ा जा सकता। जैसे खेती-बाड़ी और बागबानी का काम। इन कामों में तो मशीन का इस्तेमाल मामूली हद तक ही हो सकता है। इन कामों में मशीनों की अपेक्षा मनुष्य का काम अधिक होता है। यद्यपि पश्चिमी देशों में खेती-बाड़ी के कामों में भी मशीनों का उपयोग होता है, तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि यत्रों का उपयोग खेती की अपेक्षा उद्योगों में अधिक है।

(४) **मांग का स्वरूप** (Nature of Demand), जहाँ मांग कम और अस्थिर होती है वहाँ मशीनों का उपयोग कारगर नहीं होता। मशीन कीमती वस्तु है इसलिए कोई भी निर्माता बिना यह जाने कि, बिक्री अधिक और मांग स्थिर है या नहीं, मशीन न लगायेगा।

(५) **कलात्मक कार्य** (Artistic Work) : कला के कार्यों का क्षेत्र तो हमेशा ही कलाकारों और शिल्पिकों तक सीमित रहेगा। चित्रकारी मशीन द्वारा कभी संभव नहीं हो सकती।

(६) **सस्ता श्रम** (Cheap Labour) : जहां मजदूर सस्ता और मशीन मंहगी होती है, वहाँ भी निर्माता मशीनों पर व्यय करने को तैयार नहीं होगा। भारत ऐसा ही देश है। यहाँ पाश्चात्य देशों के समान यंत्रीकरण (Mechanisation) करना सम्भव नहीं।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

पूंजी का अर्थ (Meaning of Capital)—भूमि को छोड़कर, पूंजी व्यक्ति के धन का वह भाग है जिसका उपयोग अधिकाधिक धनोपार्जन करने में किया जाता है, या जिससे आय की प्राप्ति होती है।

व्यक्तिगत दृष्टि से पूंजी से आय होती है और सामाजिक दृष्टि से यह (पूंजी) अधिकाधिक धनोपार्जन में सहायक है। साधारण रूप से पूंजी के दोनों ही काम हैं। परन्तु कभी-कभी इससे आय तो होती है लेकिन अधिकाधिक धनोपार्जन नहीं होता, जैसा बार बौंड (war bond) आदि से।

धन और पूंजी (Wealth and Capital)—सब पूंजी धन ही गिनी जाती है, परन्तु हर प्रकार का धन पूंजी नहीं होता; सिर्फ धन का वही भाग जिसका उपयोग उत्पादन कार्यों में होता है, पूंजी कहलाती है।

धन और द्रव्य (Wealth and Money)—पूंजी कभी द्रव्य का रूप भी धारण कर लेती है; इसके अलावा यह कुछ दूसरे रूप भी धारण कर सकती है जैसे मशीन, कच्चा माल आदि। ठीक इसी प्रकार द्रव्य, जिसका उपयोग उत्पादन के कार्यों के लिए हो रहा है, पूंजी हो सकती है, और यदि इस (द्रव्य) को गाड़-दाब (hoard) कर रख जाय तो यह पूंजी न कहलायेगी। इसलिए हर पूंजी द्रव्य नहीं होती, और न ही हर द्रव्य पूंजी।

पूंजी और आय (Capital and Income)—पूंजी को निधि या स्टाक माना गया है। और आय को प्रवाह। आय वह होती है जो पूंजी से प्राप्त हो।

क्या उपभोग पदार्थ पूंजी में गिने जाते हैं (Are Consumer Goods Capital ?) जब तक ये पदार्थ निर्माता के पास रहते हैं इन्हें पूंजी माना जाता है। जब ये उपभोक्ताओं के पास पहुँचते हैं, तब के बारे में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। बेन्हम (Benham) जैसे अर्थशास्त्री इसको फिर भी पूंजी ही मानते हैं।

भूमि को पूंजी क्यों नहीं माना जाता ? (Why is Land not Capital ?) : भूमि बहुत विलक्षण वस्तु है। यह क्षेत्र में सीमित होती है, इसकी कोई पूर्ति-कीमत नहीं होती; यह प्रकृति का एक निर्मूल्य उपहार है, इसकी विभिन किस्में होती हैं, यह गतिहीन है। दूसरी ओर पंजी मनुष्य की बनाई हुई है और इसकी सप्लाई (Supply) को बढ़ाया जा सकता है।

पूंजी का महत्त्व (Importance of Capital) : आर्थिक विकास के प्रत्येक काल में पूंजी किसी न किसी रूप में वर्तमान थी। परन्तु आधुनिक युग के आर्थिक ढांचे में इसने बड़ा महत्त्व पा लिया है। कोई भी उद्योग इसकी सहायता के बिना नहीं चल सकता। किसी देश की आर्थिक उन्नति इस पर ही निर्भर है कि वहां कितनी पूंजी है और उसे उपयोग में लाने की कितनी क्षमता है।

पूंजी की उत्पत्ति और वृद्धि (Origin and Growth of Capital) : पूंजी का उदय, बचत, प्रतीक्षा और संयम से होता है। इसका संचय निम्न बातों पर निर्भर है :—

(क) बचाने की शक्ति, और (ख) बचाने की इच्छा।

(क) बचाने की शक्ति इन बातों पर निर्भर है :

(१) उपभोग के मुकाबले अधिक उत्पादन।
(२) धन लगाने के विविध अवसर।
(३) द्रव्य की सुदृढ़ व्यवस्था।
(४) कराधान की उपयुक्त व्यवस्था।

(ख) बचाने की इच्छा इन बातों पर निर्भर करती है :

(५) बुढ़ापे, मुसीबत और आकस्मिकता के लिए इन्तजाम।
(६) पारिवारिक स्नेह।
(७) व्यापार में उन्नति करने की इच्छा।
(८) स्वभाव।
(९) ब्याज की दर।
(१०) सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव की इच्छा।
(११) देश में शान्ति और व्यवस्था।

भारत में आजकल जी के संचय व बचाने के लिए अवस्थाएं पूर्ण रूप से अनुकूल नहीं हैं।

पूंजी के रूप (Forms of Capital) :

स्थिर पूंजी (Fixed Capital) का अर्थ है मशीनें।

परिचल पूंजी (Circulating Capital) : यानी कच्चा माल।

उपयोजित पूंजी (Sunk Capital) : जिससे किसी कार्य-विशेष में लगा दिया गया हो और जिसका किसी और रूप में उपयोग न हो सके।

प्लवमान पूंजी (Floating Capital) : उसे कहते हैं जिसको किसी भी काम में लगाया जा सके। यह प्रायः द्रव्य के रूप में होती है।

कार्यकारी पूंजी (Working Capital) : उस द्रव्य-निधि को कहते हैं जो व्यापार-संचालन के लिए रखी जाती है।

पूंजी के कार्य (Functions of Capital) :

(१) कच्चे माल की सप्लाई।

(२) उपकरणों की सप्लाई।

(३) निर्वाह प्रबन्ध।

(४) परिवहन के साधनों की उपलब्धि।

पूंजी की कार्यक्षमता (Efficiency of Capital): इन बातों पर आश्रित है :

(क) पूंजी का गुण।

(ख) उद्देश्य के लिए उपयुक्तता।

(ग) विभिन्न भागों का ठीक-ठीक संतुलन।

(घ) ठीक-ठीक उपयोग।

(च) मजदूर की निपुणता।

(छ) कच्चे माल की नियमित और ठीक सप्लाई।

(ज) प्रबन्धक की निपुणता या संगठन शक्ति।

पूंजीवादी उत्पादन (Capitalistic Production) : में पूंजी की बड़ी राशि का उपयोग होता है।

उत्पादन परोक्ष और चक्करदार तरीके से होता है।

मशीन के उपयोग (Use of Machinery)। इसके लाभ :

(१) मनुष्य के हित के लिए प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग।

(२) इसके द्वारा भारी और नाजुक कार्य किए जा सकते हैं।

(३) ये तेज रफ़तार से कार्य करती है।

(४) कार्य को बिल्कुल ठीक-ठीक करती है।

(५) मानव स्नायुओं पर पड़ने वाला भार कम हो जाता है।

(६) बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव होता है।

(७) मजदूर की गतिशीलता की सम्भावना रहती है।

(८) नौकरी सुलभ हो जाती है।

(९) मजदूर को अरुचिकर कार्यों से मुक्ति दिलाती है।

इसके दुर्गुण (Its evils) :

(१) इससे बेरोजगारी फैलती है। परन्तु यह तो इसका तात्कालिक रूप होता है; अन्त में इसके प्रभाव से अधिक काम मिलना सुलभ हो जाता है।

(२) इससे कार्य बहुत नीरस हो गया है।

(३) इससे कारीगर के कार्य-कौशल में ह्रास हुआ है।

(४) मशीन का कार्य-कलात्मक नहीं होता।

(५) इससे दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ गई है।

(६) मनुष्य की विनाशकारी शक्ति बढ़ी है।

(७) कारखाना-व्यवस्था (Factory-system) के दुर्गुण तो जाहिर ही हैं

(८) अधिकाधिक विशिष्टीकरण की वजह से मजदूर की बुद्धि मोटी हो गई, और

(९) इससे वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा मिला है।

मशीन के उपयोग पर नियन्त्रण (Limitations on the use of machinery) निम्नलिखित दशाओं में मशीन का उपयोग-क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं हो सकता

(क) जहाँ व्यक्तिगत पसन्द मुख्य होती है।

(ख) जहाँ उपयोग में आने वाला सामान कीमती होता है।

(ग) जहाँ कार्य को किसी भी रूप से कुछ गिनी चुनी गतियों में सीमित नहीं किया जा सकता।

(घ) कलात्मक वस्तुओं के निर्माण में : और

(ङ) जहाँ मशीन की अपेक्षा श्रम सस्ता मिल सकता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. State what capital is and what its different forms are.

(गोहाटी, १९५३)

देखिये विभाग २ और ५

2. Are the following capital goods ?

(*a*) (1) Straw in a barn ; (2) Straw in a hat factory ; (3) A straw hat in a hat shop ; (4) A straw hat in your closet.

(*b*) (1) A fire cracker in a store ; (2) A fire cracker in your hand ; (3) A fire cracker in the air.

(क) (१) हाँ, (२) हाँ, (३) हाँ, (४) नहीं।

(ख) (१) हाँ, (२) नहीं, (३) नहीं।

3. How would you distinguish land from capital ?

(दिल्ली, १९५३)

देखिये विभाग २

4. What are the factors which influence saving ? Do you think the system of joint family is conducive to saving ?

(बिहार, १९५३)

[संयुक्त परिवार-व्यवस्था का एक दोष यह है कि इससे सदस्यों में आलस्य की भावना उत्पन्न हो जाती है और फलस्वरूप बचत कम होती है। प्रत्येक सदस्य कम से कम कमाना और ज्यादा से ज्यादा खर्च करना चाहता है।] देखिए विभाग ४

5. What are the factors which affect the growth of capital ? How do you account for scarcity of capital in India ?

(राजपूताना १९४५, यू० पी० बोर्ड १९५३, बम्बई १९५४,)

देखिए विभाग ४

Or

Describe the factors which influence the growth of capital in a country. (पंजाब, १९५५)

6. What is capital ? What are its functions ? (सागौर, १९५२)

देखिए विभाग २ और ६

7. If all capital goods were destroyed what would be the effect on (*a*) workers, (*b*) entrepreneurs, (*c*) consumers and (*d*) society in general ?

(क) मजदूरों को भारी और अरुचिकर काम करना पड़ेगा। इसलिए उनका कुल उत्पादन स्तर गिर जायगा।

(ख) उद्यमी की आय कम होगी।

(ग) उपभोक्ताओं को कम माल मिलेगा और उन्हें अधिक कीमत देनी पड़ेगी।

(घ) सामान्य रूप से समाज पिछड़ जायगा।

8. What is meant by mobility of capital ? What are the factors which hinder the mobility of capital in India ? Suggest remedies. (यू० पी० बोर्ड, १९५३)

देखिए विभाग ८

9. Distinguish between capital and capitalism. Are you against any of these two ? What is capitalistic production ?

पूंजी का काम धनोपार्जन में सहायता करना होता है। पूंजीवाद का अर्थ उत्पादन के साधनों की निजी मिलकियत और उनका पूंजीपति के हित के लिए उपयोग करना है। हम पूंजीवाद की अपेक्षा पूंजी के लिए प्रार्थना करते हैं। पूंजीवादी उत्पादन के लिए देखिए विभाग ९

10. What are the effects of the employment of machinery in the process of production on the labouring classes ? (पी० यू०, १९३५)

अच्छे प्रभावों के लिए देखिये विभाग ११, बुरे प्रभावों के लिए देखिये विभाग १२

11. Discuss the economic effects of the introduction and use of machinery. (ढाका, १९४३)

Or

Point out the various advantages and disadvantages of machinery. (पंजाब, १९४७, १९५५)

देखिए विभाग ११ और ९

12. Do you consider the use of machinery in India to be (*a*) an absolute necessity or superfluous, (*b*) a blessing or a curse ? (यू० पी०, १९४९)

उत्पादन के साधन
(AGENTS OF PRODUCTION) (Contd.)

संगठन या उद्यम
(Organisation or Enterprise)

वह व्यक्ति जो ऐसा लगता है कि कुछ नहीं करता
(The man who appears to be doing nothing)

१. **प्रवेश** (Introduction) : उत्पादन चारों साधनों के सहयोग का फल है। हमने उसमें से तीन—भूमि, श्रम और पूंजी का अध्ययन कर लिया है। अब हम चौथे साधन का अध्ययन करेंगे जिसे उद्यम (Enterprise) या संगठन (organisation) कहते हैं।

२. **संगठन या उद्यम क्या है** (What is organisation or enterprise ?) :— संगठन या उद्यम का अर्थ है किसी व्यवसाय को आयोजित (plan) करना, शुरू करना और चलाना। इसका मतलब है उत्पादन के साधनों को इकट्ठा करना, उन में से प्रत्येक को उसका उचित कार्य सौंपना और उन्हें काम पूरा हो जाने पर पैसा देना। इसका मतलब सिर्फ किसी व्यवसाय को चलाना ही नहीं वरन् यदि नुकसान हो तो उसको भी भुगतना है। जो व्यक्ति यह सब कार्य अपने जिम्मे लेता है, वह संगठनकर्त्ता कहलाता है या उसके लिये अधिक प्रचलित शब्द उद्यमी (entrepreneur) है।

एक पूंजीपति (Capitalist) और उद्यमी में क्या अन्तर है ? पूंजीपति पूंजी का मालिक है। वह पूंजी लगाता है और उस पर सूद खाता है। कारबार में नफा-टोटा कुछ हो, पूंजीपति को अपने ब्याज से मतलब है जो उसे मिल जायगा। उसे कोई जोखिम नहीं है। यह तो उद्यमी ही है जो सारा खतरा (risk) उठाता है। अगर टोटा हो तो सारा उसके सर पड़ता है, जैसे अगर नफा हो तो वह भी सारा का सारा उसकी जेब में जाता है। सिद्धांत में तो, इस तरह पूंजीपति और उद्यमी दो अलग-अलग व्यक्ति हैं। किन्तु वास्तव में वे एक भी हो सकते हैं। यानी एक ही आदमी उद्यम भी कर सकता है और पूंजी भी लगा सकता है। आमतौर पर उद्यमी कारबार में कुछ न कुछ अपना रुपया जरूर लगाता है। इस तरह वह उद्यमी होने के अलावा, कुछ हद तक पूंजीपति भी होता है और यदि कोई नफा हो तो उसके अलावा अपने लगाए हुए पैसे पर सूद भी कमाता है।

३. **संगठन की महत्ता** (Importance of organisation) :—आधुनिक काल

में, कारबार बड़ा उलझा हुआ है। उस पर सारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव भी कार्य करते हैं। दुनिया के किसी दूर के कोने में होने वाली जरा-सी घटना भी व्यवसाय को चौपट कर सकती है। इन जटिलताओं के कारण, संगठन का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया है।

किसी व्यवसाय की सफलता अच्छे संगठन पर निर्भर है। उसकी योजना सावधानी से बननी चाहिए और उस योजना को ठीक प्रकार से कार्यान्वित करना चाहिए। यह पूरे वक्त का काम (whole-time job) है। किसी न किसी को अपना सारा समय और शक्ति इसमें लगानी पड़ती है। इसलिए संगठनकर्त्ता के कार्य की बड़ी महत्ता है।

भूमि, श्रम और पूंजी—तीनों साधन बिखरे पड़े रहते हैं। एक व्यक्ति के पास भूमि है, पूंजी नहीं। दूसरे के पास पूंजी है, भूमि नहीं है। मज़दूर के पास दोनों में से कुछ भी नहीं है। उसके पास देने के लिए केवल उसकी अपनी श्रम-शक्ति (labour power) है। इस तरह तीनों साधन एक दूसरे से अलग पड़े रहते हैं। उत्पादन करना है तो कोई ऐसा आदमी चाहिए जो उन सब को एक दूसरे के निकट लाए और संगठित करे। यही कार्य संगठनकर्त्ता का है।

इसलिए संगठन उत्पादन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। अर्थशास्त्र में इस संगठनकर्त्ता को ही उद्यमी (entrepreneur) कहते हैं।

४. **उद्यमी के कार्य** (Functions of an Entrepreneur) :—अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य ऐसे हैं जिन्हें उद्यमी करता है। उनमें से कुछ मुख्य कार्य निम्न-लिखित हैं :—

(१) **कल्पना और आरम्भ** : उद्यमी ही किसी व्यवसाय की कल्पना करता है। उसके बारे में सोचता और उसकी योजना बनाता है। फिर चाहे अकेले या अन्य मित्रों की सहायता से वह उसे कार्यान्वित करता है। इस तरह वह व्यवसाय को शुरू करता है।

(२) **संगठन** : यह निश्चय करने के बाद कि उसे किस उद्योग में हाथ डालना है, कहां उसे शुरू करना है, क्या और कितना उत्पादन करना है, कहाँ और कैसे माल बेचना है, उद्यमी अब समस्या के व्यावहारिक अङ्ग को देखता है। सबसे पहले उसे आवश्यक पैसे का प्रबन्ध करना पड़ता है। फिर उसे मशीनें खरीदनी और खड़ी करवानी होती हैं। फिर उसे मज़दूर रखने होंगे और उन्हें काम सौंपना पड़ेगा। वह कच्चा माल खरीदेगा और निर्माण की प्रत्येक प्रक्रिया को संगठित करेगा और अन्त में उत्पादन की बिक्री का भी सन्तोषजनक प्रबन्ध वही करेगा।

(३) **निर्देशन और संचालन** (Direction and Supervision) : उद्यमी कारबार को संगठित करके ही नहीं रुक जाएगा। उसे उत्पादन को सर्वोत्तम और लाभदायक मार्ग पर चलाना भी होगा। अधिकतम उत्पादन करने के लिए उसे हर छोटी से छोटी प्रक्रिया की देखरेख करनी पड़ेगी।

(४) **नियन्त्रण** (Control) : उद्यमी को अपनी मदद के लिए कुछ सहायक रखने पड़ते हैं, पर कारबार का आखिरी कन्ट्रोल उसे अपने हाथ में रखना पड़ता है।

कारबार के जन्म के लिये ही उत्तरदायी वह स्वयं है। इसलिए उसका भाग्य वह किसी और के हाथ में नहीं छोड़ सकता।

(५) **जोखिम उठाना** (Risk Taking) : उद्यमी को अपने उद्यम का परिणाम भुगतना पड़ता है। उसे उत्पादन के अन्य तमाम साधनों को पेशगी अदायगी करनी पड़ती है। सम्भव है कि उसे अच्छा मुनाफा हो जाय। और यह भी हो सकता है कि उसको भारी टोटा हो। जो कुछ भी फल हो उसी के सर पड़ेगा।

संक्षेप में, एक उद्यमी किसी कारबार का आरम्भ, संगठन, निर्देशन, संचालन और नियन्त्रण करता है और वही घाटे की जोखिम अपने सर पर लेता है।

५. **संयुक्त स्टाक कम्पनी में उद्यमी की स्थिति** (Position of an Entrepreneur in a Joint-stock Company) :—किसी लिमिटेड संयुक्त स्टाक कम्पनी में आमतौर पर बहुत से वर्गों के हाथ में शेयर होते हैं और यह लोग देश भर में बिखरे रहते हैं। यदि कम्पनी असफल हो जाय तो शेयर होल्डरों का रुपया मारा जायगा। जिस हद तक किसी शेयर होल्डर ने पूंजी में रुपया लगाया है, उस हद तक वह एक उद्यमी है। आज के उद्योग में, शेयर होल्डरों की संख्या बहुत ज्यादा होती है। वे अपने में से थोड़ी-सी संख्या में कुछ डायरेक्टर या निर्देशक चुन लेते हैं जो उनकी ओर से कारबार चलाते हैं। साधारणतया शेयर होल्डर केवल सुप्त साझीदार (sleeping partners) होते हैं। निर्देशन का कार्य मैनेजिंग एजेंट द्वारा होता है। इस अवस्था में डायरेक्टर मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा रखे जाते हैं और वे केवल मैनेजिंग एजेन्ट के पिट्ठू (yes-men) होते हैं। इस प्रकार शेयर होल्डरों का, जो वास्तव में उद्यमी हैं, कारबार में कुछ हाथ या कन्ट्रोल नहीं रहता।

६. **कौन सफल उद्यमी हो सकता है ?** (Who can be a Successful Entrepreneur ?) :—हम कह चुके हैं कि आधुनिक व्यवसाय में बड़ी उलझनें हैं। उसे सफलतापूर्वक संगठित करने और चलाने के लिए, उद्यमी में बड़े ऊँचे गुण होने चाहिएं। सारे कारबार के ऊपर रहने वाला आदमी वास्तव में बड़ा योग्य होना चाहिए।

उद्यमी को मनुष्यों का सफल अग्रणी या नेता (leader of men) होना चाहिए। उसके लिए यह ज़रूरी है कि जिन लोगों के साथ उसे काम करना है वह उनकी सहानुभूति पा सके और उसे बनाए रख सके। उनमें विश्वास जमा लेना बड़ा ज़रूरी है। उसे मानव-स्वभाव का पता होना चाहिए जिससे वह हर एक से अच्छा काम ले सके।

उसे अपने कारबार की समझ होनी चाहिए। उसे मशीनें और कच्चा माल खरीदना पड़ता है। इन दोनों के गुण परखने की विशेष योग्यता उसमें होनी चाहिए। नहीं तो वह धोखा खा जायगा। उसे बिक्री करने के ढंग भी जानने चाहियें।

एक सफल उद्यमी को आस पास की दुनिया के बारे में सामान्य ज्ञान होना चाहिए। यह न सिर्फ मशीनरी और माल खरीदने के लिए जरूरी है बल्कि अपना माल बेचने के लिए भी।

कारबार में उतार-चढ़ाव होता ही रहता है। उसमें उनको सहन करने की हिम्मत ज़रूरी है। अनुकूल अवसर का उसे फ़ायदा उठाना है। इसलिए उसमें कभी-कभी साहसपूर्ण निर्णय करने की क्षमता होनी ज़रूरी है, किन्तु उसे सावधानी भी बरतनी ज़रूरी है, क्योंकि उसकी एक ग़लती से सब कुछ चौपट हो सकता है। उसमें "चौकन्ने साहस" (prudent boldness) की ज़रूरत है।

संक्षेप में, एक सफल उद्यमी को योग्य और जानकार होना चाहिए। उसमें अग्रणी बने रहने की क्षमता, वस्तुओं के समझने की योग्यता, साहस और सावधानी, निर्णय करने की शक्ति, सब कुछ होनी चाहिए। और इन सब से ज्यादा उसमें व्यावहारिक सुलभ बुद्धि (Practical Common Sense) जरूरी है। वास्तव में बहुत कम उद्यमी ऐसे मिलते हैं जो इस आदर्श तक पहुँच पाते हों। दुनिया में फोर्ड, नफील्ड, टाटा और बिड़ला बहुत ज्यादा नहीं हैं

इस अध्याय की ज्ञातव्य बातें

उद्यम का अर्थ (Meaning of Enetrprise) : उद्यम का अर्थ है कि कारबार को शुरू और संगठित करना और उसका तमाम ख़तरा झेलना। जो व्यक्ति यह करता है, वह उद्यमी कहलाता है।

पूंजीपति और उद्यमी में अन्तर :

पूंजीपति सिर्फ़ पूंजी लगाता है और इससे उसे एक निश्चित आय होती है, वह जोखिम नहीं लेता।

उद्यमी कारबार को संगठित करता है और उसका ख़तरा उठाता है। वास्तविक जीवन में कोई कारबारी उद्यमी और पूँजीपति दोनों हो सकता है।

संगठन का महत्व (Importance of Organisation) : कारबार बड़ी जटिल चीज है। इसे संगठित करने के लिए एक विशेषज्ञ की जरूरत है। उत्पादन के साधन बिखरे रहते हैं और उन्हें इकट्ठा करने के लिए कोई चाहिए। बिना सफल संगठन के कोई व्यवसाय नहीं चल सकता।

उद्यमी के कार्य (Functions of an Entrepreneur) :

(i) वह कारबार की कल्पना करता है और उसे आरम्भ करता है।
(ii) वह उत्पादन का संगठन करता है।
(iii) वह कार्य का निर्देशन एवं संचालन करता है।
(vi) वह व्यवसाय का नियंत्रण करता है।
(v) वह जोखिम उठाता है।

संयुक्त स्टाक कम्पनी में उद्यमी (Entrepreneur in a Joint-stock Company) : निर्देशक या मैनेजिंग एजेन्ट उद्यमी होते हैं। किन्तु वे सारी पूंजी खुद नहीं लगाते, इसलिए सारा ख़तरा खुद भी नहीं उठाते। जोखिम शेयर होल्डर उठाते हैं जिनका व्यवसाय पर कोई कन्ट्रोल नहीं है। इस तरह मलकियत (ownership) और कन्ट्रोल अलग हो जाते हैं।

कौन सफल उद्यमी हो सकता है (Who can be a Successful Entrepreneur) : सफल उद्यमी में निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ।

(i) नेतृत्व करने की क्षमता।
(ii) कारबार की जानकारी।
(iii) बुरे वक्त का सामना करने का साहस।
(iv) कभी-कभी साहसपूर्ण निर्णय करने की सामर्थ्य किन्तु सावधानी से।
(v) व्यावहारिक सुलभ ज्ञान।

संक्षेप में उसे श्रेष्ठ पुरुष (superman) होना चाहिए।

क्या आप निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं ?

1.What are the functions of an entrepreneur ? Is there any justification for regarding organisation as a separate factor of production ? (जम्मू और काश्मीर १६५३; पंजाब विश्वविद्यालय १६४०, बम्बई १६५३)

कार्यों के लिये देखिये विभाग ४

[उसका काम श्रम में नहीं गिना जाता है, क्योंकि उसकी अपनी महत्ता है और वह अत्यन्त विशिष्ट प्रकार का कार्य है ।]

देखिये अध्याय ७, विभाग ६

2. What is the nature of the services performed by the enterpreneur and how is he rewarded ? (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६४३)

देखिये विभाग ४

3. Who is an enterpreneur ? What is his role in modern large scale industry ?

(बम्बई, १६५४)

4. Explain the importance of organisation and enterprise in the modern system of production. Do you think there is lack of enterprise in this country ? (राजपूताना, १६४४)

[देखिये विभाग ३ । हाँ, यहाँ उद्यम की कमी है । यह उन गुणों की कमी के कारण है जो उद्यमी में होने चाहिएं । देखिये विभाग ६]

5. What qualities go to make a successful entrepreneur ? Can you mention some persons in India who possess such qualities ? Are there any such in the Punjab ? Name them.

[देखिये विभाग ६ । पंजाब में स्वर्गीय ला० हरकिशन लाल में यह गुण थे ।

मैसर्स करमचन्द थापर और योधराज भल्ला आज पंजाब में सफल व्यवसायियों के उदाहरण हैं । भारत भर में प्रसिद्ध नाम हैं : टाटा, बिड़ला, डालमिया, सिंघानिया आदि ।]

अध्याय १३

उत्पादन का पमाना
(SCALE OF PRODUCTION)
कब अधिक उत्पादन करें और कब कम

१. **परिचय** (Introduction) :—सबसे पहली समस्या जो किसी उद्यमी (entrepreneur) के सम्मुख आती है, वह है उत्पादन के पैमाने की। उसका उद्देश्य तो निस्संदेह अधिकतम लाभ (maximum profit) होता है । यह तय करने के लिए, उसे वैज्ञानिक रूप में आदर्श उत्पादन (optimum output) का हिसाब लगाना पड़ता है, अर्थात् वह उत्पादन जिससे उसे अधिकतम लाभ होगा। यह उत्पादन यह ज़रूरी नहीं, कि बड़े पैमाने पर ही हो। उसे तो विभिन्न परिमाणों में उत्पादन की लागत और जिस कीमत पर वस्तु को मंडी में रखा जा सकता है उस कीमत की तुलना करनी पड़ेगी।

२. **बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ** :—आधुनिक कारखाना पद्धति अपने विस्तृत श्रम-विभाजन तथा मशीनरी के उपयोग के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन (large-scale production) करती है। इसके मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं :—

(i) **विशिष्टीकृत एवं आधुनिकतम मशीनरी की किफायत** (Economy of Specialised and Up-to-date Machinery) : मशीनरी के उपयोग का बहुत बड़ा क्षेत्र होता है जिसके द्वारा लागतें कम हो जाती हैं। एक बड़ा उत्पादक कीमती और आधुनिकतम मशीनरी स्थापित कर सकता है। वह उनकी मरम्मत (repairs) कराने का भी अपना अलग प्रबन्ध कर सकता है। विशिष्टीकृत मशीनरी प्रत्येक विभिन्न कार्य के लिए उपयोग में लाई जा सकती है। जिसका फल यह होता है कि उत्पादन बड़ी किफायत से होता है। एक छोटा उत्पादक जिसकी बाज़ार में थोड़ी पहुँच है अपनी मशीनरी को लगातार काम में लगाए नहीं रह सकता। उस अवस्था में मशीनरी कुछ समय निष्क्रिय अथवा बेकार (idle) पड़ी रहती जो आर्थिक दृष्टि से मितव्ययिता नहीं है। बड़ा उत्पादक उसे बराबर काम में लगाए रह सकता है। उसका कारखाना चौबीसों घंटे चलता रहता है, जिससे उसे किफायत (economy) होती है।

(ii) **श्रम की मितव्ययिता** (Economy of Labour) : एक बड़े कारोबार में श्रम-विभाजन के लिए काफी सम्भावना रहती है। विशिष्टीकृत श्रम अधिक परिमाण और उत्तम गुण का उत्पादन रहता है। केवल एक बड़े व्यवसाय में ही प्रत्येक व्यक्ति को वह कार्य दिया जा सकता है जो वह सबसे अच्छा करता है। इस प्रकार बड़े पैमाने का उत्पादक अपने नौकरों में से हर एक से सर्वोत्तम कार्य ले सकता है।

(iii) **क्रय-विक्रय की मितव्ययिता** (Economies of Buying and Selling) : कच्चे माल और उपकरणों का क्रय करने में, बड़े कारबारी को अपने बड़े सौदे के कारण विशेष अनुकूल शर्तों पर वस्तुएँ मिलती हैं। अपना माल बेचते समय वह अपने उत्पादन में विविधता (variety) लाकर और आर्डरों की शीघ्र पूर्ति करके ग्राहकों को आकर्षित कर सकता है। लाभ की कम दर लेने से बिक्री बढ़ती है और बड़े पैमाने के कारोबार में शुद्ध लाभ (net profit) अधिक होते हैं।

(iv) **साथ में होने वाले ऊपर के व्यय में मितव्ययिता** (Economies in Overhead Charges) : बड़े कारबार में उत्पादन की प्रति इकाई पर प्रबन्ध का कम खर्च आता है। सूद, वेतन-व्यय और अन्य ऊपर के खर्चे तो वही रहते हैं, चाहे उत्पादन कम हो या ज्यादा। इस प्रकार उतना ही व्यय अधिक उत्पादन पर बंट हो जाता है जिससे प्रति इकाई लागत कम हो जाती है।

(v) **किराये में मितव्ययता** (Economy in Rent) : यदि उसी कारखाने में माल का अधिक परिमाण निकले तो उसका उतना ही किराया अधिक माल पर बैठ जाता है। इसका अर्थ होता है प्रति इकाई लागत में किराये का अंश कम जुड़ता है।

(vi) **प्रयोग एवं अन्वेषण** (Experiments and Research) : एक बड़ा प्रतिष्ठान (concern) खोज, अन्वेशण या प्रयोगों पर अधिक दिल खोल कर व्यय कर सकता है। यह सभी जानते है कि वक्त लेकर ये खर्चे कुछ बढ़कर वापिस मिल जाते हैं। सफल अन्वेषण से अधिक सस्ता ढंग खोजा जा सकता है। इससे अधिक लाभ होगा।

(vii) **विज्ञापन व सेल्समैनी** : केवल एक बड़ा कारोबार ही विज्ञापन और सेल्समैनी पर बड़ी राशि व्यय कर सकता है। अन्त में उनका फल प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त जब उत्पादन बडे पैमाने पर होता है, तो प्रति वस्तु विज्ञापन पर किया गया व्यय भी कम हो जाता है। विक्रेता प्रत्येक मंडी का सावधानी से अध्ययन करके नई मंडियों पर प्रभाव डाल सकता है या पुरानी मंडियो में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर सकता है।

(viii) **उप-वस्तुओं का उपयोग** (Utilisation of By-products) : कोई बड़ा व्यवसायी अपनी उप-वस्तुओं या उत्पादन से निकलने वाले शेष पदार्थों (Waste products) को फेंकता नहीं। वह उनका आर्थिक उपयोग करने की चेष्टा करता है। एक छोटे चीनी कारखाने को अपना शीरा फेंकना पड़ेगा जबकि एक बड़ा कारखाना उसे पावर-एलकोहल बनाने के काम में ले आएगा।

(ix) **विपत्ति का मुकाबला करना** (Meeting Adversity) : बड़ा व्यवसायी विपत्ति-काल का मुकाबला ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है क्योंकि उसके साधन बड़े होते हैं और वह हानि अधिक एवं सरलता से सहन कर सकता है।

(x) **सस्ता उधार** (Cheap Credit) : बड़े व्यवसायी को उधार सस्ता और आसानी से मिल जाता है क्योंकि द्रव्य के बाजार (money market) में उसकी साख हमेशा ऊंची होती है और बैंक उधार या पेशगी देने को हमेशा तैयार रहते हैं।

Production) : **बड़े पैमाने पर** उत्पादन दोष-मुक्त नहीं है। इसकी कुछ हानियां निम्नलिखित हैं। :—

(i) **कम देखरेख** (Less Supervision) : बड़े पैमाने का उत्पादन हर बात की तरफ पूरा ध्यान नहीं दे सकता। अक्सर कर्मचारियों की बेईमानी की वजह से या उनके द्वारा माल के नुकसान से लागत बढ़ जाती है। यह उपर्युक्त संचालन की कमी से होता है।

(ii) **व्यक्तिगत रुचियों की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता** : (Individual Tastes are Ignored) : बड़े पैमाने के उत्पादन में एक समान वस्तुओं का बहुल उत्पादन (standardised mass production) होता है। एक ही गुण के (uniform quality) माल का निर्माण हो पाता है और हर ग्राहक की रुचि या अपेक्षा को सन्तुष्ट नहीं किया जा स कता।

(iii) **व्यक्तिगत प्रेरणा नहीं रहती** (No Personal Element) : बड़े पैमाने के कारोबार को आमतौर पर वेतन पाने वाले कर्मचारी चलाते हैं। मालिक तो अधिकतर अनुपस्थित रहता है। इसलिए मालिक और नौकर में जो परस्पर सहानुभूति या व्यक्तिगत सम्पर्क रहना चाहिए वह नहीं रहता। इसलिए नौकरों की कारोबार में कोई निजी दिलचस्पी भी नहीं रहती और मालिक के बारे में उनमें अनेक गलतफहमियाँ पैदा हो जाती हैं, जिनसे हड़तालों और तालाबन्दी (lock-out) की नौबत आती है।

(iv) **मन्दी की सम्भावना** (Possibility of Depression) : उत्पादन कभी-कभी मांग से ज्यादा हो सकता है और तब मन्दी और बेकारी आ सकती है।

(v) **विदेशी मंडियों पर निर्भरता** (Dependence on Foreign Markets) : एक बड़े पैमाने के उत्पादक को आमतौर पर विदेशी मंडियों पर निर्भर रहना पड़ता है। और मंडियाँ युद्ध या किसी दूसरी उथल-पुथल से बन्द हो सकती हैं।

(vi) **घातक प्रतिस्पर्द्धा** (Cut-throat Competition) : बड़े पैमाने के उत्पादक को मंडियों के लिए लड़ना पड़ता है। इसलिए ज़बर्दस्त प्रतिस्पर्द्धा होती है जिससे समाज या व्यापारियों का कोई लाभ नहीं होता।

(vii) **युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े** (War and International Complications) : जब बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उतरते हैं तो मंडियों या कच्चे माल के लिए उनके स्वार्थों में टक्कर होती है। कभी-कभी यह पारस्परिक झगड़े युद्ध का रूप धारण कर लेते हैं।

(viii) **बदलने में कठिनाई** : बड़े पैमाने के कारोबार के लिए उत्पादन के एक ढंग को छोड़कर दूसरे को अपनाना बहुत कठिन होता है। मंदी आने पर छोटे कारोबार आसानी से घटने वाले व्यवसायों से निकलकर बढ़ने वाली दिशाओं में चले जाते हैं। इस प्रकार वे हानि से बच जाते हैं। इस तरह की अपने को नए रूप में ढाल लेने की योग्यता बड़े कारोबारों में नहीं होती।

निष्कर्ष : इन सब कमियों के होते हुए भी बड़े पैमाने का उत्पादन बहुत-सी

चीज़ों में किफ़ायत करता है। निर्माण तथा परिवहन करने वाले उद्योगों में अपनी बिक्री बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस प्रणाली के लाभ इसकी हानियों से कहीं बढ़ कर हैं।

४. **कारोबार के आकार की सीमा कैसे निर्धारित होती है?** (What limits the size of a business ?) :—हमने यह देखा कि बड़े पैमाने पर उत्पादन के अनेक लाभ हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी कारबार को जितना चाहे बढ़ाया जा सकता है। देर-सवेर, कहीं न कहीं एक ऐसी सीमा (margin) आ जाती है जहाँ उसके लाभ अधिक नहीं किए जा सकते और उस जगह और विस्तार खत्म करना पड़ता है।

निम्न कुछ कारणों से किसी कारोबार के विस्तार की सीमा निर्धारित होती है :—

(i) **श्रम या पूंजी की कमी** (Shortage of Labour or Capital) : यदि यदि प्रशिक्षित श्रम की सप्लाई काफ़ी उपलब्ध नहीं है तो कारोबार की उन्नति अपने आप ही रुक जायगी। इसी तरह यदि और पूंजी नहीं जमा की जा सकती तो भी विस्तार रुक जाएगा। किन्तु यह बाधाएँ दूर की जा सकती हैं। यदि व्यवसाय का भविष्य उज्जवल दीख पड़ता है और यदि उद्यमी जमी हुई प्रतिष्ठा या ख्याति का आदमी है तो वह इन बाधाओं पर पार पा सकता है।

(ii) **बाज़ार का स्वभाव** (Nature of the Market) : यदि मांग परिमित या अस्थिर है तो व्यवसाय का विस्तार बढ़ाना ठीक नहीं होगा। मांग का स्वभाव सबसे बड़ा कारण है जो सीमाएं निर्धारित करता है। सारे मामले का निपटारा ही लगभग इसी से होता है। यदि व्यक्तिगत रुचियों को सन्तुष्ट करने लग जायें तब तो बड़े पैमाने पर उत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता।

(iii) **प्रबन्ध करने की क्षमता** (Managerial Capacity) : एक और महत्त्वपूर्ण सीमा, मैनेजर की योग्यता या क्षमता से पैदा होती है। एक हद तक ही कोई आदमी सफलतापूर्वक प्रबन्ध कर सकता है। विस्तार करते-करते एक बिंदु ऐसा आ जाता है जिससे आगे मैनेजर के लिए व्यवसाय का ठीक नियंत्रण करना सम्भव नहीं रहता। इस बिन्दु के आगे देख-भाल कम हो जाएगी, माल खराब जाएगा और मशीनरी का ठीक तरह उपयोग नहीं होगा। लागत (cost) लाभ (profit) को दबा देगी और अन्त में लाभ खत्म हो जाएगा। एक ऐसी सीमा पर हम पहुँच जाते हैं जहाँ सीमान्त-लाभ सीमान्त-लागत के बराबर है।

(iv) **उद्योग का स्वरूप** (Nature of Industry) : कुछ उद्योगों में बड़े पैमाने पर उत्पादन असम्भव होता है। उनमें व्यक्तिगत संचालन की अधिक आवश्यकता पड़ती है जैसे दर्ज़ी या सुनारगीरी में। या, कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनमें मशीनरी के उपयोग की अधिक गुंजायश नहीं है और न ही श्रम-विभाजन की। जैसे, खेती, फल या सब्जी उपजाने आदि में। भारी वस्तुएँ जैसे ईंटें छोटे पैमाने पर ही बनाई जा सकती हैं क्योंकि उन्हें अधिक दूर ढो कर ले जाना मितव्ययिता नहीं होगी।

(v) **घटती हुई उपज के नियम का लागू होना** (Operation of the Law

of Diminishing Returns) : कभी-कभी किसी उद्योग के विस्तार से लागत बढ़ने लगती हैं और उपज का अनुपात कम हो जाता है। ऐसी हालत में उसका विस्तार बुद्धिमानी न होगी।

५. **आदर्श प्रतिष्ठान**—हमने ऊपर बड़े पैमाने के व्यवसाय के लाभ-हानि का विचार कर लिया है। एक निश्चित उत्पादन-यन्त्र (plant) के होते हुए जब उत्पादन बढ़ाया जाता है तो खर्च में किफायत होती जाती है। इसका कारण बड़े पैमाने के लाभ हैं। परन्तु कुछ काल के बाद एक बिन्दु आता है जिस पर अधिकतम फ़ायदा होता है। वहाँ उत्पादन की औसत लागत न्यूनतम होती है। यह उस कारोबार का आदर्श स्तर है—**इस पैमाने पर उसका खर्चा कम से कम रहेगा।**

आदर्श प्रतिष्ठान की कल्पना को रेखा चित्र द्वारा भी आसानी से प्रकट किया जा सकता है। त ए पर उत्पादन को अंकित कीजिए और त व पर औसत लागत। कुल लागत को उत्पादन की इकाइयों से भाग देने से मिलने वाले परिणाम को औसत लागत कहा जाता है। अ ल औसत लागत वक्र है जो विभिन्न स्तरों की औसत लागत को प्रकट करता है। स्पष्ट है कि कारोबार का पैमाना त म उत्पादन पर आदर्श है क्योंकि उसमें उसकी औसत लागत प म न्यूनतम है। अन्य किसी भी उत्पादन स्तर पर औसत लागत प म से अधिक होगी।

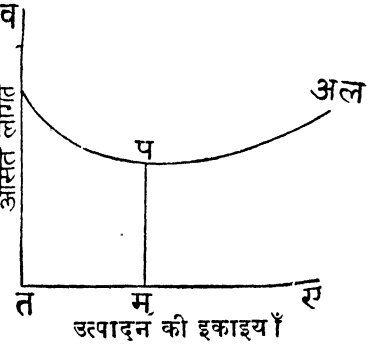

इसलिए आदर्श प्रतिष्ठान वह है जो किसी विशेष उत्पादन यन्त्र से न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादन करे।

यह भी समझा जा सकता है कि आदर्श इकाई कितनी बड़ी होगी यह हमेशा के लिए तय नहीं होता। अगर व्यवसायी एक नई मशीन लगा ले तो उसका औसत लागत वक्र अलहदा होगा और न्यूनतम औसत लागत का बिन्दु जगह बदल लेगा। इसलिए आदर्श इकाई मशीनरी तथा अन्य कुछ वस्तुओं पर जिनमें इमारत, उद्यमीपन आदि भी हैं और जिनको हम संयुक्त नाम—उत्पादन यन्त्र (plant) से पहचानते हैं—पर निर्भर है, और इस उत्पादन यन्त्र के पैमाने के साथ बदलती है।

आदर्श इकाई (optimum unit) अपने आकार में स्थिर नहीं होती। यदि मांग या सप्लाई की दशा बदल जाय तो यह बिन्दु आगे-पीछे जा सकता है। यदि मांग स्थायी रूप से बढ़ जाय तो एक नया आदर्श बिन्दु होगा। यदि ब्याज की दर कम हो गई है या उत्पादन के किसी अन्य साधन की सप्लाई की कीमत नीचे चली जाय तो, या अधिक योग्य मैनेजर आ जाय तो यह आदर्श बदल जायगा।

६. **प्रतिनिधि व्यवसाय** (Representative Firm) :—कुछ अर्थशास्त्रियों के मत में किसी उद्योग के विकास की रूपरेखा समझने के लिए यह जरूरी है कि हम अपनी कल्पना में एक ऐसी फर्म का ध्यान करें जिसे वे प्रतिनिधि व्यवसाय (represen-

tative firm) कहते हैं। डा० मार्शल ने इसकी परिभाषा एक प्रकार की औसत फर्म की है। यह सर्वोत्तम फर्म नहीं है। यह व्यवसाय काफी लम्बी अवधि से चल रहा होता है, इसे दरम्याने दर्जे की आन्तरिक और बाह्य मितव्ययिताएँ (internal and external economies) प्राप्त होती हैं, और यह एक औसत योग्यता वाले व्यक्ति द्वारा संचालित है। यह प्रतिष्ठान सर्वोत्तम और निकृष्ट के बीच में है।

७. **छोटे पैमाने पर उत्पादन के लाभ** (Advantages of Small scale Production) : बड़े उत्पादक की अपेक्षा छोटे उत्पादक को कुछ अपने लाभ हैं।

(i) **अच्छी देख भाल** (Close Supervision) : छोटे उत्पादक को स्वयं ही अपने व्यवसाय के हर छोटे से छोटे अंग का संचालन करना पड़ता है। किसी को भी मशीनरी या सामग्री खराब नहीं करने दिया जाता। कोई बेईमानी या धोखाधड़ी नहीं हो सकती।

(ii) **किफायती प्रबन्ध** (Economic Management) : लम्बा चौड़ा स्टाफ (staff) रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। लिखित आदेशों की जगह, जिन्हें आधा या गलत-सलत समझा या पूरा किया जाता है, ज़बानी बात-चीत हो सकती है। कोई लम्बे-चौड़े हिसाब के खाते नहीं रखे जाते। इस से बड़ी किफायत हो जाती है।

(iii) **ग्राहकों की ओर व्यक्तिगत ध्यान** (Personal Attention to Customers) : छोटा व्यवसायी ग्राहकों को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर पाता है। वह उनके आर्डरों का खुद ख्याल रखता है और उनकी गलतफहमियाँ या कठिनाइयाँ तुरन्त दूर कर देता है।

(iv) **कर्मचारियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क** (Personal Touch with the Employees) : मालिक अपने कर्मचारियों के साथ हमेशा व्यक्तिगत सम्पर्क रखता है। वह उनकी कठिनाइयों या शिकायतों को जल्दी दूर कर सकता है। इस तरह मालिक और नौकरों में अच्छे सम्बन्ध बने रहते हैं और हड़तालों (strikes) या तालाबन्दी (lock-outs) की नौबत कम आती है। इससे व्यवसाय उन्नति करता है।

(v) **अधिक समायोजन की क्षमता** (Greater Adaptability) : यदि व्यापार की अवस्था बदलती है तो छोटा उत्पादक अपनी दिशा शीघ्र बदल सकता है। वह अपने निर्णय शीघ्र कर सकता है।

(vi) **स्वतन्त्रता** (Independence) : छोटे पैमाने का उत्पादक खुश रहता है कि वह स्वतन्त्र है। वह किसी बड़े व्यवसाय में नीचे रह कर काम करना पसन्द नहीं करेगा। यह स्वतन्त्रता की भावना उसे कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा देती है।

(vii) **मांग का स्वभाव** (Nature of Demand) : छोटे उत्पादक को बड़े उत्पादक के मुकाबले में एक बड़ा फायदा रहता है, अगर मांग छोटी या बार-बार बदलने वाली है।

(viii) **उद्योग का स्वरूप** (Nature of Industry) : कुछ उद्योगों में जैसे दर्जीगीरी में व्यक्तिगत पसन्द (Personal factor) बड़ी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे

व्यवसाय को छोटे पैमाने पर चलाना बड़ा लाभदायक है।

८. **छोटे पैमाने पर उत्पादन की हानियाँ** (Disadvantages of Small-scale Production) :—छोटे पैमाने का उत्पादक वे मितव्ययिताएं नहीं कर सकता जो बड़े व्यवसायों को उपलब्ध हैं। उसकी कठिनाइयाँ निम्नलिखित हो सकती हैं:—

(i) आधुनिक यंत्र और श्रम-बचत करने वाले उपकरणों के उपयोग की गुंजायश कम होती है।

(ii) श्रम-विभाजन की गुंजायश कम होती है। इसलिए श्रम-विभाजन के लाभ उसे प्राप्त नहीं होते।

(iii) छोटे उत्पादक को कच्चा माल और दूसरे उपकरण खरीदने में कम किफायत होती है।

(iv) वह अन्वेषण (research) और प्रयोग (experiments) पर पैसा खर्च नहीं कर सकता।

(v) किराया, ब्याज, विज्ञापन आदि पर उत्पादन की प्रति इकाई व्यय अधिक आयगा। उसके ऊपरी खर्चे उत्पादन के मुकाबले में ज्यादा होते हैं।

(vi) अपने सीमित साधनों से वह बुरे वक्त का सामना नहीं कर सकता।

(vii) वह सस्ता उधार नहीं ले पाता।

(viii) उसके उत्पादन की उपवस्तुएं (by-products) अक्सर बर्बाद जाती हैं।

९. **क्या आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में छोटे उत्पादक का कोई स्थान है ?** (Has a small-scale producer any place in the Modern Economic System ?) :—ऊपर कहे गए दोषों के बावजूद भी छोटे पैमाने पर उत्पादन बिल्कुल खत्म नहीं हुआ है। बड़ कारोबार प्रतियोगिता में छोटे कारोबार को बिल्कुल खत्म नहीं कर सके। इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम जैसे उन्नत औद्योगिक देशों में भी छोटे पैमाने का उत्पादन अब भी जिन्दा है।

छोटे उत्पादक को किस बात ने सहायता की है ? : अनेक कारण हैं जिनसे छोटे पैमाने का उत्पादक अब तक जीवित है।

(i) छोटे पैमाने के उत्पादक को बड़े कारोबार के मुकाबले कुछ लाभ भी हैं जो हम ऊपर बता चुके हैं। वह हर बात की तरफ व्यक्तिगत ध्यान दे सकता है, अपने ग्राहकों और नौकरों की खबर रख सकता है, और उनका प्रबन्ध अधिक किफायत से हो जाता है।

(ii) कुछ कामों में, मांग का स्वभाव ऐसा होता है कि बड़े पैमाने के कारोबार मुकाबला नहीं कर सकते, विशेषकर जब माँग सीमित, स्थानीय या अस्थिर है। ऐसी अवस्था में बड़ा उत्पादन पूरा ही नहीं पड़ता, छोटे उत्पादक के लिए क्षेत्र खाली है।

(iii) कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनमें उत्पादन केवल छोटे पैमाने पर ही हो सकता है। जहाँ व्यक्ति की पसन्द (personal factor) अधिक महत्त्वपूर्ण है बल्कि अनिवार्य है, जैसे दर्जीगिरी और सुनारगीरी में। कहीं-कहीं मशीनरी और

श्रम-विभाजन के उद्योग की गुंजायश नहीं है जैसे, खेती, बागबानी, मुर्गियाँ पालने, या डेरी आदि में। ये उद्योग छोटे पैमाने के लिए बड़ा क्षेत्र खोल देते हैं।

(iv) कभी-कभी किसी बड़े कारोबार की उपस्थिति ही छोटे कारोबार के लिए काम का रास्ता खोल देती है। जैसे, साइकिलों, मोटर-ट्रकों या कारों की की मुरम्मत।

(v) कुछ हाल की घटनाओं ने छोटे उत्पादक को बड़ी मदद पहुँचाई है। (क) बिजली की खोज एक ऐसा ही कारण है। सस्ती बिजली अब उपलब्ध हो गई है और उसकी लागत जितनी करेन्ट खर्च होती है उसी के अनुसार है। इसलिए अब कारखाने में शक्ति उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं रही। इससे अब बड़े कारोबार को कोई विशेष लाभ नहीं रहा। (ख) शिल्पिक पत्रिकाओं (Technical Journals) ने वैज्ञानिक ज्ञान का इतना प्रचार कर दिया है कि अब यह बड़े कारोबार का एकाधिकार नहीं रहा। (ग) सहकारिता भी छोटे कारोबारी को सहायता करती है। एक दल बना कर संयुक्त कार्य करने से छोटे उत्पादक भी बड़े व्यवसायी को मिलने वाली सभी मितव्ययिताओं का लाभ उठा सकते हैं।

(vi) कुटीर-उद्योगों में एक और भी लाभ है कि वे घर के रुचिकर वातावरण में किए जा सकते हैं और उनमें कुटुम्ब के सभी सदस्यों की मुफ्त सहायता मिल सकती है।

भारतीय कुटीर-उद्योगों के जीवित रह सकने के और भी कुछ कारण हैं। ये पैतृक धन्धे हैं और उनसे लाभ हो या न हो उनका लोग पालन करते हैं। इन उद्योगों में कार्य करने वालों का जीवन-स्तर अत्यन्त नीचा है और इन उद्योगों की थोड़ी कमाई द्वारा भी वे अपना निर्वाह कर सकते हैं।

भारत में छोटे उद्योगों के लिए विस्तृत क्षेत्र है। अभी भी, कुटीर उद्योग लाखों आदमियों का पेट भरते हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और किसान साल में कई महीने विवश होकर बेकार और निष्क्रिय पड़ा रहता है। इसलिए खेती को उपयुक्त कुटीर-उद्योगों द्वारा सहारा देने की जरूरत है। इसके अलावा श्रम सस्ता है और मशीनरी महँगी। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ ने छोटे उद्योगों को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत कुछ किया है। कांग्रेस, भारत सरकार और राज्य सरकारें भी हर तरह से कुटीर-उद्योगों को अच्छा समर्थन दे रही हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में छोटे और कुटीर-उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इससे न केवल किसानों और दूसरे देहातियों की आर्थिक दशा सुधारेगी बल्कि बेकार लोगों को काम भी मिलेगा।

१०. आन्तरिक और बाह्य मितव्ययितायें (Internal and External Economies) :—हमने कहा कि कुछ मितव्ययिताएँ बड़े कारोबार को उपलब्ध हैं और कुछ अन्य छोटे उद्यम को। ये मितव्ययिताएं आन्तरिक और बाह्य इन दो श्रेणियों में आती हैं।

आन्तरिक मितव्ययिताएं वे हैं जो कि किसी व्यवसाय विशेष की अपनी हैं। वे दूसरे व्यवसायों को नहीं मिल सकती। वे एक व्यावसायिक मस्तिष्क की उपज होती

हैं। प्रत्येक मैनेजर का श्रम-शक्ति के संचालन का और उस से काम लेने का अपना-अपना तरीका है। वह जैसे बेहतर समझता है, मशीन का उपयोग करता है। कच्चा माल खरीदने में और तैयार माल की बिक्री करने में उसकी अपनी नीति होती है। वह इन उपायों को किसी और को नहीं बताता। अपनी योग्यता और प्रयत्न से प्रति इकाई लागत कम करता है। वह टेकनीक (technique) अर्थात् कार्य-विधि को अपने ढंग से सुधार कर कुछ किफायत कर लेता है। यह सब आन्तरिक मितव्ययिताएँ कहलाती हैं। ये किसी व्यवसाय के अन्दर की चीजें हैं और केवल किसी एक उद्यमी की उत्कृष्ट संगठन-शक्ति के ही कारण हैं। ये व्यावसायिक भेद (business secrets) हैं। यह मितव्ययिताएँ बड़े कारोबार में ही सम्भव हैं और उन्हीं कार्य-प्रणालियों (techniques) तथा उपायों (methods) के उपयोग में सम्भव हैं जो छोटे व्यवसायी को उपलब्ध नहीं हैं। ये मितव्ययिताएँ शिल्पिक, प्रबन्ध-सम्बन्धी, वित्तीय या वाणिज्य-सम्बन्धी हो सकती हैं।

बाह्य मितव्ययिताएँ वे हैं जो किसी कारोबार की आन्तरिक वस्तु नहीं हैं। वे सब को मालूम हैं और सभी उनका लाभ उठाते हैं। वे आमतौर पर तब उठती हैं जब कोई उद्योग स्थानीकृत (localised) हो जाता है, जैसे सहायक उद्योगों की उपस्थिति, साख और यातायात की सुविधाएँ, आदि। उनका सभी फर्में लाभ उठा सकती हैं—दलाल, कच्चा माल बेचने वाले, आढ़तिए, एजेंट वगैरा—वह सभी को उपयोगी सेवाएँ देते हैं। उधार की सुविधाएँ मिलने लगती हैं। शिल्पिक-पत्र आरम्भ होते हैं। संस्थाएँ बन जाती हैं। हर फर्म इनका लाभ उठा सकती है। ये बाह्य मितव्ययिताएँ सभी को प्राप्त हैं और सभी इनसे फायदा उठाते हैं। ये किसी व्यवसाय विशेष का एकाधिपत्य नहीं हैं। यह किसी उद्यमी की श्रेष्ठ संगठन-क्षमता नहीं है जिसके कारण यह मितव्ययिता प्राप्त हुई हो। यह किसी विशेष कम्पनी की श्रेष्ठ शिल्पिक निपुणता का फल नहीं है। यह उस स्थान की विशेष आर्थिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हैं और हर एक उनसे लाभ उठाता है।

इस अध्याय की ज्ञातव्य बातें

बड़े उत्पादन की मितव्ययिताएँ (Economies of large-scale production):

(i) विशिष्टीकृत और आधुनिकतम यंत्र-तन्त्र।
(ii) विशिष्टीकृत श्रम की मितव्ययिता।
(iii) क्रय-विक्रय में किफायत।
(iv) प्रति इकाई ऊपरी व्यय में किफायत।
(v) किराए में किफायत।
(vi) वैज्ञानिक प्रयोग एवं अनुसन्धान का फायदा।
(vii) विज्ञापन और सेल्समैनी में किफायत।
(viii) उप-वस्तुओं का उपयोग।
(ix) बुरे वक्त का मुकाबला करने की ताकत।
(x) सस्ते उधार की सुविधा।

बड़े पैमाने के कारोबार की कठिनाइयाँ (Disadvantages of a large scale business):

(i) अधूरी देखरेख।
(ii) ग्राहकों की व्यक्तिगत रुचि को ध्यान में नहीं रखा जा सकता।
(iii) मालिक और नौकरों में व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता।
(iv) अधिक उत्पादन से मंदी आ सकती है।
(v) विदेशी मंडियों पर निर्भरता खतरनाक है।
(vi) गला-काटू प्रतिस्पर्धा।
(vii) अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता युद्ध का कारण बनती है।

किसी कारोबार का आकार किन बातों से निर्धारित होता है (What limits the size of a Business) :

(i) श्रम और पूंजी की दुर्बलता।
(ii) मंडी का स्वरूप।
(iii) प्रबन्ध-सम्बन्धी क्षमता।
(iv) उद्योग का स्वरूप।
(v) घटती हुई उपज के नियम का लागू होना।

आप्टीमम फर्म (Optimum firm) : आदर्श इकाई वह उचित आकार है, जिसमें प्रति इकाई निम्नतम लागत होती है। आदर्श फर्म हमेशा के लिए स्थिर नहीं, वह उत्पादन-यन्त्र (जिसमें मशीनरी आदि साधन शामिल हैं) के बदलने के साथ बदलती है।

प्रतिनिधि व्यवसाय (Representative firm) वह औसत फर्म है जो काफी दिनों से चल रही है, जिसको औसत दर्जे की आन्तरिक व बाह्य मितव्ययिताएँ उपलब्ध हैं और जो लाभ की ठीक-ठीक दर कमा रही है।

छोटे उत्पादन के लाभ (Advantages of small-scale production) :

(i) नजदीकी देखभाल (close supervision)।
(ii) प्रबन्ध में किफायत (Economical Management)।
(iii) ग्राहक की ओर निजी ध्यान देना।
(iv) मालिक और नौकरों के बीच में व्यक्तिगत सम्पर्क।
(v) समायोजन की आर्थिक क्षमता
(vi) आर्थिक स्वतन्त्रता।

छोटे उत्पादन के दोष। (Disadvantages of Small-scale production) :

(i) मशीनरी के उपयोग की कम गुंजायश होती है।
(ii) श्रम-विभाजन की कम गुंजायश होती है।
(iii) क्रय-विक्रय में किफायत नहीं होती।
(iv) खर्चीले प्रयोग या अन्वेषण नहीं किए जा सकते।
(v) प्रति इकाई ऊपरी (overhead) खर्चे, किराए, प्रतिष्ठान-व्यय (establishment expenses) आदि अधिक होते हैं।
(vi) बुरे वक्त का सामना करना कठिन होता है।
(vii) सस्ता ऋण नहीं मिल पाता।
(viii) उप-वस्तुएँ बर्बाद जाती हैं।

छोटे उद्योग के जीवित रहने के कारण Causes of survival of Cottage Industries) :

(i) अच्छी देखरेख और नौकरों और ग्राहकों से अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा मिलने वाले फायदे।
(ii) कुछ वस्तुओं के लिये मांग परिमित, स्थानीय तथा अस्थिर होती है।

(iii) उद्योगों में व्यक्तिगत पसन्द (personal factor) का बड़ा महत्त्व होता है और मशीन के उपयोग का क्षेत्र बड़ा सीमित होता है।

(iv) कुछ बड़े उद्योग ही छोटे धन्धे पैदा करते हैं।

(v) कुछ नई प्रगति भी छोटे उत्पादक के लिए सहायक है, जैसे
(क) बिजली,
(ख) शिल्पिक पत्र, और राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में अन्वेषण,
(ग) सहकारिता आन्दोलन,

(vi) कुटीर उद्योगों का सरल और रुचिकर वातावरण, भारत में कुटीर उद्योगों के विकास का बड़ा क्षेत्र है। मशीनरी मंहगी है, श्रम सस्ता। दूरी ज्यादा है और परिवहन तथा संचार के साधन पूर्ण विकसित नहीं हैं। छोटे उद्योगों का कृषि के साथ मेल बिठाया जा सकता है।

आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताएँ (Internal and External Economies): आन्तरिक मितव्ययिताएं किसी व्यवसाय-विशेष की अपनी हैं और दूसरों को मालूम नहीं। ये किसी विशेष उद्यमी के श्रेष्ठ संगठन, योग्यता, और शिल्पिक निपुणता के फलस्वरूप हैं।

बाह्य मितव्ययिताएँ सभी उद्योगों के लिए समान हैं। यह स्थानीकृत उद्योग से उत्पन्न होती हैं। इनका सब फायदा उठाते हैं। यह किसी विशेष व्यवसायी का रहस्य नहीं हैं

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो

1. What do you understand by large-scale producton? Give examples to show the class of industries in which the advantages of large-scale production are most marked.

(देहली, १९४६)

[देखिये विभाग २, परिवहन तथा निर्माणकारी उद्योग ऐसे ही उद्योग हैं]

2. Indicate the advantages and disadvantages of large-scale production. (मद्रास, १९३७)

देखिये विभाग २, ३।

3. What are the limits to the growth of a business?

(जम्मू और काश्मीर १९५३, यू० पी० १९२८)

देखिये विभाग ४

4. What factors are responsible for the survival of small-scale industries? (जम्मू और काश्मीर १९५३, यू० पी० १९४०)

देखिये विभाग ६

5. Where and why is small-scale production more profitable than large-scale production?

(अजमेर, १९५५)

Or

Has a small-scale producer any place in modern Indian economy? Can you mention some industries which can be successfully run on a small scale in the Punjab?

[पंजाब में बहुत से स्थानीकृत उद्योग हैं। अनेक जिले अपनी-अपनी विशेष वस्तुएं बनाते हैं। इन सबका और विकास किया जा सकता है। और इन्हें वैज्ञानिक ढंग से चलाया जा सकता है। फिर कुछ उद्योग कृषि पर आधारित हैं, जैसे, जैम बनाना, छोटे कोल्हुओं द्वारा भी चीनी बहुत कम

लागत पर बनाई जा सकती है। फल का संरक्षण (Fruit Preservation) और डब्बों में बन्द करना (Canning) भी ऐसे उपयुक्त उद्योग हैं जो छोटे पैमाने पर सफलता से चलाये जा सकते हैं।

6. Examine briefly the advantages of large-scale and small-scale industries. Which of them in your opinion are suitable to India and why? (बम्बई, १९५३)

[देखिए विभाग २, ७। क्योंकि भारत में पूंजी दुर्लभ है, मशीनरी मंहगी है और श्रम सस्ता है, इसलिए छोटे उद्योग इस समय अधिक उपयुक्त हैं। कुछ समय बाद हम काफी संख्या में बड़े उद्योग खोल सकते हैं।]

7. What do you understand by 'scale of production'? Why does this scale differ from country to country? Give illustrations from India. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५३)

[उत्पादन के पैमाने से हमारा मतलब है वह पैमाना जिस पर वस्तुओं का उत्पादन होता है। वे बड़े पैमाने पर उत्पादन की जाती हैं या छोटे पर।]

कारोबार का पैमाना किसी देश की जन-संख्या और उसके चरित्र पर निर्भर है। साथ ही कच्चे माल और मंडियों की उपलब्धि, शिल्पिक ज्ञान की अवस्था, प्रबन्ध-संबंधी योग्यता का स्तर, पूंजी की उपलब्धि और राज्य की नीति पर भी। भारत में आम तौर पर उत्पादन छोटे पैमाने पर है। कृषि जो सबसे बड़ा उद्योग है छोटे पैमाने पर है क्योंकि खेत छोटे हैं। कारोबार में छोटे सौदे बहुत हैं। पूंजी की कमी, उद्यम-सम्बन्धी योग्यता, प्रबन्ध-सम्बन्धी तथा कार्य-सम्बन्धी कुशलता और शिल्पिक ज्ञान की कमी वे कारण हैं जिनसे भारत में अब तक छोटे पैमाने का उत्पादन महत्त्वशाली है।]

8. Indicate the chief economies that an entrepreneur can obtain from internal resources in an industry. To what extent is he dependent upon external economies for the conduct of his enterprise? (राजपूताना, १९४२)

Or

Distinguish between internal economies and external economies. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४४)

देखिये विभाग १०

अध्याय १४

व्यावसायिक संगठन के रूप

(FORMS OF BUSINESS ORGANISATION)

आप क्या बनना पसन्द करते हैं—मालिक, साझी, शेयर होल्डर या सहकारी ?

१. **प्रवेशिका** (Introduction) :—पिछले अध्यायों में हमने उत्पादन के चारों साधनों—भूमि (land), श्रम (labour), पूंजी (capital) और संगठन (organisation)—का अध्ययन पूरा किया। उत्पादन के क्षेत्र में विभिन्न समस्याएं उत्पन्न होती हैं उन पर भी काफी प्रकाश डाला गया। इस अध्याय में हम उन विधियों का अध्ययन करेंगे जिनसे व्यापार का संगठन होता है और इसको चलाया जाता है।

यदि आप कोई व्यापार शुरू करने का विचार करें तो आपके सम्मुख क्या-क्या समस्याएँ होंगी ? आप इस तरह के काम को अकेले भी आरम्भ कर सकते हैं, या आप अपने किसी सम्बन्धी, अथवा मित्र के साथ साझे (partnership) में कार्य शुरू कर सकते हैं। इसके अलावा आप किसी सीमित कम्पनी (limited company) में शेयरहोल्डर बन सकते हैं, या किसी उत्पादक सहयोगी संस्था (producers' co-operative society) के सदस्य बन सकते हैं। इसके अलावा और भी कई तरीकों से आप काम शुरू कर सकते हैं।

व्यावसायिक संगठन के मुख्य रूप ये हैं—व्यक्तिगत उद्यम, संयुक्त पूंजी की कम्पनी (joint stock limited company), एकाधिपत्य (monopoly), सहयोगी व्यापार, राज्य उद्योग (state) और राज्य-पालिका उपक्रम (municipal undertakings)। अब हम उपर्युक्त हर एक हिस्से पर अलग-अलग विचार करेंगे।

२. **व्यक्तिगत स्वामित्व** (Individual Proprietorship) :—हमारे देश में प्रायः व्यक्तिगत व्यापार का अधिक प्रचार है। खेती और फुटकर (retail) धन्धों में तो व्यापार का यही रूप प्रचलित है।

इस प्रकार के उद्यम में, उद्यमी को अकेले ही समस्त पूंजी जुटानी पड़ती है (चाहे इस काम के लिए उसे उधार ही क्यों न लेना पड़े), वही अपने व्यापार को संगठित करता है और निरीक्षण करता है, और परिणाम के लिए भी वह खुद ही उत्तरदायी होता है। कभी-कभी जरूरत पड़ने पर वह अपनी सहायता के लिये कुछ सहायकों को भी भर्ती कर लेता है।

इस प्रकार के काम में कुछ लाभ होते हैं : व्यापार छोटे स्तर (small-scale) पर होता है, और छोटे स्तर के उत्पादन की सभी आर्थिक सुविधाएँ

उसे प्राप्त होती हैं। मुख्य लाभों का संक्षिप्त परिचय यह है :—

(क) चूंकि जोखिम पूरी तौर पर उसी का होता है इसीलिए उद्यमी की कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा बनी रहती है। वह काफी समय तक परिश्रम करता है।

(ख) चूंकि प्रत्येक काम पर उसका कड़ा निरीक्षण होता है इसलिए माल बढ़िया किस्म का होता है और कीमत भी कम होती है।

(ग) वह सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि हर एक ग्राहक की पूरी-पूरी संतुष्टि हो जाय। यह इसलिए सम्भव हो पाता है कि मालिक की अपने काम में पूरी-पूरी रुचि होती है।

(घ) नौकरों को भी पूरी तौर से प्रसन्न और शान्त रखा जा सकता है। क्योंकि मालिक और नौकर के बीच में निजी सम्बन्ध होता है। वह उनके प्रति उदारता और दया का भाव रखता है।

(च) ऊपर के खर्चे कम होते हैं क्योंकि कर्मचारियों (staff) की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है।

(छ) उद्यमी स्वयं ही अपना 'मालिक' (boss) होता है। उसे किसी दूसरे की इच्छा पर चलना नहीं होता ; और

(ज) इस प्रकार के व्यापार को खोलना और बन्द करना सरल होता है क्योंकि एक मालिक के सिवाय किसी का कोई सम्बन्ध नहीं।

परन्तु इसके विपरीत अकेले उद्यमी को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार के व्यापार-संगठनों के निम्नलिखित दोष भी होते हैं :—

(क) **साधन सीमित होते हैं** (The resources are limited) : उद्यमी मांग बढ़ती हुई देखकर भी सरलता के साथ अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सकता। निधि (fund) की कमी के कारण कई लाभदायक अवसरों का फायदा नहीं उठा सकता। प्रायः उसका काम-धन्धा छोटे स्तर पर ही चलता रहता है।

(ख) **श्रम-विभाजन सम्भव नहीं होता** (No division of labour is Possible) : चूंकि उसको सारी देख-भाल अकेले ही करनी पड़ती है इसलिए कई बार जिम्मेदारी को निपुणता के साथ नहीं निभा सकता।

(ग) सारे प्रयत्नों के बाद भी इस प्रकार के काम से आमदनी थोड़ी होती है।

(घ) एक व्यक्ति का व्यापार (One-man business) बड़े व्यापार की तुलना में नहीं टिक सकता। इसीलिए इसका भविष्य हमेशा आशंकित रहता है।

(च) इसलिए कोई भी देश यदि छोटे-छोटे व्यापारों में ही फँसा रहे तो आर्थिक रूप से पिछड़ा ही रहेगा। इस प्रकार के छोटे और प्राचीन संगठनों के रहने से देश कभी भी औद्योगिक नेतृत्व (industrial leadership) प्राप्त नहीं कर सकता।

परिणाम : इन सभी कठिनाइयों के बावजूद भी इस तरह के उद्यम के लुप्त होने की सम्भावना नहीं है। योग्य उद्यमी साझेदारी (partnership) पसन्द नहीं

करते और न ही सार्वजनिक कम्पनियों (public companies) में नौकरी करना चाहते हैं। वे अपना काम स्वतन्त्र रूप से चलाना चाहते हैं। खेती और फुटकर स्टोर निजी उद्योग के मुख्य क्षेत्र हैं।

३. **साझेदारी** (Partnership) :—कभी-कभी छोटा काम भी ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है कि इसे चलाना एक व्यक्ति के लिए कठिन हो जाता है और एक मालिक भी सब काम करने में असमर्थ हो जाता है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि व्यापार को बन्द होने से बचाने के लिए किसी दूसरे साझी को मिला लिया जाय। इसी प्रकार का व्यापार कुदरती तौर पर साझेदारी में विकसित हो जाता है।

कई बार नया काम आरम्भ करते समय ही साझा शुरू होता है। किसी कार्य को करने के लिए २ या ३ साझी मिल जाते हैं। उनके पारस्परिक सम्बन्ध उनके अधिकार और कर्तव्य, प्रत्येक की पूंजी और लाभ-हानि आपस में बांटने का अनुपात आदि, इन सब बातों का साझेदारी-पत्र (partnership deed) में स्पष्टतया उल्लेख कर दिया जाता। करार (agreement) में साझेदारी के लक्ष्य और उसे तोड़ने (dissolve) करने की रीति भी उल्लेख कर दी जाती है। करार मौखिक या लिखित किसी भी रूप में हो सकता है।

प्रत्येक साझी कानूनी तौर पर साझेदारी का अधिकार-युक्त प्रतिनिधि (authorised agent) होता है, और प्रत्येक साझी दूसरे साझियों को किसी करार में बाँधने का हकदार होता है जो वह दूसरों के साथ करें। प्रत्येक साझी फर्म (firm) के ऋण के लिए न सिर्फ उसी भाग के लिये जो कि व्यापार में लगा है, बल्कि अपनी निजी सम्पत्ति आदि तक के लिए भी उत्तरदायी होता है। दूसरे शब्दों में दायित्व (liability) अपरिमित होता है।

सीमित साझेदारी (Limited Partnership) : एक दूसरी तरह की साझेदारी भी होती है जिसके अनुसार एक या एक से अधिक साझी साझेदारी के ऋण के लिए अपने उत्तरदायित्व, व्यापार में लगी पूंजी अथवा उसके एक निश्चित अनुपात (fixed proportion) तक सीमित करा सकते हैं। इसी का नाम सीमित साझेदारी है। परन्तु सभी साझियों का उत्तरदायित्व, (liability) सीमित नहीं हो सकता। कुछ ऐसे साझी भी होने चाहिएँ जिनका दायित्व असीमित हो। सीमित दायित्व वाले साझी व्यापार में सक्रिय भाग नहीं ले सकते। इन ही को सुप्त या निष्क्रय (sleeping or dormant) साझी कहते हैं।

४. **साझेदारी के गुण-दोष** (Merits and Demerits of Partnership) :—निजी स्वामित्व की बजाय साझेदारी में अधिक लाभ होते हैं। इस तरह का काम छोटा होता है परन्तु बहुत छोटा नहीं। ऐसे काम में छोटे और बड़े स्तर के व्यापार की सभी किफायतें मिलती हैं। वे इस तरह हैं :—

(i) **अधिक पूँजी** (More Capital) : इसके अधीन पूंजी के बड़े स्रोत होते हैं। चूंकि प्रत्येक साझी का दायित्व असीम होता है और सारे साझी इकट्ठे और अलहदा-अलहदा दोनों तरह ऋण का भुगतान करने के उत्तरदायी होते हैं इसलिए

पैसा लगाने वाले अपने पैसे के बारे में अधिक निश्चिन्त रहते हैं। ऐसे व्यापार के लिए अधिकाधिक निधि संचित करना सरल कार्य होता है। इसलिए ऐसे व्यापार को बड़े स्तर पर चलाया जा सकता है और उसके लाभ भी उठाए जा सकते हैं।

(ii) **बहुमुखी प्रतिभा** (Diverse Talent) : साझेदारी के जरिए विविध गुणों और योग्यताओं को एक स्थान पर इकट्ठा होने का अवसर मिलता है। साझेदारी को प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों की सेवा का सुअवसर प्राप्त होता है और साझियों में किसी सीमा तक विशिष्टीकरण भी सम्भव होता है। इन विशेषताओं के कारण कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इसको हम चित्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं :—

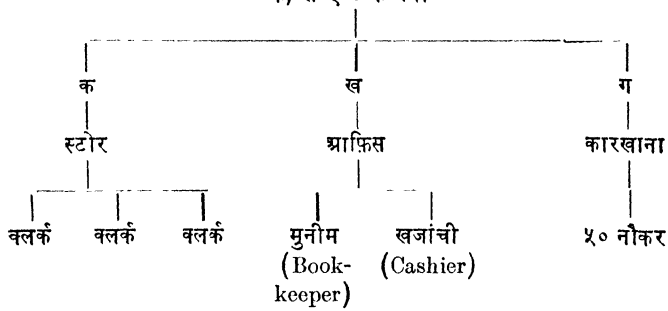

उपर्युक्त चित्र से यह स्पष्ट है कि क स्टोर आदि की देखरेख करता है, ख दफ्तर की जिम्मेदारी लेता है और ग कारखाना चलाता है। यह श्रम-विभाजन बहुत लाभदायक सिद्ध होता है।

साझे में गलत निर्णय की सम्भावना कम होती है। एक समस्या पर कई पहलुओं से विचार कर लिया जाता है इसलिए यह निर्णय एक व्यापारी के निर्णय की अपेक्षा अधिक सही होता है।

(iii) **शक्ति और उत्साह** : साझी काफी उत्साह और लगन से काम करते हैं। प्रत्येक साझी से यह आशा की जा सकती है कि उसकी काम में पूरी-पूरी रुचि होगी और वह पूरे मन से कार्य करेगा।

(iv) **तात्कालिक निर्णय** (Prompt Decisions) : साझी एक दूसरे से बराबर मिलते रहते हैं इसलिए निर्णय तुरन्त हो जाता है। व्यापार में समय का बड़ा महत्त्व होता है। साझे में व्यापार की गतिविधि समझ कर हरएक व्यापारिक अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है और तुरन्त निर्णय भी किए जा सकते हैं।

(v) **निजी सम्बन्ध** : साझे में नौकरों और ग्राहकों के साथ निजी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अच्छे कारोबार के लिए यह बहुत जरूरी।

दोष (Demerits) : साझेदारी में निम्नलिखित दोष होते हैं :—

(i) **अपरिमित दायित्व** (Unlimited Liability) : चूंकि साझी का

1. Fay—Elements of Economics, 1926, p. 104.

उत्तरदायित्व अपरिमित होता है वह फर्म (firm) के सारे ऋण के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है न कि सिर्फ व्यापार में लगे अपने भाग के लिए। यह शर्त धनिकों को डरा देती है। इसलिए वे उनका साथ करते हुए डरते हैं जिनमें योग्यता तो है, पर जिनके पास पूंजी नहीं है।

इस अपरिमित दायित्व के कारण से साझेदारी में कमजोर नीति अपनाई जाती है। क्योंकि हर साझी को इस बात की फिक्र रहती है कि साझे में कोई भारी दायित्व (heavy liability) या खतरा (risk) न हो। ऐसा होने पर किसी एक पर फर्म का सारा कर्जा चुकाने का बोझ पड़ सकता है।

(ii) **कम काम और अधिक क्षय** (Less work and more waste) : अक्सर ऐसा देखने में आता है कि हर साझी काम से जी चुराता है और दूसरे पर ही काम थोपना चाहता है। इसके विपरीत वह अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। चूंकि साझेदारी निधि (partnership fund) सब की होती है इसलिए हर साझी पैसा बरबाद करता है। दूकान के सहारे प्रत्येक साझी धन बटोरने की फिक्र में रहता है।

(iii) **आपसी फूट** (Mutual Dissentions) : अक्सर आपस में फूट पड़ जाती है और काम का नुकसान होता है। साझियों का आपसी झगड़ा और मनमुटाव तो मामूली बात है।

(iv) **अस्थायित्व** (No Permanency) : किसी साझी के रिटायर होने (Retirement), मृत्यु, दिवालियापन (Insolvency) या पागलपन आदि कोई आकस्मिक घटना होने पर साझा खत्म (dissolve) करना पड़ता है। इस तरह साझे में कोई स्थायी क्रम नहीं चल पाता।

(v) **पैसा फंस जाता है** (Money locked up) : साझेदारी में साझी पूरी तौर से बंधा होता है। बिना दूसरे साझियों की मर्जी के कोई एक साझी अपने हिस्से का तबादला नहीं कर सकता।

(vi) **अपर्याप्त निधि** (Insufficient funds) : साधारणतया साझे में इतने साधन resources) नहीं रहते कि जिनसे निर्माण या व्यापार कार्य बड़े पैमाने पर किया जाय। इसलिए इसे छोटे-पैमाने के उत्पादन में होने वाली सभी हानियों का सामना करना पड़ता है और बड़े पैमाने की आर्थिक किफायतों (economies) से वंचित रहना पड़ता है।

५. **संयुक्त पूंजी की कम्पनी** (Joint-stock Company) :—आजकल संयुक्त पूंजी की कम्पनी या ज्वांएट स्टाक कम्पनी नामक व्यापार-संगठनों का बड़ा प्रचार है। वास्तव में, अच्छी किस्म का और प्रथम श्रेणी का व्यापार इसी तरह संगठित हो सकता है।

सीमित कम्पनी (Limited Company) का इस प्रकार संगठन किया जाता है। योजना बनाने वाला उद्यमी (entrepreneur) कम से कम छः अन्य व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना चाहता है चूंकि कम्पनी बनाने के लिए कम से कम संख्या ७ होती है। वे मिलकर कम्पनी बनाने के लिए कदम उठाते

हैं। वे संस्था के ज्ञापन (Memorandum of Association) का प्रारूप या ड्राफ्ट (draft) तैयार करते हैं जिसमें कम्पनी का नाम लिखा होता है। इसके अलावा इसमें मुख्य कार्यालय (head office), प्रयोजन और उद्देश्य (aims and objects), शेयर पूँजी की राशि, शेयरों की किस्में और मूल्य (value) दिया होता है और अन्त में यह स्पष्ट किया जाता है कि दायित्व परिमित है (liability is limited)। संस्था के अनुच्छेदों (Articles of Association) के अनुसार कम्पनी के नियमों और विनियमों (Rules and Regulations) का प्रारूप (draft) भी तैयार किया जाता है। इन दोनों दस्तावेजों (documents) को संयुक्त पूँजी-कम्पनियों के रजिस्ट्रार के सामने पेश किया जाता है। रजिस्ट्रार सन्तुष्ट हो जाय कि ये (प्रारूप) सभी नियमों और विधि-विधानों की दृष्टि से ठीक हैं तो वह एक प्रमाण-पत्र या सर्टिफिकेट (Certificate) दे देता है और कम्पनी का जन्म होता है।

इसके बाद सदस्य शेयर बेचते हैं। शेयर कई तरह के होते हैं, जैसे—अधिमान (Preference), साधारण (General) और आस्थगित (Deferred)। अधिमान शेयरहोल्डर्स को कम्पनी के मुनाफे में से सबसे पहले अपना भाग लेने का अधिकार होता है। अधिमान शेयर संचित अधिमान शेयर (Cumulative Preference shares) हो सकते हैं, उस दशा में शेयर होल्डर (Shareholder) को किसी वर्ष मुनाफा न होने पर भी एक निश्चित लाभांश (dividend) मिल जाता है। उनका लाभांश संचित होता है। दूसरी किस्म के शेयर असंचित अधिमान शेयर (non-cumulative shares) कहलाते हैं। इस तरह के शेयर होल्डरों को सिर्फ उसी वर्ष का लाभांश मिल सकता है, जिस वर्ष काफी लाभ (profit) हुआ हो। अधिमान शेयर होल्डर्स के बाद साधारण शेयर होल्डर्स की बारी आती है। और सब के बाद में आस्थगित शेयर होल्डर्स की। ये शेयर आम तौर पर व्यवसाय संचालकों के पास होते हैं। किन्तु इनकी संख्या बहुत कम होती है। यानी हिस्सेदारों में बांट देने के बाद जो लाभ बचता है वह इनमें आपस में बँट जाता है। यह राशि बड़ी मात्रा में भी हो सकती है। मुनाफे का बड़ा भाग अपने लिए बचाने के लिए कम्पनी के संचालक (Promoters) इस तरीके को अपनाते हैं।

शेयर बेचने के अलावा कम्पनी बाँड (bond) और ऋण-पत्र (debentures) आदि बेचकर भी पैसा जमा करती है। ऋणपत्र, जैसा कि नाम से जाहिर है, वह दस्तावेज है जिसमें कम्पनी द्वारा लिया गया ऋण दिखाया जाता है। शेयर होल्डर्स की तरह डिबेंचर-होल्डर्स कोई जोखिम उठाने के लिए तैयार नही होते। लाभ हो या हानि, उन्हें सूद मिलना ही चाहिये। वे अपनी कम्पनी के साहूकार होते हैं।

इसके पश्चात् शेयर होल्डर्स अपने नाम पर काम चलाने के लिए निर्देशकों (directors) का चुनाव (election) करते हैं। वार्षिक अधिवेशनों में डायरेक्टरों को शेयर होल्डरों के सामने अपनी नीति की सफाई देनी होती है। अगर शेयर होल्डर्स को तसल्ली न हो, तो वे उनके स्थान पर दूसरे निर्देशक भी चुन सकते हैं। निर्देशक मण्डल (board of directors) सिर्फ साधारण नीति बनाता और खास

मासलों पर विचार-विमर्श करता है। दैनिक कार्य के लिए वेतन प्राप्त सेक्रेटरी, मैनेजर, मैनेजिंग डायरेक्टर या मैनेजिंग एजेन्ट होते हैं।

कम्पनी संगठन का ढांचा निम्न प्रकार का होता है :

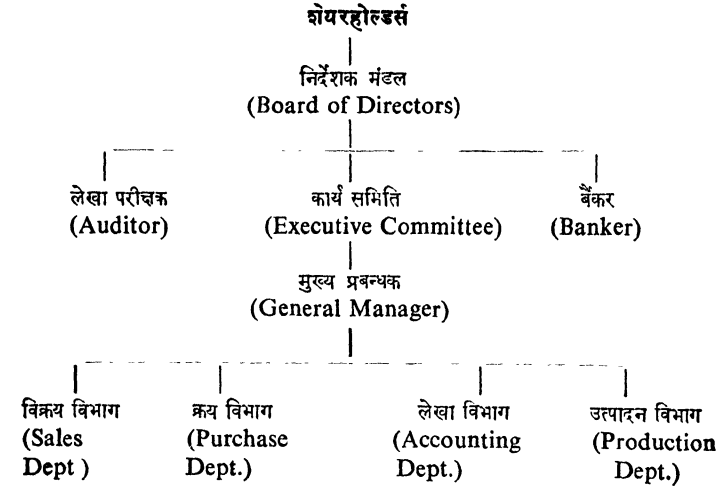

सार्वजनिक परिमित कम्पनी (Public Limited Company) : संयुक्त पूंजी कम्पनी सार्वजनिक परिमित समवाय का रूप भी धारण कर सकती है। ऐसी कम्पनियों को कुछ विशेष विवरण (statements) और बेलेन्स-शीट (balance sheet) आदि संयुक्त स्टाक कम्पनियों के रजिस्ट्रार के सामने एक निश्चित अरसे के बाद पेश करने होते हैं। प्रोस्पैक्टस (prospectus) के द्वारा ये अपने शेयर पब्लिक (public) में भी बेच सकते हैं। शेयर होल्डर बनाने की अधिकतम संख्या नियत नहीं होती, कम से कम संख्या ७ होती है। व्यापार तब तक आरम्भ नहीं किया जा सकता, जब तक पूंजी की एक न्यूनतम राशि जमा न हो जाय।

निजी परिमित कम्पनी (Private Limited Company) : इसके अधीन रजिट्रार के सामने कोई विशेष विवरणी (Returns) पेश करने की ज़रूरत नहीं होती। परन्तु इस पर कुछ निर्बन्धन (restrictions) या मनाहियाँ होती हैं। ये कम्पनी प्रोस्पैक्टस जारी नहीं कर सकती। शेयर होल्डर्स की अधिकतम संख्या ५० होती है।

संयुक्त पूंजी-कम्पनी और साझेदारी की तुलना (Comparison between Joint-stock Company and Partnership) : संयुक्त-स्टाक कम्पनी के ऊपर के विवरण से हम आसानी से इसकी वे विशेषताएँ देख सकते हैं जिनके कारण यह साझेदारी से भिन्न है।

(i) इस प्रकार की कम्पनी में शेयर होल्डरों की संख्या साझेदारों की संख्या से अधिक होती है। इसमें संख्या हज़ारों तक हो सकती है। कभी-कभी तो वे (शेयर-होल्डर्स) देश के कोने-कोने में फैले होते हैं और कभी-कभी सारे संसार में।

लेकिन साझियों की संख्या बहुत कम होती है और उनमें आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ और हर वक्त का होता है।

(ii) संयुक्त-स्टाक-कम्पनी के वित्तीय साधन (financial resources) बहुत विशाल होते हैं। किसी भी साझे (partnership) द्वारा इतनी पूंजी जमा नहीं की जा सकती।

(iii) कम्पनी में दायित्व परिमित (limited) होता है। परन्तु साझे में अपरिमित।

(iv) कम्पनी काल्पनिक (fictitious) किन्तु वैध (legal) व्यक्ति होता है। इसलिए यह दावा कर सकता है और इस पर दावा किया भी जा सकता है। इसके विपरीत साझे में एक साझी दावा कर सकता है या एक साझी पर दावा किया जा सकता है, न कि कम्पनी के नाम पर।

(v) लिमिटेड कम्पनी का अस्तित्व कानून सम्मत होता है। इसका जन्म राज्य (state) के कानूनों के आधीन होता है और यह हर वक्त कानून के मातहत, और उसके निरीक्षण में अपना काम करती है। इसके विपरीत साझेदारी आज़ाद है। वह कानून के पंजे में तब फंसती है जब कानून का इसके विरुद्ध उपयोग किया जाता है। साझे में कोई भी बंध-व्यापार किया जा सकता है किन्तु कम्पनी अपने ज्ञापन (memorandum of association) के नियमों के विरुद्ध नहीं जा सकती जिसमें उसके उद्देश्य तथा कार्य निश्चित होते हैं।

(vi) कम्पनी का अस्तित्व हमेशा रहता है (A company has a perpetual existence) : किसी शेयर होल्डर या डायरेक्टर की निवृत्ति (retirement) या मृत्यु के बाद भी कम्पनी को विघटित (dissolve) नहीं किया जा सकता। जबकि साझेदारी किसी साझी की निवृत्ति, मृत्यु, उन्माद या दिवालिये होने की अवस्था में भंग हो जाती है।

(vii) कम्पनी में निजी सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं होता, परन्तु साझेदारी में यही बात सब से खास होती है। इस बात का प्रमाण इससे मिलता है कि शेयर-होल्डर बिना कम्पनी की मर्ज़ी के शेयर बेच सकता है। परन्तु साझे में कोई साझी बिना दूसरे साझियों की अनुमति के अपने भाग का तबादला नहीं कर सकता।

(viii) साझे में मालिक स्वयं कार्य संचालन करते हैं। परन्तु कम्पनी में शेयर होल्डर्स जो कम्पनी के मालिक होते हैं, प्रबन्ध (management) को निर्देशक मण्डल (board of directors) के जिम्मे सौंप देते हैं। इसलिए स्वामित्व (ownership) नियन्त्रण (control) से भिन्न हो जाता है।

७. संयुक्त-पूंजी-कम्पनी से लाभ (Advantages of Joint-stock Organisation) :—अब हम संयुक्त पूंजी के संगठन के गुणों को देखेंगे।

(i) **बड़े स्तर की किफायतें** (Economies of Large-scale) : कम्पनी अपने विस्तृत साधनों के कारण (large financial resources) उत्पादन की भीतरी और बाहरी किफायतों (external and internal economies) को पाने के लिए जितने बड़े पैमाने पर आवश्यक है उतने बड़े स्तर पर काम करने में समर्थ होती है। जैसे,

आधुनिक यन्त्रों का उपयोग, श्रम-विभाजन, क्रय और विक्रय में किफ़ायत, वितरण (distribution), विज्ञापन और प्रशासन (publicity and administration) के ऊपरी खर्चों में कमी, शोध और प्रयोग (research and experiments) इत्यादि में।

(ii) **परिमित दायित्व** (Limited Liability) : परिमित दायित्व से बड़ा लाभ होता है। शेयर कई किस्म के होते हैं और हर शेयर का मूल्य (value) थोड़ा होता है। इससे सभी तरह के व्यक्ति, धनी या निर्धन, जल्दबाज़ या सोचने वाले, पूंजी लगाने के लिए आकर्षित होते है। इस तरह एक बड़ी राशि आसानी से जमा हो जाती है जो साझे में सम्भव नहीं होती क्योंकि उसमें दायित्व अपरिमित होता है।

(iii) **शेयर हस्तांतरणीय होते हैं** (Shares Transferable) : शेयर होल्डर जब भी चाहे अपने शेयर बेच सकता है। वह जीवन भर के लिए कम्पनी से नहीं बंधता, जब भी उसे पैसे की ज़रूरत हो वह शेयर बेचकर पैसा पा सकता है।

(iv) **मितव्ययी प्रशासन** (Economical Administration) : डायरेक्टरों को वेतन नहीं दिया जाता बल्कि बोर्ड की मीटिंग में उपस्थित होने की फीस दी जाती है। इसलिए कम्पनी को कुशल और अनुभवी व्यक्तियों की राय कम खर्चे पर मिल जाती है। इससे प्रशासन का कार्य सस्ता और कम खर्चीला होता है।

(v) **लोकतन्त्रात्मक** (Democratic) : यदि डायरेक्टरों का काम सन्तोषजनक न हो तो शेयर होल्डर उन्हे हटा सकते हैं। इसलिए कम्पनी लोकतन्त्रात्मक ढंग की होती है। शेयर होल्डरों की साधारण सभा (general body) की इच्छा (will) सर्वोच्च होती है।

(vi) **स्थायी अस्तित्व** (Permanent Existence) : कम्पनी का अस्तित्व शाश्वत होता है। कितने ही शेयर होल्डर इससे सम्बन्ध त्याग दें परन्तु कम्पनी का काम चलता रहता है। इसलिए कम्पनी ऐसे काम भी हाथ में ले सकती है जो काफ़ी अर्से के बाद लाभ दें।

(vii) **मितव्ययिता को प्रोत्साहन** (Thrift Encouraged) : थोड़ी आमदनी वाले लोगों को भी इसमें पैसा लगाने की सुविधा होने के कारण लोगों में पैसा बचाने की भावना जोर पकड़ती है और लोग पैसे की बचत करते हैं।

(viii) **कानूनी नियन्त्रण** (Legal Control) : कम्पनी के काम की देख-रेख सरकार करती है। इसे कुछ कानूनी तरीकों के मुताबिक चलना पड़ता है जिनका उद्देश्य धोखे-धड़ी से बचाव करके जनसाधारण और शेयर होल्डरों के हितों की रक्षा करना है।

(ix) **खतरा बंट जाता है** (Risk Spreads Out) : इस तरह के काम में निजी जोखिम बंट जाती है। अपना कारोबार अलग शुरू करने की बजाय कोई व्यक्ति कितनी ही कम्पनियों के शेयर खरीद सकता है। उसे सारा पैसा एक ही काम में लगाने की ज़रूरत नहीं रहती।

ब. संयुक्त-पूंजी संगठन की हानियां (Disadvantages of a Joint-Stock Organisation) :—ऊपर वर्णन किए गए लाभों के विरुद्ध इसमें कुछ

हानियाँ भी होती हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(i) चूंकि दायित्व परिमित होता है इसलिए उद्यम में जल्दबाजी होना स्वाभाविक है।

(ii) चूंकि शेयर आदि का तबादला किया जा सकता है, इसलिए शेयर होल्डर कम्पनी के हित का ध्यान नहीं रखता। और शेयर होल्डरों की इस उदासीनता के कारण डायरेक्टर ही सर्वेसर्वा बन बैठते हैं।

(iii) कम्पनी सिर्फ नाममात्र के लिए ही लोकतंत्रात्मक (democratic) सिद्धान्त पर चलने वाली होती है। डायरेक्टर्स पहली बार तो स्वयं ही अपने को चुनते हैं और इसके बाद वे प्राक्सी (proxy) आदि की तिकड़मों से अपने को हर बार निर्वाचित करा लेते हैं।

(iv) बेईमान डायरेक्टरों द्वारा शेयरहोल्डरों का शोषण होता है। इस तरह की गड़बड़ और धोखेबाजी तो इसमें मामूली बात हैं।

(v) साझे में जो बल और समायोजन की शक्ति (adaptability) पायी जाती है, उसका इसमें सदैव अभाव रहता है। यह एक सुस्त चलने वाले यंत्र की भाँति होती है। जल्दी निर्णय नही हो पाते। इस तरह का व्यावसायिक संगठन उस व्यापार के लिए अधिक उपयुक्त होता है जिसमें केवल एकसा (routine) काम होता हो।

(vi) शेयरहोल्डरों का कम्पनी के नौकरों से कोई सीधा सम्पर्क नहीं होता। इस अव्यक्तिगत (impersonal) और सहानुभूतिरहित व्यवहार का परिणाम यह होता है कि शेयर होल्डरों के नाम पर कर्मचारियों का शोषण किया जाता है।

९. एकाधिपति संगठन (Monopolistic Organisation) :—कभी-कभी संयुक्त-स्टाक कम्पनी इतनी बढ़ जाती है कि यह एकाधिपत्य (monopoly) का रूप धारण कर लेती है और सारी मंडी इसके प्रभाव या कब्जे में आ जाती है। कई बार उत्पादक परस्पर स्पर्द्धा खत्म करने के खयाल से एकाधिपत्य बना लेते हैं।

एकाधिपत्य क्या होता है (What is a Monopoly ?) : एकाधिपत्य का अर्थ स्पर्द्धा (competition) का न होना है। कभी यह पूरी तरह से खत्म हो जाती है और कभी आंशिक (partial) रूप में। कभी-कभी कोई व्यापारी, अकेला या दूसरों के साथ मिलकर किसी वस्तु-विशेष की सप्लाई पर नियंत्रण (control) पा लेता है। वह कीमत पर असर डालने की हालत में पहुँच जाता है। तब कहते हैं कि उसका एकाधिपत्य हो गया है। जब किसी फर्म की स्पर्द्धा करने के लिए कोई मैदान में नहीं होता तब एकाधिपत्य कहलाता है।

१०. एकाधिपत्य की किस्में (Kinds of Monopolies) :—इसके मुख्य रूप ये होते हैं :—

(क) **कानूनी एकाधिपत्य** (Legal Monopoly) : एकस्व (patent) या कापीराइट (copy right) जैसी चीजों में एकाधिपत्य का रूप कानूनी होता है। निर्माता अपनी वस्तुओं पर लेबल (label) चिपका देता है और उसे रजिस्टर भी करा लेता है। कोई और उसी नाम से माल नहीं बेच सकता।

(ख) **प्राकृतिक एकाधिपत्य** (Natural Monopoly) : किसी विशेष प्रकार के प्राकृतिक साधनों पर नियंत्रण होने से और किसी वस्तु के संसार के एक भाग में ही पाये जाने के कारण इस प्रकार के एकाधिपत्य का आरम्भ होता है। भारत और पाकिस्तान का जूट, और अफ्रीका का हीरों के क्षेत्र में एकाधिपत्य है।

(ग) **सामाजिक एकाधिपत्य** (Social Monopoly) : इस शब्द का प्रयोग सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (public utility services) जैसे गैस, बिजली, रेलवे और ट्राम आदि के लिए होता है। इनको सामाजिक उपयोगिताओं को ध्यान में रखकर एकाधिपत्य मिलता है। उदाहरण के लिए यह ज़ाहिर है कि अगर दिल्ली और अमृतसर के बीच में दो कम्पनियों की रेलें चलें तो यह हानिकारक होगा।

(घ) **स्वेच्छा से निर्मित एकाधिपत्य** (Voluntary Monopolies) : इस प्रकार के एकाधिपत्य व्यापारियों द्वारा स्वेच्छा से बनाए जाते हैं। स्पर्द्धा का अन्त करने के खयाल से वे अपने कारोबारों को मिला लेते हैं, जिससे एकाधिपत्य द्वारा प्राप्त होने वाला लाभ होता है। सन् १९३६ में ए० सी० सी० (Associated Cement Companies) का निर्माण उस समय स्थापित सीमेण्ट कम्पनियों को मिला (combine) कर हुआ था। अर्थशास्त्र में प्रायः इसी प्रकार के एकाधिपत्य का उल्लेख मिलता है और प्रायः इसी से हमारा काम भी पड़ता है। ऐसे एकाधिपत्य ग्रुट्ट (combines) कहलाते हैं इस प्रकार के ग्रुट्ट निम्नलिखित शर्तों पर बनते हैं :—

(क) ये कम से कम कीमत निश्चित कर सकते हैं और दूसरी शर्तों को नियमित करते है।

(ख) ये सदस्य-कम्पनियों की उपज को कम अथवा नियमित कर सकते हैं।

(ग) ये मंडी को परस्पर सुविधानुसार बांट सकते हैं।

११. गुट्टों के विभिन्न रूप (Different Forms of Combinations) :— पाठकों को निम्नलिखित मुख्य-मुख्य गुट्टों को ध्यान में रखना चाहिए :—

(क) **ट्रस्ट** (Trusts) : इस व्यवस्था के अनुसार सब कम्पनियों का एक में विलयन (merger) हो जाता है। गुट्ट बनाने वाली कम्पनियों का अस्तित्व खत्म हो जाता है और एक बिल्कुल नई और नए नाम की कम्पनी बन जाती है।

(ख) **कार्टेल** (Cartel) : इस व्यवस्था के अनुसार कम्पनियाँ परस्पर एकत्रित हो जाती हैं। जो फर्में आपस में मिलती हैं और गुट्ट का रूप धारण करती हैं वे अपना निजी अस्तित्व भी बनाये रखती हैं। ऊपर के विभाग में बताई गई दो एक शर्तों को मानने का वे आपस में करार कर लेती हैं। परन्तु यह गुट्ट अस्थायी होता है और तब तक चलता है जब तक प्रत्येक फर्म इसे सुविधाजनक मानती है। ट्रस्ट (trust) की भाँति यह व्यवस्था स्थायी नहीं होती।

(ग) **होल्डिङ्ग कम्पनी** (Holding Company) : जब एक कम्पनी दूसरी कम्पनी के आधे से ज्यादा (majority) शेयर खरीद लेती है, जिससे उस कम्पनी का नियन्त्रण (कन्ट्रोल) उसके हाथ में आ जाय तो उस व्यवस्था को 'होल्डिङ्ग कम्पनी' व्यवस्था कहते हैं। जिस कम्पनी पर नियंत्रण होता है उसे सहायक कम्पनी (subsidiary company) कहते हैं। एक 'होल्डिङ्ग कम्पनी' कई

सहायक कम्पनियों की नीति और उत्पादन के नियंत्रण का भार ले सकती है।

इसके अलावा व्यापारी परस्पर मिलकर छोटे-छोटे संघ या दूसरे किस्म के गुट्ट बना लेते हैं जिससे उनको माल की काफी कीमतें मिल सकें। कभी-कभी सप्लाई रोककर कृत्रिम कमी (artificial scarcity) भी पैदा कर दी जाती है जिससे अधिक मुनाफा मिल सके।

१२. **गट्ट बनाने के लाभ** (Advantages of Combinations) :—वे गुट्ट आम तौर पर संयुक्त पूंजी के संगठन होते हैं और अपना व्यापार बहुत बड़े स्तर पर करते हैं। इस तरह उन्हें संगठन और बड़े स्तर पर उत्पादन करने के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। उन्हें निम्नलिखित लाभ होते हैं :—

(१) उत्पादन का कार्य आधुनिकतम कारखानों में होता है। पुरानी मशीनें हटा दी जाती हैं। इसलिए उत्पादन में कम लागत आती है।

(२) विशिष्ट श्रम (specialized labour), बड़े स्तर पर क्रय-विक्रय, किराये में कमी, और ऊपर से होने वाले खर्चों में कमी आदि बातों का भी लाभ होता है।

(३) विज्ञापन पर अधिक पैसा खर्च करने की जरूरत नहीं होती चूंकि स्पर्द्धा (competition) समाप्त हो जाती है।

(४) चूंकि उत्पादन बड़े स्तर पर होता है इसलिए माल की नियमित सप्लाई निश्चित हो जाती है।

(५) शोध और प्रयोग (research and experiments) आदि पर भी काफी पैसा खर्च किया जा सकता है।

(६) वे उप-वस्तुओं (by-products) आदि का भी व्यापारिक उपयोग कर सकते हैं।

(७) मंडी के हालात के अनुसार माल की किस्म को ढाला जा सकता है।

(८) विपत्ति का सामना करने के साधन भी गुट्टों के पास अधिक होते हैं।

(९) सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अहितकर और विनाशकारी स्पर्द्धा प्रायः समाप्त हो जाती है।

१३. **गुट्टबन्दी के दोष** (Evils of Combinations) :—एकाधिपति गुट्टों (monopolistic combinations) को बनाने में निम्नलिखित दोष होते हैं :—

(१) उद्योग बहुत बड़ा और सम्भालने के लिए कठिन हो जाता है।

(२) स्पर्द्धा का अन्त होने से उत्पादक लापरवाह हो जाते हैं और अपने माल की किस्म को सुधारने की चिन्ता नहीं करते।

(३) विरोधियों (rivals) को कुचल दिया जाता है। उन्हें खत्म करने और भगाने के लिए अनुचित तरीके अपनाए जाते हैं।

(४) उस क्षेत्र-विशेष में नये उद्यमियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता।

(५) मालिक पुरानी के स्थान पर नई मशीन लगाने के लिए तैयार नहीं होते।

(६) कुछ ग्राहकों को बाकियों के मुकाबले में विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

(७) ग्राहकों से ऊँची कीमतें वसूल की जाती हैं।

(८) उत्पादन के साधनों (जैसे श्रम) को कम वेतन दिए जाते हैं चूंकि उस क्षेत्र में उन्हीं का निरंकुश प्रभाव होता है।

(९) भ्रष्टाचार और घूसखोरी का भी डर बना रहता है। विधान सभा के सदस्यों (legislators) को घूस आदि देकर कानूनों को अपने पक्ष में बनवाया या उनमें सुधार कराया जा सकता है।

(१०) इनमें (ट्रुस्टों में) पूंजी जरूरत से ज्यादा लगी होती है। इस पूंजी के मुकाबले में ठोस सम्पत्ति (tangible assets) कम होती हैं।

१४. एकाधिपत्य बनाम स्पर्द्धा (Monopoly versus Competition) :— हम एकाधिपत्य के गुण दोषों पर विचार कर चुके। एकाधिपत्य स्पर्द्धा का उलट है। दोनों में से कौन अच्छा है, इस बात का निर्णय करने के लिए स्पर्द्धा के गुण-दोषों को समझ लेना भी जरूरी है।

स्पर्द्धा के गुण (Merits of Competition) : (१) उत्पादक सदैव सचेत रहते हैं। उत्पादन के नये-नये तरीकों का इस्तेमाल होता है। शिल्पिक (technical) उन्नति का मार्ग सदैव खुला रहता है।

(२) स्पर्द्धा के कारण कीमतें गिरने से उपभोक्ता को लाभ होता है।

(३) सस्ते और अच्छे माल की उपज होती है।

(४) विरोधियों के कुचले जाने का डर नहीं होता, कोई दूषित उपाय नहीं बरते जाते और कोई अनधिकार चेष्टा सफल नहीं हो पाती।

(५) बड़े-बड़े व्यवसायियों द्वारा विधान सभा के सदस्यों (legislators) के भ्रष्ट होने का डर भी नहीं रहता।

(६) कमजोर (अशक्त) धंधे समाप्त हो जाते हैं। उद्योग संघर्ष के इस वातावरण में सिर्फ अच्छे कारोबार ही टिक पाते हैं, और इस तरह मंडी में माल अच्छा आता है।

(७) स्पर्द्धा द्वारा आर्थिक क्षेत्र में भी समायोजन (adjustment) सम्भव होता है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था (capitalistic economy) स्पर्द्धा द्वारा ही ठीक-ठीक काम कर पाती है। ऐसा मानते हैं कि यदि मजदूरी (wage) कम हो तो मालिकों के बीच होने वाली स्पर्द्धा के कारण वह ठीक हो जाती है। यदि कीमतें ऊँची हों तो वे स्पर्द्धा के कारण गिरने लगती हैं। यही बात सभी आर्थिक कार्य-वाहियों के क्षेत्र में ठीक उतरती है। सारे आर्थिक सिद्धान्त स्वतन्त्र स्पर्द्धा की मान्यता (assumption) पर आधारित हैं।

स्पर्द्धा के दोष (Demerits of Competition) :

(१) यह बेकार की फिजूलखर्ची है।

(२) विज्ञापन आदि का खर्चा समाज पर एक व्यर्थ का बोझ है।

(३) योग्यतम के जीवित रहने (survival of the fittest) का सिद्धान्त मनुष्य को पशुत्व के स्तर तक गिरा देता है। इस जीवन-संघर्ष (struggle for existence) में प्रपञ्ची और चालाक आदमी सीधे-सादे और ईमानदार

व्यक्तियों का गला घोंटते हैं। इस संघर्ष में जीतने वाले सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय भी हो सकते हैं।

(४) स्पर्द्धा से अत्यधिक उत्पादन (overproduction) और बेरोज़गारी फैलती है।

(५) एक दूसरे का गला काटने वाली स्पर्द्धा उद्योग को नुकसान पहुँचाती है, और समाज को कोई स्थायी लाभ नहीं पहुँचाती।

निष्कर्ष (Conclusion) : बेरोक स्पर्द्धा के दोष एकाधिपत्य (monopoly) अथवा गुट्टबन्दी (combination) की ओर ले जाते हैं। यह बात सब मानते हैं कि स्पर्द्धा आर्थिक दृष्टि से अहितकर है। औद्योगिक जगत का झुकाव तो अब गुट्टबन्दी की तरफ़ है। अब गुट्टबन्दी बुरी नहीं समझी जाती क्योंकि उसका नियन्त्रण (कंट्रोल) करने की प्रवृत्ति भी आ गई है। इससे होने वाली आर्थिक किफायत से समाज का फायदा होना है। यह याद रखना नितान्त आवश्यक है कि स्पर्द्धा से लाभ उसी समय अधिक होता है जब स्पर्द्धा मुक्त होती है और विक्रेता (sellers) और खरीदार (buyers) दोनों मंडी की हालत को पूरी तरह से पहिचानते हैं।

१५. सहकारी उद्यम (Co-operative Enterprise) :—हमने अब तक व्यक्तिगत मल्कियत (individual proprietorship), साझे (partnership), संयुक्त-पूंजी कम्पनी और एकाधिपत्य संगठन (monopoly organisation) आदि के विभिन्न रूपों और गुण-दोषों का अध्ययन किया है। अब हम उद्योग संगठन के एक और दूसरे रूप सहकारी उद्यम (co-operative enterprise) का वर्णन करेंगे। यह दो प्रकार का होता है। (१) उत्पादकों की सहकारिता और (२) उपभोक्ताओं की सहकारिता।

उत्पादकों की सहकारिता (Producers' Co-operation) : सहकारिता की इस व्यवस्था में मज़दूर स्वयं अपना स्वामित्व चाहते हैं। उद्योग उन्हीं के द्वारा चलाया जाता है। व्यवस्थापक (manager) और फोर्मेन (foremen) आदि वे ही चुनते हैं। ये उनके नौकर होते हैं। मुनाफा परस्पर बाँट लिया जाता है।

यह योजना बड़ी आकर्षक है। उद्यमी से पीछा छुट जाता है और लाभ बजाय कुछ व्यक्तियों की जेबों में जाने के वास्तविक मज़दूरों को मिलता है। इससे अच्छा और क्या हो सकता है? आशा ही जाती है कि मज़दूर कठिन परिश्रम करेंगे; हड़ताल और तालाबन्दी का प्रश्न ही नहीं उठेगा। सहयोग, शिक्षा और समाचार की दृष्टि से भी उपयोगी है। इससे मज़दूरों में बचत की भावना पैदा होती है और वे शोषण से बच जाते हैं।

परन्तु सहकारी (co-operative) उद्यम अव्यावहारिक सिद्ध हुआ है। आमतौर पर यह विफल ही रहा है। सदस्यों को पर्याप्त पूंजी और अच्छे प्रबन्धक मिलना कठिन हो जाता है। मज़दूरों में अनुशासन (discipline) की कमी पाई जाती है। आपस की कलह बढ़ जाती है। मज़दूरी को शक्ति तो मिल जाती है परन्तु उनमें उत्तरदायित्व की भावना का नितान्त अभाव रहता है।

उपभोक्ताओं की सहकारिता (Consumers' Co-operation) : किसी स्थान विशेष में रहने अथवा किसी एक कारखाने में काम करने वाले उपभोक्ता मिल जाते हैं। हर एक थोड़ी-थोड़ी पूँजी देता है। इसे इकट्ठा करके आम ज़रूरियात की चीज़ों का स्टोर खोल दिया जाता है। इस तरह के स्टोर हमारे देश के विभिन्न कालिजों में खुले हैं। आमतौर से माल बाज़ार भाव पर बेचा जाता है और लाभ को शेयर होल्डरों में बाँट दिया जाता है।

सहकारिता का यह रूप बहुत सफल रहा है। उपभोक्ताओं को अपने स्टोर से बड़ा लगाव होता है और वे अधिकतर माल इसी से लेते हैं। इसमें अधिक पूँजी की भी ज़रूरत नहीं होती। व्यवस्था सरल और अवैतनिक (honorary) होती है। सरकारी नियंत्रण और निरीक्षण के कारण सब काम ठीक-ठीक चलता है।

परन्तु ये सहकारी स्टोर अपना काम बढा नहीं सकते क्योंकि पूँजी का अभाव रहता है। इसके अलावा इनमें कई तरह का माल भी नहीं होता। अवैतनिक कार्यकर्त्ता मेहनत नहीं करते। कई बार वे अकुशल ही नहीं बेईमान भी हो जाते हैं।

सहकारिता के दूसरे रूप (Other Forms of Co-operation) : सहकारिता के सिद्धान्त को अनेक रूपों में लागू किया गया है। इसका उपयोग कई प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।

गाँवों में प्राथमिक सहकारी उधार संस्थाएँ (Primary Co-operative Credit Societies) बनाई गई हैं। उनका काम गाँव वालों को हितकर काम में लगाने के लिए उधार रुपया पैसा देना होता है। इन संस्थाओं का उद्देश्य सिर्फ किसान की पैसे की ज़रूरत को पूरा करना ही नहीं है ; उन्हें बचत और स्वावलम्बन सिखाना भी है। जब इन ग्राम-संस्थाओं को पैसे की ज़रूरत होती है तो उन्हें जिला या नगरों में स्थापित केन्द्रीय सहकारिता बैंकों से उधार मिल जाता है, और इन बैंकों को प्रान्तीय सहकारी बैंकों से।

इन सहकारी उधार संस्थाओं के अलावा गाँव में दूसरे सभी कामों के लिए सहकारी संस्थाएँ भी होती हैं। इनका काम स्कूलों और पुस्तकालयों को चलाना, मच्छर मारना, बीज और ढोर खरीदना, घी और फल बेचना, चकबन्दी करना (consolidation of holdings) आदि अन्य काम करना भी होता है। इस तरह की संस्थाएं शहरों में भी होती हैं। शहरों में इन संस्थाओं की सदस्यता काफी अधिक होती है और लाभ परस्पर बँट जाता है।

कृषि-प्रधान देश में सहकारिता बड़े काम की चीज़ है, और विशेषकर जहाँ लोग गरीब हों, और ग्रामों में रहते हों सहकारी संस्थाओं द्वारा बचत और स्वावलम्बन का पाठ ग्रामजीवन में क्रान्ति ला सकता है। सहयोग में बल होता है। सहकारी संस्थाओं के कारण, मध्यस्थ, जो तमाम लाभ को हड़प कर जाया करता था, अब खत्म होता जा रहा है।

१६. राज्य और नगरपालिका उद्यम (State and Municipal Enter-

prise) :—अन्त में हम राज्य या नगरपालिका के उद्यम का वर्णन करेंगे। इसके अधीन सरकार, या म्युनिसिपल कमेटी जैसी स्थानीय संस्था (local body), जिला बोर्ड उद्योग चलाता है। इनके मुख्य काम गैस, बिजली या पानी, रेल या बस चलाना होते हैं। राज्य उद्यम (state enterprise) के निम्नलिखित लाभ होते हैं :—

(१) लाभ सरकार के कोष में जाता है, और समाज के हित में काम आता है।

(२) माल के खरे होने की गारंटी (guarantee) होती है।

(३) सरकार के पास निधि (fund) काफी होती है और ज़रूरत पड़ने पर वह ब्याज की सस्ती दर पर उधार भी ले सकती है।

(४) सरकारी सेवाओं की ओर देश के उच्चतम योग्यता प्राप्त व्यक्ति जाते हैं। इसलिए सरकार अच्छे और सुयोग्य व्यक्ति रख सकती है।

(५) सरकारी उद्यम पर सार्वजनिक नियंत्रण अधिक हो सकता है।

(६) उद्यम से होने वाले मुनाफे में देर होने पर सरकार अधिक समय तक प्रतीक्षा कर सकती है। निजी उद्यम उन हालातों में नहीं चलाया जा सकता।

(७) उपभोक्ताओं के हित पूरी तौर पर सुरक्षित रहते हैं।

हानियाँ (Disadvantages) :

(१) सरकारी काम में नौकरशाही की भावना बड़ी प्रबल होती है छोटे-छोटे नौकर भी अपने को अफ़सर समझने लगते हैं और नागरिकों के मान-सम्मान की उपेक्षा करते हैं।

(२) सरकारी नौकर में काम की लगन निजी उद्योग में लगे व्यक्ति से कम होती है। सरकारी नौकरी में तरक्की पुराने या नये (promotion by seniority) के हिसाब से होती है।

(३) अनिपुणता (inefficiency) और खर्चीलेपन पर कोई नियंत्रण नहीं होता। सरकारी कोष बड़ा होता है और खर्चे की पूर्ति के लिए टैक्स बढ़ाये जा सकते हैं।

(४) सरकारी नौकरों का अधिक तबादला सफल उद्यम के लिए हानिकारक होता है।

(५) सरकारी काम में लकीर पीटी जाती है और नवीनता का नितान्त अभाव रहता है।

इस अध्याय की ज्ञातव्य बातें

व्यापार-संगठन के विविध-रूप (Different Forms of Business Organisation) :

(१) व्यक्तिगत मल्कियत (Individual Proprietorship)।
(२) साझेदारी (Partnership)।
(३) संयुक्त पूंजी की कम्पनियां (Joint-Stock Companies)।
(४) एकाधिपत्य (Monopolies)।
(५) सहकारी उद्यम (Co-operative enterprise)।
(६) सरकारी (Government) और नगरपालिका (Municipal) उद्यम।

व्यक्तिगत मल्कियत (Individual Proprietorship) : इसे एक व्यक्ति का कारोबार (one-man business) भी कहते हैं। वही पूंजी लगाता है और सारा जोखिम उठाता है।

इसके गुण (Merits) :

(i) कठिन परिश्रम की प्रेरणा।
(ii) अच्छे निरीक्षण से अच्छी किस्म का सस्ता माल पैदा होता है।
(iii) नौकर सन्तुष्ट रहते हैं।
(iv) ऊपर के खर्चे कम होते हैं।
(v) ग्राहकों को सन्तुष्टि रहती है।
(vi) वह अपना मालिक खुद होता है
(vii) उद्योग शुरू करना और बन्द करना सरल होता है।

इसके दोष (Demerits) :

(i) पैसा कम।
(ii) विशिष्टीकरण के लिए सीमित क्षेत्र।
(iii) कम आय।
(iv) बड़े उद्योगों के साथ स्पर्धा होने पर टिकना कठिन हो जाता है।
(v) छोटे उद्योग का मतलब आर्थिक रूप से पिछड़े रहना होता है।

निष्कर्ष : परन्तु फिर भी इस प्रकार का व्यवसाय समाप्त नहीं हो सकता। खेती और फुटकर (retail) के कामों में इसका होना अनिवार्य है। उद्यमी स्वयं स्वामी होना पसन्द करता है।

साझेदारी (Partnership) : इस प्रकार मिल कर काम करने में दो या दो से अधिक व्यक्ति अपनी पूंजी और गुणों को एक साथ मिला लेते हैं। साझेदारी-पत्र (Partnership deed) में उनके अधिकारों और कर्तव्यों का उल्लेख होता है। दायित्व (liability) अपरिमित होता है।

परिमित साझेदारी (Limited Partnership) : वह होती है जिसमें साझी अपने दायित्व को सीमित करा लेता है। परन्तु प्रत्येक साझी ऐसा नहीं कर सकता। उनमें से कुछ का दायित्व असीम होना ही चाहिये। सीमित दायित्व वाले साझी का नाम सुप्त साझी (sleeping partner) होता है। वह उस व्यवसाय में सक्रिय (active) भाग नहीं ले सकता।

साझेदारी के गुण (Merits of Partnership) :

(i) व्यक्तिगत उद्यम की अपेक्षा अधिक पूंजी का होना।
(ii) विभिन्न प्रकार की योग्यता की उपलब्धि।
(iii) शक्ति और साहस।
(iv) तुरन्त निर्णय।
(v) ग्राहकों और नौकरों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध।

साझे के दोष (Demerits of Partnership) :

(i) अपरिमित दायित्व (unlimited liability)।
(ii) अधिक खर्च और कम उत्पादन।
(iii) आपसी झगड़े।
(iv) साझेदारी का व्यावसायिक जीवन थोड़ा होता है। एक साझी के रिटायर होने अथवा दिवाला निकलने (bankruptcy) पर यह समाप्त हो जाती है।
(v) कोई साझी दूसरे की मर्जी के बिना अलग नहीं हो सकता।
(vi) अपर्याप्त पूंजी।

संयुक्त पूंजी की कम्पनी (Joint-Stock Company) :

सात आदमी मिलकर ज्वाइंट स्टाक कम्पनी को रजिस्टर कराने के लिए अर्जी देते हैं। वे

शेयर बेचते हैं, जो कई प्रकार के होते हैं जैसे, साधारण, संचित या असंचित अधिमान शेयर (cumulative preference or non-cumulative preference shares), आस्थगित शेयर (deferred share) इत्यादि। वे ऋण-पत्र (Debentures) भी बेचते हैं। डायरेक्टर काम चलाते हैं।

सार्वजनिक सीमित कम्पनी (Public Limited Company) : शेयर-होल्डरों की कोई अधिकतम सीमा नहीं होती, कम से कम सात होने चाहिएँ। कुछ विवरण (statements) को रजिस्ट्रार के सम्मुख पेश करना होता है। जब तक न्यूनतम (minimum) पूंजी जमा न हो जाय, व्यापार शुरू नहीं किया जा सकता।

निजी सीमित कम्पनी (Private Limited Company) : इसमें सदस्यों की संख्या २ से ५० तक हो सकती है। इसको अपनी विवरणी (Returns) रजिस्ट्रार के सम्मुख पेश नहीं करनी होती है। व्यापार आरम्भ करने पर कोई रोक नहीं होती परन्तु यह कोई प्रोस्पैक्टस (prospectus) जारी नहीं कर सकती और न ही शेयर खरीदने के लिए किसी को निमंत्रण दे सकती है।

संयुक्त पूंजी कम्पनी और साझेदारी में भेद (Contrast between Joint-Stock Company and Partnership) :—

(i) कम्पनी के व्यापार में भाग लेने वालों की संख्या अधिक होती है।

(ii) कम्पनी के पास पूंजी अधिक होती है।

(iii) कम्पनी में दायित्व (liability) सीमित होता है; साझेदारी में असीमित।

(iv) शेयर होल्डरों के अलावा कम्पनी का एक कानूनी अस्तित्व (legal person) होता है। साझियों को छोड़ कर साझेदारी का अस्तित्व ही नहीं होता।

(v) कम्पनी को मेमोरैण्डम (memorandum) में दिए उद्देश्यों की पूर्ति करनी होती है; साझेदारी वह हर कार्य, जो अवैध (illegal) न हो, कर सकती है।

(vi) कम्पनी का अस्तित्व स्थायी और निरन्तर होता है; साझेदारी थोड़े काल के लिए होती है।

(vii) साझी बिना दूसरों की मर्जी के साझेदारी से अलग नहीं हो सकता; शेयर होल्डर अपनी मर्जी से कभी भी शेयर बेच सकता है।

(viii) साझेदारी की व्यवस्था मालिकों द्वारा होती है; कम्पनी की व्यवस्था वैतनिक नौकरों (salaried employees) द्वारा।

संयुक्त-पूंजी संगठन के लाभ (Advantages of Joint-Stock Organisation) :

(i) इसे बड़े स्तर की आन्तरिक और बाह्य सभी किफ़ायतें मिल जाती हैं।

(ii) दायित्व (liability) सीमित होने के कारण बड़ी निधि (fund) जमा की जा सकती है। शेयर कई प्रकार के होते हैं और उनकी बदली भी हो सकती है।

(iii) शेयर होल्डर सदैव के लिए उससे नहीं बँधता।

(iv) चूंकि समिति की बैठक के लिए डायरेक्टर थोड़ी फीस लेते हैं इसलिए व्यवस्था पर कम खर्च होता है।

(v) चूंकि डायरेक्टरों को हटाया जा सकता है इसका रूप लोकतन्त्रात्मक (democratic) होता है।

(vi) जिन कामों में देर से लाभ होता है उनमें भी कम्पनी पैसा लगा सकती है।

(vii) पैसा लगाने के साधन खोल कर कम्पनी पैसे की बचत करना सिखाती है।

(viii) कानूनी नियन्त्रण (legal control) होने से गबन आदि की गुंजाइश कम हो जाती है।

(ix) शेयर लेने वाले अपने जोखिम को बाँट सकते हैं।

संयुक्त-पूंजी कम्पनी की हानियाँ (Disadvantages of Joint-Stock Company):

(i) दायित्व (liability) सीमित होने के कारण अन्धा-धुन्ध योजनायें बना ली जाती हैं।

(ii) शेयर को बेचा जा सकने के कारण शेयर होल्डर उदासीन हो जाते हैं।

(iii) इसका लोकतन्त्रात्मक स्वरूप तो सिर्फ नाम-मात्र का ही है। डायरेक्टरों को हटाना शेयर होल्डरों के बूते के बाहर की बात है।

(iv) बेईमान डायरेक्टर शेयर होल्डरों का शोषण करते हैं।

(v) कम्पनी में समायोजन (adaptation) का अभाव होता है।

(vi) नौकरों के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता।

एकाधिपत्य (Monopolies) : स्पर्द्धा का आंशिक या पूर्ण, किसी भी रूप में, अभाव होने का नाम एकाधिपत्य है।

एकाधिपत्य की किस्में (Kinds of Monopolies) :

(क) कानूनी एकाधिपत्य (Legal) जैसे एकत्व और कापीराइट (patent and copy right)।

(ख) प्राकृतिक (Natural) एकाधिपत्य जैसे बंगाल में जूट की उपज।

(ग) सामाजिक एकाधिपत्य (Social) जैसे गैस, बिजली, रेलवे आदि।

(घ) स्वेच्छा से निर्मित एकाधिपत्य (Voluntary) जैसे ट्रस्ट और कर्टेल (trust and cartels)।

गुट्टबन्दी की रीतियाँ (Methods of Combinations) :

(i) बिक्री की शर्तें और कीमत निश्चित् करना।

(ii) पैदावार को घटाना अथवा नियमित करना।

(iii) मन्डियों का विभाजन।

गुटों के विभिन्न प्रकार (Different Forms of Combinations) :

न्यास (Trust) : कुछ फर्मों को पूर्ण रूप से एक में मिलाकर एक नाम के संघ में शामिल करने को ट्रस्ट (Trust) कहते हैं।

कार्टेल (Cartel) : विशेष कार्य के लिए करार; किन्तु पूर्ण विलयन नहीं।

छिपाव (Cornet)—सारे उपलब्ध स्टाक पर नियन्त्रण।

रिंग (Ring)—नौवहन कम्पनियों (shipping companies) का गुट्ट।

संघ (Pool)—मौजूदा माल को ऊँचे भाव पर बेचने का करार

होल्डिंग कम्पनी (Holding Company) : जब एक कम्पनी दूसरी कम्पनी के बहु-शेयर खरीद कर उस पर अपना नियन्त्रण जमा लेती है।

गुट्टों के लाभ (Advantages of Combinations) :

(i) जिस निर्माणशाला में सबसे अच्छे उपकरण हों, उसी में उत्पादन केन्द्रित हो जाता है।

(ii) बड़े स्तर के उत्पादन की किफ़ायतें।

(iii) विज्ञापन आदि से छूट।

(iv) माल की नियमित सप्लाई।

(v) इस कारण शोध और प्रयोग आदि पर पैसा खर्च किया जा सकता है।

(vi) उप-वस्तुओं की उपयोगिता (By-products utilized)।

(vii) मांग के अनुसार पैदावार।

(viii) गुट्ट विपत्ति का मुकाबला कर सकता है।

(ix) स्पर्द्धा आदि से बचा सकता है।

गुट्टों के दोष (Evils of Combinations) :

(i) व्यापार बड़ा और व्यवस्था के लिए कठिन हो जाता है।

(ii) स्पर्द्धा की अनुपस्थिति में उत्पादक सुस्त हो जाते हैं।
(iii) विरोधियों को कुचलने के लिये अनुचित तरीके अपनाये जाते हैं।
(iv) नये उद्यमी व्यवसाय में प्रवेश नहीं कर सकते।
(v) आविष्कार और शिल्पिक (technical) उन्नति रुक जाती है।
(vi) कुछ ग्राहकों को दूसरों की अपेक्षा अधिक कृपा प्राप्त होती है।
(vii) उपभोक्ताओं का शोषण होता है।
(viii) उत्पादन के साधनों (factors) को कम पारिश्रमिक (remuneration) प्राप्त होता है।
(ix) भ्रष्टाचार का भय।
(x) अधिक-पूंजीकरण (Over-Capitalization)।

स्पर्द्धा के गुण (Merits of Competition) :

(i) उत्पादक सचेष्ट रहते हैं; शिल्पिक (technical) उन्नति को बढ़ावा मिलता है।
(ii) चूंकि स्पर्द्धा के कारण कीमतें गिर जाती हैं इससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है।
(iii) विरोधी उत्पादकों द्वारा मंडी में उत्तम वस्तुएँ आती हैं।
(iv) अनुचित व्यवहार का भय नहीं रहता।
(v) भ्रष्टाचार का भय नहीं रहता।
(vi) दुर्बल व्यवसाय समाप्त हो जाते हैं।
(vii) स्पर्द्धा आर्थिक समायोजन (adjustment) का साधन है।

स्पर्द्धा के दोष (Demerits of Competition) :

(i) यह क्षयकारी है।
(ii) विज्ञापन आदि पर होने वाला खर्चा समाज के लिए अहितकर है।
(iii) सामाजिक दृष्टि से योग्यतम के जीवित रहने (survival of the fittest) का सिद्धान्त अवांछनीय है।
(iv) अधिक उत्पादन और मन्दी (depression) की प्रवृत्ति।
(v) बिना समाज के हित के स्पर्द्धा उद्योग के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

सहकारी उद्यम (Co-operative Enterprise) : यह दो प्रकार का होता है :—

(i) उत्पादकों का सहयोग; और
(ii) उपभोक्ताओं का सहयोग।

उत्पादकों का सहयोग (Producers' Co-operation) :

कारखाने के मालिक मजदूर होते हैं। वे ही अपने व्यवस्थापक और मिस्त्री (Foreman) आदि चुनते हैं।

लाभ (Advantages) :

(i) मजदूरों में कठिन परिश्रम का उत्साह बना रहता है।
(ii) हड़ताल और तालाबन्दी की गुंजाइश नहीं रहती।
(iii) शिक्षा देने वाला तथा सदाचार की दृष्टि से हितकर होता है।
(iv) बचत की भावना को बढ़ावा देता है।
(v) मजदूरों का शोषण समाप्त हो जाता है।

इसके दोष (Shortcomings) :

(i) कम पूंजी।
(ii) अनिपुण व्यवस्था।
(iii) अनुशासन (discipline) का अभाव।
(iv) आपसी झगड़े और मनमुटाव।
(v) शक्ति और उत्तरदायित्व अलग-अलग व्यक्तियों के हाथ में हो जाते हैं।

उपभोक्ताओं की सहकारिता (consumers' co-operative) : इसके अन्तर्गत सहकारी स्टोर अथवा सप्लाई संस्थाएँ खोली जाती हैं।

गुण (Its Merits) :

(i) सदस्यों का निश्चित संरक्षण।

(ii) बड़ी पूंजी की जरूरत नहीं पड़ती।

(iii) व्यवस्था सरल और अवैतनिक (honorary) होती है।

(iv) कानूनी (legal) नियन्त्रण और निरीक्षण (inspection)।

दोष (Its Shortcomings) :

(i) शक्ति का एक स्थान पर केन्द्रित होना।

(ii) व्यापार बढ़ाने के लिए पूंजी की कमी।

(iii) उपभोक्ताओं को कम चीजों में से चुनना पड़ता है।

(iv) अवैतनिक होने के कारण व्यवस्था कार्य-कुशल नहीं रहती।

(v) व्यवस्था में बेईमानी और अनिपुणता की गुंजाइश।

सहयोग के दूसरे रूप (Other Forms of Co-operation) :

(i) ग्रामों में कृषिकार उधार संस्थाएँ (Agricultural Credit Societies) और अ-ऋण संस्थाएँ (non-credit), और

(ii) वैसे ही शहरों में खोलने का आयोजन।

राज्य और नगरपालिका उद्यम (State and Municipal Enterprise) : इन उद्योगों को सरकार अथवा नगरपालिका शुरू करती है।

लाभ (Advantages) :

(i) लाभ को समाज के हित के लिए व्यय किया जाता है।

(ii) माल खरा (शुद्ध) होने की गारंटी रहती है।

(iii) धन अधिक होता है।

(iv) सरकार को बुद्धिमान व्यक्ति मिल जाते हैं।

(v) सार्वजनिक नियंत्रण अधिक हो सकता है।

(vi) लाभ के लिए सरकार अधिक समय तक प्रतीक्षा कर सकती है।

(vii) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा होती है।

हानियाँ (Disadvantages) :

(i) नौकरशाही (bureaucracy) का दोष रहता है।

(ii) सरकारी नौकरों में अच्छा से अच्छा काम करने की भावना नहीं रहती।

(iii) अनिपुणता और अधिक खर्चे पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। सरकार को शेयर-होल्डरों का डर नहीं होता।

(iv) जल्दी-जल्दी तबादले सफल व्यापार के लिए हानिकारक होते हैं।

(v) नवीनता का अभाव रहता है ; सारा काम एक ही परिपाटी या रूढ़ि पर चलता है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1. Describe the different types of business enterprises prevailing in India. Which type of enterprise is the most prominent in your State ? (गोहाटी, १६५३; पंजाब १६५५)

(अध्याय में दिए गए सभी प्रकारों को बताइए)

2. Consider the advantages and disadvantages of the following types of business organisation :

(*a*) Private firm (*b*) private partnership, (*c*) joint-stock company, and (*d*) co-operative producers society. (दिल्ली, १६३५)

(संक्षेप में प्रत्येक प्रकार के लाभ और हानियों को लगभग एक-एक पैरे में बताएं)

3. Name the different forms of business organisation. Point out the source of strength and of weakness in a joint-stock company.

(कलकत्ता, १९५५)

4. What is partnership. Distinguish it carefully from a joint-stock company. How is a joint-stock company formed?

(दिल्ली १९४९)

देखिए विभाग ३, ५, ६

5. How does a joint-stock company raise its capital? Indicate the advantages of this type of organisation.

(दिल्ली, १९५५)

6. What is partnership? Distinguish it clearly from a joint-stock company. How is a joint-stock company formed? What are the merits and drawbacks of such a form of business organisation?

(जम्मू-काश्मीर, १९५५)

7. Describe the various forms of combinations among producers. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२७)

देखिए विभाग ११

8. Briefly mention the advantages and disadvantages of monopolies or combinations.

देखिए विभाग १२, १३

9. Discuss the merits and demerits of competition in the economic sphere. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३८)

10. What are the principles of co-operative credit?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४०)

यह लोकतांत्रिक है। प्रबन्ध अवैतनिक (honorary) होता है। यह परस्पर सहायता और आत्म-निर्भरता के सिद्धांतों पर आश्रित है। "हर एक सबके लिए और सब हर एक के लिए" (each for all and all for each) कार्य करें, यह इसका आदर्श है। इसका मूल्य इसके नैतिक और शिक्षा सम्बन्धी फायदों के कारण और बढ़ जाता है।

देखिए विभाग १५

11. Briefly describe the system of co-operative production and account for its poor progress.

देखिए विभाग १५

12. What do you know about a co-operative store? What are the types of advantages that accrue to its members? Illustrate your answer from the working of any store that you know.

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४८)

देखिए विभाग १५

13. Account for the increasing scope of State undertakings, and indicate their advantages and drawbacks.

देखिए विभाग १६

अध्याय १५

उत्पादन के नियम
(LAWS OF PRODUCTION)

लागत और उपज
(Costs and Returns)

१. प्रवेशिका (Introduction) :—उद्योग के विकास के साथ-साथ कई बार श्रम (labour) और पूँजी से प्रति इकाई उपज (return) घट जाती है, कई बार बढ़ जाती है और कई बार समान रहती है। इन तीनों अवस्थाओं के लिए क्रमशः उपज के तीन नियम होते हैं : उपज के क्रमशः घटने का नियम (The Law of Diminishing Returns), उपज के क्रमशः बढ़ने का नियम (The Law of Increasing Returns) और उपज के क्रमशः स्थिर रहने का नियम (The Law of Constant Returns)। अब हम एक-एक करके तीनों पर विचार करेंगे।

२. घटती हुई उपज का नियम (The Law of Diminishing Returns) :—हर एक किसान अपने अनुभव से इतना जानता है कि यदि जमीन के एक हिस्से पर बार-बार खेती की जाय तो क्रमशः पैदावार अनुपात में घटती जाती है। यदि हर साल श्रम और पूँजी की इकाई क्रमशः बढ़ाई जाय तो भी प्रति इकाई उपज (return) नहीं बढ़ती बल्कि वास्तव में घटती है।

डा० मार्शल ने इस नियम की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"यदि खेती के तरीकों में साथ-साथ उन्नति न हो तो, भूमि पर लगाई गई पूँजी और श्रम की मात्रा में वृद्धि होने से कुल उपज में, साधारणतया, अनुपात से कम वृद्धि होती है।" मान लीजिये कि एक किसान एक छोटे से खेत में खेती करता है। वह एक निश्चित मिकदार (मात्रा) में अपने खेत पर कुछ पूँजी और श्रम व्यय करता है जिसको हम 'खुराक' या मात्रा (dose) कहते हैं।* मान लीजिये कि श्रम और पूँजी की प्रत्येक खुराक (मिकदार, मात्रा) का मूल्य उसे २५ रुपया पड़ता है, तो फी खुराक उसे निम्न प्रकार से उपज वसूल होगी :—

---

*अंग्रेजी के 'unit' शब्द के लिए हम हिन्दी में 'इकाई' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'Dose of Labour and Capital' अर्थात् श्रम और पूँजी की खुराक इस वाक्यांश का सर्वप्रथम James Mill ने उपयोग किया था। आर्थिक साहित्य में यह शब्द बहुत प्रचलित हो गया है और एक स्थायी स्थान प्राप्त कर चुका है; इसलिए इसे हिंदी में 'खुराक' ही रखा गया है। खुराक का यहाँ मतलब इकाई से ही है।

"An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes *in general* a less than proportionate increase in the amount of the produce raised, unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture."
—Dr. Marshall.

(१) लगाई गई खुराक	(२) सीमान्त वसूली मनों में	(३) कुल वसूली मनों में
Dose Applied	Marginal Return	Total Return
१	१२	१२
२	१०	२२
३	८	३०
४	५	३५
५	५	४०
६	..	४०
७	−५	३५

इससे यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे अधिक खुराकें (मात्राएँ) लगाई जाती हैं, सीमान्त उपज (marginal return) अर्थात् अतिरिक्त उपज (additional return) घटती जाती है। दूसरी खुराक से १० मन की वृद्धि होती है, तीसरी से ८ मन की, चौथी से ५ मन की आदि आदि (देखिए कॉलम २)।

कुल उपज बढ़ती जाती है, किन्तु यह बात ध्यान से समझ लेनी चाहिए कि यह वृद्धि अनुपात में नहीं होती। उदाहरण के लिए २५) रुपये की पहली खुराक दी जाती है तो पैदावार १२ मन होती है और जब दो खुराकें दी जाती हैं, तो कुल उपज २२ मन होती है। यह उपज दुगनी नहीं होती क्योंकि दूसरी खुराक की उपज पहली के बराबर नहीं है। इसलिए वृद्धि अनुपात में कम होती है। तो हम कह सकते हैं कि कुल उपज बढ़ती तो है किन्तु घटती हुई दर पर।

हम यह भी देखते हैं कि कुल उपज भी एक सीमा पर पहुँच कर घटनी शुरू हो जाती है यद्यपि कुल उपज का घटना बहुत बाद में शुरू होता है। और अगर किसान समझदार हो तो ऐसी अवस्था कभी आवेगी ही नहीं। छठी खुराक कुल योग में वृद्धि नहीं करती, और ७वीं इसे घटाती है। ऐसा लगता है कि उस अवस्था में इतने अधिक मजदूर या खाद आदि लगाई गयी है, कि लाभ के स्थान पर उल्टा नुकसान होता है।

उपर्युक्त उदाहरण को रेखाचित्र (diagram) द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है :—

त ए रेखा के साथ-साथ खुराकें दिखाई गई हैं और त व रेखा के साथ हर खुराक से होने वाली सीमान्त उपज (marginal returns)। जैसे-जैसे ज्यादा खुराकें लगाई जाती हैं सीमान्त उपज गिरती जाती है। इसलिए

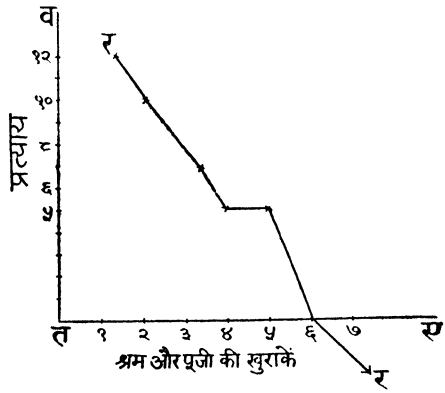

घटती हुई उपज का रेखाचित्र द्वारा निरूपण
Diagrammatic Representation of Diminishing Returns.

वक्र (Curve) नीचे की ओर बाएँ से दाएँ गिरता जाता है। ५ वीं खुराक पर पहुँच कर सीमान्त उपज स्थिर हो जाती है, छठी पर शून्य (जीरो) और ७ वीं पर नकारात्मक (Negative)।

३. घटती हुई उपज के नियम की सीमाएं (Limitations of the Law of Diminishing Returns) : ऊपर दिए गए डा० मार्शल के नियम में 'साधारणतया' (in general) वाक्यांश बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि नियम आमतौर पर लागू होता है, न कि हमेशा। निम्न अपवादों (exceptions) को ध्यान से देख लेना चाहिए :—

(१) नई ज़मीन पर श्रम और पूंजी लगाने से उन्नति होती जायेगी। इसलिए शुरू के वर्षों में उपज अनुपात से अधिक होगी। (बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होगा)

(२) कभी-कभी भूमि पर लगाई गई पूंजी पहले से ही नाकाफी होती है। इसलिए कुछ समय तक पूंजी की अधिक मात्रा लगाने से अनुपात से अधिक उपज होती है।

(३) यदि खेती के वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जाय तो भी उपज घटने के स्थान पर बढ़ेगी।

परन्तु ये निरोध (रुकावटें) अस्थायी हैं। आगे चल कर नियम ज़रूर लागू होने लगेगा।

जब विभिन्न समय पर उपज के विभिन्न नियम काम करते हैं तो रेखाचित्र दूसरी तरह का होता है जो आगे दिया गया है।

४. गहन अथवा विस्तृत उत्पादन की अवस्थाओं में घटती हुई उपज का नियम (Law of Diminishing Returns in the Intensive and Extensive Forms) :—गहन और विस्तृत खेती का अर्थ हम पहले बता चुके है। घटती हुई उपज का नियम दोनों अवस्थाओं में लागू होता है। यदि किसी विशेष

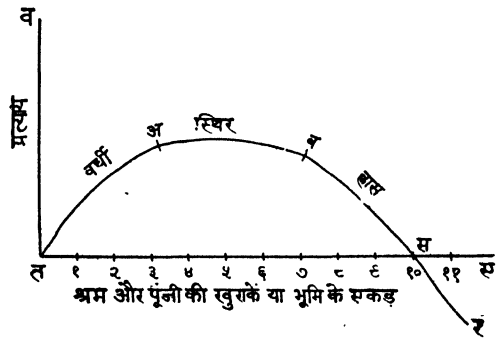

श्रम और पूंजी की डोजिज अथवा भूमि के एकड़
(Doses of Capital and Labour or Acres of land)

भूमि-खण्ड पर अधिक श्रम और पूँजी लगाई जाय तो कुछ काल बाद फ़ी खुराक उपज (return per dose) घट जाती है। इसलिए नियम गहन खेती (intensive cultivation) पर लागू होता है।

परन्तु यदि किसान ज़मीन का विस्तार बढ़ाता जाएगा तो भी उपज घटेगी। इसकी वजह यह है कि नई भूमि पहली की अपेक्षा खराब होगी (वरना पहले उस पर ही खेती की गयी होती), या फिर अगला खेत पहले से दूरी पर होगा, जिससे परिवहन (transport) पर अधिक लागत आएगी और उपज की कीमत बढ़ जाएगी। इस तरह जहां विस्तृत खेती (extensive cultivation) होती है वहां भी यह नियम लागू होता है।

पिछले पृष्ठ पर दिया गया रेखा-चित्र गहन खेती की अवस्था प्रदर्शित करता है। परन्तु वही रेखा-चित्र विस्तृत खेती को भी प्रदर्शित कर सकता है, यदि त ए रेखा पर खुराक के स्थान पर एकड़ भूमि मापी जाय।

५. **घटती हुई उपज के नियम का प्रयोग** (Application of the Law of Diminishing Returns) :—हमने घटती हुई उपज के नियम को खेती के बारे में समझा है। परन्तु यह नियम सिर्फ खेती तक ही सीमित नहीं है। यह नियम दूसरे निष्कर्षक उद्योगों (extractive industries), जैसे मछली पकड़ने, खान खोदने और पत्थर निकालने आदि में भी समान रूप से लागू होता है। निर्माण-क्षेत्र (manufacturing) में भी यदि उन्हें आदर्श या आप्टीमम बिन्दु (optimum point) से ज्यादा विस्तृत कर दिया तो यह नियम लागू होने लगता है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि जहां प्रकृति अपना काम करती है वहां घटती हुई उपज का नियम और जहां मनुष्य कुछ कार्य करता है उतने में बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होता है। दलील यह दी जाती है कि खेती के मामले में प्रकृति सर्वोच्च है और निर्माण (manufacture) आदि में मनुष्य। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि खेती के मामले में इंसान की सूझ-बूझ पर प्रकृति रोक लगा देती है और वह मजबूर रहता है। परन्तु निर्माण के क्षेत्र में वह व्यापार संगठन में स्वतन्त्र है और नित नई किफायतें ईजाद कर सकता है, जिन पर प्रकृति का कुत्सित प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिए उद्योग में बढ़ती हुई उपज मिलती है।

मोटे तौर पर यह बात सच है। आम तौर पर घटती उपज का नियम खेती में और बढ़ती उपज का नियम निर्माण में लागू होता है। परन्तु घटती उपज के नियम की सीमाओं में हमने देखा कि कुछ परिस्थितियों में खेती में भी बढ़ती उपज का नियम लागू होता है। ठीक इसी प्रकार से निर्माण में भी बढ़ती उपज का नियम हमेशा लागू नहीं होता। यदि इसे आदर्श (आप्टीमम) बिन्दु से ज्यादा बढ़ा दिया जाए तो उपज बढ़ने की बजाय घटती है।

सच बात तो यह है कि घटती या बढ़ती हुई उपज एक ही नियम के दो रूप हैं। वे खेती और उद्योग दोनों पर लागू होते हैं। किन्तु विभिन्न स्तरों पर।*

*Correctly speaking increasing and diminishing returns are two aspects of one and the same law. They apply both to agriculture and industry, only at different stages.

६. घटती हुई उपज का नियम खेती पर क्यों लागू होता है ? (Why the Law of Diminishing Returns Operates in Agriculture ?) :—इस बात के कई कारण हैं कि घटती हुई उपज का नियम प्रायः खेती में अधिक क्यों लागू होता है। कारण ये हैं :—

(१) खेती प्रायः जलवायु, वर्षा और मौसम आदि जैसे प्राकृतिक साधनों पर आश्रित रहती है। इसलिए इंसान का अच्छे से अच्छा प्रयत्न भी प्रकृति के विपरीत होने से बिगड़ सकता है।

(२) खेती के कामों में मशीन के उपयोग का क्षेत्र बड़ा सीमित है। इसलिए मशीन आदि से प्राप्त होने वाली किफ़ायतें खेती में नहीं मिल पातीं।

(३) श्रम-विभाजन (division of labour) का क्षेत्र भी सीमित होता है। इसलिए श्रम-विभाजन के लाभ भी नहीं मिल पाते।

(४) खेती का काम खेतों पर दूर-दूर तक फैला हुआ होता है और देख-भाल कठिन होती है।

(५) खेतीहर मज़दूर साल के कुछ भाग के लिए खाली रहता है। क्योंकि खेती का काम रुक-रुक कर (फसलों के हिसाब से) होता है इसलिए भी लागत बढ़ जाती है।

(६) कुछ समय बाद भूमि की उत्पादन-शक्ति कम हो जाती है और उपज कम होती है।

(७) सभी जमीनें समान रूप से उपजाऊ नही होती। यदि कम उपजाऊ भूमि पर खेती की जाय तो प्रति एकड़ उपज अवश्य ही कम होगी। वर्षा की अनिश्चितता के कारण भारत में और देशों की अपेक्षा कम उपज होती है। खेती के साधन पिछड़े हुए हैं और किसान पूँजी लगाने में असमर्थ है। सिंचाई की सुविधाएँ भी थोड़ी हैं।

जब तक इन दोषों को दूर नहीं किया जाता, दूसरे देशों की अपेक्षा भारत में खेतों से उपज अपेक्षाकृत कम ही होगी।

७. घटती हुई उपज के नियम का व्यापक रूप (The Law of Diminishing Returns in a General Form) :—हमने पिछले विभाग में घटती हुई उपज के नियम को खेती से सम्बन्धित कामों में देखा है। परन्तु यह नियम सिर्फ खेती के लिए नहीं है। विशेष वातावरण में यह उद्योग के क्षेत्र में भी लागू होता है। डा० मार्शल की परिभाषा के अनुसार (देखिये विभाग २) तो यह नियम सिर्फ खेती पर ही लागू होता है। परन्तु आजकल अर्थशास्त्री इस नियम के क्षेत्र को बहुत विस्तृत मानते हैं।

जहां भी उत्पादन के किसी मुख्य साधन (essential factor) की सप्लाई सीमित होती है वहीं पर यह नियम लागू होने लगता है। यदि कोई मुख्य साधन इतना दुर्लभ (scarce) हो, कि या तो उसकी आगे की सप्लाई बिल्कुल बन्द ही हो जाय, या घटिया किस्म ही मिलने लगे तो यह नियम ज़रूरी तौर पर लागू होगा। हमें हर प्रकार के उत्पादन के साधनों की जरूरत पड़ती है। यदि हमें इनमें

से कुछ मिल सकें और कुछ न मिलें तो जिस अनुपात (proportion) में हम इन साधनों को मिलाते (combine) हैं वह बिगड़ जाता है, और उपज घटनी शुरू हो जाती है।

इस नियम को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है : यदि अस्थिर साधनों को किसी एक स्थिर साधन के साथ मिलाया जाय तो बढ़े हुए साधनों से प्राप्त उपज घट जायेगी। बैनहम ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की है :—

"साधनों के योग में एक साधन का अनुपात एक विशेष बिन्दु से जैसे ही बढ़ता है, उस साधन की सीमान्त और औसत उत्पाद घटती है।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यह नियम सिर्फ खेती में ही नहीं वरन् जहां कहीं भी उपर्युक्त अवस्थाएँ पाई जाती हैं लागू होता है।

निम्न रेखा-चित्र में घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत का नियम दिखाया गया है। त ए रेखा पर उपज (returns) और त ब रेखा पर प्रति इकाई लागत (cost) दिखाई गई है।

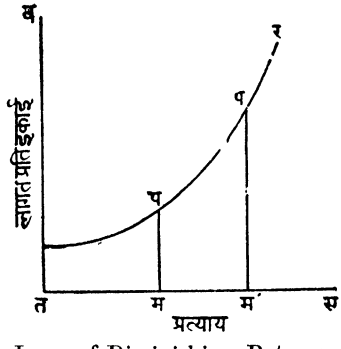

जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ाये जाते हैं लागत बढ़ती है। उदाहरण के लिए जब उत्पादन त म होता है तो लागत प म आती है, और जब उत्पादन अधिक होता है (अर्थात् त म'), तो लागत प' म' हो जाती है।

८. अर्थशास्त्र में घटती हुई उपज के नियम का महत्त्व (Importance of the Law of Diminishing Returns in Economic Theory) :—यह नियम अर्थशास्त्र के आधारभूत नियमों में से है। अर्थशास्त्र की हर एक बहस की जड़ में यह नियम निहित है।

खास तौर पर मालथस का जनसंख्या का सिद्धान्त तो इसी पर आश्रित है। खाद्य पदार्थों की सप्लाई बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ इसीलिए मेल नहीं खाती, क्योंकि खेती का काम घटती हुई उपज के आधीन होता है।

रिकार्डो का किराए का सिद्धान्त (theory of rent) भी इसी पर आश्रित है। न "सिर्फ ज्यादा अच्छी ज़मीन पर अतिरिक्त उपज होती है, वरन् ज़मीन को दी गई श्रम और पूंजी की पहली खुराकों से, बाद में दी गई की अपेक्षा, अधिक उपज होती है। यही अतिरिक्त उपज (surplus yield) आर्थिक किराया (economic rent) कहलाता है। और यह घटती हुई उपज का नियम लागू होने के कारण है।

If variable factors are combined with a fixed factor, the returns for the factors increased will diminish.

"As the proportion of one factor in a combination of factors is increased *after a point* the marginal and averag product of that factor will diminish."

वितरण का सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त (marginal productivity theory of distribution) भी यही मानता है कि उत्पादन के साधन की इकाइयों को बढ़ाने से घटती हुई उपज का नियम लागू होने लगता है।

९. **बढ़ती हुई उपज का नियम** (The Law of Increasing Returns) :— बढ़ती हुई उपज का नियम घटती हुई उपज के नियम का विरोधी है। उद्योग में जहां कहीं भी घटती हुई उपज का नियम लागू होता है वहां पूंजी और श्रम की प्रत्येक वृद्धि के अनुपात से कम उत्पादन होता है, परन्तु बढ़ती हुई उपज के नियम के अनुसार उत्पादन अनुपात से अधिक होता है।

इस नियम को हम लागत (cost) के रूप में भी रख सकते हैं। बढ़ती हुई उपज का अर्थ होता है प्रति इकाई कम लागत, ठीक इसी प्रकार घटती हुई उपज का अर्थ होता है अधिक लागत। इसलिए बढ़ती हुई उपज का नियम यह बताता है कि बढ़ते हुए उद्योग में प्रति इकाई सीमान्त या अतिरिक्त उपज की लागत गिर जाती है जैसे-जैसे किसी वस्तु की अधिक इकाई पैदा की जाती है प्रति इकाई कीमत कम होती जाती है।

घटती हुई उपज के नियम को समझाते हुए यह बताया गया था कि उत्पादन के किसी एक या एक से अधिक साधन की कमी या दुर्लभता के कारण यह नियम लागू हो जाता है। जब साधनों को बढ़ाया जाता है तो प्रत्येक साधन को बढ़ाना सम्भव नहीं होता। तब घटती हुई उपज साधनों के मिश्रण में बिगाड़ के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु कुछ उद्योग ऐसे हैं जहां कोई भी साधन, जिनकी मांग हो, प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए जहां साधन प्राप्त हो जाते हैं, वहां उनका संतुलन ठीक किया जा सकता है। इसलिए इन मामलों में घटती हुई उपज के स्थान पर बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होने लगता है।

बढ़ती हुई उपज का नियम सिर्फ आदर्श (optimum) बिन्दु तक ही काम करता है, अर्थात् अधिकतम उपज के बिन्दु तक। जैसे-जैसे व्यापार बढ़ता है और आप्टिमम की ओर चलता है, वैसे ही प्रति इकाई उपज बढ़ती जाती है, अर्थात् उत्पादन की लागत कम होती जाती है। किन्तु यदि व्यापार को बिन्दु से आगे बढ़ाया जाय तो मुनाफे में गिरावट शुरू हो जायगी, और घटती उपज का नियम लागू होने लगेगा। बढ़ती हुई उपज के नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—

"एक बिन्दु तक, जैसे-जैसे साधनों के योग में एक साधन का अनुपात बढ़ता है वैसे ही उस साधन का सीमान्त उत्पादन बढ़ जाता है।"*

मान लीजिए कि एक होजरी के कारखाने वाला १,००० रुपये की उत्तरोत्तर (successive) खुराकें स्वेटरों के बनाने में लगाता है, तो फल आगे दी हुई तालिका के समान होगा :—

---

*As the proportion of one factor in a combination of factors is increased, up to a point, the marginal product of the factor will increase.

१	२	३	४
लगाई गई खुराकें (१,००० रुपये प्रति)	बनियानों का स्वेटर कुल	प्रति स्वेटर के हिसाब से उत्पादन की लागत	स्वेटर का सीमान्त उत्पादन
Doses applied (Rs. 1,000 each)	Total output of Pullovers	Cost of Production per Pullover रु० आ० पा०	Marginal output Pullovers
१	२००	५ ० ०	२००
२	५००	४ ० ०	३००
३	१,०००	३ ० ०	५००
४	१,६००	२ ० ०	८००
५	२,५००	२ ० ०	९००

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे व्यापारी अपने व्यापार को उत्तरोत्तर खुराकों द्वारा (१,००० रुपये प्रति खुराक से) बढाता जाता है, वैसे-वैसे कुल पैदावार बढ़ती जाती है (देखिये कॉलम २), और फी स्वेटर लागत भी घटती जाती है (देखिये कॉलम ३), और सीमान्त अथवा अतिरिक्त उत्पादन जो प्रत्येक अतिरिक्त १,००० रुपये की खुराक से प्राप्त होता है, बढ़ता जाता है (देखिये कॉलम ४) ।

उपर्युक्त परिणाम को हम रेखा-चित्र द्वारा भी समझा सकते हैं। रेखा-चित्र में घटती हुई लागत दिखाई गई है जो ऊपर कॉलम ३ में है। त ए रेखा पर स्वेटरों का

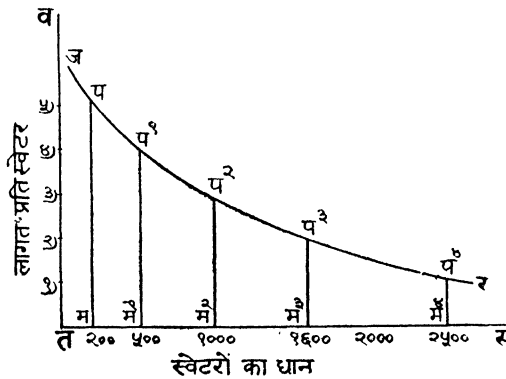

कुल परिमाण दिखाया गया है, और त व पर प्रति स्वेटर के हिसाब से उत्पादन की लागत, ज र वक्ररेखा लागत दिखाती है। यह जाहिर है कि जैसे-जैसे उत्पादन का स्तर (scale) बढ़ता है लागत प्रति इकाई गिरती जाती है।

१०. बढ़ती हुई उपज का नियम कहाँ लागू होता है और क्यों ? (Where does the Law of Increasing Returns Operate and Why ?):— बढ़ती हुई उपज का नियम निर्माण आदि के कारखानों में व्यापक रूप से लागू होता है। क्योंकि इनमें ही मनुष्य किसी हद तक प्रकृति के कोप और अड़चनों से बचा रहता है। वह आगे बढ़ सकता है और हर प्रकार की आन्तरिक व बाह्य किफ़ायतों से लाभ उठा सकता है। बड़े स्तर पर होने वाली किफ़ायतों को हम पहिले ही बता चुके हैं। वे सब बड़े निर्माताओं को प्राप्त होती हैं। जैसे-जैसे वह स्तर बढ़ाता है, उत्पादन आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो जाता है। यह नियम बड़े निर्माण-उद्योगों (manufacturing industries) में ही क्यों लागू होता है ?

(१) इनमें मशीने लगाने का अवसर अधिक होता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मशीनों को सदैव काम में लगाया रखा जा सकता है। उन्हें खाली नहीं रहने दिया जाता। इसलिए प्रति इकाई उत्पादन पर लागत पूँजी (capital costs) कम होती है।

(२) शिक्षित मज़दूर को भी काम पर लगाने का अवसर रहता है। जिससे उत्पादन अधिक होता है और लागत घट जाती है।

(३) चूँकि निर्माण उद्योग साधारणतया बड़े स्तर पर होते हैं इसीलिए वे सभी आन्तरिक और बाह्य मितव्ययिताओं (internal and external economies) से लाभ उठा सकते हैं; अर्थात् खरीदने और बेचने, प्रशासन (administration), विज्ञापन और बिक्री, शोध और प्रयोग आदि सभी कामों पर किफ़ायत कर लेते हैं।

(४) निर्माण कार्य में खेती आदि जैसे कामों की अपेक्षा मौसम आदि के परिवर्तन का प्रभाव बहुत कम होता है।

(५) चूँकि काम छोटी जगह (बन्द कमरो) में होता है इसीलिए निरीक्षण आदि सहज और कारगर (effective) होते हैं। कच्चा माल कम खराब जाता है और मशीन आदि भी कम खराब होती हैं। इसके अलावा विशेष जानकारों की राय और मदद उन्हें आसानी से मिल जाती है।

११. उपज के स्थिर रहने का नियम (The Law of Constant Returns):— उपज के स्थिर रहने का नियम उस समय अपना काम शुरू करता है जब उद्योग का विस्तार करने पर भी प्रति इकाई उपज उतनी ही रहती है। श्रम और पूँजी की प्रत्येक वृद्धि उतनी ही उपज देती है जितनी पहली इकाइयों से थी। या, दूसरे शब्दों में कह सकते हैं, उत्पादन का स्तर चाहे जो भी हो, किन्तु उत्पादन की प्रति इकाई लागत समान रहती है (whatever the scale of production, the cost of production per unit remains the same)।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि जब व्यापार आदर्श बिन्दु (optimum point) की ओर चलता है तो बढ़ती हुई उपज प्राप्त होती है, और जब आप्टीमम बिन्दु से अधिक की ओर चलता है तो घटती हुई उपज प्राप्त होती है। परन्तु जब आप्टीमम बिन्दु पर पहुँच कर, उपज वही बनी रहती है, तो कहा जाता है कि उपज स्थिर है।

नीचे की तालिका में यह नियम स्पष्ट रूप से दिखाया गया है :—

एक कम्बल बनाने वाला १,००० रुपये की खुराक के हिसाब से अपने कारखाने में लगाता है तो उन्नति इस प्रकार होती है :

१	२	३			४
खुराक (प्रति १,००० रुपये) Doses (Rs. 1,000 each)	कुल कम्बलों का उत्पादन Total number of blankets produced)	लागत प्रति कम्बल (Cost per blanket) रु०	आ०	पा०	कम्बलों का सीमान्त उत्पादन (Marginal output of bankets)
१	२००	५	०	०	२००
२	४००	५	०	०	२००
३	६००	५	०	०	२००
४	८००	५	०	०	२००
५	१,०००	५	०	०	२००

जब वह १,००० रुपये लगाता है तो उत्पादन किये गये कम्बलों की संख्या २०० होती है और जब वह २,००० रुपये लगाता है तो ४०० कम्बलों का उत्पादन होता है (देखिये कॉलम २)। उपज समानुपातिक (proportionate) होती है। उत्पादन की प्रति कम्बल लागत वही रहती है अर्थात् ५ रुपये। चाहे उत्पादन का स्तर कुछ भी हो (देखिये कॉलम ३)। सीमान्त उपज स्थिर रहती है अर्थात् २०० (देखिये कॉलम ४)। हर अतिरिक्त १,००० रुपये लगाने पर २०० कम्बल का उत्पादन होता है।

इस नियम को रेखा-चित्र द्वारा इस तरह दिखाया जाता है :—

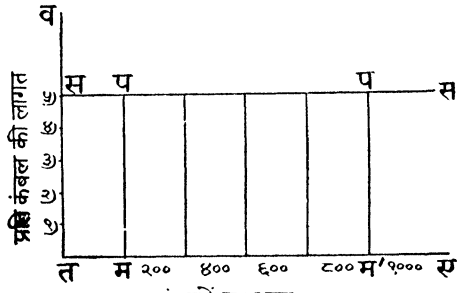

स्थिर लागत अथवा स्थिर उपज का नियम
(The Law of Constant Costs or Constant Returns)

त व रेखा पर प्रति २००० रुपये का उत्तर प्रतियोग (investment) दिखाया गया है और त ए रेखा पर सीमान्त या अतिरिक्त कम्बलों का उत्पादन, सैकड़ों में। हर बार कम्बल की लागत ५ रुपये होती है चाहे २० कम्बलों का उत्पादन हो या १,००० का। यह स स रेखा से दिखाया गया है जो त ए रेखा के समानान्तर (parallel) खिंची हुई है।

१२. स्थिर उपज का नियम किस समय लागू होता है? (When does the law of Constant Returns Operate?) :—यह तो हम पहले ही समझा चुके हैं, ऐसे व्यवसाय में जहां प्रकृति का प्रभाव मुख्य होता है जैसे खेती में, घटती हुई

उपज का नियम फौरन लागू हो जाता है। परन्तु जहां इन्सान मुख्य होता है वहां बढ़ती हुई उपज का नियम काम करता है। परन्तु जहां न प्रकृति और न इन्सान मुख्य होता है अर्थात् जहां दोनों के प्रभाव सन्तुलित (balanced) (बराबर) होते हैं, वहां न तो घटती और न बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होगा। इन दोनों से अलग, वहां तीसरा नियम जिसका वर्णन हम अभी कर चुके हैं, स्थिर उपज का नियम (The Law of Constant Returns) लागू होगा।

हम हर एक उद्योग में इन्सान और प्रकृति दोनों का ही प्रभाव पाते हैं। प्रकृति कच्चे माल पर नियन्त्रण रखती है, और इन्सान निर्माण कार्य चलाता है। अब, यदि कोई ऐसा उद्योग है जिसमें कच्चे माल और दूसरी लागतों पर आधा-आधा खर्चा आता है तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इन्सान और प्रकृति दोनों ही का प्रभाव समान है। ऐसे उद्योग में स्थिर उपज का नियम लागू होगा। ऐसे उद्योग का सब से साधारण उदाहरण ऊनी कम्बल बुनने का कारखाना है। इस उद्योग में कच्चे माल (ऊन) की लागत और दूसरे कुल खर्चे बराबर होते हैं।

यदि निष्कर्षक और निर्माण उद्योगों (extractive and manufacturing) में साम्य (integration) हो, उदाहरण के लिए खाँड बनाने और गन्ना बोने में, इस्पात (steel) बनाने और खान से लोहा निकालने में, डेरी प्रबन्ध और खेती आदि में यह स्थिर उपज का नियम लागू होगा। इस तरह उद्योग के दोनों पक्षों का मेल हो जाता है, यानी कृषि (या खान) पक्ष जिस पर घटती हुई उपज का नियम लागू होता है, और निर्माण पक्ष जिस पर बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होता है। इन दोनों प्रवृत्तियों (tendencies) के लिए यह सम्भव है कि वे आपस में मिलकर एक दूसरे का प्रभाव खत्म कर दें (counter balance) जिससे स्थिर उपज का नियम लागू होने लगेगा।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रत्येक उद्योग में दो प्रवृत्तियाँ (tendencies) सदैव काम करती हैं यानी घटती हुई उपज और बढ़ती हुई उपज की। जब उत्पादन का स्तर बढ़ जाता है तो बढ़ती हुई मांग के कारण कच्चे माल और दूसरी चीजों की कीमत बढ़ जाती है। इससे उत्पादन की लागत प्रति इकाई बढ़ने की सम्भावना रहती है, यानी घटती हुई उपज के नियम के लागू होने की सम्भावना रहती है। परन्तु साथ ही साथ उत्पादन का स्तर जितना बड़ा होता है मशीन, श्रम-विभाजन, क्रय-विक्रय, शोध और विज्ञापन आदि पर उतनी ही बचत भी होती है। इन किफ़ायतों (economies) की वजह से उत्पादन की लागत प्रति इकाई कम हो जाती है और बढ़ती हुई उपज का नियम काम करने लगता है। जब इन दोनों प्रवृत्तियों का समान संतुलन हो जाता है, अर्थात् यदि एक से दूसरे का प्रभाव खत्म हो जाता है तो स्थिर उपज का नियम लागू होने लगता है।

किन्तु वास्तविक जीवन में हम देखते हैं कि या तो घटती हुई उपज का नियम प्रबल (strong) होता है जैसे खेती या दूसरे निष्कर्षक उद्योगों में या बढ़ती हुई उपज का नियम प्रबल होता है जैसे निर्माणकारी उद्योगों में, इसलिए स्थिर उपज का नियम बहुत मुश्किल से पाया जाता है और थोड़े ही समय के लिये टिक पाता है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

उत्पादन के नियम (Law of Production) : ये तीन नियम होते हैं।

(i) घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत का नियम।

(ii) बढ़ती हुई उपज अथवा घटती हुई लागत का नियम।

(iii) स्थिर उपज अथवा स्थिर लागत का नियम।

घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत का नियम (The Law of Diminishing Returns or Increasing Costs) : "यदि खेती के तरीकों में साथ-साथ उन्नति न हो, तो भूमि पर लगाई गई पूंजी और श्रम की मात्रा में वृद्धि होने से कुल उपज में, साधारणतया, अनुपात से कम वृद्धि होती है।"—[मार्शल]।

नियम की कुछ सीमायें (Limitations of the Law) : नीचे लिखी अवस्थाओं में यह लागू नहीं होगा :—

(क) जहाँ खेती के लिये नई भूमि मिलाई गई हो।

(ख) जब खर्च की गई पूंजी तब तक अपर्याप्त हो, और

(ग) जब खेती में वैज्ञानिक तरीको का उपयोग किया जा रहा हो।

घटती हुई उपज के नियम के गहन और विस्तृत रूप (Intensive and Extensive Forms of the Law of Diminishing Returns) :

गहन (Intensive) : जब जमीन के एक ही टुकड़े को अच्छी तरह जोता-बोया गया हो।

विस्तृत (Extensive) : जब खराब या दूर की जमीन को जोतने के काम में लाया गया हो।

घटती हुई उपज के नियम का प्रयोग (Application of the Law of Diminishing Returns) : यह नियम सभी प्रकृति से निकालने वाले (extractive) उद्योगों जैसे, खेती, मछली पकड़ना, खान खोदना, मकान बनाना आदि पर लागू होता है।

क्या यह सच है कि घटती हुई उपज का नियम खेती के कामों में और बढ़ती हुई उपज का नियम निर्माण उद्योगों पर लागू होता है। यह जरूरी नहीं है साधारण तौर से ऐसा ही होता है; परन्तु दोनों नियम खेती और उद्योग दोनों ही पर लागू हो सकते हैं।

घटती हुई उपज का नियम खेती पर इन कारणों से लागू होता है :

(क) प्राकृतिक शक्तियों के कारण,

(ख) श्रम-विभाजन का क्षेत्र और मशीन का उपयोग सीमित होने के कारण,

(ग) निरीक्षण की कठिनाई के कारण (चूंकि क्षेत्र विस्तृत होता है),

(घ) खेतों का काम मौसम पर आश्रित होने के कारण,

(च) भूमि की उपजाऊ शक्ति के कम हो जाने के कारण; और

(छ) खराब जमीन से कम उपज के कारण।

हमारे देश में यह नियम अनिश्चित वर्षा, खेती के दूषित तरीकों और किसान की अज्ञानता के कारण विशेष रूप से लागू होता है।

घटती हुई उपज के नियम का व्यापक रूप (The Law of Diminishing Returns in a General Form) : "जैसे-जैसे साधनों (factors) के योग (combination) में एक साधन का अनुपात एक बिंदु तक बढ़ता है वैसे-वैसे साधन का सीमान्त उत्पादन बढ़ जाता है।" (बेनहम)। यह नियम वहीं लागू होता है जहां उत्पादन के किसी विशेष साधन का अभाव या कमी हो, जिनके कारण उनका संतुलन बिगड़ जाए।

घटती हुई उपज के नियम का महत्त्व (Importance of the Law of Diminishing Returns) : यह नियम माल्थस के जनसंख्या के, रिकार्डो के किराए (rent) के, और वितरण के सीमान्त उत्पादन सिद्धान्तों का आधार है।

बढ़ती हुई उपज अथवा कम लागत का नियम (The Law of Increasing Returns or Decreasing Cost) : जहां उत्पादन के साधनों का अभाव अथवा कमी नहीं होगी वहां बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होगा, चूंकि इस तरह दूषित संतुलन को उन साधनों को जिनकी कमी थी साधनों द्वारा ठीक किया जा सकता है। यह नियम तब लागू होता है जब व्यापार लगभग आप्टीमम (optimum) आकार का होता है। इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—

"जैसे-जैसे एक साधन का अनुपात साधनों के योग में एक सीमा तक बढ़ाया जाता है, वैसे-वैसे उस साधन का सीमान्त उत्पादन बढ़ता है।"

बढ़ती हुई उपज का नियम कहां लागू होता है और क्यों ? (Where does the Law of Increasing Returns operate and why ?) : यह नियम बड़े स्तर के उत्पादन की किफ़ायतों और मनुष्य द्वारा प्रकृति के दुष्प्रभावों पर विजय पाने की शक्ति के कारण सारे निर्माण उद्योगों पर लागू होता है।

स्थिर उपज का नियम (The Law of Constant Returns) : यदि व्यापार का आकार आप्टीमम (optimum) ही बना रहे तो उपज (returns) वैसी ही बनी रहेगी। यह नियम वहां भी लागू होगा जहां घटती हुई उपज और बढ़ती हुई उपज दोनों की प्रवृत्तियां (tendencies) बराबर संतुलित होती हैं, जैसे निष्कर्षक और निर्माणकारी उद्योगों के बराबर-बराबर योग (combination) में।

जब स्थिर उपज का नियम लागू होता है, तो उत्पादन का चाहे जो भी स्तर हो, लागत प्रति इकाई वही रहती है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1. What are the laws of production ? Describe the working of any one of them in the production of at least one main commodity in your province. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४१)

[उत्पादन के नियमों से हमें उन सिद्धान्तों का पता लगता है जो उद्योग के विस्तार का संचालन करते हैं। उत्पादन के तीन नियम हैं, जैसे घटती हुई उपज का नियम आदि, देखिए विभाग १।

गेहूं का उत्पादन, जो हमारे राज्य की एक मुख्य उपज है, घटती हुई उपज के नियम से शासित है। कपड़ा उत्पादन बढ़ती हुई उपज से शासित है और कम्बलों का उत्पादन समान उपज के नियम से। अब आगे विभाग २ देखिए।]

2. State and explain the Law of Diminishing Returns. Why do diminishing returns occur ?

(देहली १९५०, सागोर १९५२, जम्मू और काश्मीर १९५३)
देखिये विभाग २, ३ और ६

3. Explain working of the Diminising Returns with the help of a diagram. To what types of production does it apply and why ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९५३, दिल्ली, १९५३)
देखिये विभाग २, और ५

4. State and explain the Law of Diminishing Returns with its limitations. Use diagrams.

(अजमेर १९५३, बम्बई १९५३, नागपुर १९४१)
देखिए विभाग २ और ३

Or

Explain and illustrate the Law of diminishing returns in production. What is the practical importance of this law ? (पटना, १९५४)

5. Explain why it is not possible to feed all the people in your State by devoting sufficient labour and capital to the cultivation of one best farm.

[यह घटती हुई उपज के नियम लागू होने के कारण है।]

देखिए विभाग २

6. "Broadly speaking, while the part which Nature plays in production conforms to the law of diminishing returns, the part which man plays conforms to the law of increasing returns". Discuss.

(जम्मू और काश्मीर १९५३, कलकत्ता, १९३२)

देखिए विभाग ६

7. Discuss the importance of the law of diminishing returns in economic theory.

देखिए विभाग ८

8. Enunciate the Law of Increasing Returns. Does it apply to secondary industries only ? Suppose the production of steel in India obeys this law, how will consumers be affected if its production is encouraged ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९३२)

[नियम के विवरण के लिए देखिए विभाग ९। इस्पात के बड़े पैमाने पर उत्पादन का मतलब होगा कम लागत। उपभोक्ताओं को फायदा होगा।]

9. Why is the law of increasing returns supposed to operate in manufactures ? Does it apply to manufactures at all stages ?

[देखिए विभाग १०। यह सभी अवस्थाओं में लागू नहीं होता। यदि उपयोग का विस्तार उपयुक्त आप्टीमम सीमाओं से अधिक किया जाए तो घटती हुई उपज का नियम लागू होने लगेगा]।

10. State the Law of Constant Returns and mention the circumstances in which it may possibly operate.

देखिए विभाग ११ और १२

अध्याय १६

पूर्ति (SUPPLY)

पूर्ति किसी कीमत पर ही होती है
(Supply is at a Price)

१. **प्रवेशिका** (Introduction) :—हम उत्पादन का अध्ययन समाप्त कर रहे हैं परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा ज्ञान तब तक पूरा नहीं होगा जब तक हम सप्लाई के स्वभाव और उसके पीछे की शक्तियों को न समझ लें। उपभोग (Consumption) में तो सिर्फ मनुष्य की इच्छाओं के स्वभाव और उनकी संतुष्टि का ही अध्ययन होता है। उपभोग मांग से और उत्पादन पूर्ति से सम्बन्ध रखता है। इस अध्याय को पढ़ते समय विद्यार्थियों को मांग पर लिखा गया अध्याय ६ भी देख लेना चाहिए।

२. **पूर्ति का अर्थ** (Meaning of Supply) :—पूर्ति किसी वस्तु की उन मात्राओं (Quantities) को कहते हैं जिन्हें विक्रेता विभिन्न कीमतों पर बेचने के लिए तत्पर और समर्थ होता है। ज़ाहिर है कि यदि कीमत बढ़ जाये तो वह ज्यादा बेचना चाहेगा। लेकिन अगर कीमत गिर जाय तो उसे बेचने में कम रुचि होगी। सप्लाई कीमत के साथ-साथ घटती बढ़ती रहती है। जिस तरह कीमत और समय के बिना मांग का उल्लेख नहीं किया जा सकता ठीक उसी तरह कीमत और समय के बिना पूर्ति का उल्लेख नहीं किया जा सकता। पूर्ति हमेशा कीमत पर निर्भर है। हम किसी माल की पूर्ति की परिभाषा इस तरह कर सकते हैं "पूर्ति माल की क्रमशः मात्राओं की उस तालिका (Schedule) को कहते हैं जिन्हें विक्रेता विभिन्न सम्भव कीमतों पर बेचने को तैयार हों।"

जिस तरह 'मांग' कहने में पैसा देने की तत्परता और क्षमता आ जाती है, ठीक उसी तरह उपर्युक्त परिभाषा में बेचने के लिए तैयार का अर्थ होता है माल देने का सामर्थ्य और इच्छा।

मांग की भांति पूर्ति भी व्यक्ति, स्थान और समय से सम्बन्धित है। यह (पूर्ति) अलग-अलग जगह, समय और व्यक्ति के साथ अलग-अलग होगी। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति १९० मन गेहूँ १० रुपये प्रति मन के हिसाब से सप्लाई करने को तैयार है तो इससे हमारा मतलब होता है कि वह व्यक्ति ऐसा कुछ विशेष हालतों में ही करेगा। इन हालतों में कुछ भी अन्तर पड़ने से पूर्ति में परिवर्तन हो जायगा।

३. **पूर्ति और भण्डार में भेद** (Distinction between Supply and Stock) : कई बार पूर्ति (सप्लाई) और भण्डार (स्टाक) शब्दों में बड़ा भ्रम होता है। दोनों को ठीक-ठीक समझ लेना बहुत जरूरी है। सप्लाई के लिए स्टाक का होना जरूरी है। स्टाक ही सम्भावित (Potential) सप्लाई है। पूर्ति का अर्थ है एक विशेष

कीमत पर बेचने के लिए पेश किया जाने वाला परिमाण, लेकिन स्टाक का अर्थ वह कुल परिमाण या भण्डार है जो किसी समय में मौजूद है और जिसे अनुकूल हालात में बेचने के लिए दिया जा सकता है। किसी समय मंडी में गेहूँ के गोदाम भरे हुए हों तो उन्हें स्टाक या भण्डार कहेंगे। अगर कीमत कम है तो माल गोदामों में ही पड़ा रहेगा और बहुत थोड़ा-सा परिमाण बिकने आयेगा। गोदामों से निकलकर जितनी मात्रा मंडी में बिकने आएगी वह उस विशेष कीमत पर गेहूँ की सप्लाई होगी। मंडी में कीमतों के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ सप्लाई और स्टाक के परिमाण में तबदीली होती रहती है। कीमत बढ़ने पर कुछ स्टाक गोदामों से निकलकर सप्लाई बन जाता है और कीमत गिरने पर कुछ सप्लाई मंडी से खिचकर गोदामों के स्टाक में चली जाएगी।

४. **पूर्ति की अनुसूची** (Supply Schedule) :—जैसी कि अध्याय ६ के विभाग ३ में दूध की मांग की अनुसूची दिखायी गयी है, वैसी ही दूध की पूर्ति की अनुसूची भी होगी।

कीमत प्रति सेर			बेचने के लिए पेश की जाने वाली
रु०	आ०	पा०	मात्रा
१	०	०	१०
०	१२	०	८
०	१०	०	५
०	८	०	३
०	६	०	२
०	४	०	१/२
०	२	०	शून्य

उपर्युक्त तालिका से ज़ाहिर है कि जैसे-जैसे दूध की कीमत गिरती जाती है इसकी सप्लाई या बिक्री भी कम होती जाती है। परन्तु कीमत के बढ़ने के साथ-साथ ग्वाला ज़्यादा बेचने को तैयार हो जाता है।

५. **पूर्ति वक्र** (Supply Curve) :—उपर्युक्त अनुसूची को आगे रेखा-चित्र के रूप में दिखाया गया है :—

त ए रेखा पर दूध की सप्लाई की मात्रा दिखाई गई और कीमतें त व रेखा पर। बाएं से दाएं को चलते हुए पूर्ति वक्र स स' ऊपर की ओर जाता है, यानी जैसे-जैसे कीमत बढ़ती है बिक्री के लिए अधिक माल मंडी में आ जाता है, और जैसे-जैसे कम होती है, इसके उलट होता है।

पूर्ति का नियम (The Law of Supply) : उपर्युक्त पूर्ति वक्र और अनुसूची से जो परिणाम निकलता है वह इस प्रकार है :—

"किसी मंडी में, किसी समय पर, माल की वह मात्रा जिसे बेचने के लिए,

लोग तैयार रहते है, साधारणतया कीमत के साथ उसी दिशा में (directly) घटती बढ़ती है।"

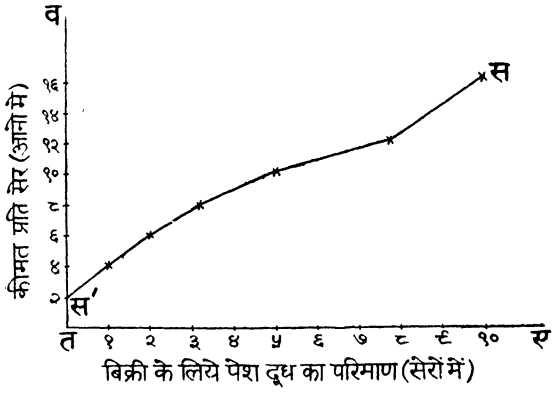

बेचने के लिए दी जाने वाली दूध की मात्रा

'सीधे या उसी दिशा में घटती बढ़ती है' यानी कीमत के बढ़ने पर बिक्री की मात्रा बढ़ जाती है और कीमत के घटने पर घट जाती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मांग के समय माल की मात्रा में हेर-फेर कीमत के मुकाबले में उल्टा होता है, यानी कीमत बढ़ने पर मांग घट जाती है और घटने पर बढ़ जाती है।

पूर्ति के नियम की परिभाषा इस तरह भी हो सकती है : दूसरी बातें यदि समान रहें तो, पदार्थों की कीमत बढ़ने पर, उनकी सप्लाई बढ़ जाती है, और कीमत गिरने पर सप्लाई घट जाती है।"

पूर्ति का नियम घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत के नियम पर टिका हुआ है। जब बाज़ार मंदा होता है तो बहुत-से व्यापारी और दुकानदार माल बेचना नहीं चाहते चूंकि लागत के मुकाबले में मुनाफ़ा कम होता है। लेकिन कीमतें बढ़ने पर वे मुनाफ़े पर उत्पादन करने और अधिक बेचने में समर्थ होते हैं। ऊँची कीमतों का मतलब अधिक मुनाफ़ा है। मुनाफ़े की खातिर अधिक-से-अधिक उत्पादन होता है और कुल मुनाफ़ा बढ़ जाता है।

पूर्ति के कुछ अपवादात्मक उदाहरण (Some exceptional cases of supply) : (क) नीलाम के समय माल को आखिरी बोली पर छोड़ देते हैं। कभी ऐसा भी हो सकता है कि बेचने वाले को पैसे की ज़रूरत है और वह एक निश्चित राशि चाहता है। जैसे ही उसे अपनी जरूरत के लायक पैसा मिल जायगा, वह बेचना बन्द कर देगा। बोली जितनी ऊँची लगेगी माल की वह उतनी ही कम मात्रा बेचेगा, क्योंकि उतनी ही कम मात्रा में उसे अपनी ज़रूरत का पैसा मिल जायगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मालिक सारा सामान बेचना चाहता है, जैसे विदेश

आदि जाने वाले व्यक्ति। ऐसा व्यक्ति बिना बोली की परवाह किये हुए अपना सारा माल बेच देगा।

(ख) अगर बाज़ार में बहुत मंदी आने का डर हो तो भी व्यापारी घटती हुई कीमतों पर बेचते जाते हैं।

परन्तु इन अपवादों से उपर्युक्त पूर्ति का नियम गलत सिद्ध नहीं होता। आम तौर पर नियम ठीक ही ठहरता है।

६. पूर्ति का विस्तार एवं संकुचन और वृद्धि एवं कमी (Extension and Contraction of Supply and Increase and Decrease of Supply) :— जैसा मांग के सम्बन्ध में होता है, वैसा ही पूर्ति के सम्बन्ध में भी होता है। इसलिए हमें एक ओर विस्तार और संकुचन तथा दूसरी ओर वृद्धि और कमी में भेद करना चाहिए।

विस्तार एवं संकुचन (Extension and Contraction) : जब सिर्फ़ कीमत चढ़ने और उतरने से ही माल की सप्लाई घट-बढ़ जाती है तो हम विस्तार एवं 'संकुचन' शब्दों का प्रयोग करते हैं। पूर्ति की अनुसूची भी वैसी ही होती है और हम उसी पूर्ति-वक्र पर ऊपर नीचे चलते हैं।

वृद्धि एवं कमी (Increase and Decrease) : यदि, दूसरी ओर, बिक्री के माल की मात्रा में फर्क कीमत में परिवर्तन के कारण नहीं, वरन् पूर्ति की अवस्था में परिवर्तन के कारण हो जाय तो हम कहते हैं कि पूर्ति बढ़ गई या घट गई। पूर्ति में फर्क होने का मतलब है शिल्पिक अवस्थाओं (technical conditions) में परिवर्तन। शायद कोई नई उत्पादन-प्रणाली निकल आई हो, किसी नये कच्चे माल की खोज हो गई हो, किसी दूसरे नई श्रम-बचत के उपाय (labour saving device) की खोज हो गई हो, या दूसरे साधन और कच्चा माल सस्ता हो गया। इन सुधारों के कारण से चाहे कीमत स्थिर रहे या गिरे निर्माता बेचने के लिए अधिकाधिक माल बाज़ार में ला सकता है। परन्तु यदि अवस्था प्रतिकूल हो गई हो तो वह उतनी मात्रा भी पुरानी कीमतों पर बेचने के लिए तैयार न होगा।

पूर्ति के विस्तार (फैलाव) का मतलब है अधिक माल तेज कीमत पर पेश किया जा रहा है, लेकिन पूर्ति की वृद्धि का मतलब है कि या तो अधिक माल उसी कीमत पर पेश किया जा रहा है, या उतना ही माल कम कीमत पर।

पूर्ति का संकुचन (सिकुड़न) और कमी क्रमशः पूर्ति के विस्तार तथा वृद्धि के उल्टे शब्द हैं।

पूर्ति के संकुचन का मतलब है, कम कीमत पर कम माल दिया जा रहा है, परन्तु पूर्ति की कमी का मतलब है उसी कीमत पर कम मात्रा अथवा वही मात्रा अधिक कीमत पर पेश की जा रही है। इस सिद्धान्त का रेखा-चित्र द्वारा निरूपण किया जा सकता है।

रेखा चित्र द्वारा पूर्ति की वृद्धि और कमी का निरूपण (Diagrammatic Representation of Increase and Decrease in Supply) : त व रेखा •

कीमत बताती है और त ए रेखा बिक्री के लिए आने वाले माल की मात्रा। स स' पुराना पूर्ति वक्र है और ब ब' (बिन्दु वक्र) नया पूर्ति वक्र है। पहली आकृति में

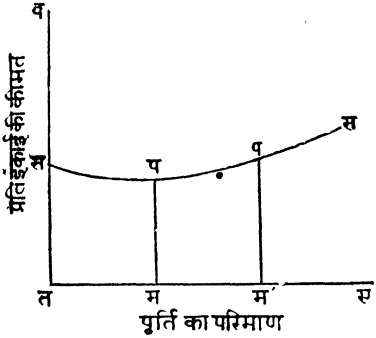

आकृति १
विस्तार तथा संकुचन
(Extension and Contraction)

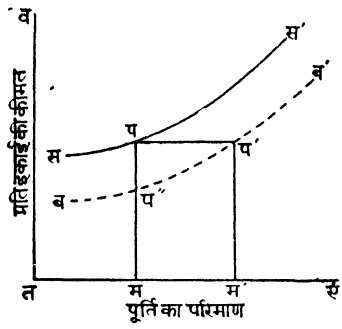

आकृति २
पूर्ति में वृद्धि
(Increase in Supply)

पूर्ति का विस्तार और संकुचन दिखाया गया है। प म कीमत पर त म राशि बेचने के लिए दी जाती है परन्तु प' म' कीमत पर (जोकि प म से अधिक है) त म' राशि बेचने के लिए दी जाती है। दूसरी आकृति में पूर्ति की वृद्धि दिखाई गई है क्योंकि त म के स्थान पर त म' उसी कीमत पर दिया जाता है (प म' = प' म')। साथ-ही-साथ माल की त म मात्रा भी क म कीमत पर दी जाती है अर्थात् ल म, तीसरी आकृति में त म के स्थान पर, यद्यपि कीमत वही है, त म' (यानी कम) पेश किया जाता है (प' म' = प म) वही त म मात्रा ऊँची कीमत ल म पर दी जाती है। इसका मतलब है सप्लाई की कमी।

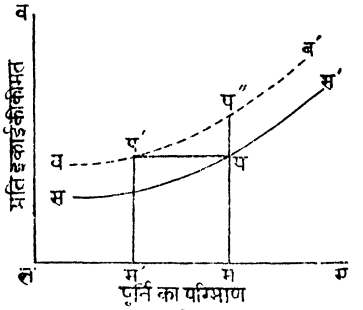

आकृति ३
पूर्ति में कमी
(Decrease in Supply)

७. **पूर्ति की लोच** (Elasticity of Supply) :—पूर्ति के नियम के अन्तर्गत पूर्ति कीमत के अनुसार घटती-बढ़ती है। अगर कीमत बढ़ जाय तो पूर्ति की मात्रा बढ़ जायगी, और अगर कीमत घट जाय तो माल की मात्रा घटेगी। पूर्ति का यह गुण जिसकी वजह से यह कीमत के अनुसार फैलती या सिकुड़ती है, पूर्ति की लोच कहलाता है। यह बताती है कि कीमत के प्रति पूर्ति संवेदनशील (sensitive) या प्रत्यावर्त्ती (responsive) है।

परन्तु पूर्ति कीमत में होने वाले हेर-फेर के साथ एक ही दर (rate) पर

नहीं घटती-बढ़ती। अगर पदार्थ जल्दी सड़ने वाले हैं, जैसे ताजा दूध, पके फल, तरकारी आदि, तो पूर्ति को रोका नहीं जा सकता और जो भी कीमत मिले उस पर बेचना जरूरी हो जाता है। ऐसी अवस्था में पूर्ति और स्टाक में कोई अन्तर नहीं रहता। दूसरे शब्दों में पूर्ति बेलोच (inelastic) होती है। यानी यह कीमत में होने वाले परिवर्तन से शीघ्र ही प्रभावित नहीं होती। कीमत चाहे घटे लेकिन माल फिर भी बेचना ही होगा।

इसी तरह से यदि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए बड़ी स्थिर पूंजी (large fixed capital) की ज़रूरत है जैसे लोहे-इस्पात, सीमेन्ट, हवाई जहाज़ या मोटरकार के कारखानों में, तो इन चीज़ों की सप्लाई जल्दी घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती, चाहे कीमतें घटें या बढ़ें। ऐसा ही उन पदार्थों के साथ भी होता है, जिन्हें बाज़ार में भेजने में काफ़ी समय लगता है। उदाहरण के लिए गेहूँ या रूई की पूर्ति दूसरी फ़सल पर बढ़ाई जा सकती है। इसलिए यहां भी पूर्ति और मांग में समायोजन (adjustment) कठिन होता है। ऐसी चीज़ों की पूर्ति बेलोच कहलाती है।

अगर किसी माल का बड़ा स्टाक है और उसे स्टाक करना आसान है तो मंडी में होने वाली पूर्ति कीमत के मुताबिक होगी। जब कीमत ऊँची होगी तो पूर्ति बढ़ जायगी और कीमत कम होगी तो घट जायगी। ऐसे पदार्थ की पूर्ति लोचदार कहलाती है।

मतलब यह है कि अगर कीमत में थोड़ा-सा अन्तर (वृद्धि या कमी) पूर्ति में बड़ा फर्क लाता है (विस्तार या संकुचन), तो पूर्ति लोचदार कहलाती है; दूसरी ओर यदि कीमत में अधिक परिवर्तन (वृद्धि या कमी) पूर्ति में कम फर्क डालता है (विस्तार या संकुचन) तो पूर्ति बेलोच कहलाती है। यह ध्यान रखने योग्य है कि किसी भी पदार्थ की पूर्ति पूरी तरह बेलोच नहीं होती; इसीलिए मार्शल (Marshall) ने इसे अपेक्षाकृत बेलोच (comparatively inelastic) कहा है।

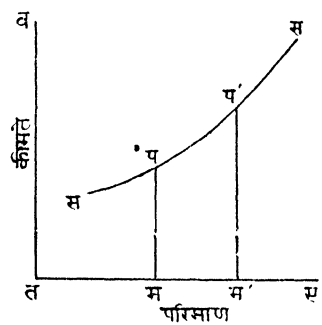

मात्रा (Quantity)

चित्र १

कम लोचदार अथवा बेलोच पूर्ति

(Less Elastic or Inelastic)

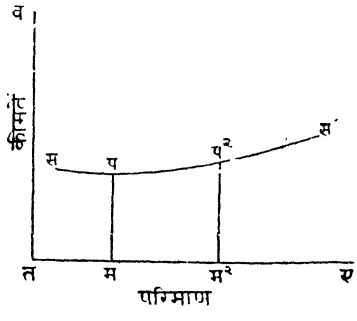

मात्रा (Quantity)

चित्र २

लोचदार पूर्ति

(Elastic Supply)

लोचदार और बेलोच पूर्ति का रेखा-चित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation of Elastic and Inelastic Supply) : पहली आकृति में बेलोच सप्लाई दिखाई गई है और दूसरी आकृति में लोचदार। कीमत को त व पर मापा गया है और माल की मात्र त ए पर। पहली आकृति में जब कीमत प म से बढ़कर प म′ होती है (जोकि काफ़ी महंगी है) तो (माल की) मात्रा भी त म से बढ़कर त म′ हो जाती है जो अधिक नहीं है।

दूसरी आकृति में प म से $प^{२}$ $म^{२}$ तक कीमत का बढ़ना ज़्यादा नहीं है, लेकिन त म से त म′ तक पूर्ति की वृद्धि काफ़ी मात्रा में है।

८. **पूर्ति की वृद्धि या कमी क्यों होती है ?** (Why Supply Increases or Decreases) :—पूर्ति में परिवर्तन का कारण कीमत में हेर-फेर नहीं माना जा सकता क्योंकि जब कीमत में फर्क होने से पूर्ति में परिवर्तन होता है तो इसको विस्तार या संकुचन कहते हैं न कि वृद्धि या कमी। पूर्ति में वृद्धि और कमी का कारण जानने के लिए हमें उन साधनों और कारणों को खोजना पड़ेगा जो सप्लाई की अवस्था में ही परिवर्तन पैदा करते हैं। दूसरे शब्दों में, हमें यह मालूम करना चाहिये कि कीमतों में हेर-फेर के अलावा (कीमतें वहीं रहने पर भी) पूर्ति क्यों घटती बढ़ती है। इसका जवाब उत्पादन की पद्धति में होने वाला परिवर्तन है। निम्नलिखित कारण पूर्ति पर प्रभाव डालते हैं:—

(१) **प्राकृतिक अवस्थाएं** (Natural Conditions) : यदि वर्षा काफी, समय, पर और सब तरफ़ ठीक प्रभाव हो तो फसल अच्छी होगी। इसके विपरीत सूखा, जलवृष्टि, भूकम्प या दूसरे किसी प्राकृतिक विप्लव आदि का उत्पादन पर स्वभावतः प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(२) टेकनीक (technique) की उन्नति के साथ ही उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि होती है। निर्माण-उद्योगों में तो यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हो सकता है कि उप-वस्तुओं (by-products) के लिए किसी नई मशीन का आविष्कार हो गया हो, किसी नये कच्चे माल का पता लगा हो या उप-वस्तुओं का नया उपयोग निकल आया हो। रासायनिक रंग, कृत्रिम रबड़ और ऊन आदि इसी प्रकार की वस्तुएं हैं जिनकी इधर खोज हुई है।

(३) उत्पादन के साधनों की कीमत में फर्क होने से पदार्थ की पूर्ति में अन्तर हो जाता है। यदि वे (साधन) सस्ते दामों पर मिलने लगें, तो पूर्ति बढ़ जायगी, और महंगे होने पर इसके ठीक विपरीत भी होगा।

(४) परिवहन (transport) के तरीकों में उन्नति होने से भी लागत कम हो जाती है और पूर्ति बढ़ जाती है।

(५) युद्ध अथवा अकाल जैसी आपदाओं से भी माल की पूर्ति पर असर पड़ता है। युद्ध-काल में तो माल की कमी से हम सब भली भाँति परिचित हैं ही। ऐसा ही अकाल के समय भी होता है। महंगे मोल पर भी काफ़ी पूर्ति नहीं आती।

(६) एकाधिपति (monopolists) भी मनमानी करते हैं और माल की पूर्ति

अपनी सहूलियत के मुताबिक घटा-बढ़ा देते हैं।

(७) सरकार की वित्तीय (Fiscal) या कराधान (taxation) नीति का भी प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है। किसी वस्तु पर आयात कर के बढ़ने से उसकी पूर्ति कम हो जाती है घटने से उत्तेजना पाकर बढ़ जाती है।

९. **पूर्ति के पीछे की शक्ति—उत्पादन की लागत** (The Force behind Supply—The Cost of Production) :—मांग के अध्ययन से हमें यह मालूम हुआ कि उपभोक्ता को पदार्थ द्वारा प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) ही इसके पीछे की शक्ति है। हर उपभोक्ता जाने या अनजाने मन में किसी वस्तु की कीमत और उससे प्राप्त होने वाली संतुष्टि में तुलना करता है। जब तक उसकी संतुष्टि कीमत से ज़्यादा होती है वह खरीदता रहता है, परन्तु वह उस बिंदु पर पहुँचकर खरीदना बन्द कर देता है जहां संतुष्टि और कीमत समान हो जाती हैं। यही बिन्दु सीमान्त उपयोगिता का बिन्दु कहलाता है। हम देखते हैं कि कीमत सीमान्त उपयोगिता को मापती है।

इसी तरह पूर्ति की परीक्षा से भी यही मालूम होगा कि किसी पदार्थ की पूर्ति उसके उत्पादन की लागत से प्रभावित होती है। यही शक्ति पूर्ति के पीछे काम करती है। अब हम उत्पादन की लागत (cost of production) का अध्ययन करेंगे।

उत्पादन की लागत और उत्पादन का व्यय (Cost of Production and Expenses of Production) : साधारण भाषा में 'उत्पादन की लागत' वाक्यांश का अर्थ द्रव्य-लागत (money costs) अथवा उत्पादन का खर्चा है। अर्थशास्त्र में 'लागत' का मतलब उस श्रम, प्रयास, त्याग और मेहनत से है जो किसी पदार्थ के उत्पादन में लगता है परन्तु उत्पादन-व्यय से सिर्फ़ द्रव्य-लागत या द्रव्य-व्यय (money costs or money expenditure) से मतलब है।

१०. **उत्पादन की लागत की परीक्षा** (Analysis of Cost of Production) :—किसी पदार्थ के उत्पादन की लागत में दो किस्म की लागत शामिल है : मुख्य लागत और अनुपूरक लागत (Prime Costs and Supplementary Costs)।

(क) मुख्य लागत (Prime Costs) : मुख्य लागत विशिष्ट (special) अथवा प्रत्यक्ष (direct) लागत होती है। इसमें पदार्थ के निर्माण में उपयुक्त कच्चे माल की द्रव्य-लागत (money costs), मज़दूरों की तनख्वाह, और मशीन आदि की टूट-फूट (wear and tear) शामिल होती है। उदाहरण के लिए यदि आप किसी बढ़ई से कुर्सी को कीमत पूछें तो वह पहले लकड़ी और बेंत की कीमत और फिर जो समय उसके बनाने में लगा है उसको सोचेगा।

जाहिर है कि किसी वस्तु की मुख्य लागत उत्पादन की मात्रा क अनुसार बदलती है। अगर ज्यादा कुर्सियां बनाई जाएँ तो बढ़ई की मज़दूरी और लकड़ी पर ज्यादा पैसा खर्च होगा। यदि उत्पादन न करें तो एक पैसा न लगेगा। यानी यदि उत्पादन रुक जाए तो मुख्य लागत खत्म हो जाएगी। इसलिए मुख्य लागत को अस्थिर

लागत (variable costs) उत्पादन की मात्रा के साथ बदलने वाली लागत भी कहते हैं।

(ख) अनुपूरक लागत (Supplementary costs) : कुर्सी बनाने वाला क्या सिर्फ़ लकड़ी और मज़दूरी के ही दाम मांगेगा ? यद्यपि इन चीज़ों का ध्यान उसको पहले आएगा परन्तु इसके लिए व सिर्फ़ इतने ही पैसे नहीं लेगा, और यदि वह ऐसा करता है तो यह उसकी मूर्खता है। इसके अलावा किराए (rent) का अंश, पूंजी का ब्याज, और म्युनिसिपल कर आदि भी वह इसमें जोड़ लेगा। बड़ी कम्पनियाँ मैनेजर, क्लर्क और चपरासी के वेतन का एक भाग, और विज्ञापन आदि का खर्चा भी इसमें जोड़ लेती हैं। इन खर्चों को भी जोड़ लेना जरूरी है। इन्हें अनुपूरक लागत (supplementary costs) चालू व्यय (on costs) या ऊपरी खर्चे (overhead expenses) कहते हैं।

अनुपूरक लागत उत्पादन की मात्रा के साथ नहीं घटती बढ़ती। उत्पादित माल की मात्रा चाहे जो हो, अधिक या थोड़ी, लेकिन किराया, कर, ब्याज, वेतन आदि का भुगतान करना तो जरूरी है। अगर माल की बिक्री बन्द हो जाय और कारखाना थोड़े दिनों के लिए बन्द भी हो जाए तो भी यह खर्चे तो चलते ही रहेंगे। इसलिए इन्हें स्थिर (fixed) लागत कहते हैं।

आमतौर पर, समय लेकर उत्पादक मुख्य और अनुपूरक दोनों किस्म की लागतों को पूरा कर लेगा। कच्चे माल, मज़दूरी और अनुपूरक लागत के एक अंश से मिलकर जो कुल खर्चा होता है, हर बेची गई वस्तु से मालिक को उतना कुछ तो मिलना चाहिए।

परन्तु असाधारण काल में, यदि व्यापार मन्दा (depression) है या विदेशी प्रतियोगी (competitors) अपने माल को (dump)* कर रहे हैं तो ऐसे समय में मुख्य और अनुपूरक दोनों लागतें वसूल नहीं की जा सकतीं। कारखाना बन्द करने की अपेक्षा निर्माता सिर्फ मुख्य लागत पूरी और अनुपूरक लागत के थोड़े से अंश को वसूल करके ही सन्तुष्ट हो जाता है।

११. उत्पादन की सीमान्त लागत (Marginal Cost of Production) :— उस अतिरिक्त या सीमान्त उत्पादन की लागत जिसे निर्माता उत्पादन करना ठीक समझता है, सीमान्त लागत कहलाती है। यदि बनियानों का उत्पादक बनियानों का उत्पादन १०० से २०० कर दे और इससे अधिक स्तर बढ़ाना न चाहे तो इस अतिरिक्त १०० बनियानों के उत्पादन को सीमान्त उत्पादन कहेंगे और इस पर आने वाली लागत, उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) कहलाएगी। निर्माता तब तक उत्पादन करता रहेगा जब तक उसकी बनियानों की बाज़ार कीमत (market price) उत्पादन की लागत से अधिक है। लेकिन जैसे-जैसे वह उत्पादन बढ़ाता जायगा इसकी लागत बढ़ती जायगी और एक बिन्दु पर पहुँचकर लागत और कीमत समान हो जायगी। उस बिन्दु पर वह अपना उत्पादन

* डम्प (Dump) करने का मतलब होता है मंडी में बहुत-से माल की पूर्ति एकदम भेज देना जिससे कम कीमत पर स्पर्द्धा के प्रतियोगी को हरा कर भगा दिया जाए।

बन्द कर देगा क्योंकि वह एक ऐसी सीमा पर पहुँच गया है, जहां और अधिक उत्पादन से हानि होगी। इस बिन्दु से ठीक पहले बढ़ाई गई उत्पादन की इकाई को सीमान्त कहेंगे और उसकी लागत को सीमान्त लागत। इसलिए सीमान्त लागत का अर्थ होता है सीमान्त उत्पादन की प्रति इकाई लागत। यानी उस उत्पादन की जिसे करना ठीक समझा गया है।

उत्पादन की सीमान्त लागत का अर्थ सीमान्त उत्पादक (marginal producer) की प्रति इकाई लागत भी होता है। अलग-अलग कामों में लगे हुए उत्पादकों की योग्यताएँ भिन्न होती हैं। निपुणता के अनुसार लागत भी भिन्न होती है। जो उत्पादक सबसे कम निपुण है उसी को सीमान्त उत्पादक कहते हैं। उसके माल की लागत सबसे अधिक होगी। और जिस लागत पर वह अपना माल बाज़ार में लाता है वह सीमान्त लागत कहलाती है।

सीमान्त लागत मंडी की कीमत के बराबर होती है। अगर मंडी में कीमत ऊँची होगी, तो कोई दूसरा कम निपुण उत्पादक माल तैयार करना शुरू कर देगा। उसके माल पर लागत ज्यादा आयेगी और बाज़ार की कीमत के बराबर होगी। इस तरह वह सीमान्त उत्पादक बन जाएगा। अगर उसके बाजार में कीमत लागत से कम होगी तो वह बनाना बन्द कर देगा। इससे पूर्ति कम हो जाएगी और कीमतें बढ़ेंगी जब तक कि वे (कीमतें) सीमान्त उत्पादक की लागत के बराबर न हो जायँ।

इसलिए उत्पादन की सीमान्त लागत का अर्थ इनमें से कोई भी हो सकता है :

(१) सीमान्त उत्पादन की प्रति इकाई लागत, अथवा

(२) सीमान्त उत्पादक की प्रति इकाई लागत।

१२. सीमान्त लागत और औसत लागत (Marginal Cost and Average Cost) :—सीमान्त लागत और औसत लागत एक ही चीज़ नहीं हैं। निम्नलिखित तालिका को देखिये :—

बनाए गए बनियानों की संख्या	कुल लागत	सीमान्त लागत प्रति बनियान	औसत लागत प्रति बनियान
	रुपये	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०
१००	२००	२ ० ०	२ ० ०
२००	५००	३ ० ०	२ ८ ०

पहिले उत्पादक १०० बनियान बनाता है। फिर २०० बनाता है यानी १०० अधिक। उसकी लागत में ३०० रुपये की वृद्धि हुई यानी दूसरे १०० के लिए ३ रुपया प्रति बनियान। सीमान्त लागत ३ रुपये है। परन्तु २०० बनियानों पर वह खर्च २०० रुपये ही करता है, इसलिए औसत लागत २-८-० ही है। औसत लागत निकालने के लिए कुल लागत को चीज़ों की संख्या से भाग देते हैं। परन्तु सीमान्त लागत का अर्थ है अतिरिक्त मात्रा के उत्पादन से कुल लागत में हुई वृद्धि।

१३. परस्पर-सम्बन्धित पूर्ति (Inter-connected Supply) :—जिस तरह मांग (demand) के परस्पर-सम्बन्धित होने के उदाहरण मिलते हैं, (जैसे संयुक्त मांग

और मिश्रित मांग), वैसे परस्पर-सम्बन्धित पूर्ति के उदाहरण भी हैं जैसे संयुक्त पूर्ति और मिश्रित या यौगिक पूर्ति।

(क) संयुक्त पूर्ति (Joint Supply) : संयुक्त पूर्ति का मतलब है संयुक्त रूप से उत्पादित या सप्लाई किया गया माल। ऐसे पदार्थों की उत्पत्ति (origin) एक स्रोत से होती है और एक ही तरीके से बनाये जाते हैं। उदाहरण, गेहूँ और भूसा, रूई और बिनौला, ऊन और मांस इत्यादि। जब एक को बनाया जाता है तो दूसरा स्वयं ही बन जाता है। जैसे गेहूँ को निकालते समय भूसा अपने आप अलग होता है। एक को प्रधान उत्पादन (main product) कहते है जैसे गेहूँ, और दूसरे को उपोत्पादन (by-product) जैसे भूसा।

संयुक्त पूर्ति

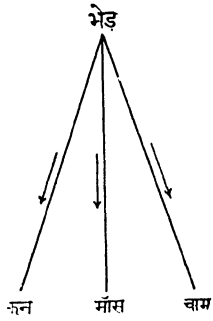

कई बार संयुक्त उत्पादन (joint product) एक निश्चित अनुपात में ही मिलता है जैसे रूई और बिनौला। इस अनुपात में कोई अदल-बदल नहीं हो सकती। कई बार अनुपात में हेर-फेर हो सकता है। उदाहरण के लिए नस्लों को मिलाने (cross breeding) से यह सम्भव पाया गया है कि ऊन या माँस जिसके लिए चाहें भेड़ें पालें। एक का परिमाण दूसरे को कम करके बढ़ाया जा सकता है।

(ख) मिश्रित या यौगिक (Composite Supply) : जब कोई पदार्थ अथवा सेवा प्राप्त करने के विभिन्न स्रोत होते है, तो उसे मिश्रित या यौगिक पूर्ति कहते हैं क्योंकि पूर्ति इन स्रोतों से मिलकर बनी है। आपको बिजली गैस, मिट्टी के तेल, मोमबत्ती आदि से रोशनी मिल सकती है। इन सब चीजों से रोशनी की पूर्ति (सप्लाई) होती है। इसी का नाम मिश्रित या यौगिक पूर्ति है। जहाँ-जहाँ पूर्ति के विकल्प (substitutes) अथवा प्रतियोगी स्रोत हैं, वहीं पूर्ति (supply) मिश्रित कहलाती है। इन सब में होड़ लगती है, इसलिए पहिले सबसे किफायती (economical) स्रोत को काम में लाया जाता है। परन्तु दूसरे स्रोत्र भी साथ-साथ और सहयोग से उसी जरूरत की पूर्ति करते हैं।

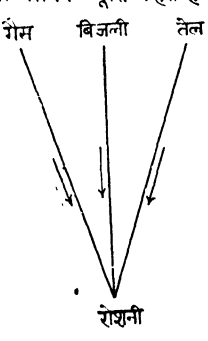

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

पूर्ति का अर्थ (Meaning of Supply) : पूर्ति का अर्थ उस मात्रा से होता है जो किसी विशेष कीमत और किसी समय पर बेचने के लिए पेश की जाती है।

पूर्ति और भण्डार (Supply and Stock) : भण्डार सम्भावित (potential) सप्लाई है, अर्थात् हालत अनुकूल होने पर जितना सप्लाई किया जा सके। लेकिन पूर्ति (supply) उस मात्रा को कहते हैं जो वास्तव में बेचने के लिए पेश की जाती है।

पूर्ति-अनुसूची (Supply Schedule) : वह तालिका होती है जिसमें माल की वह मात्रा दिखाई जाती है, जो विभिन्न कीमतों पर बेचने के लिए पेश होती है।

पूर्ति का नियम (Law of Supply) : यदि और अवस्थाएँ समान रहें, तो जैसे-जैसे किसी पदार्थ की कीमत बढ़ती है उसकी पूर्ति विस्तृत हो जाती है, और जैसे-जैसे कीमत घटती जाती है, पूर्ति संकुचित हो जाती है।

अपवाद (Exceptions) : पूर्ति इन अवस्थाओं में न -

(१) ऐसे नीलाम में जहाँ बिक्री की सिर्फ एक ही वस्तु हो,

(२) यदि विक्रेता को पैसे की बहुत जरूरत हो, और

(३) यदि कीमतों में और ज्यादा मंदी-तेजी का डर हो।

पूर्ति के विस्तार और संकुचन और पूर्ति की वृद्धि अथवा कमी में क्या अन्तर है (Distinguish between Extension and Contraction of Supply on the one hand and Increase or Decrease of Supply on the other) : विस्तार या संकुचन कीमत में अन्तर पर निर्भर करता है, वृद्धि और कमी इस पर निर्भर नहीं करती।

पूर्ति के विस्तार (Extension) का अर्थ है कि अधिक माल ऊंची कीमत पर बेचा जा रहा है। वृद्धि (Increase) का अर्थ है कि अधिक माल उसी कीमत पर अथवा उतनी ही मात्रा कम कीमत पर। संकुचन (contraction) का अर्थ है कीमत गिरने पर कम माल का निकालना। कमी (decrease) का अर्थ है कि उसी कीमत कम पर पेश होना अथवा उतनी ही मात्रा ऊंची कीमत पर।

पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply) : जब पूर्ति कीमत के हेर-फेर के प्रति संवेदनशील (sensitive) है तो वह लोचदार (elastic) कहलाती है, परन्तु पूर्ति को तुरन्त जब मांग के साथ समायोजित (adjust) नहीं किया जा सकता तो इसे (पूर्ति को) बेलोच (inelastic) कहते हैं। जल्दी सड़ने वाला माल अथवा जिसके उत्पादन में ज्यादा समय लगता है उसकी सप्लाई बेलोच होती है।

पूर्ति में परिवर्तन के कारण (Causes of changes of Supply) :

(i) प्राकृतिक कारण जैसे वर्षा, सूखा, बाढ आदि।

(ii) औद्योगिक (technical) उन्नति जैसे नये कच्चे माल की खोज, नई पद्धति, नई मशीनें, वर्तमान उत्पादन के नए उपयोग आदि।

(iii) साधनों की कीमतों में परिवर्तन।

(iv) परिवहन (transport) के साधनों में उन्नति।

(v) युद्ध और अकाल आदि।

(vi) एकाधिपतियों (monopolists) का मनमाना काम।

(vii) सरकार की वित्तीय तथा कराधान (fiscal) नीति।

पूर्ति के पीछे की शक्ति (Forces behind Supply) : पूर्ति उत्पादन की लागत द्वारा निश्चित होती है।

उत्पादन के व्यय और उत्पादन की लागत (Expenses of Production and Cost of Production) : व्यय का मतलब है खर्च होने वाला पैसा। उत्पादन की लागत का अर्थ है त्याग, प्रयास, श्रम आदि।

मुख्य लागत और अनुपूरक लागत (Prime Costs and Supplementary Costs) : मुख्य लागत का अर्थ है कच्चे माल और श्रम पर होने वाला वह खर्चा जो किसी पदार्थ को बनाने में होता है। लागत उत्पादन के हिसाब से बदल जाती है।

अनुपूरक लागत (Supplementary Costs) : यानी स्थिर लागत जैसे वेतन, किराया, ब्याज आदि। उत्पादन का स्तर चाहे जो हो, ये खर्चे स्थिर रहते हैं।

आमतौर पर किसी चीज की कीमत में मुख्य और अनुपूरक दोनों लागतें शामिल हैं। परन्तु बाजार में मंदी (Depression) अथवा डम्पिंग (dumping) हो तो यह नियम काम नहीं करता। ऐसी अवस्था में सिर्फ मुख्य लागत ही वसूल हो पाती है।

उत्पादन की सीमान्त लागत (Marginal Cost of Production) : इसका अर्थ है सीमान्त पैदावार की प्रति इकाई लागत अथवा सीमान्त फर्म (marginal firm) या सीमान्त उत्पादक (producer) यानी जिसकी लागत सबसे अधिक होती है उस उत्पादक की प्रति इकाई लागत सीमान्त लागत और औसत लागत (average) में अंतर होता है।

संयुक्त पूर्ति ((Joint Supply) : जब दो वस्तुओं का संयुक्त उत्पादन होता है, तो उनको संयुक्त पूर्ति का नाम दिया जाता है। उन पर खर्चा सांझा होता है जैसे गेहूं और भूसा।

मिश्रित या यौगिक पूर्ति (Composite Supply) : जहां पदार्थ की सप्लाई के कई स्रोत होते हैं। जैसे मिट्टी का तेल, गैस और बिजली आदि से रोशनी की सप्लाई, तो उसे यौगिक पूर्ति कहते हैं।

क्या आप निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं ?

1. What do you understand by supply ? Account for changes in supply.

देखिए विभाग २, ८

2. State the Law of Supply. Can you think of any exceptions to the Law ? देखिये विभाग ५

3. What do you understand by an increase in supply ? What is the effect of an increase in supply on price in the short as well as long period ? Illustrate by diagram. (जम्मू काश्मीर, १९५५)

4. Distinguish between extension of supply and increase of supply. Illustrate with a diagram. देखिये विभाग ६

5. What do you understand by Elasticity of Supply ? Mention five articles the supply of which is comparatively inelastic.

देखिए विभाग ७

[ताजे फल, सब्जी, अंडे, दूध और कला के प्रचीन संग्रहों की सप्लाई बेलोच है।]

6. Distinguish between :

(*a*) Cost of production and expenses of production.

(*b*) Prime costs and supplementary costs.

(*c*) Marginal costs and average costs.

(*d*) Composite supply and joint supply.

(*e*) Stock and supply.

(*a*) देखिए विभाग ९ (*b*) देखिए विभाग १०, (*c*) देखिए विभाग १२, (*d*) देखिए विभाग १३, (*e*) देखिए विभाग ३।

7. Explain clearly what you understand by marginal cost of production.

देखिए विभाग ४

भाग ४

विनिमय (EXCHANGE)

अध्याय १७

बाज़ार (MARKETS)

बाज़ार का अर्थ मंडी नहीं है
(Market is Not a Mandi)

१. **प्रवेशिका** (Introduction) :—अर्थशास्त्र के चार विभागों में से हम उपभोग (Consumption) तथा उत्पादन (Production) का अध्ययन कर चुके हैं। अब हम तीसरे विभाग अर्थात् विनिमय (Exchange) का अध्ययन करेंगे। हमें जिस चीज़ की जरूरत होती है हम खरीदते हैं और जो फालतू होती है उसे बेचते हैं। क्रय-विक्रय का काम बाज़ार में होता है। इसलिए हम पहले बाज़ार के बारे में अध्ययन करेंगे, और फिर यह तय करेंगे कि कीमतों का निबटारा किस तरह होता है। और इसके पश्चात् विनिमय का अध्ययन करेंगे, अर्थात् द्रव्य (money), साख (credit), बैंकिंग (banking) आदि का। इस अध्याय में तो सिर्फ़ बाज़ार के बारे में ही विचार होगा।

२. **बाज़ार की परिभाषा** (What is a market ?) :—बाज़ार शब्द की व्याख्या करनी ज़रूरी है, क्योंकि अर्थशास्त्र में इसका अर्थ साधारण अर्थ से बहुत भिन्न होता है। आमतौर से 'बाज़ार' शब्द का अर्थ कोई विशेष क्षेत्र या स्थान होता है, जहाँ खरीदार और बेचने वाले जमा होते हैं, और सौदे करते हैं। वहां या तो माल का भण्डार (स्टाक) होता है या उन्हे सजाकर रखा जाता है। अंग्रेज़ी भाषा में प्रयुक्त होने वाले 'मार्केट' शब्द का सही हिन्दी रूप मंडी है। प्रायः हर कस्बे में मण्डी होती है और बड़े शहरों में कई मडियाँ होती हैं। मंडी के बीचों-बीच एक लम्बा-चौड़ा अहाता होता है और उसमें चारों ओर गोदाम और दुकानें होती हैं। माल को या तो दुकान के सामने चबूतरों (platforms) पर फैलाया जाता है या गोदामों में भरा जाता है। विक्रेता अपना माल पास के गाँवों से गाड़ी या छकड़ों में भरकर मंडी में लाते हैं। खरीदार और उनके दलाल या बिचौलिये भी वहाँ आ जाते हैं। खरीदार और बेचने वालों के सामने ही सारा सौदा तय होता है। साधारण भाषा में 'मार्केट' शब्द का यही अर्थ होता है।

परन्तु अर्थशास्त्र के अन्तर्गत 'मार्केट' शब्द के अर्थ बिलकुल भिन्न हैं। हम इसे बाज़ार कहेंगे। बाज़ार में स्थान-विशेष का कोई महत्त्व नहीं होता। खरीदार और

बेचने वालों को एक जगह जमा होने की कोई ज़रूरत नहीं। वे दूर जगहों में बसने वाले भी हो सकते हैं। व्यापार टेलीफ़ोन, तार या डाक किसी तरह से किया जा सकता है। इन अर्थों में 'गेहूँ के बाज़ार' (wheat market) को अनाज-मण्डी कहना ज़रूरी नहीं है, जहां पर व्यापारी गेहूँ खरीदने और बेचने के लिए जमा होते हैं, वरन् बाज़ार (मार्केट) का अर्थ गेहूँ की काश्त करने वालों से और खरीदने वालों से होता है चाहे वह कहीं भी रहें, किन्तु उनमें परस्पर सम्पर्क हो। फ्रांस के विख्यात अर्थशास्त्री कुर्नो (Cournot) ने बाज़ार (मार्केट) की परिभाषा इस तरह की है :

"अर्थशास्त्री बाज़ार किसी ऐसे स्थान को नहीं मानते जहां कि वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, बल्कि ऐसे सारे प्रदेश को जहां पर क्रेताओं और विक्रेताओं का परस्पर बेरोक-टोक आदान-प्रदान (free intercourse) होता है जिससे कीमतें सरलता और शीघ्रता से समान (equalise) हो सकें।"

उपर्युक्त परिभाषा से मंडी के बारे में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं :—

(क) इनके अन्तर्गत एक प्रदेश (region) आता है, चाहे वह ज़िला, प्रान्त, देश अथवा समस्त संसार ही क्यों न हों, जहां के खरीदार और विक्रेता होते हैं न कि उनके जमा होने का कोई विशेष स्थल।

(ख) इनके बीच में वाणिज्यिक समागम या सम्पर्क (commercial intercourse) होना ज़रूरी है, उनको एक दूसरे की जानकारी होनी चाहिए जिससे उन्हें परस्पर बाज़ार भाव मालूम होता रहे।

(ग) एक वस्तु के लिए एक समय में एक ही कीमत होनी चाहिए।

३. बाज़ारों का विकास (Evolution of Markets) :—सभ्यता के आदि युग में मानव प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। वह जंगली फल खाता था और तन ढकने के लिए पशुओं की खाल पहनता था। लेन-देन का क्रम आरम्भ नहीं हुआ था। इच्छायें सीमित और सरल थीं, और वह उनकी पूर्ति स्वयं करने में समर्थ था। काफी दिनों तक मनुष्य इस प्रकार आत्मनिर्भर था और उसके लिए विनिमय की समस्या ही नही थी।

परन्तु फिर ऐसा समय आया जब उसे अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए, अपने साथियों की सहायता की ज़रूरत हुई। कभी-कभी बीमारी के कारण वह खाद्य (food) नहीं बटोर पाता था, परन्तु ऐसे समय के लिए वह खालों और शिकार के हथियार आदि देकर खाद्य-सामग्री प्राप्त कर लेता था। कई बार ऐसा होता था कि दो व्यक्तियों में से एक शिकार और दूसरा हथियार बनाने में कुशल होता था। इस तरह के विशिष्टीकरण से दोनों को ही लाभ था। इस तरह विनिमय का आरम्भ यहीं से हुआ। शुरू-शुरू में पैसा जैसी कोई चीज़ न थी और वे परस्पर वस्तुओं का विनिमय करते थे। इस पद्धति का नाम वस्तु-विनिमय (barter) है। परन्तु यह बहुत असुविधाजनक थी। क्योंकि इस तरह एक दूसरे की ज़रूरतों का पता न लगता था और न यही पता लगता था कि किसके पास कितना अधिक माल है।

इसके अलावा जीवित पशुओं को बाँटना मुश्किल होता था और खास कर तब जब पशु बदले में ली जाने वाली पदार्थ से कई गुणा कीमती हों।

द्रव्य-व्यवस्था (money economy) के आगमन के साथ-साथ ही बाज़ारों का आधुनिक रूप में विकास आरम्भ हुआ। हम बाज़ारों के विकास का दो तरीकों से अध्ययन कर सकते हैं, भौगोलिक (geographical) और कार्यात्मक (functional)।

(अ) **भौगोलिक विकास** (Geographical Evolution): भौगोलिक दृष्टिकोण से बाज़ारों के विकास का अध्ययन करते समय हम उस क्षेत्र को ध्यान में रखते है; जिसमें खरीदार फैले होते हैं। इस तरह के विकास के चार चरण (stages) हैं :—

(क) **पारिवारिक बाज़ार** (Family Market): विनिमय का कार्य सिर्फ परिवार के सदस्यों तक ही सीमित था। हर परिवार स्वयं आत्मनिर्भर था। दूसरे परिवार के सदस्य को विदेशी की दृष्टि से देखा जाता था और उनमें किसी प्रकार का समागम (intercourse) न था।

(ख) **स्थानीय बाज़ार** (Local Market): एक क्षेत्र में रहने वाले परस्पर क्रय-विक्रय करते थे। क्षेत्र चाहे गाँव हो चाहे कुछ झोंपड़ियाँ अब विनिमय सिर्फ परिवार के सदस्यों तक ही सीमित न था। उस क्षेत्र के सब आदमी उसमें भाग ले सकते थे। भारी सामान जिस पर अधिक भाड़ा आने की सम्भावना होती है, आज भी स्थानीय बाज़ारों में बेचा जाता है। इसके अलावा नाशवान् (perishable) वस्तुएँ, जैसे मछली, दूध, तरकारी आदि भी स्थानीय मण्डियों में बेची जाती हैं।

(ग) **राष्ट्रीय बाज़ार** (National Market): एक देश के रहने वाले या एक जाति के सदस्य, पदार्थों के क्रय-विक्रय में भाग लेते हैं। आजकल बाज़ार देशव्यापी होता है। काश्मीर के फल बम्बई, कलकत्ता आदि स्थानों पर भेजे जाते हैं।

(घ) **विश्व बाज़ार** (World Market): विश्व बाज़ार में विभिन्न राष्ट्रों के व्यापारी एक दूसरे से व्यावसायिक समागम (commercial intercourse) करते हैं। आस्ट्रेलिया में काश्त किये जाने वाले गेहूँ के कुछ हिस्से की खपत इंगलैण्ड में होती है। भारतीय मैंगेनीज का विदेशों में निर्यात होता है, और अंग्रेजी कपड़ा भारत और अफ्रीका में आयात किया जाता है। विश्व बाज़ार में सिर्फ अच्छे और टिकाऊ माल की ही खपत होती है।

ऊपर कही बात से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नये दौर में, नये प्रकार का बाज़ार बनने से पुराने किस्म की मंडी लुप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय बाज़ार के मुकाबले स्थानीय बाज़ार समाप्त नहीं हो जाता। सभी तरह के बाज़ार साथ-साथ चलते हैं। दूध, फल आदि जैसी वस्तुओं के लिए सिर्फ स्थानीय मंडी ही होती है और रूई, गेहूँ और धातु आदि के लिए विश्व बाज़ार। संचार (Communication) और परिवहन (Transport) के साधनों में उन्नति और

शीतागार (Refrigeration) आदि जैसे वैज्ञानिक तरीकों के कारण ही भौगोलिक विकास हुआ है। ट्रक और रेलों द्वारा होशियारपुर के आम दिल्ली में बिकते हैं। इससे पहले इन आमों की बिक्री आसपास की मंडी में होती थी। रेलों द्वारा कोयटा के अंगूर दूर-दूर तक भेजे जाते हैं। परिवहन के साधनों ने निस्सन्देह बाज़ार के क्षेत्रों का निश्चित विस्तार किया है।

(ब) **कार्यात्मक विकास** (Functional Evolution) : बाज़ार के दूसरे प्रकार के विकास का अध्ययन हम उसके कार्यों के द्वारा कर सकते हैं। इस दृष्टि से हमें विभिन्न चरणों के विकास में निम्नलिखित रूप से अन्तर करना होगा :—

(क) **मिश्रित या सामान्य बाज़ार** (Mixed or General Market) : व्यापारी किसी विशेष किस्म का माल नहीं बेचते। वे सब तरह का सामान रखते हैं और सभी वस्तुओं के लिए एक मंडी होती है। इसी का नाम मिश्रित बाज़ार है। एक ही व्यापारी कई किस्म की वस्तुएँ बेचता है। गाँव का परचूनिया वहां के लोगों की जरूरत का सभी सामान बेचता है, जैसे कपड़ा, नमक, तेल, माचिस, चीनी, आटा आदि।

(ख) **विशिष्टीकृत बाजार** (Specialized Market) : पहले वाले बाज़ार की अपेक्षा यह बाज़ार और अधिक उन्नत होता है। प्रायः व्यापारी एक ही ब्राँड और मार्के की वस्तुएँ बेचते हैं। जैसे कुछ लोग कलाई की घड़ी ही बेचते हैं, कुछ बड़ी घड़ियाँ और घंटे, अनाज, रूई, सोना या सर्राफा और स्टाक शेयर आदि के अलग-अलग बाज़ार और मंडियाँ होती हैं। इस किस्म के थोक बाज़ारों और मंडियों में थोड़ा सामान नहीं बेचा जाता। सब्जी के बाज़ार को सब्जी मंडी, और सोने चाँदी के बाज़ार को सर्राफा कहते हैं। फुटकर वस्तुए अलग बाज़ारों में मिलती हैं।

मंडियों का कार्यात्मक विकास व्यापार करने के तरीकों पर भी निर्भर करता है। ये चरण इस तरह हैं :—

(i) **निरीक्षण** (Inspection) : खरीदने से पहले माल की जाँच की जाती है। कई वस्तुओं में यह बहुत ज़रूरी है जैसे मकान या भैंस खरीदते समय।

(ii) **नमूने** (Sample) : कई बार सारा पदार्थ देखने की बजाय खरीदार सिर्फ नमूना देखकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि व्यापारियों में परस्पर ईमानदारी का स्तर ऊँचा है। इस किस्म का व्यापार धोखेबाजी होने पर चौपट हो जाएगा।

(iii) **ग्रेड** (Grade) : विकास के इस चरण के अनुसार खरीदार नमूने की भी परवाह नहीं करता। वस्तुओं के ग्रेड और नम्बर बना दिए जाते हैं। हर वर्ग या ग्रेड की क्वालिटी का उपभोक्ताओं और व्यापारियों को पता होता है जैसे ५९१ नं० की गेहूँ, ३७६ नं० की मलमल, डी० आई० लाँगक्लाथ आदि। यदि भारतीय व्यापारी इंग्लैंड के चाभी (key) ब्राँड कपड़े को खरीदने का आर्डर देता है, तो वह इस बात को भली-भाँति जानता है कि वह कैसी है। उसे उसके नमूने को देखने की कोई ज़रूरत नहीं होती। सिर्फ बाल का अपना ग्रेड और चिह्न

आदि लेना ज़रूरी है। मशीन के विस्तृत उपयोग से निर्दिष्ट स्टेंडर (standard) माल की उपज होती है।

४. **बाजार भाव का नियम** (Law of Market Price): बाजार की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार क्रेताओं और विक्रेताओं में परस्पर मुक्त समागम (free intercourse) होना ज़रूरी है जिससे कीमतें सरलता और जल्दी से बराबर हो सकें। इसके अनुसार 'बाजार भाव' का अर्थ मंडी के उस भाव से है जो एक समय में एक वस्तु के लिए समान हो। इस बात के लिए विभिन्न क्वालिटी की चीज़ों का ग्रेड होना ज़रूरी है। इस नियम को उदासीनता का सिद्धान्त (Law of Indifference) कहते हैं। जब मंडी में एक भाव होता है तो खरीदने वाला इस बात की परवाह नहीं करता कि वह किससे खरीदता है और बेचने वाला इस बात की परवाह नहीं करता कि वह किसे बेच रहा है।

५. **आदर्श बाजार** (A Perfect Market): जब बाजार भाव का नियम पूरी तरह लागू होता है यानी जब एक वस्तु के लिए एक समय में एकसी कीमत होती है, तो उसे आदर्श बाजार कहते हैं। इस किस्म के बाजार के लिए कुछ शर्तें जरूरी हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(i) **मुक्त स्पर्द्धा** (Free Competition): स्पर्द्धा, परस्पर क्रेताओं में, परस्पर विक्रेताओं में, और क्रेताओं और विक्रेताओं में बिल्कुल मुक्त रूप से होनी चाहिये। क्रेताओं या विक्रेताओं में किसी ओर भी एकाधिपति (monopolists) न होने चाहिएँ। एकाधिपति प्रत्येक से अलग कीमत वसूल कर सकता है। केवल मुक्त स्पर्द्धा की हालत में ही सारी मंडी में समान कीमत का होना सम्भव है।

(ii) **परिवहन और संचार के सस्ते और अच्छे साधन** (Cheap and efficient means of transport and communication): यदि माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर सस्ते दामों में और तेजी से नहीं भेजा जाए तो बाजार में कीमतों का भाव एक-सा न रहेगा। इसी प्रकार तार, टेलीफ़ोन आदि के बिना भी बाज़ार के विभिन्न क्षेत्रों (sectors) में कीमतें भिन्न होंगी। लेकिन अगर संचार और परिवहन के साधन सस्ते हों तो माल को एक मंडी से दूसरी मंडी में आसानी से ले जाया जा सकता है और इस तरह कीमतों में बराबरी हो सकती है। कीमत समान होने तक माल का आदान-प्रदान चलता रहेगा।

(iii) **विस्तृत सीमा** (Wide extent): चीज़ों की बिक्री दूर-दूर तक की मंडियों में होनी चाहिए। सीमित मंडी अपूर्ण मडी होती है। माल की दूर-दूर तक खपत उसकी किस्म पर निर्भर करती है, कि यह टिकाऊ है या जल्दी सड़ने वाला है। मांग स्थिर (steady) है या अस्थिर (fluctuating)। इस अवस्था को बनाए रखने के लिए कुछ और साधनों की भी जरूरत होती है जिन पर आगे विचार किया जायगा।

बाजार कुछ वस्तुओं के लिए पूर्ण और कुछ के लिए अपूर्ण हो सकता है। जल्दी सड़ने-गलने वाली वस्तुओं की मंडी प्रायः अपूर्ण होती है। परन्तु मशीनरी जैसे उत्पादक माल (producer's goods) का बाज़ार आदर्श (perfect) होता है। थोक (wholesale) का बाज़ार पूर्ण और फुटकर (retail) का अपूर्ण होता है। चूंकि

मज़दूरों की गतिशीलता कम होती है, इसलिए इनका बाज़ार कम पूर्ण में गिना जाता है। सोने, चाँदी और स्टाक और शेयर आदि की मंडी हमेशा पूर्ण रहती है। वास्तविक सम्पदा (estate) का बाज़ार कम पूर्ण होता है।

६. **विस्तृत बाजार** (Wide Market) : कुछ कारण बाज़ार को विस्तृत अथवा संकुचित (narrow) बनाते हैं। ये निम्नलिखित है :—

(क) **मांग का विस्तार** (Extent of demand) : यदि किसी वस्तु की मांग स्थायी और देशव्यापी है तो इसका बाज़ार विस्तृत होगा। परन्तु सीमित अथवा अस्थिर मांग का क्षेत्र संकुचित होगा।

(ख) **वहनीयता** (Portability) : माल ऐसा होना चाहिए जैसे सोना, रेशम आदि जो थोड़े भार में ज्यादा मूल्य का सामान जा सके। परन्तु भारी और सस्ते सामान जैसे ईंट, पत्थर आदि को ढोकर ले जाना कठिन और खर्चीला है। इसकी वहनीयता कम है। इसलिए इसका बाज़ार विस्तृत नहीं है।

(ग) **टिकाऊपन** (Durability) : जल्दी गलने-सड़ने वाली वस्तुओं, जैसे फल, दूध आदि का बाज़ार विस्तृत नहीं हो सकता। सिर्फ सोना, गेहूँ आदि जैसे टिकाऊ और काफी समय तक सुरक्षित रहने वाले माल का बाज़ार ही विस्तृत हो सकता है।

(घ) **माल को ग्रेड और नमूने बनाये जाने की क्षमता** (Possibility of sampling and grading) : जिन वस्तुओं के नमूने अथवा ग्रेड आदि सरलता से बनाये जा सकते हैं उनका बाज़ार भी विस्तृत होता है। ऐसे माल को विदेशी व्यापारी भी बिना धोखे के डर के खरीद सकते हैं।

(च) **शान्ति और सुरक्षा** (Peace and security) : देश में शान्ति और सुरक्षा माल के दूर-दूर तक आदान-प्रदान में सहायक होते हैं। इसलिए बाज़ार की सीमा का आधार किसी देश में व्यापक नियम और व्यवस्था होते हैं।

(छ) **सरकार की वित्तीय एवं कराधान नीति** (Fiscal policy of the Governmeut) : मंडी का विस्तार सरकार की नीति पर भी निर्भर करता है। आयात कर (import duty), आयात नियन्त्रण अथवा कोटा (quota) के रूप में टैरिफ़ (tariff) की दीवारें बाज़ार को सीमित कर देती हैं। सरकार निर्यात (export) पर रोकथाम अथवा नियंत्रण भी कर सकती है।

७. **विशिष्टीकृत बाज़ार** (Specialized Markets) :—मंडी के विकास का उल्लेख करते समय यह बताया जा चुका है कि कई सौदों (transactions) के लिए विशिष्ट मंडियाँ होती हैं; जैसे द्रव्य मंडी (money market) जिसके सदस्य बैंक, महाजन (financiers) और डिस्काउंट गृह आदि हैं जो रुपया उधार लेते देते है। इस बाज़ार में रुपये का लेन-देन होता है।

विदेश विनिमय बाजार (Foreign Exchange Market) : इस बाज़ार में विदेशी चलन-मुद्रा (currency) का क्रय-विक्रय होता है।

उत्पादन विनिमय (Produce Exchange) : इस बाज़ार में खेती से उत्पादित वस्तुएं जैसे गेहूँ, रूई, बिनौला आदि का व्यापार होता है। इसमें वायदे और सट्टे भी होते हैं और माल का हाथोंहाथ सौदा भी होता है।

स्टाक एक्सचेंज (Stock Exchange) : इस संस्था का काम स्टाक और शेयर को खरीदना-बेचना होता है। यह संस्था बड़ी उपयोगी है। इसकी वजह से पुराने और टूटे-फूटे उद्योगों की पूंजी उनमें से निकलकर नये और उन्नत उद्योगों में लगती है। ज़रूरत के समय शेयर होल्डरों को पैसा मिल जाता है। जिस सरलता के साथ शेयरों का क्रय-विक्रय होता है उससे नये धंधों में पैसा लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। शेयरों का सही मूल्य (true value) भी पता लगता है।

८. सट्टा—इसका अर्थ (Speculation—Its Meaning) : 'स्पेकुलेशन' का अर्थ साधारण प्रचलित भाषा में सट्टा है। वास्तव में यह इस तरह होता है। संयुक्त स्टाक कम्पनियों के शेयर और प्राथमिक पदार्थ (primary commodities) जैसे गेहूँ और रूई आदि का उस समय के बाज़ार भाव पर क्रय-विक्रय होता है, लेकिन वास्तव में इनका भुगतान नहीं होता। भविष्य की किसी तिथि के लिए निबटारा (settlement) छोड़ दिया जाता है, जिसका उद्देश्य सिर्फ चालू और भविष्य की कीमतों के फ़र्क से लाभ कमाने का होता है। मान लीजिये कि मई में गेहूँ की कीमत १० रुपये मन है और मैं समझता हूँ कि नवम्बर में इसकी कीमत १५ रुपये मन हो जायगी तो मैं एक इकाई* (unit) या अधिक गेहूँ १० रुपये मन के हिसाब से मई में खरीदूँगा, जिसका भुगतान नवम्बर मास में होना है। यदि मेरी भविष्यवाणी (forecast) ठीक निकली और नवम्बर में गेहूँ का भाव १५ रुपये मन हो गया तो मुझे ५ रुपये फी मन लाभ होगा। इसका नाम सट्टा (speculation) है।

९. सट्टे की किस्में (Kinds of Speculation) :—सट्टे की दो किस्में हैं—उचित (legitimate) और अनुचित (illegitimate) :—

(१) उचित सट्टा (Legitimate Speculation) : जब सटोरिये (speculators) वैज्ञानिक ढंग पर काम करते हैं तो सट्टा उचित कहलाता है। वे उस पदार्थ को पैदा करने वाले प्रदेशों की जलवायु का अध्ययन करते हैं। वे फसलों के भविष्य का भी अध्ययन करते हैं। इसी तरह पूर्ति (supply) की स्थिति का अध्ययन भी करते हैं। इसी तरह वे सम्भावित मांग (खपत), युद्ध की सम्भावना, जनसंख्या की वृद्धि आदि का भी अनुमान लगाते हैं। इस तरह सब सोच-विचार के बाद वे उसकी सम्भावित कीमत निकालते हैं। यदि कीमतें बढ़ने वाली हैं तो वे भविष्य के लिए खरीद लेते हैं और यदि इसके विपरीत हों तो बेच देते हैं। सिर्फ अनुभवी व्यक्ति ही ऐसे अन्दाजे लगा सकते हैं। इस तरह के सट्टे को उचित सट्टे का नाम दिया जाता है।

(२) अनुचित सट्टा (Illegitimate Speculation) : यदि इन सब बातों पर सोच-विचार किए बिना ही सट्टा लगाया जाए तो उसे अनुचित सट्टा कहते हैं। यह एक तरह का जुआ है। यह जुआ तो सिक्के को हवा में उछालने के समान है। इसलिए कुशल व्यक्तियों द्वारा वैज्ञानिक ढंग से किया गया सट्टा उचित है और अंधाधुंध किया गया अनुचित।

१०. सट्टे से क्या कोई लाभप्रद प्रयोजन सिद्ध होता है ? (Does Speculation serve any Useful Purpose ?):—सट्टे को कोई अच्छी नज़र

*एक इकाई (unit) में १०० मन गेहूं होता है।

से नहीं देखता। सटोरिये का समाज में कोई आदर नहीं होता। उसे सट्टेबाज या जुआरी कहते हैं और हीन मानते हैं। अनुचित सट्टे को आर्थिक और आचार दोनों तरह से बुरा कहना ठीक है।

लेकिन उचित सट्टा फायदेमन्द है। इस तरह का सट्टा आर्थिक दृष्टि से न्याययुक्त तथा उचित है। इसका एक फ़ायदा यह है कि यह बाज़ार में अस्थिरता खत्म करके, स्थिरता पैदा करता है। यह कैसे होता है?

सट्टे द्वारा कीमतें कैसे स्थिर होती हैं? (How speculation makes prices steady ?) : उपर्युक्त उदाहरण को फिर लीजिए। यदि मैं ऐसा सोचूँ कि गेहूँ की मई की १० रुपये कीमत नवम्बर में बढ़ जाएगी तो ५०० मन का सौदा कर लूँगा। जब मैं खरीदारी शुरू करता हूँ तो और भी बहुत से लोग ऐसा ही करते हैं। इस तरह सटोरियों की खरीद का प्रभाव माल पर पड़ता है और कीमतें ऊँची हो जाती हैं। सटोरिये निजी उपयोग के लिए तो खरीदते नहीं। उनका धंधा सिर्फ पैसा कमाना है। नवम्बर मास में हम सब बेच देते हैं। इसके फलस्वरूप कीमतें गिर जाएंगी। बिना ऐसा किए शायद कीमतें १८ रुपये फी मन तक जाती हैं। किन्तु बाजार में इसके अलावा और माल भी होता है और चूंकि हम भी बेच रहे हैं इसी लिए कीमतें ज्यादा नहीं बढ़ेंगी। इस अतिरिक्त सप्लाई के कारण कीमत सिर्फ १४ रुपये तक ही जा सकती है। परन्तु हमने तो मई और नवम्बर की कीमतों में ज्यादा अन्तर माना था। हमारे इस काम से अन्तर ८ रुपये की जगह ४ रुपये ही रह गया। इस तरह कीमतों को एक दम बढ़ने से रोका गया। परन्तु हम कीमतों को बिलकुल नहीं रोक सकते। यह तो सिर्फ तेजी को रोका है। सटोरिये इस तरह कीमतें स्थिर करते हैं और समाज का कल्याण करते हैं।

(१) स्थिर कीमतें उपभोक्ताओं के लिए बहुत तरह से लाभदायक हैं (Steady Prices are useful for Consumers) : यदि कीमतें बढ़ती घटती रहें तो उपभोग की योजना घपले में पड़ जाती है। उपभोक्ता खर्चे की सूची नहीं बना पाते, इसीलिए उन्हें अपने खर्चे से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त नहीं होती। इसीलिए स्थिर कीमतें उपभोक्ताओं के लिए लाभदायक हैं।

(२) स्थिर कीमतें निर्माताओं के लिए बहुत फायदेमन्द होती हैं (Steady Prices are useful for Manufactures) : निर्माता कच्चे माल की सप्लाई स्थिर कीमतों पर लेना चाहते हैं। वे अपने तैयार माल की कीमतें महीनों पहले बताना चाहते हैं, यह कच्चे माल की कीमत पर निर्भर करता है, यद्यपि कच्चा माल भी काफी समय बाद खरीदा जाता है। इसलिए अगर माल की कीमतें बढ़ जाएं तो उन्हें घाटा रहेगा। परन्तु सट्टे के सौदों से इन्हें संरक्षण मिल जाता है। क्योंकि ये माल का भाव-ताव करके भविष्य में खरीदने का फैसला करते हैं और इस तरह भाव के उतार-चढ़ाव (fluctuations) के नुकसान से बच जाते हैं। उदाहरण के लिए फ्लोर मिल का मालिक फौज में निश्चित कीमत पर माल देने का वायदा करता है। इसके लिए वह माल का सौदा सप्लाई किए जाने वाले महीनों में तय करता है। इस तरह सट्टे के द्वारा वह ठेके के काम को पक्का कर लेता है।

(३) सट्टा समाज के लिए फायदेमन्द है (Speculation is useful for society at large) : जब सटोरिये गेहूँ खरीदना शुरू कर देते हैं तो यह इस बात का सूचक है कि माल की कमी हो जाएगी। गेहूँ के उपभोग के बारे में सरकार उचित कदम उठा सकती है और इसके ज़ाया होने को रोक सकती है। राशन-व्यवस्था भी शुरू की जा सकती है।

इस तरह कीमतों में स्थिरता लाने के कारण सट्टा उपभोक्ताओं, निर्माताओं और समाज के लिए बहुत फायदेमन्द है।

११. सट्टे से उत्पन्न होने वाले संकट : (Dangers of Speculation) : इससे संकट उत्पन्न होने के दो कारण है : अधिकता (excess) और सटोरियों की अज्ञानता।

सट्टेबाजी बुरी है। कीमतों की गति बढ़ जाती है। उतार-चढ़ाव तीव्र हो जाते हैं। इससे अनेकों व्यापारी बर्बाद हो जाते हैं। बाज़ार अव्यवस्थित हो जाता है और सीधे-सच्चे व्यापारियों को भी ठेस पहुँचती है।

अन्धाधुन्ध सट्टेबाजी अथवा अनुचित सट्टा हानिकारक है। कीमतों पर उचित प्रभाव रखने की बजाय उन्हें यह डाँवाडोल करता है। अनुचित सट्टेबाज अपनी बर्बादी के साथ-साथ समाज का भी अहित करते । अफवाहों के बल पर वे खरीदने के समय बेचते और बेचने के समय खरीद कर डालते हैं और इस तरह कीमतों में एक दम फर्क़ पड़ जाता है। इन कार्यवाहियों से सच्चे व्यापार को ठेस पहुँचती है। इस तरह अन्धाधुन्ध सट्टेबाजी, उद्योग और व्यापार को अव्यवस्थित करती है और समुदाय (Community) का अहित होता है।

१२. 'तेजी' और 'मन्दी' ('Bulls' and 'Bears') : ये शब्द सटोरियों में बड़े प्रचलित हैं। कीमत में हेर-फेर होने से, कुछ को मुनाफा होता है और कुछ को हानि। कीमतें बढ़ने पर जिनको मुनाफा होता है उन्हें 'बुल्स' या सांड (Bulls) कहते हैं। सांड अपने शत्रु को सींगों पर उछाल देता है। जिन्हें भाव गिरने से लाभ होता है उन्हें 'बियर्स' या रीछ (Bears) कहते हैं। रीछ पैरों तले रौंदता है। यदि बाज़ार का रुख ऊँचा हो और कीमतें चढ़ें तो बाज़ार "बुलिश" (bullish) कहलाता है यानी तेजी का, यदि भाव गिरें तो 'बियरिश' (bearish) यानी मंदी का।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

'बाजार' शब्द के अर्थ (The Meaning of the term 'Market') : अर्थशास्त्र म 'मार्केट' शब्द हिन्दी के मंडी का पर्यायवाची है। इसका अर्थ किसी स्थान या जगह विशेष नहीं है जहां क्रेता और विक्रेता जमा होते हैं ; इसका अर्थ उस समस्त प्रदेश (region) से है जिससे किसी माल के व्यापारी सम्बन्धित होते हैं।

बाज़ार का विकास (Evolution of Markets) : मानव-विकास के आदि काल में विनिमय (exchange) की पद्धति न थी और इसीलिए मंडियों का उदय भी न हुआ था। विनिमय का उदय वस्तु-विनिमय (barter) से आरम्भ होता है। इसके पश्चात् द्रव्य-अर्थ-व्यवस्था (money-economy) का प्रचार हुआ और विनिमय के विभिन्न रूप शुरू हुए। बाजार के उदय का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से कर सकते हैं।

(क) भौगोलिक विकास (Geographical Evolution) :—

पहला चरण—पारिवारिक बाज़ार; दूसरा चरण—स्थानीय बाज़ार; तीसरा चरण—राष्ट्रीय बाज़ार, चौथा चरण—विश्व बाज़ार।

वर्त्तमान समय में सभी चरण साथ-साथ चल रहे हैं। कुछ वस्तुओं का स्थानीय, कुछ का राष्ट्रीय, कुछ का विश्व बाज़ार है। संचार और परिवहन (communication and transport) के तरीकों और वैज्ञानिक उन्नति और शीतागार (cold storage) आदि के कारण भौगोलिक विकास सम्भव हुआ है।

(ख) कार्यात्मक विकास (Functional Evolution) :—

प्रथम चरण—सामान्य या मिश्रित बाज़ार ; दूसरा चरण विशिष्ट बाज़ार।

कार्य पद्धति (methods of working) के आधार : इस के तीन भाग हो सकते हैं—

प्रथम चरण—निरीक्षण (inspection); दूसरा चरण—नमूने; तीसरा चरण ग्रेडिंग।

बाज़ार के भावों का नियम (Law of Market Price) : जहां एक समय में एक किस्म के माल की एक सी कीमत हो।

पूर्ण मंडी (Perfect Market) : जहां एक समय में एक किस्म के माल की एक-सी कीमत हो तो उसे पूर्ण मंडी मानते हैं।

पूर्ण मंडी की शर्तें :

(i) मुक्त स्पर्द्धा।

(ii) संचार और परिवहन के सस्ते और कुशल साधन।

(iii) विस्तृत सीमा।

विस्तृत बाज़ार (Wide Market) : यह इन बातों पर निर्भर है :—

(क) माल की मांग का दूर-दूर तक होना।

(ख) माल की वहनीयता।

(ग) माल का टिकाऊपन।

(घ) माल के नमूने बनाने और ग्रेडिंग की सम्भावना।

(च) देश में सुरक्षा और शान्ति।

(छ) सरकार की कराधान (Fiscal) नीति।

विशिष्ट मंडी (Specialised Markets) :—

द्रव्य-बाज़ार (money market) में पैसे का लेन-देन होता है।

विदेशी विनिमय बाज़ार (Foreign Exchange Market) : जहां विदेशी विनिमय अथवा विदेशी (currency) का क्रय-विक्रय हो।

उत्पादन बाज़ार (Produce Market) : जहां कृषि उत्पादन की बिक्री हो।

स्टाक एक्सचेंज (Stock Exchange) : स्टाक शेयर क्रय-विक्रय करने वाली संस्था।

स्टाक एक्सचेंज के लाभ (Advantages of Stock Exchange) :

(i) पूंजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग में लगती है।

(ii) जरूरत के समय शेयर होल्डर शेयर बेच कर पैसा पा सकते हैं।

(iii) नये उद्योगों में पैसा लगाने को प्रोत्साहन मिलता है।

(iv) शेयरों का वास्तविक मूल्य (true value) निश्चित होती है।

सट्टा (Speculation) : चालू कीमतों पर सौदा परन्तु भुगतान भविष्य में किसी निर्धारित तिथि में सट्टा कहलाता है।

सट्टे की किस्में (Kinds of Speculation) :—

(क) उचित सट्टा (Legitimate Speculation) : बाज़ार की स्थिति को पूरी तरह समझ कर निपुण व्यापारियों द्वारा वैज्ञानिक ढंग पर व्यापार करना।

(ख) अनुचित सट्टा (Illegitimate Speculation) : वैज्ञानिक ढंग पर सट्टा करने वाले सटोरियों का अंधा-धुन्ध अनुकरण। यह कोरा जुआ है।

सट्टे के लाभ (Advantages of Speculation) :

सट्टे से कीमतें ठहरती हैं। इससे यह (क) उपभोक्ताओं (ख) उत्पादकों (ग) सामान्य-समाज आदि के लिए हितकर है।

सट्टे से हानियाँ (Dangers of Speculation) :

(i) सट्टे के अधिक सौदे होने से भाव में उतार-चढ़ाव ज्यादा होते हैं।

(ii) अनुचित सट्टे से कई सटोरिये बरबाद हो जाते हैं और यह समाज के लिए भी अहितकर है।

'सांड' और 'रीछ' ('Bulls' and 'Bears') :

सांड ('Bulls')—वे जिन्हें ऊँचे भावों से लाभ होता है।

रीछ ('Bears')—वे जिन्हें मंदे भावों से लाभ होता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. Define market. What factors lead to the rise and extension of markets ? Has the extension of markets been beneficial to India ?

(पंजाब विश्वविद्यालय १९३६, जम्मू एण्ड काश्मीर १९५३)

परिभाषा के लिए देखिये विभाग २।

[मंडियों के उदय और विस्तार [illegible]रण : जनसंख्या की वृद्धि और श्रम-विभाजन के समय बाजारों का उदय हुआ। इनका विस्तार संचार और परिवहन के साधनों की उन्नति के साथ हुआ, जिससे दूर देशों में स्थित लोग आसानी से आपस में मिल सके। शीतागार (cold storage) जैसे वैज्ञानिक तरीकों और बेचने की कला (marketing technique) के विकास के कारण भी, जिससे ग्रेडिंग और नमूने (grading and sampling) बने, बाजार की स्थापना और विकास में सहायता मिली।

भारत में इसके अच्छे और बुरे दोनों ही प्रभाव हुए हैं। अच्छे प्रभाव तो यह [illegible] को अपने माल के ठीक दाम मिले, उपभोक्ताओं को दूर देशों में उत्पादित माल मिला और जीवन-स्तर में वृद्धि हुई। श्रम के प्रादेशिक (territorial) विभाजन से धन (wealth) की वृद्धि हुई; माल के विनिमय के साथ-साथ विचार-विनिमय भी हुआ; कीमतें समान हो गई हैं और अकाल आदि जैसे अवसर पर सहायता जल्दी भेजी जा सकती है।

बुरे प्रभाव (Bad Effects) : भारत के प्राकृतिक स्रोतों का उपयोग विदेशियों के लिए हुआ। भारत में व्यापारी कच्चे माल [illegible] उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने लगे जो कि आर्थिक दृष्टि से अहितकर है; इससे हमारे प्राचीन कला-कौशल और उद्योग को भी धक्का लगा। देशी निर्माताओं और उपभोक्ताओं के लिए माल और कच्चे माल की कीमतें बढ़ी। इससे विदेशों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ी जो युद्ध-काल में हानिकारक है।]

2. Define market. What are the conditions of a wide market ? What is the extent of a market of the following commodities : Mangoes, Books written in Hindi, Government of India Securities.

(सागौर, १९५२)

[देखिये विभाग २ और ६। चूँकि आम जल्दी सड़ने वाली वस्तु है इसलिए इसे स्थानीय या प्रादेशिक बाजार में ही बेचा जा सकता है। हिन्दी की पुस्तकों और सरकारी सिक्यूरिटी आदि को सारे देश में बेचा जा सकता है।]

3. What do you mean by market in Economics ? What is the nature of the market for the following :

(*a*) Fresh vegetables.
(*b*) Wheat.
(*c*) Brick.
(*d*) Gold. (दिल्ली, १९५५)

4. Distinguish between perfect market and imperfect market. What are the conditions which help to make the market a perfect ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९४९, जम्मू एण्ड काश्मीर १९५३)
देखिये विभाग ५

5. What is a market What are the factors that determine the size of a market ? Give illustrations. (देहली, १९४३, १९५०)
देखिये विभाग १, ६

6. Write a short note on Stock Exchange.
(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४७)
देखिए विभाग ७

7. What is speculation ? What are its advantages and disadvantages ? (पंजाब, १९५५)

8. Distinguish between legitimate and illegitimate speculation. What means would you suggest to prevent illegitimate speculation ? (आगरा, १९४७)

[देखिये विभाग ९ और ११ । अनुचित सट्टे को विधान (legislation) द्वारा नहीं रोका जा सकता । सिर्फ विरोधी जनमत ही इसको रोक सकता है ।]

कीमत का निर्धारण
(PRICE FORMATION)

एक कैंची के दो फल (The Two Blades of a Scissors)

१. **प्रवेशिका** (Introduction) :—विनिमय का विभाग, अर्थशास्त्र के पहले दो विभागों—उपभोग एवं उत्पादन का समन्वय है। उपभोक्ता कोई चीज़ चाहता है और उत्पादक उसे सप्लाई करने के लिए तैयार है। उपभोग मांग का रुख अध्ययन करता है और उत्पादन उसकी सप्लाई का पहलू। विनिमय में हम अध्ययन करते हैं कि मूल्य जिस पर वस्तुएं खरीदी व बेची जाती हैं, किस प्रकार निर्धारित होता है। मूल्य का निर्णय इन परिस्थितियों में देखा जा सकता है—(क) पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (ख) एकाधिपत्य और (ग) अपूर्ण अथवा एकाधिपत्यात्मक स्पर्द्धा। यहाँ हम पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में मूल्य का निर्धारण लेंगे। उससे पहले, पूर्ण स्पर्द्धा क्या है ?

२. **पूर्ण स्पर्द्धा**—मुक्त अथवा पूर्ण स्पर्द्धा का क्या अर्थ है ? उसके लिए निम्न शर्तें पूरी होनी चाहिएँ :—

(i) **बेचने और खरीदने वालों की बड़ी संख्या**—जब बाजार में बेचने और खरीदने वाले बड़ी तादाद में हों तो कोई भी "अकेला" व्यक्ति मांग अथवा पूर्ति की अवस्था को प्रभावित नहीं कर सकता।

(ii) **एकरूपता**—बिकने वाली चीज़ सारी एक समान गुण वाली होनी चाहिए ताकि सारे क्षेत्रों में एक ही भाव रहने की प्रवृत्ति हो।

(iii) **आन जाने का खुला अवसर**—खरीदने वाले और बेचने वालों के बाज़ार में प्रवेश करने या छोड़ने में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। इससे कहीं बहुत लाभ और कहीं बहुत हानि—इस प्रकार के अन्तर आसानी से दूर हो जाएँगे।

(iv) **पूर्ण ज्ञान**—बाज़ार की सारी परिस्थिति का सभी बेचने व खरीदने वालों को पूरा ज्ञान होना चाहिए।

(v) **उत्पादन के साधनों की गतिशीलता**—उत्पादन के साधन गतिशील होने चाहिएँ जिससे आवश्यक अदल-बदल शीघ्रता और सरलता से हो सके।

ये चीज़ें पूर्ण स्पर्द्धा के लिए ज़रूरी हैं। इनके प्रभाव से पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में एक बाज़ार में किसी समय एक ही मूल्य पर वस्तु बिकने की प्रवृत्ति होगी। कोई एक खरीदार या बेचने वाला अपने ही प्रयत्न से मूल्य को बदल नहीं सकता। मूल्य हर एक के लिए पहले से ही तय या दिया हुआ होता है।

३. **पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की अवस्था में कीमतें कैसे निर्धारित होती हैं ?** (How is Price Determined under Conditions of Perfect Competition ?):

अर्थशास्त्र की इतनी समस्याएँ मांग और पूर्ति से जुड़ी हुई हैं कि कोई रूखा आदमी यह कह सकता है कि आप एक तोते को पकड़ कर माँग और सप्लाई दो शब्द सिखा दें और वह तोता अर्थशास्त्र के हर प्रश्न का उत्तर सरलता से दे देगा। तो शायद तोते का दिया हुआ उत्तर सही हो किन्तु तोता तो इन शब्दों का अर्थ या महत्व तो नहीं समझता। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को भी इन दो शब्दों को तोते की तरह रटना ही नहीं है, वरन् उन्हें समझना भी है। अर्थशास्त्र के एक विद्यार्थी को इतनी समझ होनी चाहिए कि मांग और पूर्ति के पीछे क्या-क्या शक्तियाँ काम करती हैं। कैसे उनकी परस्पर प्रतिक्रिया होती है। मुक्त स्पर्द्धा (free competition) में इन्हीं दो शक्तियों की अन्तर्क्रिया द्वारा कीमतें निर्धारित होती हैं। आइए, अब माँग और पूर्ति का पहलू अलहदा-अलहदा लेकर विचार करें कि कीमत वास्तव में कैसे तय होती है।

माँग का पहलू (The Demand Side) : कारगर मांग (effective demand) सिर्फ किसी माल को पाने की चाह ही नहीं है, बल्कि उसे खरीदने लायक सामर्थ्य और तैयारी सहित इच्छा है, और यह मांग माल किस कीमत पर बिक रहा है और कितनी अवधि में मांग पूरी होनी चाहिए, इसे देख कर की जाती है।

तो खरीदार किसी चीज़ की माँग करते हैं। उनमें जो सबसे ज्यादा दाम लगाएगा वही उस चीज़ को खरीद सकेगा। अगर और लोग भी वही चीज़ चाहते हैं तो उन्हें भी वही दाम देने होंगे। खरीदारों के बीच में इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप एक कीमत पेश (offer) हो जाती है।

खरीदारों की ओर से माँग का नियम लागू होता है। यदि कीमत बढ़ती है तो मांग घट जाती है, और अधिक गरीब या कम उत्सुक व्यक्तियों की कम ज़रूरी मांगें अपूर्ण रह जाती हैं। दूसरी ओर यदि कीमत गिरती है तो मांग का विस्तार होता है।

घटती हुई उपयोगिता के नियम के कारण किसी खरीदार को केवल कीमत घटा कर ही अधिक खरीदने का प्रलोभन दिया जा सकता है। उपभोक्ता तो उसी दाम पर खरीदेगा जिस पर वह समझता है कि कोई वस्तु उतने पैसे में खरीदी जाने लायक है। हम जानते हैं कि यह सीमा ही सीमान्त उपयोगिता का बिन्दु है। इसलिए जहां तक मांग के पहलू का सम्बन्ध है, हम कहते हैं कि कीमत का अन्दाज़ा खरीदार की अपनी सीमान्त उपयोगिता से लगता है।

यह कहना ठीक नहीं है कि सीमान्त उपयोगिता ही कीमत निर्धारित करती है क्योंकि सीमान्त उपयोगिता स्वयं कीमत द्वारा शासित होती है। यदि कीमत गिरती है तो सीमान्त उपयोगिता भी गिरती है और इसी तरह इसके विपरीत (vice versa)। हम इतना ही कह सकते हैं कि कीमत सीमान्त उपयोगिता की माप (measure) है। या यह कि सीमान्त उपयोगिता और कीमत एक ही स्तर पर रहते हैं या एक से होते हैं। इस प्रकार, मांग की दृष्टि से कीमत द्रव्य में सीमान्त उपयोगिता की माप (measured in money) के बराबर होती है।

पूर्ति का पहलू (Side of Supply) : पूर्ति की ओर भी जो शक्तियाँ काम करती उनका इसी प्रकार विश्लेषण करना पड़ेगा। कीमत के ऊपर जिस परिमाण

का प्रभाव पड़ता है वह किसी वस्तु का कुल तैयार भण्डार (स्टॉक) नहीं है, वरन् वह परिमाण है जो बिक्री के लिए पेश (offer) किया जाता है।

जिस तरह खरीदारों में परस्पर प्रतियोगिता होती है, उसी प्रकार बेचने वालों में भी परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होती है। वही विक्रेता अपना माल बेच सकेगा, जो नीची से नीची कीमत स्वीकार करने को तैयार है। जब तक उसकी सप्लाई खत्म न हो जाए, तय की हुई कीमत मंडी में चलेगी। यदि कोई और विक्रेता चाहेगा तो उसे भी इसी कीमत पर बेचना होगा। जब उसकी सप्लाई खत्म हो जाएगी, और यदि फिर भी कुछ मांग बाकी रह जाएगी, तब उससे ऊँची कीमत कारगर हो सकेगी। इस तरह विक्रेताओं की स्पर्द्धा के फलस्वरूप भी एक कीमत निर्धारित हो जाती है।

सप्लाई भी लोचदार (elastic) है। पूर्ति के नियम (law of supply) के अनुसार ऊँची कीमत पर नीची कीमत की अपेक्षा अधिक माल बिक्री के लिए बाज़ार में आएगा। यदि कीमत काफी नहीं है तो विक्रेता जिन्हें नकद की तुरन्त आवश्यकता नहीं है, अपना माल रोक लेंगे; बेचेंगे नहीं।

जैसे खरीदार उस कीमत पर खरीदेगा जिसे वह उस वस्तु की उपयोगिता के बराबर समझता है, अर्थात् उस कीमत पर जो सीमान्त उपयोगिता की माप करती है; उसी प्रकार विक्रेता भी यह सोचता है कि अमुक कीमत पर बेचना उसके लिए लाभदायक है या नहीं। उसे अपनी कुल लागत की तरफ देखना पड़ता है। कीमत से उसे पूरा मुआवज़ा मिल जाना चाहिए, यानी उसकी मूल अथवा प्रथम (prime) तथा अनुपूरक (supplemntary) लागतें उस कीमत से निकल आनी चाहिएँ। थोड़ी देर के लिए वह सस्ता बेच कर नुकसान भी सह सकता है, किन्तु वह हमेशा ऐसा नहीं कर सकता। आखिर में तो उसकी कुल लागत निकल आनी चाहिए। वरना वह टोटे में रहेगा। इसके लिए सीमांत फर्म या सीमान्त उपज (marginal firm or marginal output) की प्रति इकाई की लागत महत्त्वपूर्ण है जो कम से कम कीमत नियत करती है। यह उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) कहलाती है।

इसलिए सप्लाई की दृष्टि से कीमत को आखिरकार उत्पादन की सीमांत लागत के आस-पास पहुँचना पड़ता है।

पर यह कहना ग़लत है कि उत्पादन की सीमान्त लागत कीमत निर्धारित करती है; क्योंकि सीमान्त बिन्दु (marginal point) स्वयं कीमत पर निर्भर है, हम इतना ही कह सकते हैं कि कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के आस-पास ही निर्धारित होती है।

संक्षेप में: "माग की दृष्टि से तो साधारण प्रवृत्ति यह है कि किसी वस्तु की कीमत सीमान्त प्रतियोगिता या सीमान्त खरीदार (marginal purchaser) के अन्दाज़े के बराबर होगी, और पूर्ति की दृष्टि से यह उत्पादन की सीमान्त लागत या सीमान्त फ़र्म (firm) द्वारा व्यय की गई लागत के बराबर होगी। सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) और सीमान्त लागत (marginal costs) दोनों ही की द्रव्य (money) में माप कर लें तो जहां इनमें परस्पर मेल हो उस बिन्दु (coincidence)

पर कीमत नियत होती है।'—सिल्वर मैन

या और भी सरल शब्दों में यह कह सकते हैं, कि किसी निर्दिष्ट क्षण पर कीमत सीमान्त उपयोगिता के अनुसार होती है ; और आखिर में, कालान्तर में, यह उत्पादन की सीमान्त लागत के निकट पहुँचती है। इसे ही हम मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Value) कहते हैं।

४. मांग और पूर्ति का संतुलन (Equilibrium Between Demand and Supply) : पिछले विभाग में हमने मांग और पूर्ति के पीछे कार्यशील शक्तियों का विश्लेषण किया। बाज़ार में कीमत इन दोनों शक्तियों के परस्पर सतुलन (equilibrium) का फल है। वही कीमत स्थिर होगी जिस पर यह शक्तियां ठीक तरह संतुलित होंगी। संतुलन का बिंदु (point of epuilibrium) वह बिंदु है जिस पर तराजू के दोनों पलड़ों में बराबर परिमाण में वस्तुएं रखी जाती हैं। आइये देखें कि माँग और पूर्ति की शक्तियाँ किस तरह सक्रिय होती हैं और परस्पर प्रतिक्रिया (interaction) द्वारा संतुलन बिंदु पर कैसे पहुँचती हैं।

हम दूध की मांग-अनुसूची (Demand Schedule) देखें (अध्याय ६, विभाग ३) और उसकी सप्लाई-अनुसूची (Supply Schedule) साथ-साथ देखें (अध्याय १६, विभाग ४) जो नीचे दी हुई है।

दूध की मांग (सेरों में)	कीमत (प्रति सेर)	दूध की सप्लाई (सेरों में)
...	रु० १ ० ०	१०
...	० १२ ०	८
½	० १० ०	५
१	० ८ ०	३
२	० ६ ०	२
३	० ४ ०	½
४	० २ ०	...

एक रुपये सेर पर विक्रेता १० सेर बेचने को तैयार है, किन्तु खरीदार बिलकुल खरीदने को तैयार नहीं। यह स्पष्ट है कि इस कीमत पर मांग और पूर्ति में कोई मेल नहीं है। मांग से पूर्ति अधिक है। इसलिए कीमत गिरनी चाहिये। और कीमत गिरती जाएगी जब तक कि दूध की माँग और पूर्ति बराबर न हो जाय।

दूसरी ओर लीजिए। दो आने सेर पर खरीदार ४ सेर खरीदना चाहता है किन्तु विक्रेता बिल्कुल नहीं बेचना चाहता। फिर असन्तुलन हो जाता है। मांग अधिक है, पूर्ति कम। तो कीमत बढ़ेगी। और कीमत चढ़ती जाएगी जब तक कि मांग और पूर्ति की समानता का बिन्दु न पहुँच जाय।

जिस कीमत पर उतनी ही मात्रा की मांग होती है, जितनी की सप्लाई, वह ६ आने सेर है। यहाँ दोनों शक्तियों में सन्तुलन (equilibrium) है। जब तक यह संतुलन न हो जाय, कीमत या तो ऊपर जायगी या नीचे। किन्तु इस बिन्दु पर

आकर कीमत ठहर जाती है। इस प्रकार मांग और पूर्ति की शक्तियों की अन्तःक्रिया (interaction) द्वारा कीमत निर्धारित होती है।

जो खरीदार ६ आने सेर पर खरीदने को तैयार होता है उसे सीमान्त खरीदार (marginal purchaser) कहते हैं। वह न खरीदता, यदि कीमत ज़रा भी ऊँची होती। यही कीमत तमाम खरीदारों से ली जाती है चाहे उनकी व्यक्तिगत सीमान्त उपयोगिताएँ कुछ भी हों। खरीदारों की परिस्थितियों का अन्तर उनके द्वारा दी गई अलग-अलग कीमतों में नहीं, वरन् उनके द्वारा खरीदी गई अलग-अलग मात्रा में मालूम होता है। उदाहरण के लिए, एक अमीर आदमी एक गरीब की अपेक्षा अधिक खरीदेगा और तब तक खरीदता रहेगा जब तक उसकी अपनी सीमान्त उपयोगिता भी उसी स्तर पर नहीं आ जाती।

जो उत्पादक ६ आने सेर पर बेचने को तैयार है और जो इससे कम कीमत पर बेचने को तैयार नहीं होगा, सीमान्त उत्पादक (marginal producer) कहलाता है। जब कीमत ६ आना थी उस समय उसकी जो लागत थी वह सीमान्त लागत (marginal costs) कहलाती है। ६ आने सेर की कीमत पर सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत बराबर है। इसलिए सन्तुलन है।

सन्तुलन का रेखा-चित्र द्वारा निरूपण

दूध का परिमाण त ए पर और कीमत का त व पर मापा जाता है। द द' मांग-वक्र (demand curve) है और स स' पूर्ति-वक्र (supply curve)। यह दोनों वक्र प पर एक दूसरे को काटते हैं। प म (६ आने) संतुलन कीमत (equilibrium price) है, क्योंकि उस कीमत पर उतनी ही मात्रा मांगी जाती है जितनी सप्लाई की जाती है (अर्थात् २ सेर)।

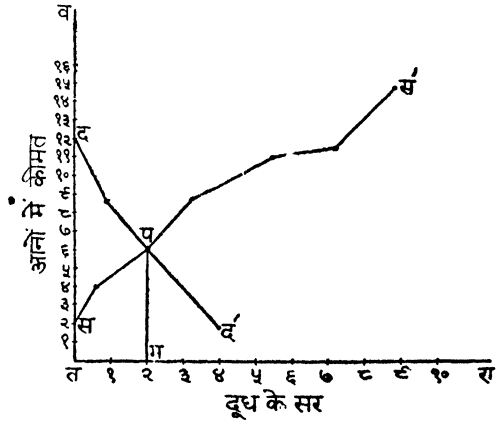

न तो अकेली मांग ही कीमत निर्धारित करती है और न सप्लाई ही। कीमत मांग और पूर्ति दोनों से नियत होती है। मांग और पूर्ति दोनों की शक्तियों के संतुलन द्वारा बाज़ार में कोई कीमत ठहरती है। कभी-कभी मांग का असर ज्यादा होता है

कभी-कभी पूर्ति का। किन्तु कीमत निर्धारण में दोनो का ही हाथ है। डा० मार्शल मांग और पूर्ति की कैंची के दो फलों से तुलना करते हैं। कागज़ काटने के लिए दोनों की आवश्यकता है। कभी-कभी यह लग सकता है कि सिर्फ एक फल चल रहा है और काट रहा है, किन्तु वह तभी काट पाता है जब दूसरा फल भी वहां मौजूद होता है। इसी तरह कभी कभी मालूम पड़ता है कि सिर्फ मांग से ही कीमत निर्धारित होती है; किन्तु पूर्ति भी प्रभावशील होती है।

५. मांग, पूर्ति और कीमत में सम्बन्ध (Relation between Demand, Supply and Price) : यदि मांग बढ़े तो कीमत बढ़ेगी और मांग घटे तो कीमत घटेगी। इसलिए मांग कीमत का कारण मालूम पड़ती है। किन्तु यदि कीमत बढ़े तो मांग घटेगी; इसलिए ऐसा भी लगता है कि कीमत मांग के घटने-बढ़ने का कारण है।

इसी प्रकार यदि सप्लाई बढ़े तो कीमत घटती है। इसलिए सप्लाई भी कीमत पर असर डालती है। किन्तु यदि कीमत गिरती है तो विक्रेता कम बेचने को तैयार होते हैं, इसलिए कीमत भी सप्लाई पर असर डालती है।

यदि मांग बढ़े, तो कीमत बढ़ती है जिससे सप्लाई अधिक आ जाती है। इस लिए कीमत के द्वारा मांग सप्लाई पर असर डालती है। किन्तु यदि सप्लाई बढ़ती है तो कीमत गिरती है जिससे मांग को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए सप्लाई में कोई भी अन्तर, कीमत के अन्तर द्वारा मांग पर असर डालता है।

उपर्युक्त बातों से यह बहुत साफ है कि मांग, पूर्ति और कीमत का सम्बन्ध कार्य-कारण का नहीं वरन् परस्पर कारण (mutual causation) का है। वे एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक दूसरे पर असर डालते हैं और फिर एक दूसरे से प्रभावित भी होते हैं। वे एक प्याले में पड़ी हुई उन गेंदों के समान हैं जिनमें हम यह नहीं कह सकते कि कौन किसके सहारे टिकी हुई है।

६. मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्त्व (Importance of Time Element in Theory of Value) : हम मूल्य के सिद्धान्त की चर्चा कर रहे थे जो कहता है कि मूल्य-निर्धारण का प्रश्न मांग और पूर्ति का प्रश्न है। कीमत उस स्तर पर आकर ठहरती है जहां खरीदार की सीमान्त उपयोगिता उत्पादक की सीमान्त लागत के बराबर होती है। यह मांग और पूर्ति की शक्तियों के संतुलन का बिन्दु है। किन्तु यह सन्तुलन प्राप्त होने में समय लगता है। समय की दृष्टि से हम मोटी-मोटी चार प्रकार की संतुलन कीमतें (equilibrium prices) गिना सकते हैं।

(१) बाज़ार की कीमत (Market price)

(२) अल्पकालीन कीमत (Short-period price)

(३) दीर्घकालीन या सामान्य कीमत (Lang-period or normal price)

(४) लौकिक कीमत (Secular price) जिसमें एक पीढ़ी के होने वाले परिवर्तन सम्मिलित हैं।

समय का महत्त्व इसमें है कि कौन-सी कीमत ठहरेगी। यह उस समय पर निर्भर होती है जो मांग और पूर्ति की शक्तियों को परस्पर समायोजित होने के लिए दिया गया है।

मान लो किसी विशेष प्रकार के विलायती ब्लेज़र की मांग अचानक किसी बाज़ार में, जैसे दिल्ली में, बढ़ जाती है। अब हम इस मांग की वृद्धि का एक दिन, एक महीने, साल दो साल, या एक पीढ़ी में, कीमत पर क्या असर होगा, इसका अध्ययन करें। जाहिर है कि संतुलन कीमत हर चार हालतों में अलग-अलग होगी।

(i) एक दिन की जरा-सी अवधि में सप्लाई उतनी ही है जितना ब्लेज़र कपड़े का स्टाक हाथ में या बाजार में नज़र आता है। इसे इतने थोड़े समय में बढ़ाया नहीं जा सकता। कीमत उपभोक्ताओं के लिए इस कपड़े की सीमान्त उपयोगिता के अनुसार नियत हो जाएगी और बहुत ऊँची उठ जाएगी।

(ii) ज्यादा समय बीतने पर, दिल्ली के व्यापारी बम्बई, कलकत्ता या और कहीं से, जहाँ से भी मिलेगा, ब्लेजर कपड़ा मंगवा लेंगे। इससे सप्लाई बढ़ जाएगी और कुछ हद तक कीमतें कम हो जाएंगी। किन्तु यदि मांग फिर भी अपूर्ण बनी रही तो कीमतें पहले स्तर पर न गिरेंगी। इस अवधि में भी जिसे हम अल्पकाल कह सकते हैं, कीमत निर्धारण में सीमान्त उपयोगिता अधिक असर डालेगी क्योंकि सप्लाई अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील (fixed) है।

(iii) दीर्घकाल (जो इस मामले में साल दो साल हो सकती है) सामान्य अवधि (normal period) कहलाती है। इस अवधि में सप्लाई का मतलब होगा जो उत्पादन उन करघों से प्राप्त किया जा सकता है, जो मुनाफे पर बनाए और काम में लाए जा सकते हैं। इंगलैण्ड से मंगाया हुआ ब्लेजर कपड़ा नए और बेहतर करघों पर बना होगा। इनमें अनुपूरक लागत .(supplementary costs) अधिक उत्पादन पर बंट जाने के कारण प्रति इकाई कुल लागत कम हो जाएगी और दिल्ली में ब्लेजर कपड़े की कीमत स्थायी रूप से घट जाएगी।

इस लम्बी अवधि में, सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) से नियत होगी, न कि मांग से क्योंकि उसका हमें पता है, और हिसाब लगाने मे हम उसका ध्यान रख सकते हैं।

(iv) लौकिक अवधि (secular period) काफी लम्बी होती है, जिसमें ज्ञान, जनसंख्या, पूंजी और रहन-सहन के स्तर आदि की वृद्धि के कारण होने वाले परिवर्तनों को भी समायोजित होने का अवसर मिल जाता है। एक से दूसरी पीढ़ी में मांग और पूर्ति की बदलती हुई अवस्थाओं को स्थिर होने का काफ़ी समय रहता है। सम्भव है कि कीमतें श्रम-बचत के नए उपायों और उत्पादन के तरीकों में सुधार के फलस्वरूप और भी गिर जाएँ।

इस प्रकार यह जाहिर है कि कीमत क्या होगी यह उस अवधि पर निर्भर है जिसका विचार करके हम उसका पता लगाना चाहते हैं। जितनी ही वह अवधि छोटी होगी, कीमत पर मांग का अधिक प्रभाव होगा और जितनी ही यह अवधि लम्बी होगी, सप्लाई का अधिक असर पड़ेगा। यह सम्भव है कि किसी वस्तु की मांग बढ़ने पर कीमतें तुरन्त बढ़ जाएँ किन्तु यदि उद्योग में बढ़ती हुई उपज का नियम (law of increasing returns) लागू होता है तो दीर्घ काल में यह गिर सकतीं हैं। मूल्य के सिद्धान्त (theory of value) में समय का यही महत्त्व है।

७. अल्पकालीन (उप-सामान्य) और दीर्घकालीन (सामान्य) कीमत में अन्तर (Difference between the Short-period (sub-normal) Price and the Long-period (Normal) Price :—

अल्प-कालीन कीमत (Short-period Price) : छोटी अवधि में, उत्पादन के साधनों को पर्याप्त समय नहीं मिल पाता कि मांग के बदले हुए हालात के अनुसार बदल जाएँ। मांग बढ़ जाने पर उत्पादक चेष्टा करेंगे कि उत्पादन के जो साधन हैं उनसे अधिक काम लेकर, अतिरिक्त मांग को पूरा करें। वे मजदूरों से ओवर टाइम काम कराएँगे, रद्दी औज़ारों और मशीनों से दोबारा काम लेंगे और पुरानी मशीनों को फेंकने का इरादा स्थगित कर देंगे। इन सब बातों का मतलब होगा अधिक लागत। यदि इन साधनों को बढ़ाने का काफी समय होता तो बात दूसरी थी। तब उत्पादन की लागत भिन्न होती।

किन्तु दूसरी ओर यदि मांग घटती है तो उत्पादक निष्क्रिय रहते हैं क्योंकि उस उद्योग से उत्पादन के साधन को हटाने का समय नहीं होता। उत्पादन के साधन जैसे के तैसे रहते हैं परन्तु अल्प-नियोजित (under-employed) होते हैं अर्थात् उनसे उनकी पूरी शक्ति भर काम नहीं लिया जाता। अल्पकाल में जब कि मांग गिर गई हो सप्लाई कम भी नहीं हो पाती। अल्पकाल संक्रमण (परिवर्तन) काल है। अवस्थाएं सामान्य नहीं हो पाईं। वे उप-सामान्य (sub-normal) हैं। माँग और पूर्ति के इस अस्थायी संतुलन (temporary equilibrium) से जो कीमत निर्धारित होती है वह अल्पकालीन कीमत कहलाती है। छोटी अवधि में कीमत पर सप्लाई की अपेक्षा माँग का अधिक प्रभाव पड़ता है।

दीर्घकालीन कीमत (Long-period Price) : लम्बी अवधि में परिस्थिति भिन्न होती है। मांग के अनुसार समायोजित होने के लिए सप्लाई के पास काफी समय रहता है। यदि मांग बढ़ गई है तो उद्योग में उत्पादन के अधिक साधन लगा दिए जाते हैं। और यदि मांग स्थायी रूप से घट गई है तो कुछ साधनों को उसमें से हटा लिया जाता है। अत्यधिक-उत्पादन (Over-production) या अल्प-उत्पादन (under-production) की अवस्था खत्म हो जाती है। मांग अथवा सप्लाई में हुए अस्थायी परिवर्तन अपना-अपना असर पूरा कर चुकते हैं। मांग और पूर्ति की नई अवस्थाओं में एक बिलकुल नया संतुलन बन जाता है। फलस्वरूप जो कीमत नियत होती है उसे सामान्य कीमत (Normal Price) कहते हैं। बाज़ार भाव, अर्थात् जो कीमत एक वक्त बाज़ार में चालू है, या उप-सामान्य कीमत (sub-normal price) अर्थात् अल्पकालीन (short-period) कीमत की अपेक्षा उपर्युक्त सामान्य कीमत (दीर्घकालीन कीमत) अधिक होगी या कम यह इस पर निर्भर है कि उस उद्योग में उत्पादन के कौन से नियम लागू हैं। सामान्य कीमत पर उपज के नियमों (laws of returns) का प्रभाव हम अभी देखेंगे। दीर्घकाल में कीमत पर मांग की अपेक्षा सप्लाई का अधिक प्रभाव पड़ता है।

कितने-कितने समय को हम अल्पकाल और दीर्घकाल कहें, यह उस उद्योग के स्वभाव पर और उत्पादन के साधनों की गतिशीलता (mobility) पर निर्भर है।

एक दो वर्ष कुछ उद्योगों के लिए दीर्घकाल हो सकते हैं और कुछ अन्य उद्योगों के लिए अल्पकाल। एक उद्योग के लिए ५ साल दीर्घकाल हो सकता है, दूसरे के लिए १० साल और किसी अन्य के लिए कुछ और। असली कसौटी यह है कि हम निम्न सवाल का जवाब लें। "पूर्ति की शक्तियों को बदली हुई मांग की हालात के अनुसार बदलने में कितनी देर लगेगी ?" अगर इसका जवाब "दस साल" हो तो दस साल या ज्यादा का अरसा दीर्घकाल होगा और कम अल्पकाल।

७. बाज़ार-कीमत और सामान्य कीमत में अन्तर (Difference between Market Price and Normal Price) : अल्पकालीन और दीर्घकालीन कीमतों के अन्तर के समान, बाज़ार भाव और सामान्य भाव का अन्तर भी मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्त्व ही बताता है।

बाज़ार भाव और सामान्य भाव में हम निम्न प्रकार के भेद देख सकते हैं:—

(१) बाजार भाव किसी विशेष दिन या विशेष क्षण पर मांग और पूर्ति के अस्थायी संतुलन का फल है। सामान्य भाव दीर्घकाल के संतुलन का फल है।

(२) बाज़ार भाव मांग से अधिक प्रभावित होता है और सामान्य भाव पूर्ति या उत्पादन की लागत से।

(३) बाज़ार भाव अस्थायी कारणों और घटनाओं से प्रभावित होता है जबकि सामान्य कीमत स्थायी तथा परिवर्तनशील कारणों से शासित है। लम्बी अवधि में, अस्थायी कारण खत्म हो जाते हैं या एक दूसरे का प्रभाव खत्म कर देते हैं। उदाहरण के लिए, दूध का बाज़ार भाव अस्थायी कारणों से जैसे त्योहारों और मेलों से प्रभावित होता है। श्राद्ध के दिनों में, दूध की अधिक मांग होती है और उसकी कीमत चढ़ जाती है। दूसरी ओर यदि कहीं मवेशियों का मेला हो तो उस स्थान में अस्थायी रूप में दूध की सप्लाई बढ़ जाएगी और उसकी कीमत गिर जाएगी। सप्लाई में कोई भी अन्तर बाज़ार भाव में परिवर्तन ला देता है।

(४) बाज़ार भाव रोज़-रोज़ बल्कि घंटे-घंटे में बदलता है जबकि सामान्य कीमत अधिक स्थिर होती है। बाज़ार भाव सप्लाई या मांग के अस्थायी उतार-चढ़ाव के खत्म हो जाने पर फिर सामान्य कीमत पर लौट आने का प्रयत्न करता है। सामान्य कीमत वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके आसपास ही बाज़ार भाव घूमता है।

(५) किसी समय-विशेष पर बाज़ार में जो वास्तविक कीमत प्रचलित है वह बाज़ार भाव होता है। यह सच है कि सौदे इसी कीमत पर होते हैं। बाज़ार की कीमत एक यथार्थ है। इसकी अपेक्षा सामान्य कीमत एक कल्पनागत धारणा है। यह कभी भी प्रचलित नहीं होती। यह तो वह कीमत है जो, यदि अवस्थाएं सामान्य हों तो, होनी चाहिए या हो सकती है। हम यह आशा करते हैं कि जब सामान्य अवस्थाएं फिर आएंगी तब यही कीमत प्रचलित होगी किन्तु जब वह समय आएगा तब भी प्रचलित कीमत बाज़ार भाव कहलाएगी और सामान्य कीमत पीछे हटती चली जाएगी। एक मृगजल की भांति सामान्य कीमत कभी हाथ नहीं आती। यह तो आशाओं के संसार में है। बाज़ार भाव सागर के जल के समान है—सदा ज्वार भाटे में, कभी शान्त नहीं, सदैव उठने-गिरने वाला। और तब भी हम यह

कहते हैं कि जल अपना तल पा लेता है। सामान्य कीमत समुद्र के उस तल के समान है जो हमें लहरें न होतीं तो मिलता।

(६) सामान्य कीमत उत्पादन की लागत से सम्बन्धित है। इसलिए केवल उस माल की जिसका पुनः उत्पादन किया जा सकता है, सामान्य कीमत हो सकती है। जिस माल का उत्पादन नहीं किया जा सकता उसकी कोई सामान्य कीमत नहीं हो सकती। बाज़ार भाव दोनों प्रकार के माल का होता है।

सामान्य अथवा दीर्घकालीन कीमत की धारणा को अब हम रेखाचित्र द्वारा दिखाएंगे। परिमाणों को त ए पर और कीमतों को त व पर मापिए। मांग वक्र द द' है और पूर्ति वक्र स स'। प म सामान्य कीमत है। बाज़ार कीमतें प^{१}, म^{१}, और प^{२} म^{२} हैं। हर बार जब ये कीमतें सामान्य कीमत से दूर जाती हैं, तब इस सामान्य कीमत की ओर लौटने की उनकी प्रवृत्ति रहती है। त म^{१} परिमाण के लिए विक्रेता प^{१}, म^{१} कीमत चाहते हैं जबकि खरीदार अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार केवल ल^{१}, म^{१} ही देने को तैयार हैं। इसलिए विक्रेताओं को प^{१}, ल^{१} की हानि होती है और सप्लाई त म^{१}, से त म की ओर संकुचित होने लगती है। इसलिए प^{१}, म^{१}, की प म की ओर लौटने की प्रवृत्ति होती है। त म^{२}, परिमाण के लिए विक्रेता ल^{२} म^{२}

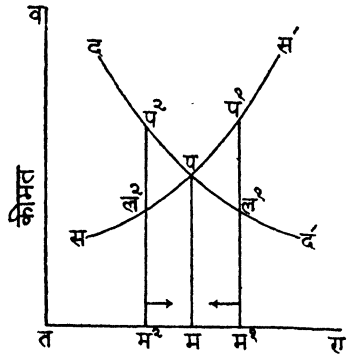

कीमत स्वीकार करने को तैयार हैं जबकि खरीदार प^{२} म^{२} दे सकते हैं। इससे विक्रेताओं को प^{२} ल^{२} का असाधारण नफ़ा होता है और वे बिक्री का परिमाण बढ़ा देते हैं। इसलिए सप्लाई त म^{२} से त म की ओर विस्तृत होने लगती है। तब कीमत प म की ओर चलने की प्रेरणा पाती है, जो कि दीर्घकालीन संतुलन कीमत है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, बाज़ार भाव में सदैव सामान्य कीमत की ओर जाने की प्रवृत्ति मौजूद रहती है। यद्यपि उस सामान्य कीमत तक हम शायद कभी नहीं पहुँच पाते। और समयानुसार, आदतों, फैशन और आय आदि में अन्तर के साथ-साथ सामान्य कीमत का स्तर स्वयं बदल जाता है।

८. **उपज के नियमों का कीमत-निर्धारण पर प्रभाव** (Influence of Laws of Returns on Price Formation) : मूल्य के सिद्धांत में समय के महत्त्व का पता स्पष्ट रूप से उपज के नियमों के प्रभाव से लगता है। किसी वस्तु के

उत्पादन की विधि उसकी उत्पादन की लागत पर प्रभाव डालती है। इससे अल्पकाल में तो पूर्ति पर कोई असर नहीं पड़ता इसलिए बाज़ार भाव पर भी कोई प्रभाव नहीं होता। किन्तु उपज के नियम कालान्तर में (in the long run) असर डालते हैं। इसलिए वे केवल सामान्य कीमत पर ही प्रभाव डाल पाते हैं।

मान लीजिए कि किसी वस्तु की मांग बढ़ती है तो उसका बाज़ार भाव यानी उस समय बाज़ार में उसकी जो कीमत है, वह भी जरूर चढ़ जाएगी। लेकिन सामान्य कीमत यानी कालान्तर में जो कीमत होगी उसके बारे में हम ऐसा नहीं कह सकते। कालान्तर में कीमत क्या होगी यह जानने के लिए हमें यह जानना पड़ेगा कि उस उद्योग में उपज का कौन-सा नियम लागू है।

(i) मान लीजिए कि उस वस्तु का उत्पादन करने वाले उद्योग में घटती हुई उपज (Diminishing Returns) का नियम लागू होता है, जैसे कोयले में। अब जब मांग बढ़ेगी तो कोयले की कीमत भी बढ़ेगी। उत्पादक इस वृद्धि से लाभ उठाने के लिए पूर्ति बढ़ाएगा। उत्पादन का पैमाना भी बढ़ेगा। किन्तु चूंकि उद्योग में घटती हुई उपज का नियम लागू होता है इसलिए जितना अधिक उत्पादन होगा उतनी ही उत्पादन की लागत अधिक होगी। इस प्रकार अतिरिक्त सप्लाई अधिक लागत की बैठेगी। जिसका मतलब यह हुआ कि आगे चलकर कीमतें ऊँची हो जायेंगी। सामान्य कीमत भी ऊपर उठ जायगी। सभी कृषि-पदार्थों जैसे गेहूँ, धान, ईख आदि के मामले में और खानों व मछली पकड़ने जैसे उद्योगों में यही होगा।

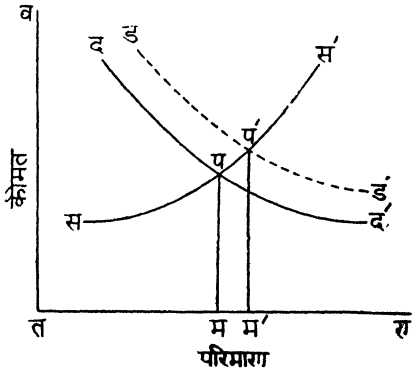

इसे हम रेखाचित्र द्वारा दिखा सकते हैं। स स′ वक्र घटती हुई उपज दिखाता है, जब अधिक कोयले का उत्पादन किया जाता है। मांग की वृद्धि पुराने द द′ के स्थान पर नये वक्र (बिन्दु वाला) ड ड′ द्वारा दिखाई गई है।

पुरानी सन्तुलन कीमत प म इस बढ़ी हुई मांग के फलस्वरूप नये सन्तुलन प′ म′ पर पहुँच जाती है

यदि कोयले की माँग बढ़ती है तो कीमत तुरन्त चढ़ जायगी। आगे चलकर कीमत और भी चढ़ेगी क्योंकि अधिक उत्पादन ऊँची लागत पर होगा। घटती हुई उपज के नियम के कारण जितना आप ज्यादा उत्पादन करेंगे, उतनी ही अधिक लागत होगी और जितना कम उत्पादन करेंगे, उतनी ही कम लागत। उपर्युक्त रेखाचित्र में त म परिमाण के लिए पुरानी कीमत प म थी जो त म′ की मांग पर प′ म′ तक चढ़ जाती है।

इसी तरह यह दिखाना भी सरल है कि कोयले की माँग में कमी से मूल्य कहीं अधिक गिर जाएगा। वह इसलिए कि थोड़ा उत्पादन (घटती हुई उपज

के नियम के कारण) कम लागत पर तैयार हो जाएगा।

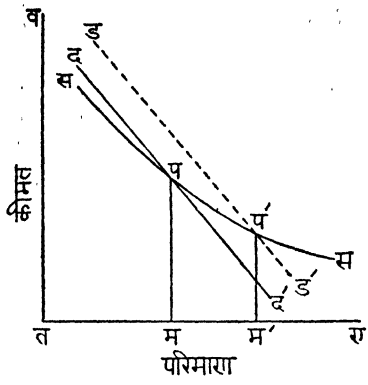

(ii) किन्तु मान लीजिये कि उद्योग में बढ़ती हुई उपज (increasing returns) का सिद्धान्त लागू है, जैसे कपड़ा उद्योग। मान लीजिये कि कपड़े की मांग जनसंख्या की अथवा जीवन-स्तर की वृद्धि के कारण बढ़ती है। माँग की वृद्धि के अर्थ हुए ऊँची कीमत, और ऊँची कीमत का फल होता है, अधिक विस्तृत पैमाने पर उत्पादन। कपड़े में बढ़ती हुई उपज के नियम के कारण अधिक विस्तृत उत्पादन-पैमाने का अर्थ हुआ कम लागत। इसलिए जब मांग स्थायी रूप से बढ़ जायगी तो सामान्य कीमत कम हो जायगी। यह बात सभी मशीन निर्मित और औद्योगिक माल जैसे मोटरकार, साइकिल, साबुन, बिस्कुट, फाउन्टेनपेन, रेडियो सेट आदि के बारे में होगी।

यह परिवर्तन रेखाचित्र द्वारा दिखाया जा सकता है। स स' वक्र दिखाता है कि कपड़ा घटती हुई लागत (decreasing cost) या बढ़ती हुई उपज (increasing returns) के नियम के अनुसार निर्मित होता है। उत्पादन बढ़ाने से लागत कम होती है। मांग की वृद्धि नये (बिन्दु वाले) वक्र ड ड' द्वारा दिखाई गई है।

पुरानी सन्तुलन कीमत प म थी किन्तु ड ड' तक मांग बढ जाने से कीमत प' म' तक गिर जाती है जोकि नई सन्तुलन कीमत है।

इसी प्रकार, जरा-सा विचार करने से यह समझ में आ जायगा कि जिस वस्तु का उत्पादन बढ़ती हुई उपज के नियम से होता है उसकी माँग यदि गिरती है तो सामान्य कीमत बढ़ जायगी क्योंकि कम उत्पादन प्रति इकाई अधिक लागत से होगा।

(iii) ऐसे उद्योग में जिसमें समान उपज (constant returns) का नियम लागू होता है, उत्पादन की लागत उतनी ही रहती है, उत्पादन का पैमाना चाहे जो हो। माँग में अन्तर सप्लाई में अवश्य परिवर्तन करेगा। उत्पादन का पैमाना भी बदल जायगा। किन्तु प्रति इकाई लागत उतनी ही रहेगी। ऐसी अवस्था अधिक समय तक नहीं रहती और तभी होती है जब बढ़ती और घटती हुई उपज के नियम समान रूप से सन्तुलित हो जाते हैं। इसलिए ऐसे मामलों में, कुछ समय तक सामान्य कीमत उतनी ही रहती है। रेखाचित्र से दिखाने के लिए, मान लीजिये

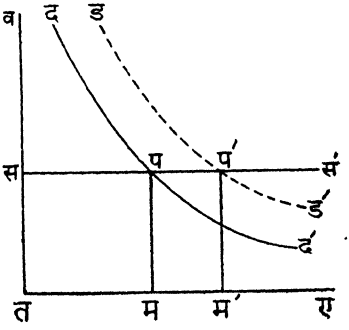

कि स स' वक्र गेहूँ जैसी किसी वस्तु का उत्पादन समान उपज के नियम के अन्तर्गत दिखाता है, जबकि उपज के घटने की प्रवृत्ति प्रगतिशील उपायों द्वारा रुकी हुई होती है। द द' पुराना मांग वक्र है और मांग की वृद्धि बिन्दु वाले वक्र ड ड' से दिखाई गई है। इस अवस्था में मांग में वृद्धि कीमत पर असर नहीं डालती। पुरानी कीमत प म नई कीमत प' म' के बराबर है।

इस तरह हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि मांग बढ़ती है तो कीमत तुरन्त बढ़ेगी, किन्तु कालान्तर में इसका बढ़ना, घटना या समान रहना, इस बात पर निर्भर है कि उद्योग में क्रमशः घटती हुई उपज का सिद्धान्त लागू होता है या बढ़ती हुई या समान उपज का।

मांग के घटने पर सामान्य कीमत पर इससे उल्टा असर पड़ेगा।

९. **दोबारा उत्पादन न हो सकने वाले माल का कीमत निर्धारण** (Determination of the Price of Non-reproducible Goods) : जिन वस्तुओं का पुनरुत्पादन नहीं हो सकता उन पर उत्पादन की लागत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—न तात्कालिक और न भविष्य में। यहां उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता ही निश्चय कर देगी। खरीदार की सीमान्त उपयोगिता से कीमत की उच्चतम सीमा निश्चित होती है और विक्रेता की अपनी सीमान्त उपयोगिता से उसकी निम्नतम सीमा। वास्तविक कीमत खरीदारों की परस्पर स्पर्धा से नियत होगी। प्राचीन महान् कलाकारों के चित्र, शेक्सपियर की पाण्डुलिपि, या इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ इस श्रेणी में आती हैं।

१०. **नाशवान वस्तुओं की कीमत** (Price of Perishable Articles) : मछली, ताज़ा दूध, फल और तरकारी जैसी नाशवान् वस्तुओं की सप्लाई को बाजार में भेजने से रोका नहीं जा सकता। जो भी सप्लाई बाज़ार तक पहुँच गई है उसको निकाल देना ज़रूरी है। ऐसी चीज़ की कीमत मांग पर निर्भर होगी। यदि मांग गिर गई है तो कीमत बहुत कम होगी। और बढ़ गई हो तो इसके विपरीत होगा। यहाँ सीमान्त उपयोगिता ही निश्चयात्मक कारण है। कीमत इतनी कम होगी कि सारी सप्लाई बिक जाय।

११. **संयुक्त मांग में कीमत** (Price in Joint Demand) : पूर्ण वस्तु बनाने के लिए अनेक वस्तुओं की एक साथ आवश्यकता पड़ती है। एक कार बनाने के लिए बहुत-सी सामग्री चाहिए, किन्तु उपभोक्ताओं को कार की ज़रूरत है जो अन्तिम उत्पादन (final product) है। कार की कीमत उसकी मांग और पूर्ति से नियत होगी। किन्तु कार बनाने के लिए आवश्यक प्रत्येक पदार्थ की कीमत कैसे तय होगी ? उपभोक्ताओं को इन वस्तुओं की अलग-अलग कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए उपभोक्ताओं के लिए उनकी अपनी कोई उपयोगिता नहीं है। तो उनकी कीमत का उनकी सीमान्त उपयोगिता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सिर्फ अन्तिम वस्तु (final product) की सीमान्त उपयोगिता गिनी जाएगी। किन्तु हम कह सकते हैं कि अन्तिम वस्तु की कीमत आखिर में इतनी अवश्य होगी कि इन सब वस्तुओं के पूर्ति मूल्य अर्थात् वह कीमतें जिन पर वह सामग्री उपलब्ध है उसमें से निकल आएं। प्रत्येक

पदार्थ उस हद तक प्रयुक्त होगा जहां तक कि उसकी कीमत उसके उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) के बराबर हो जाती है।

इस प्रकार संयुक्त रूप में मांगे जाने वाले पदार्थों की कीमत अन्तिम वस्तु (final product) जैसे मोटरकार की सीमान्त उपयोगिता से निश्चित होती है और यह कालान्तर में इतनी अवश्य होनी चाहिए कि संयुक्त मांग किए गए माल (अर्थात् अन्तिम वस्तु के उत्पादन के लिए अपेक्षित वस्तुओं) की कीमतें उसमें से निकल आएं।

१२. **मिश्रित या यौगिक मांग में कीमत** (Price in Composite Demand) : एक वस्तु की मांग मिश्रित या यौगिक कही जाती है जब इसके विभिन्न उपयोग होते हैं। उदाहरण के लिए कोयले का उपयोग खाना बनाने में, कमरा गरम करने में और अन्य कार्यों में भी हो सकता है। कोयले की मांग उसकी विभिन्न उपयोगों के लिए मांग से मिलकर बनती है। अधिकतर वस्तुओं का एक से अधिक उपयोग होता है। इसलिए उनकी मांग मिश्रित होती है।

ऐसे मामलों में कीमत उस वस्तु का क्या उपयोग हो रहा है इस पर निर्भर नहीं होती। कोयला उसी कीमत पर बिकेगा चाहे उसका कोई भी इस्तेमाल किया जाय। किसी एक समय पर उसकी कीमत खरीदार की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर है। और कालान्तर में वह इसकी सीमान्त लागत से ऊपर होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में कीमत मूल्य के साधारण सिद्धान्त के अनुसार निश्चित होगी। प्रत्येक खरीदार यह तय करेगा कि इसे किस उपयोग में लाना श्रेयस्कर है। यह उपयोग उस वस्तु की कीमत पर निर्भर होगा। यदि कोयला मंहगा है तो उसका उपयोग केवल खाना बनाने में होगा, कमरा गर्म करने में नहीं। यदि पानी कहीं दुर्लभ है और महंगा है तो उसका उपयोग छिड़काव से सड़कें तर करने में न होगा।

मिश्रित मांग वाली वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके प्रत्येक उपयोग में समानता की ओर जाती है। यदि वह समान नहीं है तो वह हटकर उस उपयोग में जाने लगेगी जिस में उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक है। यह तब तक होता रहेगा जब तक कि सब उपयोगों की सीमान्त उपयोगिताएं बराबर न हो जायें। प्रतिस्थापना (substitution) तथा सम-सीमान्त उपयोगिता (equi-marginal utility) के नियमों के अनुसार, एक वस्तु का मालिक उसके उपयोग से तभी अधिकतम तृप्ति पाता है जब सब कामों में उसे उससे समान सीमान्त उपयोगिताएं मिलें।

इस प्रकार मिश्रित मांग में आने वाली वस्तु की कीमत उसके सभी विभिन्न उपयोगों की सीमान्त उपयोगिता से नियत होती है और कालान्तर में, यह कीमत उसकी सीमान्त लागत से अधिक होनी चाहिए।

१३. **संयुक्त पूर्ति में कीमत** (Price in Joint Supply) : कुछ वस्तुएं सप्लाई में संयुक्त होती हैं। उनकी उत्पादन की लागत इकट्ठी होती है जैसे गेहूँ और भूसे की। किन्तु उनका बाज़ार स्वतन्त्र होता है। वे बिकती अलग-अलग बाज़ारों में हैं। हर एक की कीमत खरीदार के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर है। किन्तु आखिर में दोनों वस्तुओं, जैसे गेहूँ और भूसे, से अलग-अलग प्राप्त कुल कीमत

का योग दोनों वस्तुओं की सम्मिलित उत्पादन लागत के बराबर होना चाहिए।

अगर संयुक्त उत्पादन में से एक वस्तु की मांग बढ़ जाय तो क्या होगा ? जैसे गेहूँ और भूसे को ले लीजिए। यदि गेहूँ की मांग बढ़ जाय तो उसकी कीमत बढ़ेगी। ऊँची कीमत का लाभ उठाने के लिए अधिक गेहूँ पैदा किया जाएगा। किन्तु जब गेहूँ पैदा होगा तो भूसा साथ-साथ स्वयं ही पैदा होगा। तब भूसे की सप्लाई भी बढ़ जाएगी, यद्यपि उसकी मांग पहले जितनी ही रहती है। इसलिए भूसे की कीमत गिर जाएगी। किन्तु एक की कीमत में वृद्धि दूसरे की बिक्री से होने वाले टोटे को पूरा करने लायक होनी चाहिए जिससे कि दोनों की कीमतों का कुल योग उत्पादन की संयुक्त लागत के बराबर हो।

जब दोनों संयुक्त वस्तुओं के उत्पादन के अनुपात में परिवर्तन किया जा सकता है तब दोनों की अलग-अलग उत्पादन लागत का अन्दाज़ा लगाना सम्भव है। नस्लों का मिश्रण करके यह सम्भव हुआ है कि ऐसी भेड़ें उत्पन्न की जायं जो ऊन देती हैं और ऐसी जो माँस (मटन) के लिए अधिक उपर्युक्त हैं। तब मेरिनो (marino) अर्थात् ऊन-उत्पादक भेड़ों को पालने के लिए अपेक्षित अतिरिक्त व्यय अतिरिक्त ऊन उत्पन्न करने की लागत है। यह उनकी सीमान्त लागत है। इसी प्रकार माँस की भी सीमान्त लागत पता लग सकती है। जब अलग-अलग लागत लगा ली जाती है तब संयुक्त उत्पादनों को स्वतन्त्र पदार्थों के रूप में भी गिन सकते हैं और प्रत्येक की कीमत साधारण मूल्य के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होगी। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक की बाज़ार कीमत किसी विशेष क्षण पर मांग और पूर्ति के अनुसार नियत होगी और सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होगी। इस मामले में संयुक्त उत्पादन की एक वस्तु की कीमत में अन्तर दूसरे की कीमत पर असर न डालेगा।

१४. मिश्रित पूर्ति में कीमत (Price in Composite Supply) : जब अनेक पदार्थ एक ही अभाव की पूर्ति कर सकते हैं तो यह कहा जाता है कि उनकी पूर्ति मिश्रित (composite) है। प्रकाश गैस, बिजली, मिट्टी के तेल आदि किसी से भी मिल सकता है। गरम पेय गरम दूध, या चाय, काफी, कोको, कुछ भी हो सकता है। यह मिश्रित पूर्ति (composite supply) के उदाहरण हैं।

ऐसी वस्तुएँ कम या ज्यादा एक-दूसरे की विकल्प (alternatives) हैं, चाहे वे बिल्कुल समान न हों। यद्यपि ये एक-दूसरे का स्थान पूर्ण रूप से नहीं ले सकतीं, किन्तु यदि आवश्यकता पड़े तो किसी हद तक एक-दूसरे के अभाव की पूर्ति कर सकती हैं। इसलिए यद्यपि उनकी सीमान्त उपयोगिताएँ नितान्त समान नही हैं किन्तु वे अधिक भिन्न भी नहीं हैं। इसलिए उनकी कीमतें साथ-साथ बदलती हैं।

ऐसी वस्तुओं की कीमत कुल माँग के मुकाबले में उनकी कुल पूर्ति से, अर्थात् सभी समान वस्तुओं की कुल सप्लाई से, निर्धारित होगी। कालान्तर में, प्रत्येक की कीमत उसकी अपनी सीमान्त लागत के अनुकूल होगी।

ऐसी किसी एक वस्तु की कीमत में अन्तर दूसरी की कीमत में अन्तर कर देता है। यदि चाय की कीमत उठे तो काफी की माँग भी बढ़ेगी और उसकी कीमत भी

चढ जाएगी। उनकी कीमतें एक-दूसरे की सहानुभूति में चढ़ती-गिरती हैं।

१५. एकाधिपत्य में कीमत (Prices Under Monopoly) : अब तक हमने कीमतों का निर्धारण मुक्त स्पर्द्धा (free competition) की अवस्थाओं में देखा है। किन्तु यदि एकाधिपत्य (monopoly) हो तो क्या होगा ? और जब स्पर्द्धा अपूर्ण (imperfect competition) हो ?

एकाधिपत्य की अवस्था में भी माँग और पूर्ति की शक्तियों में अन्तर्क्रिया होना अवश्यम्भावी है। किन्तु इसमें यह अन्तर अवश्य है कि सप्लाई अपने को मांग के अनुकूल ढालने में मुक्त नहीं है। यह किसी एकाधिपति के नियन्त्रण (control) में है। एकाधिपति अकेला उत्पादक है और पूर्ति बदलकर आसानी से मूल्य में परिवर्तन ला सकता है। पूर्ण स्पर्द्धा में बहुत-से उत्पादक होने के कारण किसी एक का उत्पादन कुल का थोड़ा-सा अंश होता है। इसलिए कोई अपनी पूर्ति में फ़र्क करके कीमत पर असर नहीं डाल सकता।

सप्लाई का नियंत्रण उसके हाथ में होने के कारण एकाधिपति (monopolist) दो में से एक बात कर सकता है—(क) कीमत पहले ही निश्चित करके मांगी हुई मात्रा को उस कीमत पर सप्लाई कर सकता है, या (ख) वह सप्लाई पहले तय कर दे और मंडी में जो भी मांग हो उसके द्वारा कीमत को अपने आप निर्धारित होने दे। किन्तु वह कीमत भी स्वयं तय करे और उसी कीमत पर कोई निश्चित परिमाण खरीदने पर लोगों को विवश करे, यह दोनों काम नही कर सकता। वह दोनों में से एक ही काम कर सकता है।

एकाधिपति का एक ही उद्देश्य होता है। वह है अधिकतम शुद्ध लाभ की प्राप्ति (maximum monopoly net rerenue)। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसे अपनी वस्तु की मांग और पूर्ति की अवस्थाओं का सावधानी से अध्ययन करना पड़ेगा।

मांग की ओर उसे यह देखना पड़ेगा कि मांग लोचदार है या बेलोच। लोचदार (elastic) मांग होने पर कीमत की थोड़ी-सी कमी भी मांग को प्रोत्साहन देती है। इसलिए वह कीमत कम करेगा और अधिक बेचेगा जिससे अपने उत्पादन पर उसे ज्यादा शुद्ध मुनाफ़ा (net profit) मिले। किन्तु यदि मांग बेलोच (inelastic) है और वह जानता है कि हर कीमत पर लोग खरीदेंगे ही, तो वह मांग पर बिना असर डाले हुए ऊँची कीमत पा सकता है।

पूर्ति की तरफ़ एकाधिपति को यह जानना पड़ेगा कि उद्योग में कौन-सा (घटती हुई, बढ़ती हुई या समान) उपज का नियम लागू होता है। यदि घटती हुई उपज का नियम लागू है तो अधिक उत्पादन पर प्रति इकाई अधिक लागत आएगी। इसलिए वह कम माल बनाएगा। यदि मांग बेलोच है तो वह ऊँची कीमतें वसूल करेगा। किन्तु यदि बढ़ती हुई उपज का नियम लागू है तो अधिक उत्पादन पर फ़ी इकाई लागत कम आएगी। इसलिए वह अधिक उत्पादन करेगा और कम कीमत लेगा जिससे कुल उत्पादन पर अधिक कमा सके।

एकाधिपति कितना उत्पादन करेगा या कहाँ रुकेगा ? जब वह उत्पादन का पैमाना बढ़ाता है तो एक बिन्दु विशेष (optimum point) पर पहुँचकर उसकी

लागत बढ़ने लगती है। तब प्रत्येक अतिरिक्त उत्पादन में फ़ी इकाई अधिक व्यय बैठता है। किन्तु फिर भी मिलने वाली कीमतों के मुकाबले में उसे मुनाफ़ा होता है। यानी उसे अतिरिक्त (additional) आय होती है। इसलिए वह उत्पादन बढ़ाता जाएगा जब तक कि उसकी सीमान्त प्राप्ति (marginal revenue) अर्थात् अतिरिक्त आय, सीमान्त (अतिरिक्त) लागत से ज्यादा बैठती है। जहां सीमान्त लाभ (marginal profit) और सीमान्त लागत (marginal costs) बराबर हो जाएंगे, वहां वह उत्पादन बढ़ाना बन्द कर देगा। इस बिन्दु पर उसका कुल मुनाफ़ा (total profit) अधिकतम होगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस बिन्दु तक वह तभी बढ़ पाता है जब उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। यह ज़रूरी नहीं कि एकाधिपत्य की कीमत ऊँची ही हो। कभी-कभी यह कीमत स्पर्द्धा की दशा में निर्धारित कीमत से भी कम हो सकती है। क्योंकि एकाधिपति को विज्ञापन पर व्यय नहीं करना पड़ता। फिर उसे बड़े पैमाने के उत्पादन की साधारण मितव्ययिताएँ मिल जाती हैं। यह भी ज़रूरी नहीं कि एकाधिपति हमेशा उच्चतम कीमत वसूल करे। उसे जनमत का डर रहता है। सरकारी हस्तक्षेप का और जो वस्तु वह पैदा करता है उसके विकल्पों की खोज का भी डर बना रहता है। इसलिए यद्यपि आमतौर पर एकाधिपत्य कीमत (monopoly price) अधिक होती है, किन्तु उसका अधिक होना अनिवार्य नहीं है। एकाधिपति इस स्थिति में भी होता है कि वह विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न कीमतें ले ले। यह एकाधिपत्य व्यवस्था (monopoly system) का भारी दोष है। यह अवगुण कीमत-पक्षपात (price discrimination) कहलाता है।

१६. **एकाधिपत्यात्मक या अपूर्ण स्पर्द्धा** : वास्तविक जगत् में न तो पूर्ण स्पर्द्धा ही मिलती है न पूरा एकाधिपत्य पाया जाता है। ऐसी 'खालिस' अवस्था दुर्लभ है। प्रायः यह दीखता है एक वस्तु का उत्पादन करने वाले प्रतिष्ठान न तो बहुत ज्यादा होते हैं (जैसा कि पूर्ण स्पर्द्धा में चाहिए) और न ही केवल एक (जैसा कि एकाधिपत्य में होता है)। फ़र्मों की काफ़ी संख्या होती है पर अत्यधिक नहीं।

फिर, जो वस्तु ये फ़र्में बनाती हैं वह बिल्कुल समान नहीं होती। उसमें कुछ पृथक्करण (differentiation) हो जाता है। उदाहरण के लिए सिलाई की मशीनों को ले लीजिए। बहुत-सी फ़र्में हैं जो भिन्न-भिन्न नामों से मशीनें बनाती हैं—जैसे सिंगर, उषा, कमला, रंजीत, रीटा, कंवल, शानि आदि आदि। ये सभी वैसे सिलाई की मशीनें हैं परन्तु एक दूसरे से पृथक् हो चुकी हैं। इसी तरह भिन्न-भिन्न नामों के टुथ पेस्ट, फाउन्टेन पैन की स्याहियाँ, ब्लेड, क्रीमें, पाउडर होते हैं।

आज के बाज़ार की इन दो विशेषताओं के कारण न पूर्ण स्पर्द्धा की शर्तें ही पूरी होती हैं न एकाधिपत्य की। तो भी इन उत्पादकों में आपस में ज़ोर की स्पर्द्धा रहती है। प्रत्येक बाकियों की मूल्य-उत्पादन नीति का ध्यान रखता है। इस परिस्थिति को 'एकाधिपत्यात्मक स्पर्द्धा' या 'अपूर्ण स्पर्द्धा' कहते हैं। इसमें एकाधिपत्य का अंश है क्योंकि प्रत्येक ब्रैन्ड (brand) एक पृथक् वस्तु है जिसका एक ही उत्पादक है, और स्पर्द्धा का भी क्योंकि दूसरे ब्रैन्ड इससे इतने मिलते-जुलते हैं कि उत्पादकों में

जबर्दस्त मुकाबला रहता है। परन्तु वह स्पर्द्धा "अपूर्ण" है क्योंकि अकेला भी मूल्य पर प्रभाव डाल सकता है। विज्ञापन बाजी और "सेल्समैनशिप" की मंजी हुई कला आजकल के इस प्रकार के बाजार की बड़ी विशेषता है। इस तीव्र स्पर्द्धा के कारण अपूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में कीमत का निर्धारण एकाधिपत्य की बजाए मुक्त स्पर्द्धा से अधिक मिलती-जुलता होने की सम्भावना है।

१७. **कीमत का कार्य** (Function of Price) : आर्थिक ढाँचे में कीमत का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में कीमत ही अर्थतन्त्र की कार्यवाही को इतना सुगम बनाती है। स्पर्द्धात्मक पूंजीवाद (competitive capitalism) में, कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं होती जो आर्थिक शक्तियों का निर्देशन करे। कीमत ही निर्देशक शक्ति (directing force) होती है।

हम कीमत के निम्नलिखित कार्य बता सकते हैं :—

(१) कीमत उपयोग का नियंत्रण करती है। यदि कीमत ऊपर चढ़े तो उपभोक्ताओं को चेतावनी मिल जाती है कि वे अपना उपभोग कम करें। तब वस्तु अधिक अनिवार्य कामों में ही ली जाती है।

(२) कीमत उत्पादन का निर्देशन करती है। यदि कीमत कम है तो उत्पादक छंट जाते हैं। यदि अधिक है तो अधिक उत्पादक आकर्षित होते हैं और उत्पादन को बढ़ावा मिलता है।

(३) कीमत मौजूदा सप्लाई को मांग से समायोजित (adjust) करती है। यदि वस्तु की पूर्ति कम है तो कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं। और मांग कम होकर सप्लाई के बराबर आ जाती है। यदि स्टाक जमा हो गए हैं, तो कीमतें गिरकर मांग बढ़ा देती हैं और उसे पूर्ति के स्तर पर ले आती हैं और एकत्रित सप्लाई (स्टाक) निकल जाती है।

(४) उत्पादन में साधनों की कीमतों से यह निश्चित होता है कि उन्हें किस क्षेत्र में ले जाने से उनसे सबसे ज्यादा आय होगी। इस प्रकार कीमतों के कारण उत्पादन के साधन सबसे उपयोगी जगहों पर प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार कीमत ही पूंजीवादी अर्थतन्त्र में तमाम आर्थिक कार्यवाही का संचालन करने वाली है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

पूर्ण स्पर्द्धा में ये चीजें आवश्यक हैं :—

(i) खरीदने और बेचने वालों की बड़ी संख्या।
(ii) वस्तु में एकरूपता।
(iii) बाजार में प्रवेश करने और छोड़ने का खुला अवसर।
(iv) बाजार की परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान।
(v) उत्पादन के साधनों की गतिशीलता।

प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत कीमत निर्धारण (Price Determination under Competition) : कीमत मांग और पूर्ति की शक्तियों की परस्पर अन्तर्क्रिया (interaction) से तय होती है। मांग की दृष्टि से यह खरीदार की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) के बराबर और पूर्ति की दृष्टि से उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of

production) के बराबर जाने की कोशिश करती है। किसी समय-विशेष पर कीमत (अर्थात् बाजार भाव) उस समय की मांग और पूर्ति के बीच में एक संतुलन होती है। और कालान्तर में (अर्थात् सामान्य भाव) यह उत्पादन की सीमान्त लागत के निकट पहुंचती है।

मांग, पूर्ति और कीमत में सम्बन्ध (Relation Between Demand, Supply and Price) : इन तीनों में कार्य कारण (cause and effect) का नहीं वरन् परस्पर कारण (mutual causation) का सम्बन्ध होता है। वे एक प्याले में पड़ी तीन गेंदों के समान हैं जो तीनों एक दूसरे को सहारा देती हैं।

मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्त्व (Time Element in the Theory of Value) : मूल्य के सिद्धान्त में समय का बड़ा महत्त्व है। मांग और पूर्ति का संतुलन किसी कालावधि को लेकर ही होता है। अलग-अलग समय में मांग और पूर्ति की शक्तियों का समायोजन होने के लिए मिलने वाली अवधि के अनुसार भिन्न-भिन्न संतुलन कीमत होगी। जितनी कम अवधि होगी उतना ही मांग का अधिक प्रभाव होगा। जितनी अधिक अवधि होगी, सप्लाई का असर उतना ही अधिक होगा। उदाहरण के लिए यदि मांग बढ़ जाए तो तात्कालिक फल (immediate effect) कीमत का बढना होगा, किन्तु अन्त में कीमत बढ़े, गिरे या वही रहे, यह इस बात पर निर्भर होगा कि उद्योग में उपज का कौन-सा (बढ़ती ई, घटती हुई या समान उपज का नियम लागू है। भिन्न समय में विभिन्न परिणाम होंगे।

बाजार भाव और सामान्य भाव (Market Price and Normal Price) :

(i) बाजार भाव किसी क्षण पर प्रचलित वास्तविक कीमत है, किन्तु सामान्य कीमत वह कीमत है जिसकी कालान्तर में आशा की जाती है।

(ii) बाजार कीमत समय-समय पर घटता-बढती रहती है किन्तु सामान्य कीमत अधिक स्थिर है। सामान्य कीमत वह केन्द्र है जिसके आस-पास बाजार कीमत घूमती है।

(iii) बाजार कीमत अस्थायी कारणों से प्रभावित होती है। सामान्य कीमत अधिक स्थायी कारणो का परिणाम है।

(iv) बाजार कीमत मांग से प्रभावित होती है सामान्य कीमत उत्पादन व्यय से।

(v) केवल पुनः उत्पादन किये जाने वाले माल की सामान्य कीमत हो सकती है।

उपज के नियमों का प्रभाव (Influence of the Laws of the Returns) : उपज के नियमों का उत्पादन व्यय पर असर पडता है। इसलिए वे कीमत पर केवल दीर्घकाल में ही प्रभाव डाल सकते हैं। उपज के नियमों के कारण ही अन्त में कीमत घटती, बढती या समान रहती है, यद्यपि मांग की वृद्धि का तात्कालिक फल कीमत में वृद्धि अवश्य होता है।

पुनरुत्पादन न हो सकने वाले माल की कीमत (Price of Non-reproducible goods) : ऐसे मामलों में, मांग सबसे अधिक प्रभाव डालती है। कीमत की अधिकतम सीमा खरीदार के लिए सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है और निकटतम सीमा विक्रेता की सीमांत उपयोगिता द्वारा।

नाशवान् वस्तुएँ (Perishable Articles) : इस मामले में भी सप्लाई अपेक्षाकृत बेलोच (inelastic) है। बाजार में कीमत उस समय की मांग के विस्तार पर निर्भर होगी। कीमत इतनी कम अवश्य होनी चाहिए कि सारी सप्लाई बिक जाए।

संयुक्त मांग में कीमत (Price in Joint Demand) : अन्तिम वस्तु की मांग-कीमत (demand price) कालांतर में, निर्माण-कार्य में उपयुक्त होने वाली सभी वस्तुओं की सीमांत पूर्ति कीमत (marginal supply price) के बराबर होनी चाहिए।

मिश्रित-मांग कीमत (Price in Composite Demand) : कीमत साधारण मूल्य के सिद्धांत द्वारा निश्चित होती है अर्थात् खरीदार की सीमांत उपयोगिता और उत्पादक के सीमांत उत्पादन-व्यय से। प्रत्येक खरीदार अपने लिए तय करेगा कि वह उस वस्तु को किस काम में लाए। यह कीमत के स्तर पर निर्भर होगा।

संयुक्त-उत्पादन या संयुक्त पूर्ति की कीमत (Price of Joint-Products or Joint Supply) : यदि अनुपात बदला नहीं जा सकता, और इसलिए अलग-अलग सीमांत लागतें नहीं बताई जा सकतीं तो दोनों की कीमतों का कुल योग कालांतर में उत्पादक के संयुक्त सीमांत व्यय के बराबर होना चाहिए। यदि एक की कीमत गिर जाए तो दूसरे की बढ़नी चाहिए, जिससे कमी पूरी हो जाए। यदि अनुपात बदल सके तो संयुक्त उत्पादन में से प्रत्येक की उत्पादन-लागत अलग-अलग मालूम करना सम्भव है। तब प्रत्येक की कीमत ऐसे निश्चय होगी मानो वे अलग-अलग वस्तुएँ हों, अर्थात् मांग और पूर्ति से।

मिश्रित पूर्ति में कीमत (Price in Composite Supply) : पूर्ति के तमाम वैकल्पिक उद्गमों (sources) की कुल मांग और कुल पूर्ति के परस्पर संबंध से कीमतें निश्चित होती हैं। प्रयोग में आने वाली एक वस्तु की कीमत भी कालांतर में सीमांत व्यय के बराबर होनी चाहिए। यद्यपि वे पूर्ण विकल्प (alternatives) नहीं हैं, फिर भी उनकी कीमतें साथ-साथ घटती बढ़ती हैं।

एकाधिपत्य में कीमत (Price under Monopoly) : एकाधिपति या तो कीमत निश्चित कर सकता है या सप्लाई, दोनों नहीं। वह मुनाफ़ा चाहता है। यदि मांग बेलोच है तो वह ऊँची कीमत वसूल करेगा। यदि मांग लोचदार है तो वह कीमतें कम करके लाभ उठाएगा। यदि वस्तु बढ़ती हुई उपज के नियम के अधीन उत्पादित होती है तो वह अधिक परिमाण में उत्पादन करके कीमतें कुछ कम रख सकता है। यदि घटती हुई उपज के नियम से उत्पादन होता है तो वह उत्पादन कम करेगा और ऊँची कीमत लेगा। वही उत्पादन उसे अधिकतम शुद्ध लाभ (maximum net profit) देगा, जिस पर सीमान्त लाभ सीमांत लागत के बराबर होगा।

वास्तविक संसार में फ़र्मों की संख्या न तो बहुत ज्यादा ही होती है, न बहुत कम। एक वस्तु बनाने वालों की तादाद बहुतेरी होती है पर अत्यधिक नहीं। वस्तु भी बिल्कुल एक जैसी नहीं होती। उसमें कुछ पृथक्करण हो जाता है। इस कारण वास्तविक जगत् में न पूर्ण स्पर्द्धा होती है न एकाधिपत्य। प्रायः जो अवस्था मिलती है वह है अपूर्ण या एकाधिपत्यात्मक स्पर्द्धा की।

कीमत के कार्य (Functions of Price) :

(i) यह उपभोग का नियन्त्रण करती है।

(ii) यह उत्पादन का निर्देशन करती है।

(iii) यह पूर्ति को मांग के अनुसार समायोजित करती है।

(iv) साधनों की कीमतें यह बताती हैं कि उनका किस प्रकार नियोजन करने से अधिकतम आय होगी।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is a market ? How is price determined in markets in India ? Illustrate graphically. (पं० वि० १९५३)

बाज़ार की परिभाषा के लिए देखिये अध्याय १७, विभाग २।

भारत की मण्डियों में भी कीमतें मांग और पूर्ति की शक्तियों की अन्तर्क्रिया द्वारा निश्चित होती हैं किन्तु स्पर्द्धा, जो मांग और पूर्ति की शक्तियों को कार्यशील बनाती है, यहाँ पूर्ण रूप से मुक्त नहीं है, क्योंकि संचार और परिवहन (communication and transport) के पर्याप्त साधन नहीं हैं और कच्चे माल की पूर्ति करने वाले किसान अनपढ़ और गरीब हैं। बीच के दलाल बहुत हैं। मध्यस्थ व्यक्ति बेईमानी करते हैं। अनुचित काट-छाँट होती है। बाज़ार विनियमित (regulate) नहीं है। गलत तौल और बाटों का प्रयोग होता है। दलाल छिपे-छिपे कीमतें तय करते हैं। इन सबके कारण विक्रेता को उचित कीमत नहीं मिल पाती है।]

[देखिए विभाग ६। सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत से निश्चित होती है। जिसमें मूल व्यय (prime cost) और अनुपूरक व्यय (supplementary cost) दोनों शामिल हैं। इसमें औसत फ़र्म की सीमान्त लागत के निकट रहने की प्रवृत्ति होती है।]

2. What is competition ? Show how price is determined under perfect competition. (गौहाटी १९५३ ; बनारस १९३८)

देखिये विभाग २ ।

3. Define the concept of perfect competition. How is the value of a commodity determined in a short-period market under the conditions of perfect competition ? (पटना, १९५४)

4. Distinguish between normal price and market price, and show how price is determined under perfect competition.

(बम्बई १९५३; पं० वि० १९४१)

देखिये विभाग २ और ७ ।

5. What is a normal price ? How is it determined ? Illustrate with the help of a diagram.

(पं० वि० १९५३ ; यू० पी० बोर्ड १९५३ ; सागौर १९५२)

[देखिए विभाग ६ । सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत से निश्चित होती है। जिसमें मूल व्यय (prime cost) और अनुपूरक व्यय (supplementary) दोनों शामिल हैं। इसमें औसत फर्म की सीमान्त लागत और सीमान्त फ़र्म की औसत लागत के निकट रहने की प्रवृत्ति होती है।]

6. Explain carefully with the help of a diagram how demand, supply and price are mutually dependent.

(अजमेर १९५५ ; पंजाब १९३९)

देखिए विभाग ४ ।

7. Discuss the importance of time element in the theory of value. (दिल्ली, १९३९)

देखिए विभाग ५ ।

8. What do you understand by an increase in supply ? What is the effect of an increase in supply on price ? Illustrate by a diagram. (पंजाब विश्वविद्यालय १९४५)

देखिये विभाग ६ अध्याय १६ ।

[पूर्ति में वृद्धि का अर्थ है कि उतनी कीमत में अधिक माल मंडी में रखा जाता है। अर्थात् (प' म' = प म) कीमत पर त म के बजाय त म' माल। यह रेखाचित्र से स्पष्ट है। सप्लाई में वृद्धि, बिंदु वक्र वाले द्वारा दिखाई गई है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वही परिमाण कम कीमत पर भी दिया जा सकता है। पहले त म को प म कीमत पर दिया जा रहा था। किन्तु जब सप्लाई बढ़ गई है, जैसा कि बिंदु वाले वक्र से बताया गया है, त म को नीची कीमत पर दिया जाता है।]

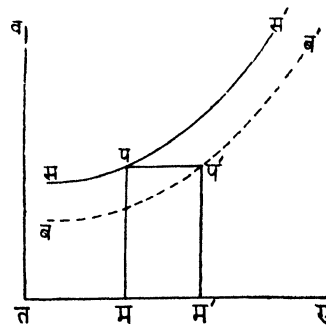

9. Discuss the influence of the laws of return on the theory of value. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४६)

देखिये विभाग ८ ।

10. Discuss the effects of a permanent increase of demand for a commodity on its price in the long period. Use diagrams to illustrate your answer. (अजमेर, १९५३)

देखिये विभाग ८।

11. How is normal price determined ? Can you account for the paradox that sometimes a rise in the normal demand for a commodity may lead to a fall in price. (जम्मू एण्ड काश्मीर १९५३)

देखिये विभाग ६ और ८ (ii)।

12. How is value determined in the following cases :—Joint demand, composite demand, joint supply and composite supply ?

देखिये विभाग ११-१४।

13. What is monopoly ? Explain how price is determined under monopoly. (बिहार १९५३ ; कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५३ ; All. १९३९)

देखिये विभाग १५।

मुद्रा या द्रव्य (MONEY)

'वह छड़ी जो मापती है'

(The Rod that Measures)

१. **युगों पहले** (Ages Ago) : पहले वक्तों में इन्सान की ज़रूरतें बहुत थोड़ी थी। वह एक सादा जीवन व्यतीत करता था और अधिकतर शिकार और मछली मारने से अपनी सारी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी कर लेता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया और उसकी आवश्यकताएँ बढ़ीं, उसकी यह आत्म-निर्भरता खत्म हो गई। वह अपनी उत्पादित वस्तुएँ अपने पड़ोसियों से बदलने (विनिमय करने) लगा। बदले में वह उनसे वे वस्तुएँ लेता जो उसके पास न होतीं। यह सीधा सादा विनिमय, जिसमें वस्तुओं का परस्पर तबादला होता था और जिसमें मुद्रा (money) का कोई नाम न था, वस्तु-विनिमय या बार्टर (barter) कहलाता है। यह एक प्रकार से किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के द्वारा खरीदना था। आज सभ्य समाजों में बार्टर नहीं किया जाता। इस प्रकार के विनिमय अब शायद ही कभी देखने में आते हों। कदाचित् अब भी स्कूल के छोटे बच्चे कभी एक नई पैन्सिल को पुराने कलम से आपस में बदल लेते हों। या किसी दूर के देहात में कोई किसान की औरत गाँव के बनिए से कुछ नमक या दियासलाई अनाज देकर खरीदती हो। आस्ट्रेलिया या अफ्रीका के अन्तराल में भी, बुशमैन (Bushmen) आज भी अपनी थोड़ी-सी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बार्टर के उपाय का प्रयोग करते हैं। किन्तु बार्टर विनिमय सामान्य रूप में नहीं रहा है। सभ्य संसार ने इसे युगों पहले त्याग दिया था।

आज (Today) : आज हम मुद्रा के बिना ज़िन्दगी का विचार नहीं कर सकते। हमारी ज़रूरतें बहुत अधिक हैं और जटिल हैं। वे पदार्थों का सीधे-सीधे विनिमय करके पूरी नहीं की जा सकतीं। हम अनेक छोटी-छोटी चीज़ों के लिए कैसे अदायगी (payment) करेंगे, जैसे साबुन, फल, सब्ज़ी, काग़ज़, कलम आदि के लिए, जिनकी हमें हर वक्त ज़रूरत पड़ती रहती है। किस रूप में हम कॉलेज की फीस या बस का किराया देंगे ? क्या मक्खन के डब्बे देकर ? या खली की बोरियों में ? या मांस के टुकड़ों से ? यदि यह करने लगें तो इसमें बड़ी असुविधा होगी। अनेक स्थितियों में तो आज यदि मुद्रा के स्थान पर वस्तु-विनिमय करने की बात आप सोचें तो कल्पना करते ही हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाएंगे। आप कहेंगे क्या अजीब दुनिया है वह जिसमें सिक्के और नोट नहीं ; आप सौभाग्यशाली हैं कि

वह समय चला गया और वह दुनिया अब नहीं है।

२. **वस्तु-विनिमय की असुविधाएँ** (Inconveniences of Barter) : हम देखेंगे कि वस्तु-विनिमय (बार्टर) अत्यन्त असुविधाजनक है। यदि आज हमें अपनी तमाम आवश्यकताएँ इसी उपाय से पूरी करनी पड़ें तो ज़िन्दगी एक मुसीबत हो जाय। वस्तु-विनिमय पुराने ज़माने के पुराने हालात में होता था। अब भी यह उपाय कभी-कभी प्रयुक्त होता है जब नियमित द्रव्य प्रणाली (monetary system) किसी वजह से टूट जाती है। रूस में १९१७ की क्रांति के बाद कुछ दिनों के लिए ऐसा हुआ था और अपने पास का उदाहरण यह है कि भारतीय रुपयों में पाकिस्तानी रुपये की कीमत तय करने में जब झगड़ा पड़ा था तो दोनों देशों के बीच का सामान्य व्यापार टूट गया। उस अवस्था में भारत-पाकिस्तान सीमा पर बार्टर शुरू हो गया था। किन्तु सामान्य अवस्था में आज सारी सभ्य दुनिया में मनुष्य की प्रत्येक कार्यवाही द्रव्य-संलग्न है। मुद्रा सिक्कों के रूप में, या नोटों और चैकों के रूप में आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की सत्ता के लिए अनिवार्य एवं अत्याज्य है। हमारे दिनचर्या के साधारण कार्यों के लिए भी यह अनिवार्य है। इसलिए यदि आज हम बार्टर-व्यवस्था लाने की चेष्टा करें तो अनेक कठिनाइयों में पड़ जाएंगे। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(१) **(वस्तु-विनिमय) बार्टर के लिए दोनों ओर की इच्छाओं की संगति आवश्यक है** : जब माल का सीधे माल से विनिमय करना हो तब यह आवश्यक है कि दोनों पक्षों को एक दूसरे की वस्तुओं की आवश्यकता हो। एक जूता बनाने वाले को टोपी की ज़रूरत हो सकती है, पर यदि टोप बनाने वाले को जूते की ज़रूरत न हो तो ? तब बहुत-सा समय और शक्ति ऐसा व्यक्ति ढूंढ़ने में लगेगी जिसके पास न केवल फालतू टोपी हो वरन् वह उस टोपी को जूते से बदलने के लिए तैयार हो। कोई विनिमय भी तब तक नहीं हो सकता जब तक कि एक पक्ष जो वस्तु चाहता है उसे दूसरा न दे सके और जो वस्तु वह स्वयं दे सकता है उसे दूसरा पक्ष लेना न चाहे। किसी समुदाय को ऐसे सौदे जितने ज़्यादा करने पड़ेंगे उतनी ही उसे आवश्यकताओं की यह दोहरी संगति (double coincidence of wants) ढूंढने में कठिनाई होगी।

(२) **विभाजन करने में कठिनाई होती है** : वस्तु-विनिमय में क्रय-विक्रय की इकाइयों को समायोजित करना होता है। सौदा करने वाले पक्षों में विनिमय की दर तय हो जाने के बाद, एक और कठिनाई पार करनी होती है। मान लीजिये 'क' के पास गाय है और बदले में वह थोड़ा-सा नमक चाहता है। अब यह स्पष्ट है कि वह अपनी गाय के दो टुकड़े नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसका मूल्य नष्ट हो जायगा। इसलिए यदि उसे गाय के बदले में नमक लेना है तो उसे अपनी आवश्यकता से अधिक नमक लेना पड़ेगा। तब 'क' को कोई ऐसा आदमी ढूंढ़ना पड़ेगा जो उससे नमक लेकर बदले में और कोई वस्तु दे सके जो उसके काम आ सके। इस तरह के व्यक्तियों की खोज करने में बड़ी असुविधा और परेशानी होगी।

(३) वस्तु-विनिमय में मूल्यांकन का कोई सर्वमान्य माप नहीं होता : मान लीजिए कि 'क' ने एक ऐसा व्यक्ति खोज लिया जिसके पास वह वस्तु है जो 'क' चाहता है और जो व्यक्ति वह वस्तु देने को भी तैयार है। फिर एक और कठिनाई उठ खड़ी होती है जिसका कोई हल निकालना पड़ेगा। दोनों वस्तुओं को किस दर पर बदला जाय ? बहुत-सा समय और शक्ति सौदा पटाने में लग जाएगी, विशेषकर उन वस्तुओं के लिए जिनका कोई सर्वमान्य स्तर नहीं है और विनिमय के बाद भी दोनों पक्ष असन्तुष्ट ही रह जाएंगे।

(४) वस्तु-विनिमय में 'मूल्य-संचय' का कोई अच्छा उपाय नहीं होता : वस्तुओं को अधिक समय तक संचित नहीं रखा जा सकता। ऐसा करने में वे अपना मूल्य खो देती हैं। उनमें से बहुत सी तो कुछ समय में नष्ट हो जाती है। सोचिये कि क्या होगा यदि आप में से हर आदमी अपनी कालेज की फीस देने के लिए एक सूअर, एक बत्तख, एक बछड़ा या एक बकरी लाए। बेचारे प्रोफेसरों को अपने घर एक अजायब घर ले जाना पड़ेगा जिसको खिलाना पिलाना और देख-भाल करना भी मुसीबत होगी, और यदि कोई बीमारी आ जाय तो सारा स्टाक ही तुरन्त खत्म हो जायगा।

३. मुद्रा का विकास (Emergence of Money) : क्योंकि बार्टर विनिमय का तरीका असुविधाजनक था, इसलिए लोगों को कोई वस्तु ऐसी चुननी पड़ी जो विनिमय के साधन के रूप में सर्वमान्य हो सके। इस प्रकार बहुत किस्म के पदार्थ मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होने लगे। गेहूँ, अनाज, तम्बाकू, चमड़ा, मूँगे, कौड़ी, सोना, पशु आदि अनेक वस्तुओं ने दुनिया के विभिन्न भागों में, समय-समय पर विनिमय के माध्यम (medium of exchange) का काम किया है। जिस समय जो वस्तु जहाँ पर मान ली गई वही मुद्रा का कार्य करने लगी। हमारी याददाश्त में भी, भारतीय गाँवों में छोटी-छोटी वस्तुएं खरीदने के लिए अक्सर कौड़ियों का प्रयोग होता था। अब उनकी जगह मुद्रा ने ले ली है। किन्तु आज भी प्रत्येक राष्ट्र की अपनी अपनी मुद्रा-प्रणाली (monetary system) है जो उसकी सीमाओं से बाहर स्वीकृत नहीं होती। वास्तव में यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से भिन्न रहता है।

धीरे-धीरे लगभग हर जगह अधिक आकर्षक धातुएं—जैसे सोना और चाँदी —मुद्रा के स्थान पर उपयुक्त होने लगीं। सभी देशों में शासकों ने देखा कि सिक्के बनाने का कार्य लाभदायक है और उन्होंने सिक्के ढालने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया। कालान्तर में सिक्कों के साथ-साथ, या उनके स्थान पर कागज के नोट चलने लगे क्योंकि इनमें अधिक सुविधा और किफायत रहती है। और आगे चलकर चैक (cheque), ड्राफ्ट (draft) और प्रोमिसरी नोट (promissory notes) भी प्रयुक्त होने लग गए। अब बैंकों में जमा (bank deposits) जो कि बैंक-खातों में दर्ज राशियों का नाम है, द्रव्य का सब से प्रमुख रूप हो गया है।

अब हम द्रव्य की उचित परिभाषा करने की स्थिति में हैं। द्रव्य कोई भी वह वस्तु है जिसे हम दूसरी वस्तुओं के बदले में सामान्यतया स्वीकार कर लेते हैं और

जो सभी भूत (past) और वर्तमान (present) के दायित्वों (liabilities) को पूरा कर सकती है।

४. **अच्छे द्रव्य के गुण** (Qualities of Good Money) : हमने ऊपर यह देखा है कि धीरे-धीरे विनिमय के अन्य कष्टसाध्य माध्यमों की जगह सोने चाँदी का उपयोग होने लगा। इन दो धातुओं में वे समस्त गुण मौजूद हैं जो अच्छे द्रव्य के रूप में सफल होने के लिए होने चाहिएं। ये गुण संक्षेप में नीचे लिखे हैं :—

(क) पहले तो, प्रमाणित द्रव्य में 'सामान्य स्वीकृति' (general acceptability) का गुण होना चाहिए। कीमती और दुर्लभ धातुओं की लोग वैसे भी इच्छा करते हैं। आभूषण आदि उनके ही बनते हैं। भारतवर्ष में लोग अपना बचा हुआ धन सोने चाँदी के रूप में रखते थे क्योंकि खतरे के समय उन्हें आसानी से छिपा कर रखा जा सकता है। आधुनिक काल में तो जीवन स्थिर और सुरक्षित है। लोगों को सरकारों में पूर्ण विश्वास है। इसलिए यह अब जरूरी नहीं है कि मुद्रा-पदार्थ (money material) अपने आप भी इतना वाँछनीय हो। किन्तु यह फिर भी आवश्यक है कि द्रव्य सबको मान्य या स्वीकृत (acceptable) होना चाहिए। सोने-चाँदी में यह गुण है।

(ख) दूसरी बात यह है कि मुद्रा आसानी से ले जाने योग्य यानी वहनीय (portable) होनी चाहिए। सोने-चाँदी की थोड़ी-सी मात्रा में बड़ा मूल्य होता है। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से जरा गेहूँ, कोयले या ईंटों को देखिए। कितनी असुविधा है इनमें। कागज की मुद्रा और भी अधिक वहनीय है। इसलिए भारत और अन्य देशों में भी नोटों और चैकों ने धातु मुद्रा का स्थान ले लिया है।

(ग) तीसरे, द्रव्य माध्यम टिकाऊ (durable) होना चाहिए। वरना यह मूल्य-संचय (store of value) का काम करने के लिए अनुपयुक्त होगा। सोना, चाँदी और अन्य धातुओं में यह गुण है। उपभोग, काल आदि का इन पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। हजारों वर्ष पुराने सिक्के भी आज मौजूद हैं और वे काम में लाए जा सकते हैं।

(घ) अच्छे मुद्रा-पदार्थ में एक और गुण बहुत जरूरी है—एकरूपता (uniformity), यानी वह पदार्थ चाहे जहाँ भी पाया जाय या उसका जो कोई भी टुकड़ा या नमूना (sample) लिया जाय वह वैसा ही हो जैसा दूसरे टुकड़े और नमूने। यदि हमें हर सिक्के के गुण और भार की परीक्षा करनी पड़े तो बड़ी मुश्किल हो जाय। गेहूँ और कपास इसी वजह से अच्छी मुद्रा नहीं हो सके कि अलग-अलग पाये जाने वाले उनके विभिन्न नमूने एक से नहीं होते। उनके मूल्यों में अन्तर होता है। मुद्रा के विभिन्न नमूने (samples) इतने समान होने चाहिएं कि उनमें से किसी एक को स्वीकार करने में भी कोई संकोच या दुविधा न हो। इस मामले में सोना-चाँदी आदर्श हैं।

(ङ) मुद्रा-पदार्थ की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है यदि वह सरलता से विभाज्य (divisible) हो। सोने-चाँदी को किसी भी आकार या भार के सिक्के बनाने के लिए बाँट सकते हैं (टुकड़े कर सकते हैं।) आपको शायद ताज्जुब हो कि

उनको पीटकर इतना पतला किया जा सकता है कि उनके २०,००० वर्क एक के ऊपर एक रखने पर उनकी ऊँचाई सिर्फ़ एक इंच हो।

(च) दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है 'पहचान' (cognizability)। सोना-चाँदी आसानी से पहचान में आ सकता है। अन्य धातुओं से उसकी परख करना सरल है।

(छ) इसके अतिरिक्त सोना-चाँदी पीटकर बढ़ाए जा सकते (malleable) हैं। इन्हें पीटकर जैसी चाहे शक्ल बना सकते हैं। इन पर जो छापा (impression) चाहें उतार सकते हैं।

(ज) सभी वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है। सोने-चाँदी के मूल्य में भी होता है। किन्तु अपेक्षाकृत उनके मूल्य में अधिक स्थिरता (stability) है। और यह मुद्रा-माध्यम का बहुत उपयोगी गुण है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि विनिमय के माध्यम के रूप में सोने-चाँदी ने क्यों अन्य प दार्थों का स्थान ले लिया। आज संसार में बहुत अधिक परिमाण में मुद्रा की आवश्यकता होती है, अ र इतना सोना नहीं है कि उसका हर जगह प्रयोग हो सके। इसलिए सोने के सिक्के अब कहीं भी प्रचलित नहीं हैं। अधिकतर चाँदी के (या दूसरी घटिया धातों के) सिक्कों और कागज़-मुद्रा से ही सब जगह काम चलाया जाता है। जैसे पहले जमाने में सोने-चाँदी ने मुद्रा के अन्य रूपों का स्थान ले लिया था, उसी प्रकार कागज-मुद्रा आज हर जगह सोने-चाँदी का स्थान ले रही है।

५. **मुद्रा के कार्य** (Functions of Money) : मुद्रा कोई विशेष वस्तु नहीं है, वरन् कोई भी वह वस्तु है जो कुछ विशिष्ट कार्य करती है। और मुद्रा के चार मुख्य कार्य हैं माध्यम, माप, प्रमाण और संचय। अब हम इनकी ब्योरेवार चर्चा करेंगे।

(i) मुद्रा विनिमय का माध्यम (medium of exchange) है और यह हमें माल का माल से विनिमय करने की परेशानी से बचाती है। इस प्रकार यह एक कठिन स्थिति से निकाल कर, वस्तु-विनिमय (बार्टर) की परेशानियाँ दूर करती है। यह बात हम एक उदाहरण देकर समझा सकते हैं। मान लीजिए मेरे पास एक किताब है जिसे मैं मक्खन से बदलना चाहता हूँ। किन्तु जिसके पास मक्खन है वह रोटी चाहता है, किताब नहीं। इसलिए मेरे लिए किताब को मक्खन से बदलना सम्भव नहीं। मुद्रा अर्थ-तंत्र (money economy) में, जिन वस्तुओं की हमें आवश्यकता नहीं होती उन्हें हम मुद्रा के बदले में बेच देते हैं और जो माल चाहते हैं उसे हम मुद्रा से खरीद लेते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता और उत्पादक दोनों को सुविधा रहती। सक फल होता है अधिकतम उपयोगिता (maximum utility)। मुद्रा यह कार्य इसलिए कर सकती है क्योंकि वह सर्वमान्य होती है।

(२) मुद्रा मूल्य का माप (measure of value) होती है। मुद्रा मूल्य की उसी तरह माप करती है जैसे गज कपड़ा नापना है या मिनट-घंटों में समय की माप होती है। जैसे इंग्लिस्तान में पाउंड और अमेरिका में डालर माल का मूल्य मापते हैं, उसी तरह भारत में रुपए। मुद्रा वह प्रमाणित (standard) मूल्य है जिससे अन्य वस्तुओं के मूल्य की तुलना होती है। सोना चाँदी की भी, बल्कि हर तरह के धन की माणित मुद्रा से माप होती है। इसमें हिसाब (accounts) रखे

जा सकते हैं और इससे विभिन्न पदार्थों की तुलना की जा सकती है। सब से अच्छा माप वह होता है जिसमें कभी फर्क न पड़े। उदाहरण के लिए, एक गज हमेशा ३६ इंच का होता है। इसकी लम्बाई में कभी फर्क नहीं पड़ता। दुर्भाग्यवश मुद्रा का मूल्य घटता-बढ़ता है। किन्तु बहुत यत्न करने पर भी हम इससे अच्छा माप अब तक नहीं ढूंढ पाए हैं।

(३) मुद्रा मूल्य संचय (store of value) का उत्कृष्ट साधन है। हमने देखा कि गेहूँ, कपास, मवेशी और दूसरी वस्तुओं का भी पुराने जमाने में मुद्रा की तरह उपयोग किया गया, किन्तु इनको छोड़ देना पड़ा क्योंकि वे रखने से खराब हो जाते हैं। यह एक विशेष कारण है, जिससे कीमती धातुओं ने उन्हें मुद्रा के स्थान से हटा दिया। ये टिकाऊ होती हैं और समय बीतने के साथ खराब नहीं होतीं। मुद्रा अपने मूल्य में भी अधिक स्थिर होती है। इसे उधार दिया जाता है। यह पूंजी का भी काम करती है। जब मुद्रा का मूल्य बदलता है और वस्तुओं की कीमतें अधिक घटती-बढ़ती हैं, तो लोगों को बड़ी हानि होती है। भारत में आज कीमतें देखिए। यह १९३९ की अपेक्षा चौगुनी हैं। निश्चित आय (fixed income) के और मध्यवर्गीय लोग आज बड़ी कठिनाई में हैं। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से मुसीबत आती है: किन्तु फिर भी इससे बेहतर कोई उपाय अब तक खोजा नहीं गया है। सौभाग्य से ऐसे बड़े परिवर्तन जल्दी-जल्दी नहीं होते।

(४) मुद्रा बाद में की जाने वाली अदायगी (deferred payment) के लिए भी एक मान का कार्य करती है। यदि 'क' कोई इकरारनामा करे कि वह कोई काम करेगा जिसकी अदायगी बाद में होगी तो उसे इस आश्वासन की आवश्यकता होगी कि जो वस्तु उसे काम के बदले में मिलेगी उसका मूल्य उस समय तक गिर न जाएगा। हर रोज जो सौदे होते हैं उनमें अधिकतर नकद न होकर उधार होते हैं। बड़ी-बड़ी राशियों का भुगतान बाद में किया जाता है। यदि ऐसे सौदों को ठीक चलना है, जिससे किसी को कष्ट न हो, तो मुद्रा का मूल्य दीर्घकाल तक स्थिर रहना चाहिए। मुद्रा के मूल्य में उतार-चढ़ाव बड़ी हानि पहुँचाता है। जैसा हमने ऊपर कहा, हमारे देश में युद्धोत्तर कीमतों की वृद्धि एक उदाहरण है। किन्तु चाहे मुद्रा बुरी चीज ही हो पर इसकी जगह कोई दूसरी वस्तु भी नहीं है जो काम आ सके।

६. **मुद्रा के गुण-दोष** (Advantages and Disadvantages of Money): कभी-कभी यह कहा जाता है कि मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम है और हमें वस्तु-विनिमय (बार्टर) की कठिनाइयों से बचाती है, जैसे कि उत्पादन का उद्देश्य द्रव्य नहीं, अभावों की तृप्ति है; हम द्रव्य पाने के लिए श्रम नहीं करते वरन् द्रव्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन समझ कर चाहते हैं। यह बहुत हद तक सही है। किन्तु एक साधारण निर्माता या औसत व्यापारी द्रव्य को इस नजर से नहीं देखता। उदाहरण के लिए कपड़ा बनाने वाला कपड़ा इस समाज-सेवा के आदर्श से नहीं बनाता कि लोगों को तन ढांकने के लिए मिल जाए, वरन् इसलिए कि उसे मुनाफा हो। वह अपने मजदूरों को तनख्वाह इसलिए नहीं देता

कि उनकी जरूरतें पूरी हो सकें, वरन् केवल इसलिए कि उसके अपने नफे के लिए यह भुगतान (payment) भी जरूरी है। उसकी सारी कार्यवाहियों का वास्तविक उद्देश्य द्रव्य है। वह सदैव द्रव्य-लागत (money costs) और द्रव्य-आय (money incomes), द्रव्य-लाभ (money gains) और द्रव्य-हानि (money losses) की ही बात सोचता है। उसका उद्देश्य है 'पैसा बनाना' न कि कपड़ा बनाना। यही हर एक का उद्देश्य है चाहे वह व्यापारी हो या कारोबारी दुकानदार, सरकारी नौकर हो या मजदूर।

इस तरह आज हमारे समस्त आर्थिक जीवन की धुरी द्रव्य है। द्रव्य और कीमतें यह तय करती हैं कि कोई नौकरी-पेशा आदमी या मजदूरी पाने वाला कितनी कुल वस्तुओं का उपयोग करेगा। आधुनिक आर्थिक पद्धति जिसमें श्रम-विभाजन और बड़े पैमाने का उत्पादन है, बिना द्रव्य के उपयोग के असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और परिवहन (transport) उन बड़ी-बड़ी राशियों से सम्भव होता है जो उधार ली-दी जाती हैं और इसी व्यापार से हमें अपने उपयोग की वस्तुएँ मिलती हैं। यह सब द्रव्य के बिना असम्भव है। किन्तु जितन असानी से द्रव्य उधार लिया जा सकता है, उतना ही इसमें खतरा है। जिस सट्टे से सैकड़ों आदमी बरबाद हो जाते हैं वह बैंकों द्वारा दिए गए उधार से ही सम्भव होता है। कीमतों में परिवर्तन, जो समाज के एक अंग को हानि पहुँचा कर, दूसरे का लाभ करता है, द्रव्य-तंत्र की ही बदौलत है। द्रव्य ही व्यापार-चक्रों (trade cycles) के लिए जिम्मेदार है जो आर्थिक-व्यवस्था के सुचारु रूप से चलने में बाधक हैं। इसलिए हम राबर्टसन (Robertson) से सहमत हैं कि "द्रव्य, जो मानवता के अनेक वरदानों का स्रोत है, यदि हमारे नियन्त्रण से बाहर हो जाय, तो संकट और अव्यवस्था का भी कारण बन सकता है"।

७. द्रव्य के रूप (Forms of Money) : मुख्यतया दो प्रकार के द्रव्य या मुद्राएं हैं :—

(क) धातु-मुद्रा और (ख) कागज़ मुद्रा। द्रव्य का वर्गीकरण ऐसे भी करते हैं कि (१) मान-द्रव्य (Standard money) (२) प्रतिनिधि द्रव्य (Representative money) (३) लेखे का द्रव्य (Money of Account) और (४) साख-द्रव्य (Credit money)।

मान द्रव्य (Standard money) द्रव्य का वह रूप है जिसमें द्रव्य के अन्य तमाम रूपों की माप होती है। यह अपरिमित कानूनी अंकन (unlimited legal tender) है। साधारणतया इसका वास्तविक (real) या नैसर्गिक (intrinsic) मूल्य इसके अंकित मूल्य (face value) के बराबर होता है और यह सोने चाँदी या दोनों का बनता है। भारत में द्रव्य की प्रमाणित इकाई (standard unit) रुपया है। किन्तु इसका अंकित मूल्य इसके वास्तविक मूल्य से आज कम है।

सभी द्रव्य जो मान-द्रव्य (standard money) नहीं है, किन्तु मान द्रव्य में सरलता से परिवर्तित हो सकता है, प्रतिनिधि द्रव्य (representative oney) है, जैसे रिजर्व बैंक के नोट और चैक।

लेखा-द्रव्य (money of account) वह इकाई है जिसमें देश का लेखा रखा जाता है। आमतौर पर मान-द्रव्य (standard money) और लेखा-द्रव्य एक देश में एक ही होता है, जैसे भारत में रुपया, इंग्लिस्तान में पाउंड स्टर्लिंग और रूस में रूबल ये दोनों कार्य करते हैं।

साख-द्रव्य (Credit money) सरकारी तथा अन्य बैंक नोटों के लिए प्रयुक्त होता है। इनमें निर्गम करने वाले प्राधिकारी (issuing authority) अर्थात् नोट चलाने वालों की ओर से यह वायदा निहित होता है कि वे नोट के मालिक के मांगने पर उस नोट का जितना पूरा मूल्य है देंगे। कभी-कभी सांकेतिक मुद्रा (token coins) को भी इसी में गिन लेते हैं क्योंकि वह भी सरकार के अदायगी के वायदे पर चलती है। चेक, प्रामिसरी नोट (Promissory note) और विनिमय-पत्र (Bills of exchange), जो व्यापारिक प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होते हैं, साख-द्रव्य के रूप हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जन-साधारण सरकारी नोटों को द्रव्य (money) या चलन (currency) के रूप में लेते हैं और चेक आदि को साख-द्रव्य के रूप में। इस दृष्टि से भारतीय रिजर्व बैंक के नोट और भारत में चलने वाले तमाम चेक आदि साख-द्रव्य हैं।

८. धातु-द्रव्य (Metallic Money) : धातु-द्रव्य सोने, चाँदी, गिलट या तांबे के सिक्कों का बनता है। सिक्के में शुद्ध धातु का जितना अनुपात होता है उसे 'इतना शुद्ध' (so much fine) कहते हैं। भारतीय रुपया चाँदी का बना होता है। इसका भार १८० ग्रेन है और वह '५०% शुद्ध' (५०% fine) है। नए रुपए के किनारे कुछ खुरदुरे होते हैं जिससे वे कम घिसें। इसके अलावा, किनारों को दानेदार बना दिया जाता है जिससे उनको काटा या भरा न जा सके। सारी दुनिया में राज्य को ही सिक्के चलाने का अधिकार है जो सरकारी टकसालों में बनते हैं। भारत में बम्बई और कलकत्ते में टकसालें (mints) हैं।

यदि सरकार व्यक्तियों को यह अनुमति देती है कि वे अपना सोना, चांदी टकसालों में ले जाकर सिक्कों में बदल सकें तो यह "मुक्त ढलाई (free coinage)" कहलाती है। भारत में यह प्रणाली १८९३ तक थी और इंग्लिस्तान में १९१४ तक। सिक्के बनाने में स्वभावतः कुछ खर्च होता है। कभी-कभी सरकार केवल ढलाई का वास्तविक व्यय ही लेती है, जितने में धातु के सिक्के बन सकें। यह व्यय टकसाली शुल्क (mintage) या टाँका लगाई (brassage) कहलाता है। यदि सरकार असली खर्च से ज्यादा वसूल करती है, तो यह सिक्का-ढलाई-लाभ (seigniorage) कहलाता है। और अगर ढलाई का खर्च भी न लिया जाय और सिक्कों की मुफ्त ढलाई हो जाय तो ढलाई को 'मुक्त' (free) के साथ-साथ 'मुफ्त' या 'उपहार-स्वरूप' (gratuitous) भी कहेंगे। खर्च चाहे सीधे-सीधे नकद लिया जाय और चाहे सिक्कों में गढ़ते वक्त खोट मिलाकर लिया जाय, मुक्त ढलाई (free coinage) आदर्श व्यवस्था है, क्योंकि उसमें उपयोग करने वालों के दिल में विश्वास जमा रहता है और किसी हद तक कुल मुद्रा परिचलन (circulation) सीमित रहता है। भारत में ढलाई अब मुक्त नहीं है, यद्यपि १८९३ से पहले थी।

सांकेतिक मुद्रा (Token Coins) : सिक्के का मूल्य इसलिए होता है, क्योंकि वह मूल्यवान धातु का बना होता है। सिक्का पूर्ण (full bodied) कहलाता है यदि उसका अंकित मूल्य (face value) उसके अन्दर की धातु के मूल्य के बराबर हो। लेकिन कभी-कभी सिक्के का मूल्य केवल इसलिए होता है कि सरकार ने उस पर मुहर लगा दी है (और मान्य कर दिया है)। जब सरकार द्वारा अंकित मूल्य उसके यथार्थ मूल्य (real value) से अधिक होता है तब वह "सांकेतिक मुद्रा" (token coin) कहलाती है। सांकेतिक मुद्रा के लिए मुक्त ढलाई की अनुमति नहीं दी जा सकती क्योंकि उसमें जितनी धातु होती है, उसके मूल्य से कहीं अधिक उसका अंकित मूल्य (face value) होता है। १९४२ तक हमारा चाँदी का रुपया भी ऐसी ही साँकेतिक मुद्रा थी। फिर चाँदी की कीमत इतनी बढ़ गई कि रुपए का नैसर्गिक (intrinsic) या यथार्थ मूल्य उसके अंकित मूल्य (face value) से बढ गया और वह "अधिक मूल्यवान सिक्का" (over-valued coin) हो गया। तब लोगों को रुपया लगाकर इसमें से चाँदी निकाल कर बेचने में मुनाफा होने लगा। पुराने रुपए परिचलन (circulation) से बिलकुल गायब हो गए और सरकार को नए रुपए और नई अठन्नियाँ चलानी पड़ीं जो कम शुद्ध (less fine) धातु की बनी है, जिससे कारबार चल सके। आज भारत में चलने वाले सभी सिक्के—प्रमाणित मान (standard) रुपए से लेकर इकन्नी दुअन्नी, चवन्नी तक—सब साँकेतिक मुद्रा हैं।

९. **विधि-मान्य अंकन** (Legal Tender) : अपना ऋण चुकाने के लिए द्रव्य ही दिया जा सकता है। आमतौर पर इसके पीछे सरकारी स्वीकृति होती है। कानून के अनुसार इस द्रव्य के किसी भी परिमाण को लेने से कोई इन्कार नहीं कर सकता। रुपए और अठन्नियाँ भारत में पूर्ण विधि-मान्य अंकन (legal tender) हैं।

गौण सिक्के (subsidiary coins) आमतौर पर एक सीमित परिमाण में ही दिए जा सकते हैं। इसलिए इन्हें परिमित विधि-मान्य अंकन (limited legal tender) कहते हैं। इसके मुकाबले में मान द्रव्य (standard money) को अपरिमित विधि-मान्य अंकन (unlimited legal tender) होने का विशेष अधिकार प्राप्त है। हमारे रुपये के सिक्के, रुपये का नोट और अठन्नियाँ अपरिमित हद तक विधि-मान्य अंकन हैं जब कि छोटे सिक्के दस रुपए तक के ही दिए जा सकते हैं। जाहिर है कि यह निर्बन्धन उपयोगी है। क्योंकि वरना आप किसी आदमी को एक लाख रुपये का कर्जा पाइयों में देकर पागल बना सकते हैं।

किसी देश के चलन या मुद्रा-चलन (currency) से अभिप्राय होता है वे सब सिक्के और नोट जो द्रव्य के रूप में विधि-मान्य (legal) हैं। दूसरी ओर वह कोई भी वस्तु जो विनिमय-माध्यम (medium of exchange) के रूप में साधारणतया स्वीकृत हो जाती है, या जो अपना ऋण चुकाने के लिए मान्य होती है, द्रव्य या मुद्रा (money) कहलाती है। द्रव्य बनने के लिए किसी वस्तु की सर्वमान्य स्वीकृति (general acceptance) होना चाहिए। चलन-मुद्रा (currency) बनने के लिए उसको कानूनी मान्यता भी मिलनी चाहिए। इस तरह से भारत में वे चैक जो खुले आम एक हाथ से दूसरे हाथ में जाते हैं किन्तु जो कानून द्वारा

मान्य नही हैं, द्रव्य (money) है पर चलन-मुद्रा (currency) नहीं। रुपये के सिक्के और नोट और गौण सिक्के भारतीय चलन-मुद्रा में आते हैं।

१०. **कागज-मुद्रा** (Paper Money) : कागज-मुद्रा कीमती धातुओं के उपयोग में किफायत करती है। इसको ले जाना और सचित करना सरल है, इसलिए इसने सिक्कों का स्थान बहुत कुछ ले लिया है। शुरू-शुरू में जब नोट चलाए गए थे तब निर्गम अधिकारी (issuing authority) द्वारा उनके पीछे बिल्कुल उतने ही मूल्य का सोना-चाँदी ध्रुव-कोष (reserve) में रखा जाता था। ऐसे नोटों को जब चाहे सिक्कों में बदला जा सकता था और वे सिक्कों के प्रतिनिधि होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे प्रतिनिधि कागज-द्रव्य (representative paper money) कहलाते भी थे। अमरीकी गोल्ड सर्टीफिकेट (American gold certificates—green backs) भी इसी प्रकार के थे। किन्तु यह तरीका बड़ा खर्चीला था और अब चालू नहीं है। कागज-मुद्रा के पीछे आज उतने ही मूल्य का सोना-चाँदी नहीं होता केवल आनुपातिक (proportional) रिज़र्व रखे जाते हैं और कागज-द्रव्य बहुत कुछ निर्गम अधिकारी (issuing authority) के वचन पर लोगों के एतबार पर निर्भर है, चाहे वह अधिकारी सरकार हो या देश का कोई केन्द्रीय बैंक। ऐसी मुद्रा-चलन (currency) को विश्वास-निष्ठ निर्गम (fiduciary issue) अर्थात् विश्वास या एतबार पर कायम निर्गम कहते हैं। भारत मे चलने वाले नोटों का कुल मूल्य २६ मार्च १९५४ को लगभग १,२०३ करोड़ रुपया था, इस राशि के पीछे केवल ४० करोड़ रुपए का सोना और भारत सरकार, इंगलिस्तान व अमरीका की सरकारों के बंधक (securities) हैं। इसलिए हमारा मुद्रा-चलन (currency) विश्वासनिष्ठ निर्गम (fiduciary issue) है।

कागज़-मुद्रा परिवर्तनीय (convertible) हो सकती है या अपरिवर्तनीय (inconvertible)। यदि निर्गम अधिकारी यह वायदा करते हैं कि वह माँगने पर नोटों को मान्य-द्रव्य (standard money) से बदल देंगे तो यह 'परिवर्तनीय कागज-मुद्रा' (convertible paper money) कहलाता है। किन्तु कभी-कभी जैसे युद्ध के आपत्ति काल में, कागज़-द्रव्य के अत्यधिक निर्गम से, अधिकारी यह महसूस करते हैं कि वे नोटों को सिक्कों में नहीं बदल सकते तब वे नोटों को सिक्कों में बदलने का अपना वायदा तोड़ देते हैं और द्रव्य अपरिवर्तनीय (inconvertible) या आदेश-मुद्रा (fiat-money) हो जाता है। जब सांकेतिक-मुद्रा की धातु से यह कड़ी (link) टूट जाती है, तब कागज़-मुद्रा के अधिक निर्गम (over-issue) की प्रवृत्ति होती है। तब मुद्रा का मूल्य कम होने लगता है जिससे निश्चित आय (fixed incomes) वाले लोगों को बड़ी मुसीबत होती है। भारतीय नोट देश के मान-द्रव्य (standard money) अर्थात् रुपयों में बदले तो जा सकते हैं, किन्तु यह भी साफ जान लेना चाहिए कि भारत में रुपए का सिक्का भी स्वयं केवल सांकेतिक मुद्रा (token coin) है। भरतीय रुपए को चाँदी पर छपा हुआ नोट कहा गया है।

११. **कागज-चलन का अधिक-निर्गम** (Over-Issue of Paper Currency) : कागज-चलन (paper currency) की सबसे बड़ी खराबी यह है कि इसका निर्गम

(issue) बड़ा आसान है। और जब सरकार आर्थिक कठिनाइयों में हो, तब इनके अधिक निर्गम (over-issue) का खतरा बना रहता है। यह प्रलोभन इतना ज़बर्दस्त है कि इसका संवरण कठिन है। और एक बार यह तरीका अपना लिया गया तो इसमें गति आ जाती है। और नोट छपते हैं, फिर और। और यही होता रहता है जब तक कि कागज-चलन का मूल्य ही खत्म न हो जाय। हाल में यह हालत अनेक देशों में हुई है; रूस में १९१७ में, जर्मनी में १९१९ में, चीन में १९४४ में, और अन्य जगहों पर भी।

नोटों का अधिक निर्गम (over-issue), जिसे मुद्रा-स्फीति (inflation) भी कहते हैं; अपने साथ बहुत-सी बुराइयां लाता है। उनमें से कुछ यह हैं:—

(१) कीमतें जोरों से बढ़ती हैं। निश्चित आय वालों और मजदूरों की बड़ी हानि होती है।

(२) कीमतों के बढ़ने का परोक्ष फल (indirect result) यह होता है कि निर्यात (exports) गिरते और आयात (imports) बढ़ जाते हैं। इससे देश से सोना बाहर जाने लगता है जो अच्छी बात नहीं है।

(३) कीमतों के बढ़ने से देश की करेन्सी का बाह्य (अन्तर्राष्ट्रीय) मूल्य गिर जाता है। इसलिए अपना अधिक द्रव्य विदेशी करेन्सी की इकाइयों को खरीदने में जाता है।

१२. **ग्रेशम नियम** (Gresham's Law) : यह नियम सम्राज्ञी एलिज़ाबेथ के वित्तीय सलाहकार सर टामस ग्रेशम का बनाया हुआ कहा जाता है। यद्यपि इस नियम को उससे पहले भी सामने रखा गया था। नियम यह कहता है कि जहाँ अच्छा द्रव्य (good money) और बुरा द्रव्य (bad money) साथ-साथ चलन में होते हैं, वहाँ बुरा द्रव्य अच्छे द्रव्य को खदेड़ने की और चलन से निकाल फेंकने की (drive out) प्रवृत्ति रखता है। 'बुरा द्रव्य' (bad money) से मतलब है (i) नए सिक्कों के मुकाबले में पुराना घिसा हुआ और खराब सिक्का (ii) धातु-द्रव्य के मुकाबले में कागज मुद्रा; और (iii) धातु-द्रव्य में, यदि दो धातुओं का चलना हो तो महंगी धातु के मुकाबले सस्ती धातु का सिक्का। यह मानव स्वभाव है कि मनुष्य अपनी खरीदारी खराब सिक्कों से करता है और बेहतर सिक्कों को बचाता है। आप भी क्या खरीदारी करते समय पहले गन्दा नोट देकर अपना नया नोट बचाने की कोशिश नहीं करते? इस प्रकार जो अच्छा द्रव्य लोग बचाते हैं वह परिचलन (circulation) से बाहर चला जाता है। उसका संचय (store) हो जाता है, या उसे गला दिया जाता है, या उसका निर्यात (export) हो जाता है।

अपवाद : लेकिन यह नियम कार्यशील नहीं होता जब (i) 'बुरा द्रव्य' इतना खराब हो कि लोग उसे लेने से ही इन्कार कर दें; (ii) यदि अच्छे और बुरे द्रव्य का परिचलन में कुल परिमाण इतना हो कि केवल विनिमय की आवश्यकताओं को ही पूरा कर सके, या (iii) यदि सरकारी आदेश के अनुसार बुरा द्रव्य विधिमान्य अंकन (legal tender) न रह जाय।

१३. **द्रव्य के मानदण्ड** (Monetary Standard) : कागज़ मुद्रा के चलन के साथ-साथ मानदण्ड का प्रश्न सामने आ गया है। "मानदण्ड" (standard) से अर्थ होता है वह धातु या कुछ और चीज़ जिसके आधार पर चलन का मूल्य निश्चित होता है। मानदण्ड के अनेक रूप हो सकते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह हैं:—

स्वर्णमान (Gold Standard) : जिस देश मे अच्छी हालत के पूर्ण सोने के सिक्के (full bodied gold coins) चलते है; जिसमें ढलाई मुक्त (free coinage) होती है, जो देश मे स्वर्ण के आने-जाने पर कोई निर्बन्धन (restrictions) या रोक-थाम नहीं लगाता, और कभी भी मांगने पर अपने नोटों को सोने के सिक्कों में बदलने को तैयार रहता है, ऐसा देश, कहा जाता है, स्वर्ण मान (gold standard) पर है। पहले विश्व-युद्ध के छिड़ने तक सयुक्त राज्य (U. K.), अमरीका (U. S. A.) और कुछ अन्य देश स्वर्णमान पर थे।

इनमें से प्रत्येक देश की द्रव्य-इकाई (monetary unit) का स्वर्ण के साथ निश्चित सम्बन्ध था और इसलिए इनका परस्पर सम्बन्ध भी निश्चित था। इस स्वर्ण कड़ी (gold link) से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बड़ा फायदा था। पहले विश्व-युद्ध के दौरान में इंग्लैण्ड ने अपनी चलन-मुद्रा (करेन्सी) को स्वर्ण से अलग कर दिया। इस तरह इंग्लैंड स्वर्ण-मान से हट गया ("went off" the gold standard)। कुछ अन्य देशों ने भी उसका अनुकरण किया।

रजत-मान (Silver Standard) : चीन और मेक्सिको चाँदी का प्रयोग करते हैं। उनकी द्रव्य-इकाई चाँदी के डालर के रूप में थी जो मुक्त रूप मे (free) ढाली जाती थी और पूर्ण विधिमान्य अकन (full legal tender) थी। इन देशों में चाँदी का मुक्त बाज़ार (free market) भी था इसलिए हम कह सकते है कि ये देश रजत मान (silver standard) पर थे। भारत भी १८९३ तक रजत मान पर था। रुपये की मुक्त ढलाई होती थी और इसका भार ११/१२ शुद्ध (fine), १८० ग्रेन था। कोई भी व्यक्ति अपनी चाँदी को टकसाल से रुपयों मे ढलवा सकता था, या चाँदी की जरूरत पडने पर, रुपए को गला कर चाँदी निकाल सकता था।

स्वर्ण बुलियन मान (Gold Bullion Standard) : यदि, देश में परिचलित स्वर्ण सिक्कों की बजाय यह व्यवस्था मान ली जाय कि जो मुद्रा वास्तव में चलन में है, उसको हम किसी निश्चित दर पर स्वर्ण बुलियन में बदल सकते हैं, तो हम इसे स्वर्ण (या रजत) बुलियन मान कहते हैं। इंग्लैंड का १९२५ मे १९३१ तक यही मान था। सोना सिक्कों की शक्ल में परिचलन (circulation) में नहीं था। किन्तु बैंक आफ़ इंग्लैंड स्वर्ण के किसी भी परिमाण को £ ३-१७-९ प्रति औंस, ११/१२ शुद्ध की दर पर खरीदने को तैयार था, और £ ३-१७-१०½ की दर पर बेचने को। देश से स्वर्ण के मुक्त आयात-निर्यात (free import export) पर कोई निर्बन्धन (restrictions) न थे।

भारत में भी १८८७ में गोल्ड बुलियन स्टेंडर्ड स्वीकार कर लिया गया था। १९३१ में विशाल मन्दी (Great Depression) के कारण इंग्लैंड

वह मान-स्तर कायम न रख सका और उसने उसे उसी वर्ष त्याग दिया। अब उसकी कोई बात नहीं करता।

स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard): जब स्वर्ण का किसी देश में चलन नहीं होता, किन्तु विदेशी भुगतानों (foreign payments) के लिए करेन्सी को सोने में बदला जा सकता है, तो उसे गोल्ड एक्सचेंज स्टैन्डर्ड या स्वर्ण-विनिमय मान कहते हैं। भारतीय रुपया पाउण्ड स्टर्लिंग से बदला जा सकता था और पाउंड स्टर्लिंग को सोने से। किन्तु भारतीय रुपया सीधे (directly) सोने से नहीं बदला जा सकता था। इस मान को बनाये रखने के लिए दो प्रकार के ध्रुव कोष (reserves) रखने की जरूरत थी। एक तो भारत में चाँदी का और दूसरा इंगलैंड में सोने का। इंगलैण्ड में सोना भारत के रुपयों में बदला जाता था और इसके विपरीत भी। यह व्यवस्था भी १९१४-१८ के महायुद्ध में टूट गई क्योंकि चाँदी के भाव बहुत बढ गये और परिणाम यह हुआ कि रुपये की मांग भी बहुत बढ़ गई। युद्ध के बाद फिर १९२२ में इस व्यवस्था को लाने की कोशिश की गई। किन्तु यह फिर न चल सकी और आखिर में इसे छोड़ ही देना पड़ा।

स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard): १९३१ से सितम्बर १९४७ तक भारतीय रुपया स्टर्लिंग (sterling) से जुडा हुआ था जिस का स्वर्ण से कोई सम्बन्ध न था। दूसरे देशों को अपने कर्जे हम केवल स्टर्लिंग के जरिये देते थे, जिसे हम १ शिलिंग ६ पेंस की रुपये की दर से खरीद सकते थे।

१ मार्च १९४७ में अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-निधि (international monetary fund) के स्थापित होने के बाद से, जिसका भारत भी एक सदस्य बना, भारतीय द्रव्य-व्यवस्था को निधि-प्रणाली (fund system) या स्वर्ण-समानता मान (gold parity standard) भी कह सकते हैं। अब रिजर्व बैंक के लिए स्वर्ण के मुकाबले में एक निश्चित विनिमय दर (rate of exchange) रखना जरूरी है। रुपये-पाउंड की दर अब भी उतनी ही है, किन्तु रुपये और पाउंड का पुराना गठबन्धन अब टूट गया है और हम दूसरी करेंसियों के साथ भी सीधे व्यवहार कर सकते हैं।

१४. द्वि-धातुवाद (Bimetallism): द्वि-धातुवाद का मतलब है किसी देश में एक निश्चित अनुपात (ratio) में सोने और चाँदी दोनों धातुओं का परिचलन और दोनों का साथ-साथ अपरिमित विधिमान्य अंकन (unlimited legal tender) माना जाना। लोग दोनों धातुओं में से किसी में भी अपने वायदे पूरे कर सकते हैं क्योंकि दोनों के बीच का अनुपात अधिकारियों द्वारा नियत होता है। १८०३ से लेकर लगभग ७५ वर्ष तक फ्रांस द्विधातु मान (bi-metallic standard) पर कायम था, किन्तु उसे इसको छोड़ देना पड़ा क्योंकि चाँदी के मुकाबले में सोने का बाजार भाव गिरने लगा और ग्रेशम का नियम लागू होने लगा। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश (quarter) में द्विधातुवाद को फिर से लागू करने की कोशिशें की गईं पर बेकार साबित हुईं।

एक-धातुवाद का अर्थ है सोने या चाँदी, एक ही धातु के सिक्कों का परिचलन।

१५. स्वस्थ चलन-मुद्रा प्रणाली (Sound Currency System) : हम अब इस पर विचार कर सकने की स्थिति में हैं कि ऊपर चर्चा की गई चलन-प्रणालियों में कौन-सी सर्वोत्तम है। हम अलेक्जेन्डर पोप के समान यह आसानी से कह सकते हैं कि "मूर्खों को प्रणालियों के बारे में झगड़ने दो। जिसको सबसे अच्छी तरह चलाया जा सके वही सर्वोत्तम है।" इसमें कोई शक नहीं कि लगभग सभी प्रणालियाँ किसी न किसी देश में, अलग-अलग समय में प्रचलित रही हैं और उन्हें विभिन्न मात्राओं में सफलता भी मिली है। किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि वह प्रणाली अच्छी है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ हों :—

(१) प्रणाली इतनी सादी या सुगम हो कि लोग उसे आसानी से समझ सकें ;

(२) इसमें कीमतें यथासम्भव स्थिर रहें और करेन्सी की क्रय-शक्ति (purchasing power) में ज्यादा उतार-चढाव न हो।

(३) प्रणाली देश की करेन्सी का बाह्य मूल्य भी बनाये रक्खे। यदि विदेशी करेन्सी के साथ रुपये का अनुपात स्थिर-स्तर (stable level) पर रहे तो विदेशी व्यापार (foreign trade) समृद्धिशाली होगा। अर्थशास्त्रियों का अब यह विश्वास हो चला है कि आन्तरिक कीमतों की स्थिरता विदेशी-विनिमय के अनुपात (foreign exchange ratio) की स्थिरता की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(४) प्रणाली सस्ती होनी चाहिए। स्वर्ण मान बड़ी मंहगी प्रणाली है। इसलिए इसको त्याग देना पड़ा। ऐसी कागज-करेन्सी प्रणाली, जिसको किसी ऐसे मान द्रव्य (standard money) और लेखा-द्रव्य (money of account) का आधार प्राप्त हो जिस पर देश की जनता का पूर्ण विश्वास है, आदर्श प्रणाली है।

(५) प्रणाली स्वयं लोचदार (automatically elastic) होनी चाहिए जिस से जब जरूरत पड़े करेन्सी का विस्तार (expansion) हो सके और जब जरूरत पूरी हो जाय, उसका संकुचन (contraction) हो सके। भारतीय द्रव्य-प्रणाली अधिकतर कागज-करेन्सी २६ मार्च १९५४ को १२०३ करोड़ रुपया, के रूप में है। करेन्सी नोट रिजर्व बैंक आफ इण्डिया निर्गम (issue) करता है। उनके मूल्य १०,०००), ५,०००), १,०००), १००), १०), ५), और २) के हैं*। १) के नोट भारत सरकार निर्गम करती है। इसके अलावा रुपये के सिक्के भी हैं। रुपये का सिक्का अधिकांश निकेल (nickel) की बनी हुई सांकेतिक मुद्रा है जिसका मूल्य ३ आने से ज्यादा नहीं हैं। अठन्नी रुपये की आधी है और रुपये की ही तरह निकेल (nickel) की होती है। यह भी रुपये की तरह अपरिमित विधिमान्य अंकन (unlimited legal tender) है। इसके अलावा, गौण (subsidiary) सिक्के भी हैं, जैसे चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी और पैसा। यह परिमित कानूनी अंकन (limited legal tender) हैं। चालू नोटों के मुकाबले में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया सोना, चाँदी तथा भारत सरकार और कुछ विदेशी सरकारों के बंधक या सिक्योरिटीज़ (securities) रखता है।

---

*१००) रुपये के ऊपर के नोट अब खत्म कर दिये गये हैं।

भारत के विभाजन के बाद से, भारतीय रुपया पाउँड स्टर्लिंग के बन्धन-सूत्र से मुक्त हो गया है। अब अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-विधि (International Money Fund) के द्वारा यह विदेशी करेन्सियों से सीधे जुड़ा हुआ है और इसका अनुपात निधि के अनुमोदन (approval) से जब और जितनी जरूरत पड़े बदला जा सकता है।

(६) प्रणाली में यह गुण होना चाहिए कि यह अपने में लोगों का विश्वास जाग्रत कर सके। भारतीय करेन्सी प्रणाली को जनता का विश्वास प्राप्त है। इसलिए हम विश्वास से यह कह सकते हैं कि हमारी प्रणाली अच्छी द्रव्य-प्रणाली है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

पुराने जमाने में माल को माल से बदलते थे। यह बार्टर (वस्तु-विनिमय) था। आजकल द्रव्य के बिना काम नहीं चलाया जा सकता।

बार्टर की असुविधाएँ (Inconveniences of Barter) :

(i) इच्छाओं की दोहरी संगति (double coincidence) जरूरी होती है।

(ii) मूल्य मापने का कोई साधन नहीं होता।

(iii) क्रय-विक्रय की इकाइयाँ एक दूसरे से समायोजित (adjust) नहीं हो पातीं।

(iv) मूल्य का संचय (store) नहीं किया जा सकता।

इसलिए ऐसी वस्तु को जिसे सभी लोग चाहते हों हर समाज में चुन लिया गया था जो द्रव्य के रूप में कार्य करती थी। धीरे-धीरे सोना चाँदी द्रव्य के रूप में हर जगह प्रयोग में आने लगे। द्रव्य "सर्वस्वीकृति से निर्वाचित वह वस्तु है जो विनिमय माध्यम के रूप में और अपने वायदों का पूरा भुगतान करने के लिए काम में आती है"*—सिल्वर मैन। इसका रूप नहीं, कार्य महत्त्वपूर्ण है।

अच्छे द्रव्य-पदार्थ की विशेषताएं (Characteristics of good money material): सफल उपयोग के लिए द्रव्य में निम्न गुण होने चाहिएँ :—

(१) सर्वमान्य स्वीकृति (general acceptability)।

(२) वहनीयता (portability)।

(३) टिकाऊपन (durability)।

(४) विभाज्यता (divisibility)।

(५) एकरूपता (homogeneity or uniformity)।

(६) पीटकर बढ़ाये जाने की योग्यता (malleability)।

(७) पहचान-परख (cognizability)।

(८) मूल्य की स्थिरता (stability of value)।

द्रव्य के कार्य (Functions of money) : द्रव्य के चार कार्य हैं :

(क) साधारण विनिमय माध्यम (general medium of exchange)।

(ख) मूल्य का माप (measure of value)।

(ग) मूल्य का संचय (store of value) और

(घ) भविष्य की अदायगी के लिए प्रमाण (a standard of deferred payments)।

द्रव्य के लाभ (Advantages of Money) :

(१) तमाम आर्थिक जीवन का आधार है।

(२) कितने पदार्थों पर हमारा अधिकार हो, यह नियत करता है।

(३) बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव बनाता है।

(४) परिवहन और व्यापार इस पर निर्भर है।

---

*Money is "a commodity chosen by common consent to serve as a means of exchange and for full discharge of obligations."—Silverman.

दोष (Evils)।

(१) हानिकारक सट्टा।

(२) कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव।

(३) व्यापार-चक्र (trade cycles)।

द्रव्य के रूप (Forms of Money) : कागज-द्रव्य (paper money), मान-द्रव्य (standard money), धातु-द्रव्य (metallic money) या सिक्के। लेखा-द्रव्य (money of account), प्रतिनिधि द्रव्य (representative money), साख द्रव्य (credit money)।

सिक्के में शुद्ध धातु के साथ कुछ खोट मिला देते हैं। आमतौर पर सिक्कों के किनारे खुरदुरे रक्खे जाते हैं जिससे उन्हें किनारों से काटा न जा सके। ढलाई हर जगह सरकारों के हाथ में होती है यदि जनता अपनी धातु ले जाकर जब चाहे सिक्के ढलवा सके तो उसे मुक्त-ढलाई (free coinage) कहते हैं। यदि ढलाई का कोई खर्च वसूल न किया जाए, तो उसे मुक्त या उपहार-स्वरूप (gratuitous) ढलाई कहते है। यदि खर्चा लागत के बराबर ही लिया जाय तो उसे टकसाली शुल्क या मिन्टेज (mintage) या ठांका लगाई या ब्रासेज (brassage) कहते हैं। यदि खर्चा लागत से ज्यादा लिया जाए तो उसे सिक्का-ढलाई-लाभ या सीनियोरेज (seigniorage) कहते है।

सांकेतिक मुद्रा (Token Coins) : जब किसी सिक्के का अंकित मूल्य (face value) उसके यथार्थ मूल्य (real worth) से ज्यादा होता है तो उसे सांकेतिक मुद्रा कहते हैं। यदि बराबर हो तो मान-मुद्रा (standard coin) और कम हो तो अधिक मूल्यवान मुद्रा (over-valued coin) कहते हैं।

विधिमान्य अंकन (Legal Tender) : जब द्रव्य के पीछे कानूनी शक्ति होती है तो उसे विधिमान्य अंकन (legal tender) कहते हैं जैसा कि हमारा रुपया है। पैसे जैसे छोटे सिक्के केवल सीमित परिमाण में ही दिए जा सकते हैं इसलिए उन्हे परिमित (अपरिमित के मुकाबले में) विधिमान्य अंकन कहते हैं। चलन-मुद्रा या करेन्सी (currency) का मतलब है कानूनी मान्यता प्राप्त माध्यम (medium) जब कि द्रव्य (money) का अर्थ है वह माध्यम जिसे जनता मानती और स्वीकार कर लेती है।

कागज-द्रव्य (Paper Money) : सुविधाजनक है। शुरू में, कागज के नोट सुरक्षित कोष या रिजर्व (reserve) में रक्खी हुई धातु के समान परिमाण का प्रतिनिधित्व करते थे। किन्तु अब एक बड़ी मात्रा में नोटों का निर्गम, रिजर्व से कहीं ज्यादा परिमाण में होता है। इसे विश्वास-निष्ठ निर्गम या फिडूशियरी इशू (fiduciary issue) कहते हैं। जब तक सरकार कागज के नोटों को सिक्कों में बदलने की गारण्टी लेती है, कागज मुद्रा परिवर्तनीय (convertible) कहलाती है। जब सरकार इस गारण्टी को हटा लेती है, तब कागज-मुद्रा अपरिवर्तनीय (inconvertible) हो जाती है।

कागज-करेन्सी का अधिक निर्गम (Over-Issue of Paper Currency) : कागज करेन्सी में सबसे बड़ी कमी यह है कि बड़ी आसानी से निर्गम (issue) की जा सकती है और वित्तीय कठिनाइयों के काल में इसका फल आमतौर पर मुद्रा-स्फीति (inflation) होता है। इससे देश की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ जाती है।

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law) : यदि द्रव्य—अच्छा और बुरा—साथ-साथ परिचलन में हो तो अच्छा द्रव्य बाजार से खदेड़ दिया जाता है। 'बुरे द्रव्य' (bad money) का अर्थ है नए सिक्कों के मुकाबले में पुराने सिक्के और सोने के मुकाबले में निकेल और चांदी के सिक्के। ऐसी हालत में अच्छा द्रव्य (good money) जमा कर लिया जाता है, गला दिया जाता है, या निर्यात (export) कर दिया जाता है।

द्रव्यमान (monetary standard) का मतलब है वह धातु (या द्रव्य) जिसकी तुलना में देश के द्रव्य का मूल्य निश्चित किया जाता है। यदि यह निश्चित (fixed) कर दिया गया हो

द्रव्य इतने सोने या चालू सोने के सिक्कों के बराबर है तो वह स्वर्ण-मान या गोल्ड स्टैन्डर्ड कहलायेगा। यदि द्रव्य-इकाई के रूप में चाँदी के सिक्के चालू हैं तो यह रजत-मान (silver standard) कहलाएगा। यदि द्रव्य स्वर्ण धातु की किसी निश्चित राशि के बराबर ही रक्खा जाता है, तो वह स्वर्ण-गुलियन मान है। यदि करेन्सी स्वर्ण से सम्बन्धित है और विदेशों के भुगतान करने के लिए सोने से बदली जा सकती है तो वह स्वर्ण-विनिमय मान या गोल्ड एक्सचेंज स्टैन्डर्ड है। यदि करेन्सी पाउंड स्टर्लिंग से जुड़ी हुई है तो वह स्टर्लिंग एक्सचेंज (विनिमय) स्टैन्डर्ड है।

द्विधातुवाद (Bimetallism) : जब सोना चाँदी दोनों धातुएँ किसी निश्चित अनुपात में चालू होती हैं। एक धातुवाद (monometallism) : जब केवल एक धातु ही मान-द्रव्य की तरह परिचलित हो।

स्वस्थ करेन्सी प्रणाली (Sound Currency System) : एक अच्छी चलन-प्रणाली में निम्न गुण होने चाहिएं :—

(१) यह सरल हो।
(२) इसमें कीमतें स्थिर रहें।
(३) इसमें करेन्सी का विदेशों में मूल्य बना रहे।
(४) सस्ती हो।
(५) अपने आप लोचदार हो ; और
(६) उसे जनता का विश्वास प्राप्त हो।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is barter ? Explain how the use of money originated in the inconveniences of barter (अजमेर १९५३ ; बम्बई १९५३)

देखिए विभाग २ और ३

या

What difficulties would you feel if there were no money ?

(बिहार १९५३ ; पंजाब विश्वविद्यालय ९४३ Suppl.)

देखिए विभाग २

2. Define money. Why did gold and silver become universally adopted as money ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९३७)

देखिए विभाग ३

Or

What is money ? What are its functions ? What are the different kinds of money to be found in modern times ? (पटना १९५४)

3. What do you understand by 'Money' ?

(दिल्ली १९३४, १९५३ ; जम्मू और कश्मीर १९५३ ; आगरा १९४० पटना १९४५ ; पंजाब १९४७)

देखिये विभाग ३ और ५

Or

What are the qualities of a good money material ? Are the following suitable as material for the making of money ?

(*a*) Ice
(*b*) A piece of paper
(*c*) Radium (दिल्ली १९५५)

4. 'Money is what money dose'. Discuss.

(कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४०)

देखिये विभाग ३

5. What would happen if money disappeared overnight ? Imagine and describe the state of affairs.

देखिए विभाग २

6. Write notes on :

(i) Gold Standard.

(ii) Mintage. (पंजाब विश्वविद्यालय १९४६ Suppl.)

(iii) Free coinage. (पंजाब विश्वविद्यालय १९४१)

[देखिये विभाग (i) के लिए १३ और (ii), (iii) के लिए ८]।

7. Define : (i) Currency. (ii) Coinage. (iii) Seigniorage. (iv) Standard money. (v) Bimetallism. (vi) Gold Exchange Standard.

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४६ Suppl.)

[देखिये विभाग (i), (ii), (iii) और (iv) के लिए विभाग ८, (v) के लिए १४ (vi) के लिये १३]

8. Distinguish between :

(i) Legal tender and token money.

(कलकत्ता १९४२ : पंजाब १९४०)

(ii) Debasement and depreciation of currency.

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४१)

(iii) Money and Wealth. (पंजाब विश्वविद्यालय १९४३)

(iv) Money and Currency. (पंजाब विश्वविद्यालय १९४५)

(v) Inconvertible and converticle money.

(कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० कॉम० १९३६ और यू० पी० इन्टर बोर्ड १९४६)

(vi) Credit and Metallic money.

(i) देखिये विभाग ८ और ९ (ii) गिरा देने (debasement) का मतलब है धातु-सिक्कों की क्वालिटी कम कर देना। यह अधिक लम्बे उपयोग के कारण हो (अर्थात् नये सिक्कों की ढलाई कम या बन्द कर दी गई हो), या इरादतन इस वजह से हो कि बेईमान लोग इस उपाय से पैसा पैदा करने लग गये। ह्रास (depreciation) का मतलब है द्रव्य की क्रय-शक्ति (purchasing power) का गिर जाना। ह्रास के लिए देखिये अगला अध्याय। (iii) देखिये द्रव्य के कार्य, विभाग ५ (iv) द्रव्य चलन-मुद्रा हो या साख-मुद्रा। चलन-मुद्रा या करेन्सी वह है जो कानूनी रूप से चालू अंकन (tender) है ; अर्थात् नोट और सिक्के। (v) देखिये विभाग १० (vi) धातु-द्रव्य धातु के बने हुए सिक्कों का होता है। साख (credit) के लिए देखिये अध्याय २१]।

9. Which of the following are money in India ?—

(1) Notes of the Reserve Bank. (2) Cheques drawn on the Imperial Bank of India. (3) Postal Cash Certificates. (4) The English Sovereign. Give reasons for your answer.

(१ और २ कलकत्ता विश्वविद्यालय बी. कॉम. १९४३; पंजाब विश्वविद्यालय १९३९ ; जम्मू और काश्मीर १९५३)

[(१) हाँ (२) नहीं (३) वे द्रव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। (४) नहीं]

10. What is money ? Discuss its various functions. How far does money in India efficiently perform its functions ?

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४८)

[देखिये विभाग ३ और ५ । दूसरे भाग के लिए द्रव्य पर अध्याय पढ़िये जो पुस्तक के भाग २ में है ।]

11. Explain "Gresham's Law" fully. Also give limitations.

(अजमेर १९५३ ; पंजाब विश्वविद्यालय १९४९ ; कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४३; आगरा १९४२; नागपुर १९४१)

देखिये विभाग १२

12. What are the essential characteristics of gold standard ? Define it.

(कलकत्ता १९२८, कलकत्ता बी० कॉम० १९४६)

देखिए विभाग १३

13. Explain the advantages of a Gold Standard. Why has this standard been given up in India and England ?

(सागोर १९५२)

[स्वर्ण मान के यह लाभ हैं :

(i) इससे प्रतिष्ठा बनती है, (ii) इससे विश्वास जमता है, (iii) यह दीर्घ काल तक करेंसी का मूल्य बनाये रखने में मदद करता है। (iv) यह करेंसी अधिकारी की दया पर आश्रित नहीं होता, (v) यह अदायगी के शेष—बैलेंस ऑफ पेमेंट्स (balance of payments)—को खुदबखुद ठीक कर देता है ।

भारत, इंग्लैंड और अधिकतर देशों ने स्वर्ण-मान छोड़ दिया है, क्योंकि यह महंगा और अनावश्यक था। दुनिया ने अब महंगे विनिमय-माध्यम के बिना काम चलाना सीख लिया है। कागज मुद्रा बड़ी किफायती है और इसका प्रबन्ध अच्छा हो सकता है]

14. What are the dangers involved in a paper currency system ? How can a Government avoid them ?

देखिये विभाग ११

15. Briefly describe the main requisites of a sound currency system. Is Indian currency system also based on such principles ?

देखिए विभाग १५

अध्याय २०

द्रव्य का मूल्य
(THE VALUE OF MONEY)

माप को मापना
(Measuring the Measure)

१. **"द्रव्य का मूल्य" पद का अर्थ** (Meaning of the Term "Value of Money") : मास्टर साहब बताते हैं गज़ दूरी नापता है। किसी ने प्रश्न पूछा, "किन्तु गज़ को कौन नापता है ?" उत्तर है, "दूरी ही गज़ की माप करती है।" इसी प्रकार द्रव्य "माल" की माप करता है। और द्रव्य की माप क्या है ? "माल", "पदार्थ"। हम जानते हैं कि मूल्य (value) दो पदार्थों के आपस में विनिमय के अनुपात (ratio of exchange) का नाम है। और द्रव्य इस मूल्य को "कीमत" (price) से मापता है। द्रव्य हमारी इच्छाओं का उद्देश्य है, और उसे पाने को हम अथक कोशिश करते रहते हैं, किन्तु द्रव्य स्वयं कुछ नहीं है, उसको हम अन्य पदार्थ खरीदने के लिए पाना चाहते हैं। इसलिए द्रव्य का मूल्य (value), पदार्थों का वह साधारण परिमाण है जो द्रव्य की एक इकाई के बदले में हमें मिल सकता है। या यूं कहें कि द्रव्य का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति (purchasing power) है।

द्रव्य से हम क्या खरीद सकते हैं, यह कीमतों के स्तर (level of prices) पर आश्रित है। यदि कीमतों का स्तर बढ़ता है तो द्रव्य की एक इकाई से पहले की कपेक्षा कम पदार्थ खरीदे जा सकते हैं। तब कहा जाता है कि द्रव्य का मूल्य-ह्रास (depreciation) हो गया। इसके विपरीत यदि कीमतें गिर जायें तो इसका मतलब होता है द्रव्य की एक इकाई पहले से अधिक वस्तुएँ खरीद सकती है और तब द्रव्य की मूल्य-वृद्धि (appreciation) हो जाती है। इस तरह 'कीमतों का साधारण स्तर' (general level of prices) और द्रव्य-मूल्य (value of money) दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों से देखी गई एक ही चीज़ है। द्रव्य के मूल्य में तीव्र (violent) अन्तर आर्थिक जीवन में गड़बड़ी लाकर बड़ा नुकसान पहुँचाता है। इसलिए, हमें सावधानी से उन कारणों का अध्ययन करना चाहिए जो द्रव्य का मूल्य निश्चित करते हैं।

२. **द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन : मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन तथा पुनः मुद्रा प्रसार** (Changes in the Value of Money, Inflation, Deflation and Reflation) : मान लीजिए कि हमने नापकर देखा कि एक कमरा ८० फीट लम्बा है। उसे फिर अगले दिन नापने पर हमें अगर यह मालूम पड़े कि वही कमरा

८४ फीट लम्बा है तो हमें अवश्य आश्चर्य होगा। रात भर में कमरा ४ फीट कैसे बढ़ गया ? क्या कोई दीवार गिरा दी गई या रात भर में इसमें कोई विस्तार कर दिया गया ? या हमारा फुट ही दो इंच छोटा हो गया ? इनमें से क्या सही है ? इसी तरह से यदि एक रुपए में आज १० सेर गेहूँ ख़रीदा जाता है, किन्तु कल ५ सेर तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं। हमें अपने फुट—रुपए पर बड़ी खीझ होती है कि यह सिकुड़ कर आधी लम्बाई का रह गया। हम जानना चाहते हैं कि क्या हो गया। हमसे कहा जाता है कि द्रव्य का मूल्य बदल गया। बिल्कुल यही भारत में हुआ है। बहुत बार किसी देश में पहले से अधिक मात्रा में नोट चालू हो जाते हैं, जबकि पदार्थों का परिमाण करीब-करीब वही रहता है, या ज़रा-सा ही बढ़ता है। इसलिए रुपये से हम कम पदार्थ ख़रीद पाते हैं।

आज युद्ध से पहले (१९३९) की अपेक्षा रुपया सिकुड़ कर एक-चौथाई रह गया है। बहुत ज्यादा नोट—ठीक-ठीक कहें तो २६ मार्च १९५४ को, १२०३ करोड़ रु० के नोट—देश में चालू हैं, जबकि सितम्बर १९३९ को केवल १७२ करोड़ रु० के ही थे। इस तरह देश में मुद्रा-स्फीति (inflation) यानी चलन-मुद्रा का अधिक प्रसार हो गया है। इसीलिए कीमतें ऊपर उठ गई हैं।

कीमतों के बहुत ऊँचे चले जाने पर भारत सरकार घबड़ा कर अनेक उपायों से नोट कम करने की कोशिश कर रही है। मुद्रा को घटाना जिससे कि कीमतें एक दम कम हो जाएँ मुद्रा-संकुचन (deflation) कहलाता है।

यदि पलड़ा दूसरी ओर बहुत ज्यादा झुक जाय और करेन्सी इतनी घट जाय कि सारा कारबार ही ठप्प हो जाय, तो सरकार फिर कारबार सुचारु रूप से चलाने के लिए दोबारा करेन्सी बढ़ाने का यत्न करेगी जिससे 'मुद्रा-संकुचन' (deflation) के बुरे नतीजे रुक जायें। इस प्रक्रिया को पुनः मुद्रा-प्रसार (reflation) कहेंगे।

३. **मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन की माप** (Measurement of Changes in the Value of Money) : कीमतों में परिवर्तन समान और एक से नहीं होते। कुछ कीमतें बढ़ती हैं तो कुछ गिरती हैं। बहुत-सी अन्य कीमतें स्थिर बनी रहती हैं। ये कीमतें तो मधुमक्खियों के समान हैं जो छत्ते से इकट्ठी निकलती हैं, कोई कहीं उड़ जाती है, कोई कहीं। और कुछ कहीं मंडराती रहती हैं। किन्तु किसी एक विशेष दिशा में जाने की उनकी प्रवृत्ति हो सकती है। कीमतों के परिवर्तन करने की तुलना करने से बड़ा भ्रमात्मक चित्र मिलता है। हम द्रव्य के मूल्य में कुल (over-all) कितना अन्तर पड़ा है इसको जानकर ही कोई दवा बता सकते हैं। इलाज करने से पहले यह जानना ज़रूरी है कि मर्ज़ कितना बढ़ गया है।

सूचक अंक (Index Numbers) : इसमें सूचक अंक हमारी मदद करते हैं। इनके द्वारा हम वस्तुओं की किसी भी संख्या की कीमतों में परिवर्तन का औसत निकालकर किन्हीं दो वर्षों का अनुपात (ratio) निकाल लेते हैं। इससे हमें द्रव्य के मूल्य में अन्तर पता लग जाता है। सूचक अंक समाज के किसी वर्गविशेष के निर्वाह-व्यय (cost of living) के परिवर्तन देखकर भी बना सकते हैं। यह अंक हमें आयात और निर्यात किए गए माल के परिमाणों अथवा मूल्यों में परिवर्तन की

भी माप दे सकते हैं। सच तो यह है कि सूचक अंक किसी भी परिमाणात्मक परिवर्तन (quantitative change) की माप करने के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। द्रव्य के मूल्य-परिवर्तन को मापने के लिए हम निम्नलिखित तरीका अपनाते हैं:—

सबसे पहले एक आधार-वर्ष (base year) चुनना पड़ता है। इसके लिए एक सामान्य वर्ष (normal year), यानी जिसमें कीमतें स्थिर थीं और सामान्य कीमतों (normal prices) के निकट थीं, चुनना अच्छा है जिससे सूचक-अंकों से बाद के परिवर्तन साफ़ पता चलें। उदाहरण के लिए आज रुपए का बदलता हुआ मूल्य आँकने के लिए सबसे उपयुक्त आधार-वर्ष युद्ध के पहले का वर्ष १९३८-३९ होगा।

दूसरा कदम है वस्तुओं की एक सूची बनाना। यह सूची जितनी बड़ी और प्रतिनिधि (representative) बन सके उतना अच्छा है।

तीसरे, द्रव्य-मूल्य में परिवर्तन मापने के लिए थोक कीमतें ली जानी चाहिएँ और निर्वाह-व्यय में अन्तर जानने के लिए फुटकर कीमतें।

एक साधारण सूचक अंक कैसे निकाला जाए ? (How to construct an ordinary Index Number ?) : आधार-वर्ष में हर वस्तु की कीमत १०० रखिए। अब जिस वर्ष की आपको गणना करनी है उसमें प्रत्येक वस्तु की कीमत में प्रतिशत अन्तर देख लीजिए। इस कालम में दी गई संख्याओं को जोड़कर हमें एक संख्या मिलती है और १०० वाले कालम को जोड़कर दूसरी संख्या। अब पहली संख्या को १०० से गुणा और दूसरी संख्या से भाग देकर प्रतिशत अन्तर निकल आएगा।

ऊपर के तरीके को हम एक व्यावहारिक उदाहरण देकर समझा सकते हैं। हमारी तालिका (table) में पाँच कालम हैं : पहला वस्तुओं के लिए, दूसरा कीमतों का, तीसरा आधार-वर्ष (१००) का, चौथा जिस वर्ष की गणना करनी है, उसमें कीमतों का, और पाँचवाँ उसके प्रतिशत कीमत-अन्तर का।

वस्तुएँ	१९३९ (हमारे आधार वर्ष) में थोक कीमतें	हर कीमत १०० के बराबर मान ली गई	गणना करने वाले वर्ष (१९५४) में कीमतें	१९५४ में १९३९ की अपेक्षा प्रतिशत कीमत अन्तर
गेहूँ	२।।) फी मन	१००	१५) फी मन	६००
घी	४०) ,,	१००	२२०) ,,	५५०
दूध	५) ,,	१००	२०) ,,	४००
सूती कपड़ा	।।) फी गज़	१००	१।।) फी गज़	३००
जूते	६) फी जोड़ा	१००	१५) फी जोड़ा	२५०
कागज़	=) फी दस्ता	१००	।।) फी दस्ता	४००
सिनेमा	।।) फी शो	१००	१।) फी शो	२५०
ईंधन	।।।) फी मन	१००	२।) फी मन	३००
कुल		८००		१०५०

प्रतिशत औसत $\frac{१०५० \times १००}{८००}$ = १३१। इसका मतलब है, सूचक-अंक

(Index Number) यह बताता है कि कीमतें, इस अवधि में जिसकी हम गणना कर रहे हैं १०० से ३८१ अर्थात् २८१ प्रतिशत बढ़ गई हैं।

भारत सरकार का आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser to the Government of India) वस्तुओं की थोक कीमतों का सूचक (index) रखता है जो ५ खण्डों में होता है : खाद्य पदार्थ, औद्योगिक कच्चा माल, अर्द्ध-निर्मित माल (semi-manufactured goods) और विविध पदार्थ। यह हमें भारत में कीमतों के परिवर्तन की ठीक-ठीक औसत बताते हैं। यह सूचक हमें बताते हैं कि १९३९ अगस्त को १०० (आधार-वर्ष) मानकर २१ फरवरी १९५३ को कीमतें ३८२ थीं।

४. **सूचक अंकों के उपयोग** (Uses of the Index Numbers) : लोगों की जीवन-निर्वाह की दशाओं में, विभिन्न वर्षों में, और विशेष वर्षों में विभिन्न करेन्सियों की क्रय शक्तियों के परिवर्तनों की तुलना करने में यह बड़े काम आते हैं। उदाहरण के लिये हम पिछले महायुद्धों में भारतीय रुपए के मूल्य में गिरावट की तुलना पाउंड या डालर के मूल्य-ह्रास से कर सकते हैं। इस प्रकार सूचक अंक हमें अपनी आर्थिक नीति निर्धारित करने में मदद देते हैं। वे हमें अपने ऋणों को चुकाने का भी समुचित उपाय बताते हैं। मज़दूरी और ज़मीन के किरायों (land rents) के फिसलने पैमाने (sliding scales) भी कीमत के सूचक अंकों के आधार पर बनते हैं। इन तरीकों से द्रव्य-मूल्य में परिवर्तनों से जो मुसीबतें आती हैं उनको किसी क़दर कम किया जा सकता है। किन्तु सूचक अंकों की कुछ सीमाएँ होती हैं। वे बिल्कुल सही नहीं समझे जा सकते। वे सिर्फ करीब-करीब औसत (approximations) होते हैं। पूरी तुलना इसलिए असम्भव है कि जिन तथ्यों पर वे आधारित होते हैं उनमें परस्पर बड़ा अन्तर होता है। एक ही सूचक अंक सभी वर्गों के ऊपर कीमत-परिवर्तन का प्रभाव नहीं बता सकता, क्योंकि सूचक अंक केवल एक ही वर्ग के बनाये जा सकते हैं। अलग-अलग चीजों पर अलग-अलग वज़न या ज़ोर (weight या emphasis) डालने से विभिन्न नतीजे निकलते हैं।

५. **द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों के प्रभाव** (Effects of Changes in the Value of Money) : यदि इसका मूल्य हर वक्त बदलता रहे तो द्रव्य अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर सकता। आप सोचें कि अगर कपड़े का परिमाण तो वही रहे पर गज़ की लम्बाई बदलती रहे—घटती बढ़ती रहे—तो कपड़े का व्यवसाय कितना संकटपूर्ण हो जाएगा।

द्रव्य-मूल्य में परिवर्तनों का देश के कुल धन तथा धन-उत्पादन की क्षमता पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है।

इन परिवर्तनों से लोगों की क्रय-शक्ति में बड़ा फर्क पड़ जाता है। मिसाल के लिए, आज रुपए से १९३९ की अपेक्षा लगभग ⅛ का ही माल खरीदा जा सकता है। रुपए के मूल्य में इस परिवर्तन से देनदारों (creditors) का नुकसान और कर्ज़दारों (debtors) का फायदा हुआ है। जिस आदमी ने १९३८ में १००) उधार लिये थे, जिनसे वह उस समय ५० मन गेहूँ खरीद सकता था, आज वह जब सूद

सहित १५०) लौटाता है तो सिर्फ १० मन गेहूँ ही खरीदी जा सकती है। जिन लोगों की आमदनी निश्चित है उन्होंने व्यापारियों और निर्माताओं (manufacturers) के मुकाबले में नुकसान उठाया है। १००) माहवार वेतन पाने वाले क्लर्क को २५) महंगाई भत्ता मिलने पर भी वह आज सिर्फ पहले के ३०) ही पा रहा है। मुद्रा-स्फीति (inflation) के समय में धन कमाना "एक जुआ या लाटरी भर रह जाता है" (कीन्स)*, जैसा कि आज भारत में हो रहा है। इस तरह से यह साफ़ है कि धन का वितरण बदल कर और अन्याय-पूर्ण हो जाता है।

आमतौर पर कीमतें बढ़ने से शुरू-शुरू में बाज़ार में तेज़ी आती है, आशाएँ बढ़ती हैं और व्यापारी खुश होते हैं। निर्माताओं (manufacturers) को बड़ा मुनाफा होता है क्योंकि उनके माल की लागत इतनी तेज़ी से नहीं बढ़ती जितनी तेज़ी से उनके बनाए हुए माल की कीमतें बढ़ती हैं। बड़े-बड़े किसान, जिनके पास बेचने के लिए काफी अनाज होता है, खुशहाल हो जाते हैं। छोटे किसानों तक को फायदा होता है क्योंकि किराए, लगान और दूसरे खर्चे वही रहते हैं। पर उनकी उपज की कीमतें बाज़ार में बहुत बढ़ जाती हैं। लेकिन कालान्तर में स्थिति बदल जाती है।

कीमतों में वृद्धि निश्चित आय वाले लोगों (fixed income groups) पर असर डालती है, जैसे सरकारी नौकरों, किराया खाने वालों आदि पर। मजदूरों की भी मुसीबत होती है क्योंकि उनकी मजदूरी कीमतों से हमेशा पीछे रहती है (lags behind) और कीमतों के अनुपात से नहीं बढ़ती। हड़तालों और तालाबन्दियों (strikes and lock-outs) से उत्पादन में गड़बड़ होती है और बेकारी बढ़ती है। इससे मजदूरों को और भी नुकसान होता है। किन्तु सबसे बुरा हाल निश्चित आय वाले लोगों का होता है।

इसके विपरीत, कीमतों के गिरने से और भी दुःखद और हानिकारक परिणाम होते हैं। द्रव्य-मान (money standard) में उतार-चढ़ाव एक वक्त तो धन के उत्पादन को रोकता है और दूसरे वक्त उसको अत्यधिक उत्तेजना (over-stimulates) देता है। अक्सर इसका फल यह होता है कि उद्योग का विकास असंतुलित (unbalanced) हो जाता है और उसमें क्षणिक समृद्धि (boom) या मन्दी (depression) आ जाती है। उत्पादन में कार्य-क्षमता को नुकसान होता है और सट्टा ही चलता है।

कीमतों के उतार-चढ़ाव भविष्य के बारे में अनिश्चितता पैदा कर देते हैं। भविष्य में सौदे (transactions in future), क्रय-विक्रय विश्वास के साथ नहीं किए जा सकते, और आर्थिक जीवन का शान्त प्रवाह भंग हो जाता है।

लेनिन ने कहा था कि "पूंजीवादी व्यवस्था को नाश करने का सबसे अच्छा उपाय है चलन-मुद्रा (करेन्सी) को खराब कर देना"† यानी मुद्रा-स्फीति की हालतें उत्पन्न कर देना। इस मुद्रा-स्फीति का डर न होता तो अपरिवर्तनीय कागज़-द्रव्य

* Wealth getting "degenerates into a gamble and a lottery."—Keynes.

†The best way to destroy the capitalist system is to debauch the currency."—Lenin.

उपयोगी होता*। किन्तु कागज़ द्रव्य से मुद्रा-स्फीति का डर और भी बढ़ गया है, क्योंकि नोट छापना बड़ा आसान और सस्ता है। जर्मनी और आस्ट्रिया जैसे देशों में, जिनमें पहले महायुद्ध के दौरान में कीमतें बहुत ऊँची चढ़ गई थीं और करेन्सी का मूल्य खत्म-सा हो गया था, हर घर एक स्टोर की तरह लगता था जिसमें हर तरह की चीज़ें भरी पड़ी थीं, और एक घर में तो एक किसान ने मरने के वक़्त जरूरत पड़ने के लिए कफ़न भी ख़रीद कर रख लिया था। आस्ट्रिया के दो भाइयों का किस्सा कम दिलचस्प नहीं है, जिनको बराबर-बराबर रुपया विरासत में मिला। एक ने तो भले लड़के की तरह अपना रुपया बैंक में जमा कर दिया और दूसरे ने ऐश करना शुरू किया और अपना रुपया आमोद-प्रमोद और शराब में लुटा दिया। करीब एक साल के बाद इस लड़के को अपनी कोठड़ी में पड़ी हुई खाली बोतलों के ढेर को बेचने से जितना रुपया मिला वह उसके भाई को जितना बैंक से मिला उससे ज्यादा था।* यही वजह है ऐसे वक्तों में लोग रुपया बचाकर नहीं रखना चाहते, चाहे जितने "रुपया बचाइए" (save your money) के विज्ञापन कर लीजिए, या नारे लगा लीजिए, वे अपनी बचत (saving) को पदार्थों की शक्ल में रखना पसन्द करते हैं और माल जमा कर लेते हैं।

६. द्रव्य के मूल्य की व्याख्या (Changes in the Value of Money Explained) : हम अब इस स्थिति में हैं कि इस पर विचार कर सकें कि कौन-सी शक्ति द्रव्य का मूल्य तथा सामान्य कीमत-स्तर तय करती है। किसी समाज में सामान्य कीमत-स्तर (general price level) तीन चीज़ों से प्रभावित होता है। वह हैं :—

(क) व्यापार का परिमाण (volume of trade)।

(ख) चलन की मात्रा (quantity of currency), और

(ग) मुद्रा के परिचलन की गति या तेज़ी (the velocity or rapidity of circulation of currency)।

यह तीन कारण स्वतन्त्र रूप से भी और एक-दूसरे के सम्बन्ध में भी बदलते रहते हैं।

द्रव्य हमें पदार्थों के विनिमय में मदद करता है। किए जाने वाले विनिमय का परिमाण जितना अधिक होगा उतनी ही द्रव्य की मांग अधिक होगी और द्रव्य की एक इकाई का मूल्य उतना ही अधिक होगा। यही इसके विपरीत होगा। इस तरह व्यापार के परिमाण के साथ द्रव्य का मूल्य सीधे अनुपात (directly) में बदलता है।

यह भी सब जानते हैं कि किसी भी वस्तु का मूल्य उसकी सप्लाई पर निर्भर है। इसीलिए एक निश्चित द्रव्य-कार्य (money work) करने के लिए मुद्राओं की संख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही मुद्रा का मूल्य कम होगा और जितनी कम होगी मूल्य उतना ही अधिक। दूसरे शब्दों में, द्रव्य की एक इकाई का मूल्य उसकी मात्रा के साथ उलटे अनुपात में बदलता है (varies inversely)। किन्तु हमने

*Hartley Withers : Money.

यह भी पढ़ा है कि सभी द्रव्य-कार्य नकद द्रव्य से नहीं होता। बहुत कुछ तो साख-द्रव्य (credit money) से ही हो जाता है। इसलिए जब हम किसी देश में कीमतों पर द्रव्य मात्रा का प्रभाव देखना चाहें, तो हमें साख-पत्रों (credit instruments) की भी गणना करनी पड़ेगी।

यह भी याद रखना चाहिए कि द्रव्य एक बार के उपयोग से ही नष्ट नहीं हो जाता। द्रव्य की एक इकाई एक विनिमय पूरा करने के बाद तुरन्त ही दूसरा विनिमय करने के लिए तैयार रहती है। और द्रव्य एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। इसलिए यदि एक रुपया किसी अवधि में ६ बार प्रयुक्त होता है तो वह उन ६ रुपयों का काम करता है जो एक बार ही प्रयुक्त हो सकते हैं। इसलिए एक रुपया, किसी कालविशेष में, मान लीजिए एक साल में, जितने हाथों से गुजरता है, उसे उसके "परिचलन की गति" (velocity of circulation) कहते हैं। इस तरह द्रव्य के परिचलन की गति भी कीमतें निर्धारित करने में कुल द्रव्य-परिमाण की सहायता करती है।

७. **द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त** (Quantity Theory of Money) : उपर्युक्त निष्कर्ष एक सिद्धान्त के रूप में रखे गए हैं जिसे द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त कहते हैं।

उन्नीसवीं सदी में—बल्कि बीसवीं के पहले बीस-तीस सालों तक भी—यह द्रव्य का सबसे प्रचलित सिद्धान्त रहा है। यह कहता है कि द्रव्य का मूल्य परिचलन में उसके परिमाण पर निर्भर है। अपने संकुचित रूप में यह सिद्धान्त कहता है कि "द्रव्य के परिमाण में किसी भी प्रतिशत वृद्धि या कमी से उतनी ही प्रतिशत कीमतों के सामान्य स्तर में वृद्धि या कमी होगी" (बेनहम)*। हम जानते हैं कि द्रव्य केवल विनिमय का माध्यम है। यह केवल एक टिकट या संकेत (टोकेन) है जो विनिमय की कड़ी बनता है और इसकी इच्छा स्वयं इसके लिए नहीं की जाती। इसलिए मात्रा सिद्धान्त इस नतीजे पर पहुँचता है कि यदि किसी समाज में द्रव्य की मात्रा दुगुनी हो जाय तो कीमतें दुगुनी हो जाएंगी; यदि आधी रह जाय तो कीमतें आधी रह जाएंगी। कुल द्रव्य की कुल क्रय शक्ति तो सदा उतनी ही रहेगी, क्योंकि "धन का केवल उतना ही महत्त्व है जितना वह बदले में ला सकता है" (कीन्स)।**

एक उदाहरण से बात साफ़ हो जाएगी। यदि एक द्वीप पर समान मूल्य की १०० वस्तुएं बिकने के लिए आई हैं और द्रव्य की २०० इकाइयाँ हैं तो औसत कीमत की वस्तु दो इकाई होगी। यदि किसी दिन सुबह सोकर उठने पर लोग यह पाएँ कि उनका द्रव्य दुगुना हो गया है तो औसत कीमत की वस्तु चार इकाई हो जाएगी और यदि सबका द्रव्य आधा रह जाय तो भी कोई उससे गरीब न होगा क्योंकि हर विक्रेता जितना माल पहले खरीदता था उससे दुगुना खरीदने लगेगा। दूसरे शब्दों में उस द्वीप में द्रव्य की मांग का लोच (elasticity) इकाई (unit) है।

हमने विस्तारपूर्वक इस बात की चर्चा की है कि किसी वस्तु का मूल्य कैसे

* "Any given percentage increase or decrease in the quantity of money will lead to the same percentage of increase or decrease in the general level of prices".—(Benham).

** "Money is only important for what it will procure."—Keynes.

नियत होता है"। मांग और सप्लाई के दो शब्द, जिनसे, हंसी में कहा जाता है कि, एक तोता भी अर्थशास्त्री बन सकता है, ये ही दो शब्द इसकी कुंजी हैं। और द्रव्य का मूल्य भी और किसी तरीके से नियत नहीं होता। मूल्य के सामान्य सिद्धान्त को द्रव्य पर लागू करके हम कह सकते हैं कि यदि परिचलन में द्रव्य की मात्रा (सप्लाई) माल के परिमाण में बिना अन्तर हुए (जिसकी माप के लिए द्रव्य की मांग होती है) बढ़ जाय तो द्रव्य का मूल्य गिर जाएगा और कीमतें बढ़ जाएंगी और इसका उलटा भी सही होगा। इसी प्रकार वस्तुओं के परिमाण में वृद्धि होने पर यदि द्रव्य की मात्रा न बढ़े तो द्रव्य का मूल्य बढ़ जाएगा और कीमतें कम हो जाएंगी। मात्रा सिद्धान्त इसी सामान्य प्रवृत्ति को बताता है। इर्विंग फिशर (Irving Fisher) जिसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, इसे विनिमय के एक बीजगणितीय समीकरण (algebraic equation) की शक्ल में रखता है, $क = \frac{द}{स}$ जिसमें क तो कीमतों का स्तर (price level) है, द द्रव्य है और स विनिमय किए गए पदार्थों की या सौदा किए गए माल का परिमाण या संख्या। यह सादा समीकरण (simple equation) दुनिया से अलग केवल एक छोटे समाज में ही सही हो सकता है; जहाँ (क) सौदों (transactions) की संख्या कम है; (ख) जहां कोई सौदे बार्टर से नहीं होते, (ग) जहां सिक्कों के अलावा किसी और तरह का द्रव्य जैसे नोट, चैक आदि उपयोग में नहीं आता, (घ) और जहां द्रव्य-इकाई (money unit) बस एक बार ही प्रयुक्त होती है। किन्तु ऐसा अलग (isolated) समाज कहीं भी नहीं मिलता।

आधुनिक समाज में हम जानते हैं कि सिक्का बहुत बार एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता है। कसाई उसे तन्दूर वाले के यहां ले जाता है। तन्दूर वाला पड़ूनिए के पास और वह कहीं और। ५ बार परिचलित होने वाले सिक्के से होने वाला द्रव्य-कार्य उन पाँच सिक्कों के बराबर है, जो एक ही बार बदले जा सकते हैं। यह परिचलन की गति (velocity of circulation) कहलाती है। इसलिए किसी देश में द्रव्य की मात्रा जानने के लिए हमें सिक्कों की संख्या को उनकी गति (velocity) से गुणा करना पड़ेगा। तब हमारा समीकरण (equation) हो जाता है :—$क = \frac{द\ ग}{स}$ जिसमें ग का अर्थ है द्रव्य की परिचलन गति।

किन्तु धातु द्रव्य (metallic money) के साथ-साथ हर आधुनिक देश में बहुत सारा काग़ज द्रव्य (paper money) है जो माल विनिमय में सहायता करता है। साख-पत्र (Instruments of credit) जैसे चैक, ड्राफ्ट, बिल आदि भी वही कार्य करते हैं। और हमें उनके परिचलन की गति भी देखनी पड़ेगी। इसलिए हमारा समीकरण हो जाएगा :—$क = \frac{द\ ग + द'ग'}{स}$* जिसमें द' का अर्थ है साख द्रव्य, और

*$P = \frac{MV + M'V'}{T}$ where P is level of Prices, M is money and V is velocity of circulation, M' is credit money and V' its velocity of circulation, and T is the transactions carried (within a certain time).

ग′ मान हैं साख द्रव्य की गति।

समीकरण (equation) यह बताता है कि कीमत तब बदलती है जब द्रव्य या साख द्रव्य का परिमाण (द या द′) बदलता है, या जब उनकी गति (ग या ग′) में परिवर्तन होता है। कीमत तब तो बदलेगी ही जब किए जाने वाले सौदों (transactions) का परिमाण बदलेगा।

मात्रा सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Quantity Theory) : (१) जब तक मात्रा सिद्धान्त एक प्रवृत्ति बताता है तब तक तो यह ठीक है, किन्तु जब यह एक गणित का फार्मूला बनाने चलता है, जिससे आप बिल्कुल ठीक-ठीक कुछ पता लगा सकें, तब यह सिद्धान्त गलत साबित हो जाता है। केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही द्रव्य राशि को दूना कर देने से कीमतें बिल्कुल दुगुनी उठेंगी। आमतौर पर कीमतें दुगुनी से नीचे भी रह सकती हैं या उससे ऊँचे भी जा सकती हैं।

(२) द्रव्य मात्रा (द) में परिवर्तन से यह निश्चित है कि उसके परिचलन की गति (ग) में भी अन्तर आएगा और माल के व्यापार में भी। कीमतों में अन्तर भी ग और म दोनों पर असर डालेगा। क्रिया प्रतिक्रिया होना लाज़मी है। इसलिए यह मान्यता कि द, ग, और म में परिवर्तन सिर्फ क में फर्क डालते हैं, और आपस में नहीं, ग़लत है। यदि यह होता तो आसानी से कीमतों के परिवर्तनों को पहले से बता देते और यह कीमत-स्तर का सरकारी नियन्त्रण करने के लिए पथ-प्रदर्शक हो जाता।

(३) फिर कीमतें, द्रव्य की कितनी मात्रा वर्तमान है, इस पर निर्भर नहीं रहतीं। उपभोक्ता जितनी आय बाज़ार में खर्च करते हैं उसका असर उन पर होता है। १९२९-३० की मन्दी में संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने कीमतों को उठाने के लिए बड़ी भारी मात्रा में मुद्रा का सृजन किया। लोगों की आय तो बढ़ गई परन्तु उन्होंने खर्च अधिक नहीं किया इसलिए कीमतें नहीं चढ़ी।

निष्कर्ष : यह सिद्धान्त गणित के हिसाब से ठीक नहीं है किन्तु इतिहास से हमें उदाहरण मिलते हैं कि किसी देश में जब कभी द्रव्य की मात्रा ज्यादा बढ़ाई गई है तभी कीमतें एक दम चढ़ गई हैं, जैसे पहली लड़ाई के बाद जर्मनी में या दूसरे महायुद्ध के दौरान में और बाद में भारत में चढ़ गईं।

निस्सन्देह, यह सिद्धान्त किसी देश में नोटों के अत्यधिक निर्गम (over-issue) के खतरे बताता है। इसी से इसका महत्त्व है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा है ?

द्रव्य का मूल्य (Value of Money) : उसकी क्रय शक्ति है। यह कीमत स्तर के साथ विपरीत अनुपात में बदलती है। माल और सेवाएँ (goods and services) द्रव्य का मूल्य मापती हैं। जब कीमतें बढ़ती हैं, द्रव्य का मूल्य-ह्रास (deprecation) होता है, और जब कीमतें गिरती हैं तब द्रव्य की मूल्य-वृद्धि होती है। आकस्मिक और तेज़ (violent) परिवर्तन आर्थिक जीवन में गड़बड़ पैदा कर देता है।

मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन, और पुनः मुद्रा-प्रसार (Inflation, Deflation and Reflation)—मात्रा सिद्धान्त की सत्यता का पता तब लगता है जब मुद्रा-स्फीति अर्थात् करेन्सी का

अधिक विस्तार (over expansion) हो जिसके कारण द्रव्य अपने मूल्य में गिर जाता है। परिचलित (circulating) द्रव्य की मात्रा कम करने को मुद्रा-संकुचन (deflation) कहते हैं। इससे द्रव्य का मूल्य बढ़ता है। जब करेन्सी का फिर विस्तार किया जाता है तब उसे पुनः मुद्रा-प्रसार (reflation) कहते हैं।

इन परिवर्तनों की माप कैसे की जाय ? (How to measure these changes ?) : द्रव्य में मूल्य परिवर्तन सूचक अंकों के द्वारा मापे जाते हैं। इस तरह हम एक निर्दिष्ट समय में बहुत-सी वस्तुओं की कीमतों से प्रतिशत अन्तर पता लगाकर, उनका औसत निकाल लेते हैं। यह सावधानी जरूर बरतनी चाहिए कि (क) रोज के इस्तेमाल की चीजों की बड़ी संख्या चुनी जाय। (ख) आधार वर्ष या वर्षों (base years) को जहाँ तक सम्भव हो सामान्य वर्षों (normal years) में से चुना जाएँ। (ग) अपने प्रयोजन के अनुसार कीमतें थोक या फुटकर ली जाएँ।

सूचक अंकों के जरिये विभिन्न चलन-मुद्राओं के बदलते हुए मूल्यों, कालों और लोगों के जीवन-स्तर की तुलना की जा सकती है।

द्रव्य का मूल्य क्यों बदलता है (Why Value of Money Changes) : द्रव्य मूल्य में परिवर्तन व्यापार के परिमाण (volume of trade), द्रव्य की मात्रा (quantity of money) और उसके परिचलन की गति (velocity of circulation) पर निर्भर है।

द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) : द्रव्य तो केवल दूसरे माल पर हमारा दावा कायम करने के लिए जरूरी होता है। उसकी एक इकाई से कितनी खरीदारी हो सकती है यह उसकी परिचलित राशि पर निर्भर होगा। यदि राशि दुगुनी कर दी जाय तो एक इकाई पहले की अपेक्षा आधा माल खरीद सकती है, और इसके विपरीत भी। यह तथ्य प्रोफेसर फिशर (Fisher) ने अपने प्रसिद्ध 'द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त" नामक समीकरण में रक्खा है। इसमें कीमत स्तर को सौदों की संख्या (number of transactions) से विभाजित करने पर जो उपलब्धि (quotient) हो उसके बराबर है किन्तु द्रव्य राशि में साख द्रव्य भी आना चाहिए। द्रव्य और साख दोनों ही को उनकी गतियों से यानी उस संख्या से जितनी बार एक सिक्का या नोट माल के विनिमय का काम करता है गुणन करना होगा।

यह सिद्धान्त सही नहीं है, यदि द्रव्य मूल्य में परिवर्तन को हम उसकी परिचलित राशि के अन्तर से बिलकुल आनुपातिक (proportional) कह, वरन् यह एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है।

फिशर ने इसे $क = \frac{द\,ग + द'\,ग'}{स}$ के समीकरण (equation) में रखा है, जहाँ क है कीमत, द द्रव्य, ग उसकी गति, द' साख द्रव्य, ग' साख द्रव्य की गति, और स, एक समय में सौदों की कुल संख्या। $\left(P = \frac{M\,V + M'V'}{T} \right)$

द्रव्य मूल्य में परिवर्तनों का प्रभाव (Effects of Change in the Value of Money) : जब द्रव्य का मूल्य घटता बढ़ता है तो यह अर्थतन्त्र को गड़बड़ा देता है। समाज में क्रय शक्ति का फिर यह मनमाना बंटवारा कर देता है। यह धन-उत्पादन को या तो अत्यधिक उत्तेजना (over stimulation) देता है या फिर उसे पीछे ढकेलता है और अनिश्चितता की भावना पैदा हो जाती है। बढ़ती हुई कीमतें कर्जदारों, व्यवसायियों, निर्माताओं और उन खेतिहरों को फायदा पहुँचाती हैं जिनके पास बहुत कुछ अतिरिक्त अंश (सरप्लस—Surplus) बेचने को है। किन्तु सरकारी नौकर, मजदूर, किराया खाने वाले और दूसरे निश्चित आय वाले लोग मरते हैं। कीमतें गिरने का असर इसका उलटा होता है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1. What do you understand by the value of money ? Explain the economic effects of the changes in it. (बम्बई १९५४)

देखिये विभाग १.

2. Given an idea of Fisher's quantity equation. (कलकत्ता १९५५)

Or

Explain and criticize the 'Quantity Theory' of Money ; (पं० वि० १९३६)

देखिये विभाग ६ और ७।

3. Explain the relation between the quantity of money in circulation and general price level in a country. How can we measure changes in the value of money ? (जम्मू काश्मीर १९५५)

4. The price of wheat before the war was about Rs. 3 per maund ; it is about Rs. 12 now. What causes led to this increase ? In this connection explain what you understand by 'Price-control and Rationing". (पं० वि० १९४४)

[एक महत्त्वपूर्ण कारण था मुद्रा-स्फीति। माल की कमी, परिवहन की कठिनाइयाँ, बढ़े हुए निर्यात, फसलों की कमी आदि ने भी वृद्धि में मदद दी। परिचलन में द्रव्य की मात्रा लगभग ७०० प्रतिशत बढ़ गई।

'कीमत नियन्त्रण' (price control) द्वारा सरकार विभिन्न वस्तुओं की अधिकतम कीमत निश्चित करने की चेष्टा करती है। राशनिंग (rationing) द्वारा लोगों की मांग (demand) या खरीदारी पर नियंत्रण है जिससे 'कीमत नियन्त्रण' भी सफल हो सके। और कम से कम कुछ माल हर एक को मिल सके। देखिये इस पुस्तक का विभाग II।)

5. Why has money any value at all ? State the circumstances in which the value of money would tend to fall. (देहली १९५३)

[द्रव्य में मूल्य है क्योंकि कानूनी तौर पर यह विनिमय माध्यम है। सरकार इसकी मात्रा इस प्रकार विनियमित (regulate) करती है कि माल और सेवाओं के बदले में इसका मूल्य हमेशा बना रहे।

द्रव्य के मूल्य में गिरावट कीमत-स्तर की साधारण वृद्धि से पता चलती है। कीमतों में वृद्धि आमतौर पर मुद्रा-स्फीति (inflation) के कारण होती है।]

Or

Indicate the factors that determine the price-level in the country. (कलकत्ता १९४४)

Or

Why does the value of money fluctuate from time to time ? (कलकत्ता बी० कॉम १९४३)

देखिये विभाग ६ और ७

6. 'Money measures the value of all goods.' Explain. How can we measure the value of money ? (पं० वि० १९५३)

[द्रव्य मूल्यों की माप है, देखिये विभाग ५ और २। द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन की माप के लिए देखिए विभाग ३।]

7. What are index numbers ? What are their uses and limitations ?

बम्बई १९५३; आगरा १९४१; इला० १९४०; ढाका १९४३; देहली १९४०, नागपुर १९४०; पंजाब १९३२)

देखिए विभाग ३ और ४

8. How do you account for changes in the value of money ? Explain how changes in the purchasing power of money affect the different sections of the people of a country.

(जम्मू और काश्मीर १९५३)
देखिये विभाग ६ और ५

9. What is an 'index number' ? Make one to show the change in the cost of living of a city clerk during the recent war.

देखिये विभाग ३

10. Would profits be higher when the value of money is rising or when it is falling ?

[जब गिर रही हो । तभी माल का मूल्य बढ़ता है । क्योंकि उत्पादक माल में सौदे करते हैं, इसलिए उन्हें बड़ा मुनाफ़ा होता है ।]

11. Show the effect of falling prices on business men, school teachers and small shopkeepers.

[देखिये विभाग ५ । व्यवसायियों का अधिक नुकसान होता है, छोटे दुकानदारों का भी कुछ नुकसान होता है । निश्चित आय वाले व्यक्तियों का, जैसे सरकारी नौकरों का लाभ होता है ।]

12. Under what conditions does money cease to perform its proper function ? Did such a condition ever arise in India ?

[मुद्रा-स्फीति के समय में जब लोगों का नोट निर्गम करने वाली सरकार पर से विश्वास उठ जाता है तो द्रव्य अपना कार्य करना बन्द कर देता है । यह १९१८ में जर्मनी में हुआ था, भारत में यह स्थिति कभी नहीं उठी, यद्यपि परिस्थिति १९४४ में बहुत बुरी हो गई थी, जब मित्र-राष्ट्रों की हार हो रही थी । आज भी रुपया ४ आना भर है ।]

13. The rupee in India cannot buy today what it did in 1939. Why not ? How can you measure the changes in the value of the rupee ? (पं० वि० १९४८)

(i) देखिये पुस्तक का विभाग II ।
(ii) देखिये विभाग ३, और ६

14. Explain the relation between the quantity of money in circulation and general price-level in the country.

(क० १९४३; आगरा १९४२; देहली १९३९; मद्रास १९३७; नागपुर १९४३; पंजाब १९४२)
देखिये विभाग ७

15. Discuss the various economic consequences that follow from changes in the value of money.

(क०१ ६, ढाका १९४१ क० बी० कॉ० १९४१)
देखिये विभाग ५

16. Examine the effect of price changes on different sections of the community. (पंजाब १९५५)
देखिये विभाग ६

अध्याय २१

साख और इसके उपकरण

(CREDIT—ITS INSTRUMENTS)

अदायगी का वायदा

(Promise to pay)

१. **साख का अर्थ** (Meaning of Credit) : पुराने जमाने की अर्थ-व्यवस्था में सभी आत्म-निर्भर थे और अधिकतर जो उत्पादन करते थे उसी का उपभोग भी करते थे। किन्तु जब इस सीधी-सादी अवस्था में भी किसी व्यक्ति के पास किसी चीज़ की कमी पड़ जाती थी तब उसे अपने पड़ोसी से वह वस्तु बाद में वापस करने का वायदा करके उधार लेनी पड़ती थी। यह साख या उधार का सबसे सादा रूप था। कर्ज़ा तब दिया जाता है जब देने वाले को उधार मांगने वाले की वापिस करने की इच्छा और सामर्थ्य पर भरोसा और एतबार हो। इसी भरोसे पर कर्ज़ माँगने और लेने की क्षमता निर्भर । कर्ज़ लेने की क्षमता को ही साख कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कहते हैं कि उधार लेने वाले की देने वाले के सामने साख अच्छी थी। इस प्रकार साख और उधार दोनों सम्बन्धित हैं और अँग्रेज़ी का क्रेडिट (credit) शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। किन्तु क्रेडिट का सही अर्थ साख ही है।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, आबादी बढ़ती गई। क्रय-विक्रय के सौदों की संख्या भी बढ़ी। उत्पादन के घुमावदार तरीके निकल आए। और अन्त में यह महसूस किया गया कि सिक्के विनिमय-माध्यम (medium of exchange) के लिए काफी नहीं हैं। किसी और प्रकार के सहायक माध्यम (subsidiary medium) की भी आवश्यकता है। यह सहायक माध्यम साख के विभिन्न रूपों से प्राप्त हुआ।

कभी-कभी आप दुकानों पर 'कृपया उधार न माँगिए' या 'नक़द दाम' लिखा हुआ पाते हैं। आपने कभी ज़रूर सोचा होगा कि इन नोटिसों की क्या ज़रूरत है? जाहिर है कि इन दुकानों के मालिकों को अपने ग्राहकों में विश्वास (confidence) या एतबार नहीं है। कम-से-कम कुछ में तो एतबार नहीं ही है। उनके मामले में 'दूध का जला छाछ को फूंक-फूंक कर पीता है' कहावत लागू होती होगी। जिन ग्राहकों की ईमानदारी पर भरोसा न हो उनको उधार बेचने से अच्छा है कि बेचा ही न जाय।

साख शब्द का अर्थ कोष के अनुसार है "किसी व्यक्ति की अदायगी का

सामर्थ्य, ईमानदारी और इरादे में एतबार"* किसी व्यक्ति में यह एतबार और उसके द्वारा प्राप्त उसकी प्रतिष्ठा या नामवरी (reputation) व्यवसाय में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आमतौर पर तो जब एक आदमी को माल मिल जाता है और दूसरे को उसकी कीमत तो विनिमय पूरा हो जाता है। जब खरीदारी छोटी होती है तब यही होता है। किन्तु जब खरीदारी लम्बी-चौड़ी होती है और खरीदार के हाथ में उसकी अदायगी करने को काफ़ी पैसा नहीं होता, तब अदायगी अगर बाद में हो तो उसे सुविधा रहेगी। यदि बेचने वाले को खरीदार में एतबार है तो वह उसे यह सुविधा देगा और उधार या साख पर—'आन क्रैडिट'—बेच देगा। इस तरह 'साख सौदा' (credit transaction) केवल 'लम्बा विनिमय' (protracted exchange) है। यह नक़द सौदे (cash transaction) से इस मायने में भिन्न है कि यह एतबार पर कायम है और इसमें समय का अंश भी शामिल है। सभी उधार लेने-देने में, और किराया—खरीद या हायर-परचेज़ (hire purchase) पद्धतियों में साख ज़रूरी है।

२. **साख के उपकरण** (Credit Instruments) : लोग अक्सर बड़े मलाल से कहते हैं, उन अच्छे पहले दिनों की याद करते हैं जब सब ईमानदार थे और एक आदमी की जबान ही लिखित करारनामे से अच्छी थी। वे यह भूल जाते हैं कि अब व्यवहार का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। शायद आदमी स्वार्थी भी अधिक हो गया है, क्योंकि जीवन संघर्ष (struggle for existence) आज तीव्रतर हो गया है। इसलिए लगभग सभी सौदों का काग़ज़ पर रिकार्ड (लेखा) रखना पड़ता है। यह रिकार्ड या लेखा चाहे प्रामिसरी नोट (promissory note) हो या विनिमय-पत्र (bill of exchange), चैक हो या ड्राफ्ट हो या हुंडी हो। पहले बैंक बिना किसी सरकारी रोक-थाम के नोटों का निर्गम किया करते थे। इससे नोटों का बिना पर्याप्त सिक्योरिटी के अधिक निर्गम (over issue) हो गया, जिससे अक्सर बैंक फ़ेल हो गये। इसलिए आज देश में केवल एक केन्द्रीय बैंक होता है जिसको नोट चलाने की इजाज़त रहती है। इन नोटों को लोग स्वीकार करते हैं क्योंकि लोगों को सरकार के स्थायित्व में विश्वास है। इसलिए अपने अध्ययन में हम करेन्सी नोटों को साख पत्रों (credit instruments) की सूची से अलग रखेंगे, यानी उन दस्तावेज़ों की सूची से जिसके द्वारा साख सौदे होते है।

अब हम साख-पत्रों को एक-एक करके लेंगे।

(i) **प्रामिसरी नोट** (Promissory Note) : सबसे सादा साख-पत्र प्रामिसरी नोट है। प्रामिसरी नोट या (संक्षेप में) प्रोनोट एक लिखित वायदा है जो कोई ख़रीदार या उधार मांगने वाला उधार देने वाले को देता है कि वह एक विशेष रकम एक समय बाद देगा। यह एक प्रकार का आई ओ यू (I O U) 'मैं तुम्हारा कर्ज़दार हूँ' (I owe you) का चिट्ठा अपने ऋण की स्वीकृति और अदायगी का वायदा है।

---

*Credit is "confidence felt in a person's ability, honesty and intention to pay."

एक प्रामिसरी नोट का नमूना नीचे दिया हुआ है :—

प्रामिसरी नोट*

५००) जनवरी २८, १९५६

तिथि के दो महीने बाद मै मेसर्स सिंह एंड कम्पनी या आर्डर को, सिर्फ पांच सौ रुपये की रक़म, ५% दर के सूद के साथ, उनसे प्राप्त मूल्य के बदले में, देने का वायदा करता हूँ।

एक आने का टिकट	श्यामलाल मैसर्स एस० चंद एंड कम्पनी की ओर से

'उनसे प्राप्त मूल्य के बदले में' (for value recd.) शब्द यह जाहिर करते हैं कि यह दस्तावेज़ किसी ख़रीदारी या लिये गए कर्ज़ (loan) के फलस्वरूप है। सूद बताना ज़रूरी है, वरन् प्रोनोट कानूनी तौर पर बेकायदा हो जाएगा। इस तरह का दस्तावेज़ किसी भी तरह के व्यक्तिगत या व्यापारी सौदे के लिए लिखा और प्रयुक्त किया जा सकता है।

(ii) **विनिमय-पत्र** (Bill of Exchange) : आन्तरिक या विदेशी व्यापार में प्रयुक्त होता है। यह किसी विक्रेता की ओर से ख़रीदार को आदेश है कि वह एक विशेष रकम स्वयं विक्रेता या 'बियरर'[1] (bearer) को या किसी दूसरे व्यक्ति को जिसका नाम उसमें दिया गया हो, दे दे। जो विक्रेता इस बिल को लिखता है और जिसको रुपया मिलना है, 'ड्राअर' या लेनदार (drawer) कहलाता है। जिस

Promissory Note*

Rs. 500 January 28, 1956.

Two months after date, I promise to pay M/s. Singh and Co. or order, the sum of Five Hundred Rupees only for value received with interest at the rate of 5 per cent.

One-anna Stamp	*Shyam Lal* *Per pro* M/s. S. Chand & Co.

1. 'बियरर' का अर्थ है जिसके पास भी वह पत्र हो। यह इस बात का प्रमाण होता है कि विक्रेता ने उस व्यक्ति को रुपया लेने का अधिकार दे दिया है।

कर्ज़दार के नाम बिल लिखा गया है वह ड्राई या देनदार (drawee) है। यदि विक्रेता यह आदेश देता है कि अदायगी किसी तीसरे आदमी को की जाय तो वह आदमी 'पेई' (payee) या प्राप्तकर्त्ता कहलाएगा। अन्तर्देशीय (inland) व विदेशी (foreign) विनिमय पत्रों के नमूने नीचे दिए गए हैं :—

एक अन्तर्देशीय विनिमय पत्र

२०,००० जालन्धर
जनवरी २८, १९५६

तिथि के ३० दिन के बाद मेसर्स सिंह एण्ड कम्पनी या बियरर को बीस हज़ार रुपए की रकम, प्राप्त मूल्य के बदले में अदा करें।

एस० चंद एण्ड कम्पनी की ओर से
श्यामलाल
(मालिक)

मेसर्स प्रीमियर बुक डिपो
चांदनी चौक, दिल्ली।

प्राप्तकर्त्ता (पेई) के स्थान पर निम्नलिखित में से कोई भी बात लिखी जा सकती है :—

(१) 'बियरर' को अदा करिए (pay to bearer)
(२) जे० डी० वर्मा या आर्डर* को अदा करिए (pay to J. D. Verma or order)।
(३) मेरे आर्डर को अदा करिए (pay to order)

जब विनिमय-पत्र, तीस दिन के बजाय, "माँगे जाने पर" (on demand)

एक विदेशी विनिमय-पत्र

१०००) जनवरी २८, १९५६

विनिमय के इसी प्रथम-पत्र (इसी तिथि और राशि के दूसरे और तीसरे पत्र की अदायगी न हो तो) को देखने के साठ दिन के बाद, सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया लि० के आर्डर को, एक हज़ार रुपये की रकम, प्राप्त मूल्य के बदले में, अदा करें।

मेसर्स एस० चंद एंड कम्पनी की ओर से
गौरीशकर
(मैनेजर)

मेसर्स ए० वी० टामस एंड सन्स
शेफील्ड, इंगलैंड

*आर्डर का अर्थ है जिस किसी को अधिकार दे दिया जाय। 'बियरर' और 'आर्डर' का फ़र्क़ जो चैक में होता है वही यहां है। इसके लिए आगे देखिए विभाग (iv)।

शब्दों से आरम्भ हो तो वह मांग पत्र (demand bill) या दृष्टि-पत्र (sight bill) कहलाता है। यानी उसे देखते ही अदायगी करनी होगी।

लेनदार (drawer) बिल को देनदार (drawee) के पास भेज देता है जो उस पर दस्तखत करके और अपने दफ्तर की मुहर उस पर लगा कर उसे 'स्वीकार' कर लेता है। यह पत्र अब विनिमय करने योग्य पत्र (negotiable instrument) हो जाता है और बाज़ार में खरीदा बेचा जा सकता है। 'लेनदार' इसे किसी फर्म या बैंक से एक कमीशन देकर, जिसे डिस्काउन्ट या हर्जाना (discount) कहते हैं, भुना सकता है, अर्थात् नकद ले सकता है। जब तक इसकी वह तिथि न आए जिस पर देनदार को अपना कर्ज़ा चुकाना और बिल का भुगतान करना है, या दूसरे शब्दों में जब तक वह 'पावना' (mature) न हो उस बीच में यह अनेक हाथों से गुज़र सकता है।

यदि देनदार को लोग भली भांति नहीं जानते तो वह किसी 'स्वीकार करने वाली फर्म' (Accepting House) की सेवाएं प्राप्त करेगा और वे, बिल पर दस्तखत करके, उसे स्वीकार करेंगी। इस प्रकार की फर्में गारण्टी देने का ही काम करती हैं। वे इस कार्य में विशेषज्ञ होती हैं और अपनी सेवाओं के लिए एक कमीशन वसूल कर लेती हैं। ऐसी सेवाएं करने के लिए उस फर्म को उन विभिन्न सौदागरों की आर्थिक दशा का पूरा पता रखना पड़ता है, जिसकी ओर से वह पत्र स्वीकार करती है।

एक पत्र कैसे कार्य करता है (How a Bill Functions) : हम एक उदाहरण देकर समझाएँ कि बिल कैसे काम करता है। मान लीजिए कि बम्बई के एक सौदागर (क) ने फ्रांस में मारसाई के एक सौदागर (ख) को १५०० के तिलहन भेजे। अब 'क' को 'ख' से १५०० लेने हैं। वह इतनी रकम का एक बिल ख के नाम बना कर उसके पास भेज देगा। यदि यह दृष्टि-पत्र (sight bill) हो तो देखते ही ख को नक़द कीमत चुकानी पड़ेगी। किन्तु यदि यह अवधि-पत्र (time bill) है तो वह उस पर दस्तखत और मुहर लगा कर उसे स्वीकार कर लेगा या किसी स्वीकार करने वाली फर्म (Accepting House) से स्वीकार करा लेगा और फिर उसे क के पास भेज देगा। अब जब तक यह बिल 'पावना' (mature) न हो जाय, तब तक या तो क उतने दिन इन्तज़ार करे तो उसे पैसा मिले। या अगर उसे रुपये की जल्दी जरूरत है तो वह 'डिस्काउन्ट मार्केट' में उसे डिस्काउन्ट करा सकता है। यानी उसे अपने १५०० में से बैंक या डिस्काउंटिंग कम्पनी का कमीशन काट कर, रुपया तुरन्त मिल जायगा। जो कम्पनी या बैंक बिल खरीदता है, वह चाहे उसे जब तक अदायगी की तारीख न आए अपने पास रक्खे रहे या किसी दूसरी कम्पनी या बैंक को फिर कमीशन पर बेच दे। जब बिल 'पावना' (mature) होगा, तब वह 'ख' को अदायगी के लिए पेश किया जायगा। लेकिन तब भी मारसाई से बम्बई के लिए शायद कोई द्रव्य न भेजा जाय। क्योंकि इसी प्रकार का कोई बिल शायद किसी बम्बई के आयातक के नाम हो। एक्सचेंज बैंकों का यही काम है कि वे इस प्रकार के बिलों का एक दूसरे से मिलान करते रहें और सोना-चांदी बार-बार यहां वहां भेजने और लाने के झंझट और खर्चे से बचाएं।

विनिमय पत्र के लाभ (Advantages of a Bill of Exchange) : इस प्रकार एक विनिमय पत्र बड़ा काम करता है। एक तो 'न तो आयातक और न निर्यातक को, जिस समय माल यातायात (ट्रान्जिट transit) में होता है, अपने पैसे के बिना काम चलाना पड़ता है' (सेयर्स)। आयातक को तुरन्त नहीं देना पड़ता और निर्यातक को अपना रुपया तुरन्त बैंक से मिल जाता है। आयातक पैसा तब देता है जब वह अपना माल बेच कर पैसा वसूल कर चुका होता है।

दूसरे, जो पैसा बैंकों में बेकार पड़ा रहता है वह विनिमय पत्रों में लग जाता है और उसका अच्छा इस्तेमाल हो जाता है। बैंक इस प्रकार का विनियोग (investment) पसन्द करते हैं, क्योंकि इसमें रुपया लम्बे अरसे तक फंसता नहीं (lockup नहीं होता) और आसानी से निकाला जा सकता है। तीसरे, सोना चांदी अन्य देशों को भेजे जाने से बच जाते हैं। आयात और निर्यात को बिल मार्केट में बिना सोना कहीं भेजे हुए बराबर कर लेते हैं। फिर सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि खरीदार अपनी करेंसी में पैसा देता है और विक्रेता अपनी करेन्सी में उसे पाता है। यह सब काम एक्सचेंज बैंक करते हैं। किसी व्यक्ति को उसमें परेशानी नहीं उठानी पड़ती।

(iii) **हुण्डी** (Hundies) : भारत में हम हुण्डियों से ज्यादा परिचित हैं क्योंकि वे ज्यादा चलती हैं। यह अन्तर्देशीय विनिमय पत्र के समान हैं जो हमारी अपनी भाषाओं में और सभ्यता के उदय होने से भी कहीं पहले से भारत में चलती आ रही हैं।

हुण्डियां दो तरह की होती हैं। कर्जदार को दिए गए समय के अनुसार दर्शनी हुण्डी यानी दृष्टि-पत्र (sight bill) और मियादी या मुद्दती हुण्डी यानी अवधि-पत्र (time bill)। हुण्डियाना वह कमीशन है जो कभी-कभी हुण्डी देने वाला पेशगी दिए मूल्य पर काट लेता है। भारत में प्रयुक्त होने वाली दोनों तरह की हुण्डियों के नमूने नीचे दिए हुए हैं :—

मुद्दती या मियादी हुण्डी

संख्या ४६६ मार्च २८, १९५६

१०००) तारीख जनवरी २८, १९५६

(६०) साठ दिन खड़े इस तरीख के बाद मैं/हम मेसर्स एस० चंद एण्ड को० वायदा करते हैं कि मेसर्स सिंह एण्ड को० या आर्डर को दिल्ली में सिर्फ एक हजार रुपये की रकम नगद मिले हुए मूल्य के बदले में देंगे।

(दस्तखत) श्यामलाल

मेसर्स एस० चंद एण्ड को०, दिल्ली की ओर से

किशनचन्द अहलूवालिया (दलाल) के जरिए

संख्या ..... मेसर्स दीनानाथ कस्तूरीलाल टिकट फरोश

दर्शनी हुण्डी

मांगे जाने पर कृपया मेसर्स एस० चंद एंड को०, दिल्ली को एक हज़ार रुपए की रकम, प्राप्त नकद मूल्य के बदले में, अदा करें।

को
मेसर्स सिंह एण्ड को०
दिल्ली

लेनदार के दस्तखत—गौरीशंकर

(iv) चैक (Cheque) : यह साख का सब से प्रचलित उपकरण है और रुपये की ही तरह चलता है। यह जमा करने वाले (Depositor) या देनदार द्वारा छपे हुए फार्म पर अपने बैंक के नाम एक लिखित आदेश है कि इतनी रक़म उसे स्वयं या किसी अन्य व्यक्ति को, जिसका नाम चैक पर लिखा है, या बियरर को दे दी जाय। आमतौर पर यदि चैक के लिखने में कोई ग़लती न रह जाय और देनदार के एकाउंट में बैंक के पास पैसा हो तो बैंक कभी पैसा देने से इन्कार नहीं करेगा। चैक का नमूना नीचे दिया गया है।

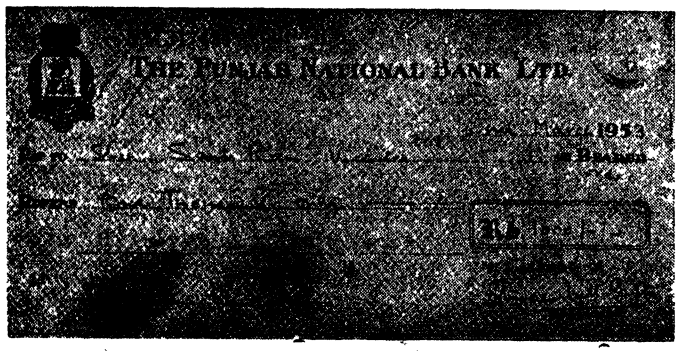

देनदार के पास जो दूसरा हिस्सा—काउंटरफायल (counter foil)—होता है वह अपनी याददाश्त के लिए अदायगी का रिकार्ड है।

चैक निम्न प्रकार के होते हैं :—

(क) 'बियरर' चैक (Bearer Cheque) : इसको कोई भी भुना सकता है। इसमें बैंक को इस बात की फिक्र नहीं होती कि इसे काउंटर पर कौन पेश करता है। यदि बियरर चैक खो जाय तो जिसे मिले वह उसे भुना सकता है जब तक कि बैंक को वक्त पर इत्तिला न दे दी गई हो, वह अदायगी न करे, इसमें रुपया खोने की जोखिम देनदार की रहती है, बैंक की नहीं।

(ख) आर्डर चैक (Order Cheque) : प्राप्तकर्त्ता (payee) के नाम के आगे लिखा हुआ 'बियरर' शब्द काट कर उसके स्थान पर आर्डर (order) शब्द

लिख दिया जाता है। तब यह अदायगी का अधिक सुरक्षित रूप हो जाता है क्योंकि बैंक की यह ज़िम्मेदारी है कि वह ठीक आदमी को दे। जो आदमी यह चैक काउंटर पर पेश करता है उसे अपनी शनाख्त करानी पड़ती है तब चैक का रुपया उसे मिल सकता है।

(ग) **"क्रास्ड चेक"** (Crossed Cheque) : यह देने का सबसे सुरक्षित उपाय है क्योंकि प्राप्तकर्त्ता (payee) रुपया नक़द नहीं ले सकता। वह रकम को अपने नाम या किसी और के नाम, उसके हिसाब में तबादला (transfer) करवा सकता है। दूसरे के नाम करवाने में लेनदार को उसके पीछे उसका नाम लिख कर अपने दस्तखत करने पड़ते हैं। इसे एन्डोर्समेन्ट (endorsement) कहते हैं। चैक को 'क्रास्ड' करने के लिए एक कोने में दो समानान्तर रेखायें इस पर खींच कर उनके बीच में 'एण्ड को' लिख दिया जाता है। पीछे दिया हुआ नमूना क्रास्ड चैक का है।

(घ) **पोस्टडेटेड चैक** (Postdated Cheque) : बाद की किसी तारीख का चैक भविष्य में अदायगी करने का एक तरीका है। अगर आपको किसी को १००) महीने भर बाद देने हैं तो आप उसके नाम का चैक काट कर आगे की तारीख लिख दें। वह उसी तारीख के बाद भुनेगा।

(ङ) **ब्लैंक चेक** (Blank Cheque) : खाली चैक का मतलब है कोई अपरिमित भेंट। क्योंकि दस्तखत कर दिये जाते हैं और रुपया भरने की जगह खाली छोड़ दी जाती है जिसे लेनदार भर सकता है। ऐसे चेक आमतौर पर कोई नहीं देता। फिल्मों में या किसी प्रकार का जोश चढ़ जाने पर भले ही दिया जाता है।

चैकों के लाभ (Advantages of Cheques) : चैक ने द्रव्य के प्रयोग में किफायत की है। अब कोई नक़द देने की ज़रूरत नहीं रही। इसकी बड़ी सुविधा यह है कि अदायगी पाई-पाई तक बिल्कुल ठीक की जा सकती है। चैक को क्रास कर देने पर खोने का भी डर नहीं रहता। यह अदायगी का बड़ा सुरक्षित तरीका है। फिर चैक की काँउटर फाइल एक प्रकार की रसीद का काम करती है और ईमानदारी बनी रहती है। सौदे का हिसाब बैंक के पास रहता है और अगर जरूरत पड़े तो सबूत के लिए तलब किया जा सकता है। किन्तु इसे स्वीकार करने के लिए चैक देने वाले और बैंक दोनों पर एतबार होना ज़रूरी है। क्योंकि यह विधि-मान्य अंकन (legal tender) नहीं है। इसको स्वीकार करना ज़रूरी नहीं है।

(v) **ड्राफ्ट** (Draft) : चैक से किसी दूसरी जगह भी रुपया भेजा जा सकता है। किन्तु चूंकि हिसाब भिन्न स्थान पर होता है और चैक दूसरी जगह पेश किया जाता है, इसलिए आमतौर पर बैंक चैक का रुपया अदा करने से पहले उस बैंक से पता लेते हैं जहां से चैक आया है कि उनके हिसाब में रुपया है या नहीं। यह झंझट बचाने के लिए बैंक का ड्राफ्ट इस्तेमाल किया जाता है। ड्राफ्ट एक चैक है जो कोई बैंक अपनी ही किसी शाखा या किसी दूसरे बैंक के नाम भेजता है और उनको यह आदेश देता है कि ड्राफ्ट में दिए गए नाम के व्यक्ति को एक खास

रकम दे दी जाय। यदि आप अपने मित्र को बम्बई में रुपये की शक्ल में जन्म-दिवस का उपहार भेजना चाहते हैं तो आप रुपया किसी बैंक में, मान लीजिए पंजाब नेशनल बैंक में, जमा कर दीजिए और अपने मित्र के नाम बैंक की बम्बई शाखा के लिए एक ड्राफ्ट ले लीजिए। इस ड्राफ्ट को बम्बई रजिस्ट्री करके भेज दें। आपके मित्र को अपनी शनाख्त देने पर बम्बई के बैंक से रुपया मिल जाएगा। किसी आदमी को अपने सफर में अधिक रुपया नकद ले जाने की जरूरत नहीं, जिसमें चोरी होने का खतरा है। वह अपने नाम से एक ड्राफ्ट ले सकता है जिसमें वह नक़द ले जाने के खतरे और झंझट से बच जाय, कुक या किसी दूसरी ट्रेवल एजेन्सी द्वारा दिया गया यात्री चैक (travellers cheque) भी यही काम करता है। बैंक ड्राफ्ट का नमूना नीचे दिया गया है।

स्टेट बैंक आफ इंडिया

स. जे. बी. ०३७३५ दिल्ली अप्रैल १०, १९५६

१०००)

मांगे जाने पर, अदा करो

मेसर्स डीवेट ब्रादर्स या आर्डर को

सिर्फ एक हजार रुपया

प्राप्त मूल्य के बदले में

नाम स्टेट बैंक आफ इंडिया

स्टेट बैंक आफ इडिया एजेंट

होशियारपुर

एकाउन्टेंट

बैंक ड्राफ्ट के जरिए पैसा भेजना सब से सस्ता काम है। बैंक आमतौर पर यदि भेजे जाने वाली रकम १०००) से कम न हो और यदि जहां अदायगी होनी हो, वहां बैंक की शाखा हो तो -) फी० १००) से ज्यादा कमीशन नहीं लेता।

३. **निकासी-गृह** (Clearing Houses) : एक बड़ा लाभ जो चैकों से होता है वह यह है कि हमें अपनी खरीदारी के लिए सिक्कों या नोटों से जेबें भरके नहीं चलना पड़ता। जिन देशों में लोगों ने बैंकिंग आदतें सीख ली हैं वहाँ किसी भी खरीदारी के लिए नकद बहुत कम दिया जाता है, जब तक बहुत छोटी-सी खरीदारी न हो। जिन लोगों को चैक दिए जाते हैं वे भी उन्हें भुनाते नहीं वरन् अपने बैंक में अपने हिसाब में डलवा देते हैं। इस तरह यदि दोनों के हिसाब एक ही बैंक में हों तब तो खाते में तबदीली ही से सौदा पूरा हो जाता है। जब दोनों आदमियों के हिसाब अलग-अलग बैंकों में हों तब इतनी सादी प्रक्रिया नहीं होती। हर बैंक दिन

नगर में दूसरे बैंकों के बहुत से चैक पाता है जिन्हें उसके अपने ग्राहक ले आते हैं। हर दिन एक बैंक से दूसरे बैंक में रुपया भेजना और मंगाना भी बड़ा मुश्किल होता है। इसीलिए इसके लिए निकासी-गृह (clearing house) का उपाय काम में लाया जाता है। तमाम स्थानीय बैंकों के एजेन्ट एक विशेष स्थान पर कार्य-दिवस (working day) खत्म हो जाने पर मिलते हैं और एक दूसरे के प्रति अपने दावों का मिलान कर लेते हैं। जब अधिकतर दायित्व एक दूसरे के बराबर होकर कट जाते हैं, तब एक बैंक को दूसरे बैंक से थोड़ा-सा रुपया लेना रह जाता है। यह आमतौर पर केन्द्रीय बैंक, जो हमारे देश में रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया है या स्टेट बैंक आफ़ इण्डिया (भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक) की शाखा के लिए एक चैक देकर साफ कर दिया जाता है। भारत में २५ निकासी-गृह (Clearing Houses) हैं, जिनमें बम्बई और कलकत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

४. साख के उपयोग (Uses of Credit): साख आज की आर्थिक-व्यवस्था और उसके संगठन में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा की गई सेवाएँ संक्षेप में हम नीचे गिना देते हैं।

(i) यह थोक से फुटकर दुकानदारों और दुकानदारों से उपभोक्ताओं तक माल लगातार पहुँचाने में मदद करती है और तेजी की और मन्दी की भाग दौड़ जो एक दूसरे के बाद आकर देश की अर्थ-व्यवस्था को असंतुलित कर सकती है कम करती है।

(ii) यह सिक्कों और नोटों के प्रयोग में भी किफायत करती है। हस्तांतरित होने वाले द्रव्य का परिमाण कम हो जाता है क्योंकि बहुत-सा देना-पावना (debit-credit) एक दूसरे से कट (cancel) जाता है। और इस तरह अधिक विनिमय सम्भव होते हैं।

(iii) यह सूद की नीची दर पर बड़े-बड़े कर्जे दिलवा कर व्यापार और उद्योग को वित्त देती है और माल का उत्पादन बढाने में सहायता करती है।

(iv) उत्पादन की सहायता करने के लिए बचत का उपयोग हो जाता है। साख के उपकरण द्वारा बेकार जमा पूंजी वाले आदमी और दिमागदार आदमी में जो उत्पादक रूप में इस पूंजी का उपयोग कर सकता है, सम्पर्क स्थापित होता है।

(v) बैंकों में बड़े-बड़े जमा-कोष (deposits) बन जाते हैं और बहुत थोड़ी प्रतिशत नकदी के ऊपर उधार दिए जाते हैं। आमतौर पर १०-२० प्रतिशत अनुपात होता है।

(iv) बैंकर्स ड्राफ्ट और विनिमय पत्रों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिलता है क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर करेन्सी के जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। इस साख के बिना यह अदायगियाँ बड़ी मुश्किल हो जायं।

५. साख का अनुचित प्रयोग (Abuses of Credit) : साख का अनियंत्रित उपयोग खतरनाक है। इसके कारण कारबार में अस्वस्थ विस्तार भी हो सकता है जो बाद में मन्दी (depression) ले आता है। सुगम उधार से अक्षम (inefficient) व्यापारियों को भी सहारा लग सकता है जो अपने स्रोतों की

लापरवाही से खराब भी कर सकते हैं। इसका नतीजा जोरदार सट्टा भी हो सकता है, यदि उधार बिना उचित जांच के दे दिया जाय। उधार मुद्रा-स्फीति का एक कारण है और इस तरह ऊँची कीमतें और उसके द्वारा आई हुई तमाम मुसीबतों के लिए जिम्मेदार है। किन्तु उचित सीमाओं में उचित आधार पर चलाया गया उधार और साख बड़े काम की चीज़ है।

साख-उधार की तमाम मशीनरी ही बैंकों के जरिए काम करती है। हम अब अगले अध्याय में बैंकों और उनके कार्यों का अध्ययन करेंगे।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

क्रेडिट या साख (credit) से मतलब है वह खरीदारी जिसकी कीमत नहीं दी गई। इसके बदले में खरीदार अपने कर्ज की स्वीकारोक्ति (acknowledgment) करके एक दस्तावेज दे देते हैं। इसलिए एक साख-सौदा (credit transaction) एक लम्बा विनिमय है। उधार देने वाले को व्यक्ति की ईमानदारी में एतबार होना चाहिए।

साख-पत्र (Instrument of credit) : आजकल कारबार का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। बाद में अदायगी करने के लिए लिखित दस्तावेज बहुत आवश्यक हैं। वे निम्न प्रकार के हो सकते हैं :

(i) प्रामिसरी नोट (Promissory Note) एक कर्जदार की ओर से लेनदार को भविष्य में अदायगी करने का लिखित वायदा।

(ii) विनिमय पत्र (Bill of exchange) : लेनदार की ओर से कर्जदार पर भेजा गया एक रकम देने का आदेश जिसको कर्जदार या माल का खरीदार अपने दस्तखत करके स्वीकार कर लेता है। यह दस्तावेज द्रव्य-बाजार में खरीदा बेचा जा सकता है। कुछ फर्में जो स्वीकार करने वाली फर्में (Accepting Houses) कहलाती हैं इस प्रकार के बिल स्वीकार करने का कार्य करती हैं।

लाभ : विनिमय पत्र विक्रेता को उसकी कीमत तुरन्त दिला देता है और खरीदार को उधार या साख पर खरीदने की सहूलियत देता है। बैंकों को अपना खाली रुपया सूद पर चलाने का अवसर मिलता है :

(iii) हुन्डियाँ विनिमय-पत्र के भारतीय रूप हैं और यह युगों से चलती रही हैं। यह दो तरह की होती हैं : दर्शनी (दृष्टि-पत्र) और मियादी (अवधि-पत्र)।

(iv) चैक : यह सबसे प्रचलित और लोकप्रिय साख-पत्र है। यह जमा करने वाले (depositor) की ओर से अपने बैंक को लिखित आदेश है कि वह उसमें बताये गये व्यक्ति को या चैक रखने वाले को एक निश्चित रकम दे दे।

(क) बियरर चैक को कोई भी भुना सकता है। (ख) आर्डर चैक को जिसका नाम लिखा है वही अपनी शनाख्त देकर भुना सकता है। (ग) क्रास्ड चैक को नकद नहीं भुनाया जा सकता। यह अपने या किसी के खाते में जमा हो जाता है (घ) पोस्टडेटेड चैक में कोई बाद की तारीख दी होती है। उसी तारीख पर या उसके बाद भुनाया जा सकता है।

लाभ : चैक अदायगी का सुरक्षित और सुलभ तर्का है। इससे हर सौदे में नकद देने की जरूरत नहीं रहती।

(v) बैंकर्स ड्राफ्ट : किसी बैंक द्वारा किसी दूसरे शहर अपनी ही दूसरी शाखा को या किसी दूसरे बैंक को दिया गया एक चैक है जो उस स्थान में रुपया भेजने के काम में लाया जाता है।

निकासी गृह (clearing house) वह एजेन्सी है जहाँ विभिन्न बैंकों को दिये गये चैकों का उनके प्रतिनिधियों द्वारा परस्पर मिलान और संतुलन होता है।

साख उधार के उपयोग : (क) धातु-द्रव्य में किफायत (ख) व्यापारियों को सस्ता कर्ज

(ग) खाली पड़ी हुई पूंजी का उपयोग (घ) बचत से ज्यादा कर्जे लेने की सम्भावना (ङ) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने में सुविधा (च) थोक व्यापारी से उपभोक्ता तक माल बराबर पहुँचाने में मदद ।

साख के दुरुपयोग : (क) कारबार का अस्वस्थ विस्तार (ख) अक्षम उत्पादक को सहायता (ग) स्रोतों का लापरवाही से प्रयोग ।

यदि इन खतरों से बचा जाय तो साख व्यापार में बड़ी फायदेमन्द है ।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1. What do you understand by 'credit' ? Name and describe the various instruments of credit bringing out the difference between a 'Bill of Exchange' and a 'Promissory-Note.'

(पं० वि० १९४६)

देखिए विभाग १, २ ।

2. You have to pay Rs. 497-9-3 to Messrs. P. N. and B. Write this out in the form of a crossed cheque, a darshani hundi and a promissory note.

देखिए विभाग २ ।

3. Give specimen forms of, and write note on :
   (*a*) Bill of Exchange. (पं० वि० १९५३)
   (*b*) Bank Draft (यू० पी० १९५३)
   (*c*) Crossed Cheque. (पं० वि० १९४६; और पूर्वी पं० वि० १९४८)
   (*d*) Hundi. (यू०पी० १९५३; पंजाब वि० वि० १९४७)
   (*e*) Promissory Note. (यू० पी० १९५३)

देखिए विभाग २ सबके लिए

4. "Credit is a good servant but a bad master." Explain and discuss.

Or

Show the importance and utility credit. What are its dangers ?

Or

Describe the uses of credit. (क० १९४९; क० बी० कॉ० १९३२)

देखिए विभाग ४, ५, ।

5. Discuss the various methods by which a man in Amritsar can send Rs. 209 to London, Bombay and Nawanpind (a small village in Jullundur District) quickly and safely. (पूर्वी पं० वि० १९४८)

देखिए विभाग २ ।

6. What are credit instruments ? Discuss them and indicate their utility. (क० १९४९ क० बी० कॉ० १९३२)

देखिए विभाग २ ।

7. Describe the uses of credit. Indicate the various ways in which credit saves money and assists industry.

(क० १९४९ क० बी० क० १९३२

देखिए विभाग ४ ।

8. What is a cheque? How does the cheque system benefit both the depositor and the bank? (यू० पी० इन्टर १९४७)
देखिए विभाग २ (iv)।

9. What is a bill of exchange? How does it help in the internal or external trade of a country? (यू० पी० इन्टर १९४८)
देखिए विभाग २ (ii)

10. Explain the Clearing House system and show how it leads to an economy in the use of money. (ढाका १९४२; नागपुर १९४३)
देखिए विभाग ३।

11. What are the essentials of credit? Show its importamce and utility. What are its dangers (यू० पी० १९४६)
देखिए विभाग १, ४ और ५।

बैंक (BANKS)

"ये साख के कारखाने !"

(Those Factories of Credit)

१. **बैंक की परिभाषा** (Definition of Banks) : कहावत है कि "रुपया रुपए को कमाता है"[1] आप कहेंगे "वाहियात ! मेरे बक्से में जो रुपया रक्खा है उसने कोई रुपया नही पाया। और साल भर से उसमें पड़ा है फिर भी उतना का उतना ही है"। आपको जबाब मिलेगा, "आप मूर्ख हैं इस तरह से कही रुपया कमाता है। आप इसे किसी कारबार मे लगा दें, या बैंक में रख दें, फिर देखिए"। अब आपकी समझ में आया ?

यह समझ में आना मुश्किल नहीं है कि कारबार या कारखाने में लगा हुआ रुपया कैसे बढने लगता है, पर यह समझ में नही आता कि बैंक में पड़ा हुआ रुपया कैसे बढ़ता है और बैंक अपने जमा करने वालों—डिपोज़िटर्स—को सूद क्यों देता है। ज़ाहिरा तौर पर तो बैंक न कोई माल खरीदता है न बेचता है। ऐसा मालूम पड़ता है, लेकिन ऐसी बात नहीं है। बैंक एक महत्त्वपूर्ण वस्तु (commodity) बेचता है। और वह वस्तु है "साख" (credit)। बैंक साख बनाता और बेचता है।[2] इसलिए हम बैंक को साख का कारखाना[3] कहते हैं।

बैंक टंकियों (reservoirs) की तरह है। कुछ लोगो की बचत उनके पास जमा होती है और वे उसे कुछ और लोगों को सप्लाई कर देते हैं, जो इसका उत्पादन मे प्रयोग कर सकते हैं। इस कार्यवाही मे बैंक कमीशन कमा लेते हैं जिसमें से वे अपने डिपोज़िटर्स को सूद भी देते हैं और अपना खर्चा तथा मुनफा भी निकालते हैं।

कहते हैं कि प्राचीन इटली में सुनार अपने काम करने की मेज़ों की जगह एक खास तरह की बेंचों का इस्तेमाल करते थे, इसलिए उनका व्यवसाय इस बेंच के नाम के साथ सम्बद्ध हो गया—जिसके लिए इटैलियन शब्द है बैंको (banco)। यह बैंको शब्द धीरे-धीरे अधिक प्रचलित हुआ और आखिर में उन ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों के लिए प्रयोग में आ गया जो आज बैंक (bank) कहलाते हैं। बैंकों को आज की शक्ल में पहुँचने में बहुत दिन लगे हैं। जरा हम देखे कि यह कैसे हुआ।

1. Money begets money.
2. Bank creates and sells credit.
3. Factory of credit.

२. **बैंकों का विकास** (Evolution of Banks) : बहुत दिन हुए जब ज़िन्दगी इतनी सुरक्षित न थी, बचत करना (saving) भी जोखिम का काम था। यदि एक आदमी अमीर मशहूर हो जाता था तो उसकी धन-सम्पत्ति तो क्या, उसकी ज़िन्दगी भी खतरे में पड़ जाती थी, क्योंकि लुटेरे उसे लूटने की घात में रहते थे। सुनारों का तो धन्धा ही ऐसा था कि उन्हें मज़बूत तिजोरियाँ (safe) रखनी पड़ती थीं। इसलिए लोग अपना बचा हुआ रुपया और दूसरी कीमती चीजें सुरक्षा के लिए उनके पास रख दिया करते थे। सुनार इस सेवा—सुरक्षित धरोहर (safe deposit) रखने—के लिए कुछ पैसा ले लेते थे और जब मांगा जाए उन्हें लौटा देते थे। फिर सुनारों ने अपने अनुभव से यह जाना कि जितनी नकदी (cash) उनके पास जमा होती थी एक वक्त में उसका एक अंश ही लोग तलब करने आते थे। सबका सब एक दम माँगने कभी नहीं आते थे। इसलिए उन्होंने सोचा जो अतिरिक्त (surplus) पैसा है यानी जिसे लोग रोज-रोज मांगने नहीं आते, उसको एक विशेष तिजोरी (special safe) में रख दिया जाय तो अच्छा है, जिसे रोज-रोज खोलने की ज़रूरत न पड़े। इसके बाद कालान्तर में उन सुनारों के दिमाग में यह ज़रूर आया होगा कि यह पैसा तो खास तिजोरी में बेकार—निष्क्रिय (idle) पड़ा हुआ है, इसका भी उपयोग क्यों न किया जाय। लोग उनके पास कुछ सिक्योरिटी (security) यानी बन्धक रख कर कर्ज़ा मांगने आते ही रहते थे। इसलिए अपने पास जो फालतू पैसा तिजोरियों में बन्द है उसको सूद पर चला कर कुछ मुनाफ़ा कमाया जाए तो क्या बुरा है। जो डिपाज़िट (deposit) या जमा करने वाले इस पर एतराज़ करेंगे, उन्हें इस रक्षित जमा (safe deposit) करने का जो शुल्क देना पड़ता है वह माफ करके सन्तुष्ट कर दिया जा सकता है। और इसके अलावा उनके जमा पैसे पर कुछ और सूद दे दिया जाय तब तो वे बड़े खुश होंगे। तब वे और बचत करने की भी कोशिश करेंगे और अधिक पैसा लाकर जमा करेंगे। इस तरह से इन बैंकरों का काम बढ़ा। वे जमा के लिए रसीदें देने लगे और फिर रुपए के बदले में यह रसीदें ही एक हाथ से दूसरे हाथ मे जाने लगी। इसी प्रथा का बाद में चल कर रूप बना बैंक नोट (bank notes)।

दूसरी ओर इस पद्धति का विकास यह हुआ कि लोग रुपया निकालने (withdrawal) के लिए लिखित आदेश भेजने लगे। यह लिखित आदेश आधुनिक चैक के पूर्वगामी थे।

३. **बैंकों के लाभ** (Advantages of Banks) : परिवहन के यांत्रिक उपाय[1] आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार हैं। मोटर लॉरी, रेलवे ट्रेन, स्टीमशिप और हवाई जहाज़ ने कमाल कर दिया है। ये आसानी से असंख्य वस्तुओं को जो हज़ारों आदमियों द्वारा बड़े-बड़े कारखानों में निर्मित होती हैं, दूर-दूर विश्व के कोने-कोने में पहुँचा देते हैं। इन कारखानों को चलाने में और परिवहन के इन विभिन्न साधनों को बनाए रखने के लिए करोड़ों रुपयों की ज़रूरत पड़ती है। एक आदमी, चाहे जितना भी अमीर हो, अकेला इन विस्तृत कार्यवाहियों को चलाने के लिए धन

1. Mechanised means of transport.

नहीं जुटा सकता। इसलिए साख* उद्योगपति, व्यापारी या कम्पनी चलाने वाले के लिए अनिवार्य हो जाती है। बैंक ही एक संस्था है जो आवश्यक उधार दे सकती है। ये बैंक लाखों व्यक्तियों की बचाई हुई छोटी-छोटी पूंजी को एक बड़े कोष (pool) में जमा करते हैं और इस बड़ी राशि को उपयोगी दिशा में संचालित करते हैं। अलग-अलग ले तो यह बचत पूंजियां इतनी छोटी है कि किसी काम की नहीं, और यदि बैंक इन्हें जमा न करें तो ये समाज के लिए बिल्कुल बेकार और निकम्मी होंगी। किन्तु बैंक इन्हें जमा करके और उद्योगपतियों और व्यवसायियों को देकर समाज का लाभ करते हैं। बैंकों से सदा बहने वाला उधार सचमुच उद्योग और व्यापार की जान है।

रुपया उधार देने के अलावा, बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान तक द्रव्य भेजते भी हैं, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव होता है। वे किसान और कुटीर उद्योगों को भी पैसा देते हैं। वे देश के एक भाग से दूसरे भाग तक फसलों को पहुँचाने मे मदद करते हैं। वास्तव में किसी देश के आर्थिक विकास के लिए बैंकिंग का विकास उतना ही (या ज्यादा) महत्त्वपूर्ण है जितना खनिज पदार्थों का खोदना, कारखाने स्थापित करना या व्यापार चलाना। बैंकों के बिना व्यक्तियों से निष्क्रिय धन जमा करना असम्भव है और इस पूंजी को उन लोगों को सप्लाई करना असम्भव है जिनके पास मस्तिष्क और शक्ति है और जो बड़े पैमाने पर उत्पादन सफल बनाते हैं।

३. बैंकों के प्रकार (Kinds of Banks) : पिछली तीन शताब्दियों में विभिन्न प्रकार के बैंकों का विकास हुआ है। प्रत्येक किस्म का बैंक आमतौर पर एक खास तरह का व्यवसाय करता है। इसलिए उनके कार्यों के अनुसार हम उनके भेद कर सकते हैं। ये नीचे दिए हुए हैं :—

(क) वाणिज्यिक या संयुक्त पूंजी बैंक (Commercial or Joint Stock Banks) : ये बैंक आधुनिक आर्थिक संगठन में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनका व्यवसाय आमतौर पर जमा लेना, उधार देना और देश के कारबार को वित्तीय सहायता देना (financing) है।

(ख) विनिमय बैंक (Exchange Banks) : विनिमय या एक्सचेंज बैंक अधिकतर देश के विदेशी व्यापार को वित्तीय सहायता देते हैं। उनका खास काम है विदेशी विनिमय पत्रों (foreign bills of exchange) को एकत्रित करना, स्वीकार करना, और बट्टे पर खरीदना (discounting)। वे विदेशी करेन्सी का भी क्रय-विक्रय करते हैं और कारबारियों को अपना द्रव्य किसी विदेशी द्रव्य मे बदलने में मदद देते हैं। आन्तरिक व्यापार में उनका हिस्सा आमतौर पर कम होता है।

(ग) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks) : भारत में ऐसे बैंक नहीं हैं, किन्तु कुछ अन्य देशों मे विशेषकर जापान और जर्मनी में यह बैंक औद्योगिक स्थापनाओं (industrial undertakings) को कर्ज़ देने का कार्य करते हैं। उद्योगों

---

* 'साख' (credit) शब्द यहां अर्थशास्त्र के पारिभाषिक पद ((technical term) की भांति प्रयुक्त हुआ है और आगे भी होगा। अर्थ के लिए देखिए अध्याय २१। साख का अर्थ मोटे शब्दों में किसी को उधार देना या किसी से उधार लेना है।

को बड़ी मुद्दत के लिए पूंजी की ज़रूरत होती है, जिससे वे मशीनें और अन्य उपकरण खरीद सकें। औद्योगिक बैंक इस प्रकार की एकमुश्त बड़ी पूंजी उन्हें लम्बी मुद्दत के लिए (block capital) देते हैं। केन्द्रीय सरकार ने इस कमी को पूरा करने के लिए १९४८ में एक औद्योगिक वित्त निगम (industrial finance corporation) बनाया। हाल ही में इसकी कार्यवाहियों को बढ़ाया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे ही फाइनेंस कारपोरेशन और राज्यों ने भी स्थापित किए हैं। कुछ अरसे से केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक ऋण व प्रनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) तथा राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) उद्योगों की स्थापना और उनकी वित्तीय सहायता के लिए बनाए हैं।

(घ) **कृषि बैंक** (Agricultura Banks) : कृषि बैंकों का मुख्य व्यवसाय किसानों को रुपया देना है। ये सहकारी (co-operative) आधार पर चलाए जाते लम्बी अवधि के लिए पूँजी (long-term capital) भूमि-बन्धक बैंकों (land mortgage banks) द्वारा दी जाती है और छोटी अवधि के लिए ऋण (short-term loans) सहकारी समितियों (co-operative societies) और सहकारी बैंकों (co-opertive banks) द्वारा। लम्बी मुद्दत के कर्जे किसानों को भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए चाहिएँ और छोटी मुद्दत के कर्जों से वे औजार मवेशी, व बीज खरीद सकते हैं। ऐसे बैंक और कम्पनियाँ भारत में अच्छा काम कर रही हैं।

(ङ) **सेविंग्स बैंक** (Savings Banks) : यह बैंक छोटी बचत (saving) को जमा करने की उपयोगी सेवा करते हैं। कर्मशियल बैंक भी अक्सर सेविंग्स विभाग खोल देते हैं जिससे छोटी आय वाले लोगों की बचत को काम में लाया जा सके। इनका प्रयोजन मितव्ययिता (किफायतशारी) को प्रोत्साहन देना और होर्डिंग (hoarding) यानी रुपया गाड़कर रखने को निरुत्साहित करना है। भारत में डाकखाने के सेविंग्स बैंक भी यही उपयोगी कार्य कर रहे हैं।

(च) **केन्द्रीय बैंक** (Central Banks) : उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के बैंकों के अतिरिक्त और इनसे ऊपर लगभग हर देश मे आज एक केन्द्रीय बैंक है जो ज्यादातर देश की सरकार के स्वामित्व एवं नियंत्रण में है। यह केन्द्रीय बैंक बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण सेवा करता है जिसका ब्यौरा आगे (विभाग ९ में) दिया जाएगा। इस देश में ऐसा बैंक रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) है।

५. **वाणिज्यिक बैंकों के कार्य** (Functions of Commercial Banks) : बैंक जिन लोगो के पास अतिरिक्त (surplus) द्रव्य होता है उनमें और जिन्हें द्रव्य की आवश्यकता है उनके बीच में मध्यस्थ का काम करते हैं। जमा प्राप्त करना और उधार देना—यह दो मुख्य कार्य हर वाणिज्यिक या संयुक्त-पूँजी बैंक (commercial or joint-stock bank) के हैं। इसके साथ संलग्न उनके और भी अनेक कार्य हैं जो वे समाज की आवश्यकताओं के अनुसार करते हैं। ये सब कार्य नीचे बताए गए हैं :—

(क) **जमा स्वीकार करना** (Accepting Deposits) : बैंक लोगों की

निष्क्रिय बचत (idle savings) को जमा के लिए आकर्षित करते हैं। यह जमा (deposit) अनेक प्रकार की हो सकती है :—

(i) **अल्पकालीन या मांग जमा** (Short term or demand deposits) जिन्हें चालू या ढल-खाता (current or floating account) भी कहते हैं। इसको बिना किसी पूर्व सूचना के माँगे जाने पर भी तुरन्त अदा करना पड़ता है। आमतौर पर इन पर कोई सूद नहीं दिया जाता क्योंकि अल्पकालीन जमा के अधिकांश अंश को बैंक उपयोग में नहीं ला सकता और उसके लिए उन्हें लगभग शत प्रतिशत कोष (रिजर्व) रखना पड़ता है। बल्कि कभी-कभी इस सेवा के लिए कुछ थोड़ा-सा कमीशन भी लिया जाता है। कभी-कभी बड़ी जमा (large deposits) रखने वालों को कुछ सूद भी दे दिया जाता है।

(ii) **दीर्घकालीन या ध्रुव जमा** (Long term or Fixed deposits) : यह जमा जिस अवधि के लिए जमा की जाती है उसके पूरे होने पर ही निकाली जा सकती है। इस पर सूद दिया जाता है और उसकी दर अवधि की लम्बाई तथा जमा रकम के परिमाण पर निर्भर है। भारत में आज दर छः महीने के लिए २ प्रतिशत और २ साल तक के लिए ३ प्रतिशत है।

(iii) **सेविंग्स बैंक डिपाजिट** (Savings Bank Deposits) : ये चालू खाता (current account) और ध्रुव खाता (fixed account) के बीच की चीज़ है। हफ्ते में एक या दो बार जमा के चौथाई अंश तक, किन्तु ५०० से कम रुपया निकाला जा सकता है। इन पर सूद ध्रुव जमा (fixed deposits) से कम मिलता है।

(ख) **उधार देना** (Giving Loans) : किन्तु जमा लेना ही सारा काम नहीं है। यदि ऐसा होता तो बैंक सूद कहाँ से देते ? इसलिए रुपया जमा होने के बाद, बैंक रुपया कहीं लगा देते हैं या उधार दे देते हैं। आमतौर पर छोटी अवधि के लिए कारबारियों और व्यापारियों को रुपया उधार दे दिया जाता है। यह निम्न-लिखित तरीकों से हो सकता है :—

(i) **ओवर-ड्राफ्ट देकर** (By allowing an over-draft) : जो इतमीनान के ग्राहक होते है, उन्हें बैंक अपने खाते पर ओवर ड्रा (overdraw) करने की अर्थात् अपनी जमा से ज्यादा निकालने की इजाजत दे देता है। वे अपनी जमा से ज्यादा निकाल सकते हैं। पर उन्हे अतिरिक्त रकम पर सूद देना पड़ता है। रकम जल्दी ही वापस भी होनी चाहिए।

(ii) **"जमा बनाकर"** (By "creating a deposit") : जब कोई व्यक्ति बैंक से ऋण चाहता है तो उसे मैनेजर को इतना सन्तुष्ट करना पड़ता है कि उसकी औद्योगिक योजना ठीक है, उसकी नीयत साफ है, उसमें अपना ऋण चुकाने की सामर्थ्य है। इसके बाद बैंक कोई ठोस बंधक (tangible security) की भी माँग कर सकता है या फिर उधार लेने की व्यक्तिगत सिक्योरिटी (personal security) से ही सन्तुष्ट हो सकता है। आमतौर पर सिक्योरिटी ऐसी ही मंजूर की जाती है जिसे बाज़ार में बेचा जा सके, जैसे अच्छी कम्पनियों के शेयर। फिर सूद की दर

और लौटाने की अवधि आदि के बारे में बातें तय हो जाने पर उधार दे दिया जाता है। किन्तु कोई भी उधार लेने वाला सारा रुपया एक दम नकद के रूप में कभी नहीं चाहता। आमतौर पर वह एक करेन्ट एकाउन्ट (current account) या चालू खाता खोल देता है, जो बिल्कुल ऐसा ही होता है मानो उसने उतनी रकम बैंक में जमा की हो। इस तरह बैंक उस उधार को एक 'जमा' बना देता है (creates a deposit)। उधार लेने वाले को एक चैकबुक दे दी जाती है और उसे अपने कर्जे या जमा की पूरी रकम तक चैक देने का अधिकार रहता है। किन्तु सूद पूरी रकम पर ही लिया जाता है चाहे, वक्त में वह उसका एक हिस्सा ही निकलवाए।

उधार की अवधि पूर्ण हो जाने पर उधार लेने वाला पूरी रकम बैंक को लौटा देता है। बैंक अपना अधिकतर मुनाफा इस तरह उधार देकर ही कमाते हैं।

(ग) **बिलों को बट्टे पर खरीदना** (Discounting Bills) : बिल बट्टे पर खरीदना रुपया उधार देने का दूसरा तरीका है। पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि बिलों का कैसे क्रय-विक्रय होता है। इन बिलों को बैंक खरीद लेता है। यह बिलों के दलाल (bill broker) तथा डिस्काउंट कम्पनियों (discount-companies) के जरिए होता है या फिर बैंक सीधे-सीधे सौदागरों से बट्टे पर खरीद लेते हैं। ये बिल द्रव पूंजी (liquid asset) होते है, अर्थात् ऐसी पूंजी जिसे जब चाहें आसानी से नक़द में परिवर्तित कर सकते । बिल के लिए बट्टा (सूद) काट कर बैंक तुरन्त नक़द रुपया दे देते हैं, और वह उसके "पावना" (mature) होने की प्रतीक्षा करते हैं जब उसका पूरा मूल्य प्राप्त हो सके। यह प्रनियोग (investment) बिलकुल सुरक्षित होता है क्योंकि इस पर दो कारबारियों की गारण्टी (सिक्योरिटी) होती है—लेनदार की भी और देनदार की भी; जिससे अगर उनमें से एक बेईमान निकल जाय या अदायगी न कर सके तो बैंक दूसरे को पकड़ सकता है।

(घ) **रुपया भेजना** (Remitting Funds) : बैंक अपने ग्राहकों के लिए जहां उनकी शाखाएं या एजेंसियां होती हैं बैंक ड्राफ्टों के द्वारा रुपये भेजते हैं। रुपए भेजने का यह सब से सस्ता उपाय है और सुरक्षित भी है। रुपया विदेशों में भी भेजा जा सकता है।

(ङ) **फुटकर कार्य** (Minor Functions) : आजकल बैंक अपने ग्राहकों की अनेक अन्य तरीकों से भी सेवा करता है। इसके पास सुरक्षित धरोहर की तिजोरियां या सेफ डिपाजिट वाल्ट्स (safe deposit vaults) होती हैं। उनमें ग्राहकों का कीमती माल सुरक्षित धरोहर के रूप में रखा जाता है। फिर बैंक अपने ग्राहकों के लिए सूद भी इकट्ठा करता है और ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों की ओर से लाभांश (dividends) भी देता है। यह अपने ग्राहकों की ओर से क्रय-विक्रय करता है, कम्पनियों के स्टाक और शेयर खरीदता है। मृत व्यक्तियों की वसीयत पूरी करता है और उनके ट्रस्टी (trustee) के रूप में भी काम करता है।

६. **बैंक का आय-व्यय खाता** (The Balance Sheet of a Bank) : किसी बैंक की कार्यवाहियों पर उसके आय-व्यय खाते यानी बैलेन्स शीट से बड़ा

प्रकाश पड़ सकता है। किन्तु किसी अनजान के लिए उसे समझना आसान नहीं है। इसका उदाहरण देने के लिए हम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की एक बैलेन्स शीट नीचे देते हैं :—

स्टेट बैंक आफ इण्डिया* की २४ फरवरी, १९५६ को बैलेन्स शीट

दायित्व (Liabilities) लाख रुपयों मे		पूँजी (Assets) लाख रुपयों में	
प्राप्त पूँजी (पेड-अप केपिटल)	५६२·५०	हाथ मे या बैंक में ध्रुव नक़द	२०१४·२९
ध्रुव फंड	६३५·००	दूसरे बैंकों में रकम (balance)	३६३·७६
जमा	२३६९३·३२	तुरन्त व अल्प-कालीन सूचना पर लौट सकने वाला द्रव्य	६६·६७
दिए जाने वाले बिल	६९७ ६०	सरकारी और दूसरी ट्रस्टी सिक्योरिटी	१०५११·८७
वसूल किए जाने वाले बिल	६३·४२	दूसरी तरह लगाया रुपया (Investments)	९७५·४६
स्वीकृतियाँ आदि	१७·३२	उधार, ओवर ड्राफ्ट आदि	८६६८·१०
अन्य बैंकिंग कम्पनियों से उधार	१००·००	बट्टे पर खरीदे हुए बिल	३३७४·३६
विविध	६४७ ३५	प्राप्त होने वाले बिल	६३·४२
		स्वीकृतियाँ आदि	१७·३२
		भवन, इमारते (मूल्य में कमी काटकर)	११५·८३
		फर्नीचर और अचल सामान	४८·३३
		अन्य पूँजी	१९७·१०
कुल	२६,४१६·५१	कुल	२६,४१६·५१

बैलेन्स शीट में दो कालम होते हैं। बाएँ कालम में वे कुल दावे (claims) दिए जाते हैं जो शेयर होल्डर, जमा करने वाले अन्य लोग बैंक पर कर सकते हैं। इन्हें दायित्व या उत्तरदायिताएँ (liabilities) कहते हैं। दाहिने कालम मे ध्रुव, हाथ में नक़दी और बैंक के अन्य लोगो पर दावे दिए होते हैं। ये बैंक की पूँजी (assets) कहलाते हैं।

उत्तरदायिताएं (Liabilities) : प्राप्त पूँजी (paid up capital) और ध्रुव कोष या रिजर्व फण्ड (reserve fund) तो अन्त मे शेयर होल्डर्स के होते हैं। इसलिए वे बैंक के दायित्व में गिने जाते हैं। बैंक उनके आधार पर ही अपना कारबार चलाता है किन्तु ध्रुव कोष (reserves) खासकर आपत्ति काल (emergency) के लिए होते हैं।

जमा दो किस्म की होती है : चालू और ध्रुव (current and fixed)

*जुलाई १९५५ में इम्पीरियल बैंक और कुछ दूसरे बैंक मिलाकर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बना दियो गया है।

या मांग और मुद्दती जमा (demand and time deposits)। इनको देना बैंक के जिम्मे होता है। चालू खाता जमा (current account deposits) जमा करने वालों की मांग (call) पर किसी समय भी निकाले जा सकते हैं जबकि मुद्दती ध्रुव जमा (time fixed deposits) जमा की मुद्दत पूरी हो जाने पर ही निकाले जा सकते हैं। आमतौर पर चालू खाता जमा पर कोई सूद नहीं दिया जाता है जबकि दीर्घकालीन जमा में सूद की दर जमा की मुद्दत के साथ बढ़ती है। जितना समय ज्यादा हो उतनी ही उसकी दर ज्यादा होती है। दायित्व (liability) की ओर आखिरी मद (item) स्वीकृतियां (acceptances) का है। ये वे बिल हैं जिन्हें बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार कर लिया है। इन बिलों की रक़म अदा करने का दायित्व बैंक पर तभी पड़ता है जब ग्राहक उन्हें अदा न कर पाएं। फिर विविध दायित्व भी हैं।

पूंजी (Assets) : दाहिने कालम के मद बैंक की कार्यवाहियों पर प्रकाश डालते हैं। पहला मद है नक़द (cash)। बैंक को कुछ नक़द रखना पड़ता है जिससे अपने जमा करने वालों की मागों (calls) को पूरा करने के लिए रोज का काम चलाया जा सके। अपने अनुभव से बैंक को यह पता रहता है कि इस काम के लिए कितना रुपया रखा जाय। फिर बैंकों के ग्राहको द्वारा लाए हुए चैक भी आते रहते हैं जिनकी दूसरे बैंकों से वसूली करनी पड़ती है। यह भी नकद (कैश) के ही बराबर है। रिजर्व बैंक में जो नक़द है, वह उतना ही अच्छा है जितना अपने हाथ में, बल्कि कुछ अर्थों में उससे भी अच्छा। क्योंकि इससे ग्राहकों का बैंक में ऐतबार या विश्वास (confidence) बढ़ जाता है। अगला मद (item), उधार और पेशगी (loans and advances) है। यह बैंक अपने ग्राहकों को बहुत थोड़े समय के लिए देता है और जरूरत पड़ने पर थोड़ी-सी सूचना पर (at short notice) बैंक इसे फौरन वापस मांग सकता है। आमतौर पर इस प्रकार के कर्जो के पीछे शेयर और सिक्योरिटी होती हैं। लेकिन कभी-कभी विश्वस्त ग्राहकों को उनकी व्यक्तिगत सिक्योरिटी पर ही छोटी-मोटी रक़में दे दी जाती हैं। इस प्रकार के ओवर ड्राफ्ट (over-draft) बहुत थोड़े समय के लिए होते हैं और जब ग्राहक पैसा लौटा देता है, तब यह अपने आप पूरे हो जाते हैं।

पूंजी के कालम मे अगला मद बट्टे पर खरीदे गए (discounted) पत्रों का है। ऐसे पत्र (बिल) एक निश्चित अवधि के बाद पावना (mature) होते हैं। व्यापारी पत्र (trade bills) कभी भी ९० दिन से अधिक के नही होते, और सुरक्षित प्रनियोग (safe investment) है। भारत में कृषि-सम्बन्धी पत्र (बिल) ९ महीने तक चल सकते हैं। बैंक अपना पैसा ऐसे पत्रों में भी लगा सकता है। दुर्भाग्यवश इस देश में औरों की अपेक्षा ऐसे पत्रों (बिलों) का बाजार बड़ा नहीं है, इसलिए इस दिशा में बैंक जितना चाहते हैं उतना व्यवसाय नहीं बढ़ा पाते। यदि बैंक के पास फिर भी कुछ फालतू पैसा बचा रहता है जो निष्क्रिय है, तो वह उसे केन्द्रीय राज्य तथा स्थानीय सरकार की सिक्योरिटीज़ (securities) में लगा देते हैं। कुछ औद्योगिक प्रतिष्ठानों के ऐसे बांड (bonds) व शेयरों को भी खरीद सकते हैं जिनका

केन्द्रीय बैंक ने अनुमोदन (approval) कर दिया हो। निस्सन्देह इनमें से कुछ सिक्योरिटीज ज़रूरत के वक्त आसानी से बेची जा सकती है, किन्तु कुछ सिक्योरिटीज शायद संकट (crisis) में बिक न सकें क्योंकि उनका मूल्य गिर सकता है। इसलिए बैंक के लिए ज़रूरी है कि अपने स्रोत (resources) जितने द्रव (liquid) अवस्था में रख सके रखे।

पूंजी (assets) की सूची में आखिरी मद है अचल सम्पत्ति (dead stock) जिसमें मुख्यतया ज़मीन, मकानात और फर्नीचर आदि होते हैं। बैंक की सम्पत्ति के यह सबसे कम द्रव (liquid) अंश हैं, और गिरते हुए बाज़ार में इन्हे उचित कीमत पर बेचना असम्भव है। इसीलिए बैंक अपना रुपया इनमें नहीं फंसाते और आमतौर पर सुरक्षित ऋणों और पत्रों में लगाते हैं।

बैंक का आय-व्यय लेखा पढना आसान नहीं है। कुछ देशों में बैंक अलग-अलग दिन अपना खाता प्रकाशित करते हैं। जिस दिन जिस बैंक की बारी होती है, वह कुछ पत्र और सिक्योरिटी बेचकर दूसरे बैंकों से नक़द ले लेता है। इससे उस दिन का उसका नक़द—कैश रिजर्व—बढ़ जाता है। अगले ही दिन वह रुपया फिर बाज़ार में डाल दिया जाता है, जिससे उसका उपयोग दूसरा बैंक कर सके। ध्रुव कोष के इस प्रकार अस्थायी रूप से मांग कर प्रत्येक बैंक के अपने द्रव स्रोत (liquid resources) जितने वास्तव में होते हैं उससे ज़्यादा दिखा सकता है। एक ही रक़म बारी-बारी से कई बैंकों के नक़द स्रोतों को दिखाने में काम आती है। यह तरीका जिसे बाह्य सजावट या विन्डो-ड्रेसिंग (window dressing) कहते हैं, आपत्तिजनक है। यदि किसी देश में सुदृढ़ केन्द्रीय बैंक हो तो यह रुक सकती है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपने राष्ट्रीयकरण के समय से ऐसी बहुत-सी बुराइयों से देश को मुक्त कर दिया है।

७. **क्या बैंक मज़बूत है ?** (Is the Bank Sound)—**मुनाफ़ा बनाम रिजर्व** (Profits versus Reserves) : किसी बैंक की बैलेन्स शीट से हमे उसकी स्थिति का ठीक अन्दाजा लग सकता है। हमारे निर्णय का आधार बैंक के रिजर्व और उसके दायित्व (liabilities) का अनुपात है। आप जानते है कि कोई बैंक भी अपनी नक़द सम्पत्ति (cash reserves) के आधार पर रुपया उधार दे सकता है। यह कहलाता है "उधार पैदा करना" (creation of credit)। यदि अच्छे मुनाफे के प्रलोभन से उधार बहुत ज्यादा बढ़ा दी जाय और इसके बदले में पर्याप्त रिजर्व न रखे जायं तो बैंक खतरे में पड़ सकता है। जरा-सा† "रश" होते ही इसको दिवाले के लिए अदालत मे जाना पड़ सकता है। फिर अगर बैंक अपना रुपया दीर्घकालीन कामों (long term investments) में फंसा देता है—जैसे कारखानों, ज़मीनों और मकानों में, जो एक दम नहीं बेचे जा सकते, तो हो सकता है इसे बन्द ही होना पड़े।

†रश (Rush) का मतलब होता है बैंक से रुपया निकलवाने की दौड़। किसी कारण से जब बैंक की प्रतिष्ठा गिरने लगती है तो जमा करने वाले अपना रुपया निकलवाने लगते हैं। कभी-कभी यह मांग इतनी बढ़ जाती है कि कुछ घंटों के अन्दर ही डिपाजिट से अपना सारा रुपया वापस चाहते है।

परिणाम यह निकलता है कि किसी बैंक को मजबूत बने रहने के लिए :—

(क) उसे चाहिए कि रुपया सट्टे में लगाने को न दे।

(ख) उसे दीर्घकाल में मुनाफ़ा देने वाले औद्योगिक धन्धों में रुपया नहीं लगाना चाहिए।

(ग) उसे एक व्यक्ति को बहुत बड़ी रक़म उधार नहीं देनी चाहिए, क्योंकि यदि वह आदमी असफल हो जाए, तो बैंक भी साथ ही डूब सकता है।

(घ) उसे उधार (loans) और पेशगी में दिए गए (advances) के मुकाबले में नक़द का अनुपात (ratio) अच्छा रखना चाहिए। अन्य रिजर्व भी जब तक सम्भव हो द्रव अवस्था* में (liquid) रखने चाहियें।

इस तरह मुनाफे एक तरफ़ हैं और रिजर्व दूसरी तरफ़। अधिक रिज़र्व का मतलब है कम मुनाफ़ा। बैंक को बीच का रास्ता अपनाना पड़ता है। उसे मुनाफ़ा कमाना है किन्तु अधिक उधार और सट्टा करके नहीं। यदि बैंक खुद सट्टा खेलता है तो किसी-न-किसी दिन मुसीबत में ज़रूर पड़ेगा। भारत में ज्वएंट स्टाक बैंकिंग के आरम्भिक इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जहां बैंक सट्टे की वजह से बन्द हो गए। एक बहुत बड़े बैंक, एलाएन्स बैंक ऑफ शिमला (Alliance Bank of Simla) की विफलता का यही कारण था।

कोष (रिज़र्व) और दायित्व के अनुपात के बारे में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। अन्त में तो कोष बैंक के ग्राहकों की सामान्य मांग पर निर्भर है। आकस्मिक मांग (call) पूरी करने के लिए जिसकी कोई भी पहले से भविष्यवाणी नही कर सकता—बैंक के प्रनियोग (investment) द्रव (liquid) होने चाहिएं जिससे ज़रूरत पड़ने पर उनका नक़द वसूल किया जा सके। आजकल हर बैंक को अपनी जमा का एक प्रतिशत देश के केंद्रीय बैंक में रखना पड़ता है। इस जमा को बैंक की जमा (bankers' deposit) कहते हैं और यह उतनी ही सुरक्षित है जितनी खुद बैंक की अपनी तिजोरी में। केन्द्रीय बैंक इस जमा द्वारा सदस्य बैंकों को नियंत्रित (कन्ट्रोल) करता है और इस प्रकार देश में कुल उधार (total credit) के निर्गम (issue) पर नियंत्रण (कन्ट्रोल) रखता है। यह जमा आपत्ति काल में सदस्य बैंकों (member banks) को मदद करने मे भी काम आती है, बशर्ते कि बैंक अन्यथा सुदृढ़ हों।

यह देखा गया है कि जिन देशों में लोग शिक्षित और बैंक की ओर प्रवृत्त (bank minded) होते हैं, उनमें पेशगी (advance) के मुकाबले में रिज़र्व का अनुपात पिछड़े हुए देशों की अपेक्षा कम है। संयुक्त राज्य (U. K.) में यह अनुपात कभी-कभी ९ प्रतिशत तक गिर जाता है जबकि भारत में आमतौर पर १३ प्रतिशत से ऊपर रहता है। पुराने बैंकों में, जिनकी प्रतिष्ठा बनी हुई है, नए बैंकों की अपेक्षा, यह अनुपात कम रहता है।

८. **केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता** (Need for a Central Bank) : पहले महायुद्ध में और युद्धोत्तर काल में बहुत-से देश अपनी करेन्सी और उधार नियंत्रण

*द्रव पूंजी (liquid assets) का अर्थ होता है वह सम्पत्ति या धन जिसे शीघ्र ही नक़द में बदला जा सके।

(कन्ट्रोल) की मुसीबत में फंसे हुए थे। इन कठिनाइयों का प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि केन्द्रीय बैंकिंग का विकास हुआ। आज लगभग सभी देशों में एक केन्द्रीय बैंक है। इस बैंक से यह आशा की जाती है कि यह देश के द्रव्य-मान (money standard) को कायम रखेगा और इसकी रक्षा करेगा। इस कार्य में इसे मुनाफ़ा पाने की आशा नहीं रहती। इसलिए यदि यह निजी संस्था (private institution) भी हो तो भी इसे एक निश्चित नीची दर (लगभग ५ प्रतिशत) से अधिक लाभांश (dividend) नहीं देने दिया जाता। यह अपने साधारण कार्य बिना रुकावट के करता है, चाहे किसी प्रजातान्त्रिक देश में कोई भी दल सत्ता में हो। अब हम केन्द्रीय बैंक के कार्यों का अध्ययन करेंगे।

९. केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of a Central Bank) :

(१) इसे नोट निर्गम करने का अधिकार होता है। पहले कुछ देशों में बहुत-से बैंक अपने नोट चलाते थे। इससे अनियंत्रित गडबड़ फैलती थीं। इसलिए धीरे-धीरे नोट निर्गम (issue) करने का अधिकार साधारण बैंकों से लेकर देश के केन्द्रीय बैंक का एकमात्र अधिकार बना दिया गया है, और उसके नोट देश के पूर्ण विधि-मान्य अंकन (full legal tender) बन गए। इस कार्य में केन्द्रीय बैंक को कानून द्वारा नियत नियमों का पालन करना पड़ता है। इसे अनिवार्यतः (compulsorily) सोने चाँदी के रिजर्व रखने पड़ते हैं और निश्चित अनुपात में चुने हुए (selected) बन्धक (सिक्योरिटीज) जिनसे कागज-चलन (paper currency) में और ज़रूरत पडने पर उसकी परिवर्तनीयता (convertibility) में लोगों का एतबार बना रहे। यह अनुपात हर देश में भिन्न होता है और उनकी विशेष परिस्थितियों पर निर्भर है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के पास अपने नोटों के मुकाबले में ४० करोड़ रुपये का सोना और भारत सरकार, स्टर्लिंग और डालर की सिक्योरिटीज हैं।

(२) **यह बैंकरों का बैंक है** (It acts as a Bankers' Bank) : देश के दूसरे सभी बैंकों को कानूनन अपनी कुल जमा का एक निश्चित अंश केन्द्रीय बैंक में रखना पड़ता है। इन रिजर्वों से केन्द्रीय बैंक को इन वाणिज्यिक बैंकों के उधार का नियंत्रण करने में मदद मिलती है। बदले में सारे बैंक अपने आपत्ति काल में रिज़र्व बैंक की सहायता पा सकते हैं। यह सहायता अनुमोदित (approved) सिक्योरिटीज के आधार पर उधार की शक्ल में हो या विनिमय पत्रों को बट्टे पर पुनः खरीद (rediscount) हो। इस प्रकार कठिन समय में, केन्द्रीय बैंक अन्य तमाम बैंकों का अन्तिम शरणस्थल है, क्योंकि उनकी आपत्ति के समय उन्हें किसी अन्य प्रतियोगी संस्था से सहायता मिलने की कोई आशा नहीं होती।

भारत में, अनुसूचित बैंकों (scheduled banks) को अपने चालू जमा (current deposit) का कम-से-कम पाँच प्रतिशत और ध्रुव जमा (fixed deposit) का दो प्रतिसत रिजर्व बैंक में सुरक्षित रखना पड़ता है। बदले में उन्हें रिजर्व बैंक को अपने पत्रों को फिर बट्टे पर बेचने और ज़रूरत पर अपनी अनुमोदित सिक्योरिटीज़ रखकर ऋण लेने की सुविधा रहती है।

(३) **यह राज्य का बैंक होता है** (It serves as State Bank) : पहले सभी देशों की सरकारें देश भर में जगह-जगह खजाने (treasuries) बनाती थीं। आजकल वे अपना रुपया केन्द्रीय बैंक में रखती हैं। यह इस बैंक के लिए विशेष अधिकार भी है और इस पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी भी। केन्द्रीय बैंक को, जब भी उससे मांग की जाय, केन्द्रीय, राज्य या स्थानीय सरकारों को रुपया देना पड़ता है। सरकार को टैक्स तो साल के कुछ महीनों में ही मिलते हैं, जबकि रुपये की ज़रूरत हमेशा पड़ती है। इसलिए आवश्यकता पड़ने पर सरकार केन्द्रीय बैंक से कुछ दिनों के लिए उधार ले लेती है। इन उधारों (loans) को 'उपाय और साधन पेशगी' (ways and means advances) कहते हैं। इनके अलावा केन्द्रीय बैंक को सरकार के लिए कुछ कर्जे (government loans)—अस्थायी (जैसे ट्रेज़री बिल) या स्थायी—भी निकालने पड़ते हैं। इसके अलावा यह बैंक सरकारी कोष को एक स्थान से दूसरे को पहुँचाता है, विदेशी करेन्सी खरीदता है और सार्वजनिक ऋण (public debts) का नियंत्रण करता है। और दूसरा ज़रूरी कार्य जो यह करता है वह है सरकारी कोष अपने पास रखना जिस पर इसे कोई सूद नहीं देना पड़ता। बदले में सरकार केन्द्रीय बैंक की स्थिरता की गारण्टी लेती है और इसकी कार्यवाहियों की देख-रेख करती है।

भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और म्यूनिसिपल कारपोरेशनों के लिए रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया यह सब कार्य करता है।

(४) **यह द्रव्य-बाज़ार का संरक्षक होता है** (It is the Guardian of the Money Market) : इस वाक्यांश से ही ज़ाहिर है कि केन्द्रीय बैंक का देश की करेन्सी और साख में क्या महत्त्व है। हमने देखा है कि किसी देश में कीमतों पर द्रव्य के ही समान साख (credit) का भी असर पड़ता है और साख बनाना (creation of credits) वाणिज्यिक बैंकों का महत्त्वपूर्ण कार्य है। किसी देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए कीमतों का उतार-चढ़ाव खतरे की चीज़ है। देश की आर्थिक अवस्था को स्थिर रखने का भार केन्द्रीय बैंक पर रहता है। इस कार्य को पूरा करने के लिए (क) यह स्वयं के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध (ban) या नियंत्रण (control) लगा सकता है, (ख) और देश में साख (credit) के कुल परिमाण को तीन तरह से नियंत्रित कर सकता है :—

(i) **बैंक दर में परिवर्तन करके** : ऊँची दर का मतलब है केन्द्रीय बैंक को बट्टे पर बिल बेचने में अधिक व्यय। इससे व्यापारियों में उधार लेने का उत्साह कम रह जाता है। कम दर इसका उल्टा असर करती है। जब से १९३५ में भारत में रिज़र्व बैंक बना था, बैंक दर ३ प्रतिशत थी, पर नवम्बर १५, १९५१ से उसे उठा कर ३½ प्रतिशत कर दिया गया।

(ii) **'खुला-बाज़ार कार्यवाहियों से** (By Open Market Operations) : यदि बैंक 'सरल द्रव्य' (easy money) की अवस्था पैदा करना चाहता है तो यह सिक्योरिटीज़ खरीद कर रुपया बाज़ार में डाल देता है। इससे 'साख का बनना' (creation of credit) प्रोत्साहित होता है। बैंक द्वारा सिक्योरिटीज़ के विक्रय से द्रव्य-बाज़ार से अतिरिक्त द्रव्य (surplus money) कम हो जाता है।

(iii) **अन्य बैंकों के रिज़र्व अनुपात को बदलने से** (By changing the reserve ratios of other banks) : केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के जमा के मुकाबले कम या ज़्यादा रिज़र्व रखने की आज्ञा दे सकता है। अमेरिका में यह अधिकार फेडरेल रिज़र्व सिस्टम (federal reserve system) को प्राप्त है। ऊंचा रिज़र्व अनुपात बैंकों से नक़द लेकर उनके पास उधार देने को कम रुपया छोड़ेगा और इसके विपरीत (vice versa) अधिक छोड़ेगा।

(५) केन्द्रीय बैंक को देशी करेन्सी का वैदेशिक मूल्य भी स्थिर रखना पड़ता है : उदाहरण के लिए भारत में रिज़र्व बैंक ने रुपये की दर १ शिलिंग ६ पेन्स पर रखी है, यद्यपि डालर के मुकाबले में करेन्सी का १९४९ में अवमूल्यन (devaluation) हो गया है। यह इस वजह से कि अमेरिका में भारत का ट्रेड बैलेन्स यानी व्यापार-शेष* बड़ा प्रतिकूल (unfavourable) होता जा रहा था। संयुक्त राज्य (U. K.) ने भी डालर के मुकाबले में अपनी करेन्सी का अवमूल्यन कर दिया है। पाकिस्तान को छोड़कर अन्य कामनवेल्थ देशों ने संयुक्त राज्य (U.K.) का अनुकरण किया। पाकिस्तान ने १९५५ में अवमूल्यन किया। इसी कारण १९४९ से १९५५ तक १०० पाकिस्तानी रुपये १४४ भारतीय रुपयों के बराबर थे। अब उनके १०० अधिकृत रूप से हमारे १०० के ही बराबर हैं। वास्तव में तो पाकिस्तानी रुपये का असली मूल्य बाज़ार में भारतीय रुपये से कम ही रहा है। संक्षेप में, न केवल देश के अन्दर बल्कि बाहर भी मुद्रा की क्रय शक्ति स्थिर होनी चाहिए।

(६) केन्द्रीय बैंक चैकों के लिए निकासी गृह (Clearing House) **का काम करता है** : यह वाणिज्यिक बैंकों के हिसाब साफ करके उन्हें अपने ऋण चुकाने में मदद करता है। यह काम खातों में परिवर्तन (book entries) द्वारा होता है।

यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों की स्पर्धा में खड़ा नहीं होता। यह अपने पास रखे गए रुपये पर सूद देता है। यदि यह सरकारी संस्था हो तो कोई लाभांश (dividend) नहीं देता, और यदि निजी संस्था (private institution) हो तो कम लाभांश देता है और अतिरिक्त मुनाफ़ा सरकार को दे देता है। अब रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया राष्ट्रीय बैंक है, इसलिए यह कोई मुनाफ़ा नहीं देता।

१०. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया (Reserve Bank of India) : यह इस देश का केन्द्रीय बैंक है। यह १९३५ में सरकार के संचालन में शेयर होल्डरों के बैंक के रूप में स्थापित हुआ था। १९४९ में इसका राष्ट्रीयकरण हो गया। यह वे सभी कार्य करता है जो कोई भी केन्द्रीय बैंक करता है। यह नोटों का निर्गम करता है और एक्ट के अन्तर्गत बनाए गए नियमों के अनुसार रिज़र्व रखता है। यह बैंकरों का बैंक है। सभी अनुसूचित बैंकों को इसमें अपने कोष रखने पड़ते हैं। यह अपने यहाँ जमा पर कोई सूद नहीं देता। यह वे तमाम कार्य करता है जो सरकार इससे चाहती

*future आयात-निर्यात (import-export) के अनुपात से किसी देश को जो देना-पावना (deposit-credit) निकलता है वही ट्रेड बैलेन्स कहलाता है।

है। यह द्रव्य-बाज़ार का दृढ़ संरक्षक (guardian) है। यह सरकारी नीति के अनुसार देश का बाह्य अनुपात (external ratio) भी बनाए रखता है।

११. विनिमय बैंक (Exchange Banks) : यह बड़े-बड़े प्रतिष्ठान हैं जिनकी बड़ी पूंजी है। इनकी कार्यवाहियाँ विश्व भर मे फैली हुई हैं और यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। ये बहुत थोड़े मुनाफ़े पर व्यवसाय करते हैं किन्तु चूंकि इनका कारबार व्यापक है इसलिए इनका कुल मुनाफ़ा बड़ा होता है। भारत का अपना कोई एक्सचेंज बैंक अब तक नहीं है। इसके ज्वाएंट स्टाक बैंक ही किसी हद तक विदेशी व्यापार को वित्तीय सहायता देते हैं। किन्तु भारत के आज़ाद हो जाने पर अब उसका कोई अपना बढ़िया विनिमय बैंक होना चाहिए। उसकी आवश्यकता आर्थिक विकास की जो योजनाएं हाथ मे ली जा रही हैं उनके कारण और भी बढ़ गई है।

इस अध्याय से आपने क्या सीखा ?

बैंकों की परिभाषा (Definition of Banks) : बैंक साख (credit) बनाता है और उसमें कमीशन खाता है। जो लोग बचा सकते हैं उनसे रुपया इकट्ठा करके जिन्हें ज़रूरत होती है उधार देता है।

बैंकों का विकास (Evolution of Banks) : बैंक शब्द इटैलियन बैंको (Banco) या बेंच (bench) शब्द से निकला है, जिन पर बैठ सुनार या सिक्के बदलने वाले (money changers) लोगों के सिक्के बदला करते थे। लोग उनके पास हिफाजत के लिए रुपया रख देते थे और जरूरत के वक्त निकलवा लेते थे। अपने तजुर्बे से इन बैंकरों ने देखा कि लगभग हमेशा ही उनके पास बड़ी राशि में रुपया जमा रहता था। इसलिए किसी ने सोचा कि इस राशि को सूद पर चलाकर क्यों न कमाया जाय। धीरे-धीरे जमा के लिए रसीदें चलने लगीं, जो रुपये की जगह काम आ सकती थीं।

बैंकों के लाभ (Advantages of Banks) :

(१) ये उद्योगपतियों की मदद करते है।

(२) व्यापारियों को वित्तीय सहायता देते है।

(३) व्यक्तियों की बचत को इकट्ठा करके पूंजी बनाने (capital formation) में सहायता देते हैं।

(४) रुपया भेजने (remittances) की सुविधाएं देते हैं।

(५) फसलों को भेजने में मदद देते हैं।

(६) यात्रा सहज बनाते है।

(७) सुरक्षित धरोहर रखते है।

(८) अपने ग्राहकों की ओर से एजेन्सी का काम करते हैं।

बैंक निम्न प्रकार के होते हैं :—

(१) वाणिज्यिक (commercial) बैंक जो व्यापार में वित्त और अल्पकालीन उधार देते हैं।

(२) विनिमय (Exchange) बैंक जो विदेशी व्यापार को वित्त देते हैं।

(३) औद्योगिक (Industrial) बैंक जो उद्योगों को दीर्घकालीन उधार देते है।

(४) सहकारी (C-ooperative) बैंक जो गरीबों और खेतिहरों को उधार देते हैं।

(५) सेविंग्स (Savings) बैंक जो छोटी आय के लोगों को बचत करने में सहायता देते हैं।

(६) केन्द्रीय (Central) बैंक या बैंकरों का बैंक (Bankers' Bank)।

बैंक के कार्य (Functions of a Bank) : बैंक वह संस्था है जो द्रव्य का व्यापार करती है (Bank is an institution which deals in money)। यह निम्नलिखित कार्य करती है :—

(i) यह जमा (डिपाजिट) लेते हैं—जो निकलवाने (Withdrawal) की सूचना देने की अवधि (Notice period) के अनुसार चालू (Current), ध्रुव (Fixed) या सेविंग्स खाता (Savings Accounts) कहलाती है।

(ii) ये ओवर ड्राफ्ट (Over drafts) देकर या 'जमा बना कर' (by creating deposits) उधार देते हैं।

(iii) ये बिलों को बट्टे पर खरीदते हैं—बैंक विनिमय पत्र लेकर उनके चालू मूल्य में से डिस्काउंट (बट्टा) लेकर पैसा देते हैं। यह उन्हें पावना (mature) होने तक रखते हैं और अन्तर को मुनाफे के रूप में प्राप्त करते है।

(iv) यह कुछ अन्य फुटकर काम भी करते है जैसे अपने ग्राहकों के एजेन्ट की तरह कार्य करते हैं, ट्रस्टी बनते है, वसीयतों को देखभाल करते है; और 'सुरक्षित धरोहर (safe deposit vaults) के लिए तिजोरिया देते हैं।

आय-व्यय खाता (Balance sheets) : हर बैंक अपनी वित्तीय स्थिति (financial position) का साप्ताहिक विवरण प्रकाशित करता है। इसके आय-व्यय खाते में दो कालम होते हैं—दायित्व (liabilities) और पूंजी (assets)। किन्तु वास्तविक स्थिति को बाह्य सज्जा (window dressing) द्वारा छिपाया जा सकता है, जिसका मतलब है दिखाने के लिए अस्थायी रूप में नकद ले लेना।

बैंक कोष और मुनाफा (Bank reserves and profit) : अपना कार्य सन्तोषजनक रूप से चलाने के लिए एक बैंक को कुछ कोष रखने पड़ते हैं जो (क) उसकी तिजोरी में नकद हों, (ख) केन्द्रीय बैंक में उसके नकद रिजर्व हों, या (ग) द्रव्य-प्रतियोग (liquid investmets) हों, जिन्हें जब चाहें नकद में बदला जा सकता है।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Need for a Central Bank) : देश के द्रव्य-हितों (monetary interests) को सुरक्षित रखने के लिये।

केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of a Central Bank) : (१) इसे नोट निर्गम करने का एकाधिकार होता है। इसे कागज-द्रव्य को स्थिर रखना पड़ता है और इसके लिए धातु रिजर्व रखना पड़ता है। (२) यह बैंकरों का बैंक है और वक्त पड़ने पर अन्तिम सहारा है, जो उधार देता है, (३) यह सरकार के बैंकर का काम करता है (४) यह द्रव्य-बाजार (money market) का संरक्षक है। यह कार्य यह (क) उधार कम ज्यादा करने के लिए बैंक दर में परिवर्तन करके, (ख) 'खुला-बाजार-कार्यवाहियों' (open market operations) यानी बिलों और सिक्योरिटीज को खुले बाजार में क्रय-विक्रय करके, और (ग) वाणिज्यिक बैंकों के रिजर्व अनुपात को बदलकर करता है।

केन्द्रीय बैंक मुनाफे के लिए काम नहीं करता।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) : यह देश का केन्द्रीय बैंक है, जो १९३५ में स्थापित और १९४९ में राष्ट्रीयकृत हुआ था। यह केन्द्रीय बैंक के तमाम कार्य करता है।

विनिमय बैंक (Exchange Banks) : ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को वित्त देते हैं। भारत का अपना कोई ऐसा बैंक नहीं है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1. What is a bank ? Describe the functions of a Modern bank. "Bank is a factory of credit".

(कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४७, कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० कॉम १९३९, इलाहाबाद १९३७, दिल्ली १९४४।)

[देखिये विभाग १ और ५, (ख) (ii) बैंक की साख उत्पन्न करने की सामर्थ्य अपरिमित है । यह ध्रुव कोष रखने की जरूरत और केन्द्रीय बैंक की नीति से नियत होती है ।]

2. What is a bank ? Describe the various forms of money that banks usually create. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३)

[देखिये विभाग १ और ५ (ख) (ii)—ठीक-ठीक कहें तो केन्द्रीय बैंक को छोड़कर अन्य बैंक चलन-द्रव्य (currency money) नहीं वरन् साख-द्रव्य (credit money) उत्पन्न करते हैं ।]

3. How does a bank make its profits ? What is meant by "run upon a bank" ? In what cases may a run upon a bank cause its failure ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९३५)

[देखिए विभाग ५ और ७ । यदि उसकी रिजर्व की स्थिति द्रवता (liquidity) कमजोर है, यदि देश में कोई केंद्रीय बैंक नहीं है, या यदि यह केंद्रीय बैंक उसकी ओर उदासीन रहता है तो दौड़ (run) से बैंक का दिवाला निकल जाएगा ।]

4. How do banks help trade and industry ? Do we need different kinds of banks to finance agriculture, trade and industry ? Why ? (अजमेर १९५५)

5. Distinguish between the functions of the Reserve Bank of India and a bank such as the Punjab National Bank and the Central Co-operative Bank of a district.

देखिये विभाग ५, ४ (च) और ६

6. Enumerate the various types of banks and detail the types of work they specialize in.

देखिये विभाग ४, ८

7. How does the banking system of a country help its economic development ?

[पूंजी बचत बढ़ती है और आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है । साख औद्योगिक विकास एवं वाणिज्य को सुगम बनाती है ।]

8. Write notes on,—

'Fiduciary', 'open market operations', 'bank rate.'

देखिए अध्याय १८, विभाग १०. अध्याय २१, विभाग ६ (४) (i) और (ii) ।

9. If you have to make payment to a distant place in India what form of remittance would you choose, and why.

(पंजाब यूनीवर्सिटी, १९४२)

[यह साधारण या तार मनीआर्डर, पोस्टल आर्डर, चैक या बैंक ड्राफ्ट के जरिये भेजा जा सकता है । यदि उस स्थान में कोई बैंक हो तो बैंक ड्राफ्ट सबसे सस्ता, सुरक्षित और सुगम उपाय है नहीं तो मनीआर्डर सबसे आसान है ।]

10. What is a commercial bank ? What are its main functions ? Name four important commercial banks working in India.

(यू० पी० इंटर बोर्ड, १९४२)

देखिये विभाग ४ (क) और ५ ।

11. Indicate carefully the functions of a commercial bank. Why is it said that the function of a banker is that of a middleman ?

(दिल्ली १९५५)

12. Give a brief account of the Reserve Bank of India and analyse its functions.

(कलकत्ता विश्वविद्यालय १९३८, आगरा १९४६, ढाका १९४३, नागपुर १९३८, यू० पी० इंटर, बोर्ड १९४७)

देखिये विभाग ९।

13. What are the services performed by a bank? Is the village Mahajan in India a banker in the true sense of the term?

(यू० पी० इण्टर, बोर्ड १९४६)

देखिए विभाग ३, ४

[नहीं, गाव का महाजन शब्द के ठीक-ठीक अर्थों में बैंकर नहीं है।]

14. Draw up a hypothetical balance-sheet of a commercial bank and explain the items on each side.

(कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० काम०, १९४६)

देखिए विभाग ६

15. What limits, if any, are there on a bank's power of creating credit?

(कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० काम, १९४०, इलाहाबाद १९४०, आगरा, १९२८)

देखिए विभाग ७

16. What is a Central Bank? Describe its functions. Is the Reserve Bank of India performing these functions successfully?

(बम्बई १९५२, यू० पी० १९५१)

देखिए विभाग ९, १०

17. Briefly describe the functions of an Exchange Bank. Compare its functions with those of Commercial Banks.

देखिए विभाग ११।

18. What are banks? Classify them according to their functions and explain the functions of commercial banks. (बम्बई १९५३)

देखिए विभाग १, ४, ५।

19. Draw up the balance sheet of any commercial bank working in your State. Explain clearly the items entered in the two columns of the balance sheet. (पंजाब विश्वविद्यालय १९५३)

देखिए विभाग ६

20. "It is the function of the banking system to keep the wheels of production running." Elucidate the above statement and indicate the economic benefits that a country derives from a sound banking organisation. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५२)

[देखिए विभाग ३। बैंकिंग व्यवस्था देश के निष्क्रिय धन को खींचकर उत्पादक मशीनरी के पहियों को चलाती है।]

21. Write short notes on : (a) Clearing House, (b) Bank Rate. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५१)

[(क) हर बैंक को हर रोज अपने ग्राहकों से चैक मिलते हैं जो दूसरे बैंक से रुपया निकाल कर उनके हिसाब में जमा करने के लिए होते हैं। ऐसे हिसाब को साफ करने के लिए निकासीगृह स्थापित करने पड़ते हैं, जिनमें हर बैंक के प्रतिनिधि रोज मिल सकें।

(ख) बैंक दर वह सरकारी निम्नतम (official minimum) दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक विनिमय पत्रों पर बट्टा (discount) करता है।]

अध्याय २३

अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार

(INTERNATIONAL TRADE)

माल के बदले माल

(Goods for Goods)

१. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्या है ? (What is International Trade) : अपने घर के पास के किसी जनरल स्टोर में जाइये तो पूछने पर आप को पता चलेगा कि उनके स्टाक में बहुत-सा माल भारत का बना हुआ नहीं है वरन् दुनिया भर से आया हुआ है। टूथपेस्ट, टूथब्रश, ऊन, प्याले, प्लेटें, मक्खन के डब्बे, और न जाने क्या-क्या सब विदेशी हैं। वे बड़ा-बड़ा लम्बा सफर तय करके, इंग्लैण्ड, अमरीका, जापान, आस्ट्रेलिया और दूसरे देशों से आये हैं। लगभग सारी दुनिया ने आपकी ज़रूरियात जुटाने में और आपको आराम पहुँचाने में अपना-अपना अंशदान दिया है। इन चीज़ों के बदले में भारत उन्हें अनेक वस्तुएं देता है, जैसे तिलहन, जूट का सामान, चाय, मैंगनीज, चाय वगैरा जो वह पैदा करता है। माल का यह आदान-प्रदान—विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों में होने वाला यह विनिमय (exchange) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (international trade) कहलाता है।

२. आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्वरूप (Character of International Trade today) : राष्ट्रीय सीमाओं के पार इस प्रकार का व्यापार परिवहन के उन्नत साधनों द्वारा अपने आकार में बढ़ सका है। रेल और जहाज़ इस व्यापार की मात्रा (volume) या परिमाण बढ़ाने के बहुत कुछ ज़िम्मेदार हैं और हवाई जहाज़ भी बहुत कुछ कर रहे हैं।

मशीन परिवहन (machine transport) शुरू होने से, दुनिया छोटी जगह बन गई है। माल लगातार एक देश से दूसरे देश में आ-जा रहा है। किराए सस्ते हैं। माल दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में भेजने में ज़्यादा वक्त या रुपया नहीं लगता।

न सिर्फ व्यापार का परिमाण बढ़ गया है वरन् उसके रूप में भी बहुत कुछ तबदीली हो गई है। पहले ज़माने में व्यापार एक जोखिम का काम था और साहसी लोग ही इसे चला सकते थे, और व्यापार होता किन चीज़ों का था ? शराब, हाथीदांत, सिल्क, मोती आदि ऐसी कीमती चीज़ों का, जिनका नाम सुनकर आप कुछ चकरा जाएं और मुँह में पानी भर आए। ऐसी चीज़ों का ही व्यापार होता था। उसके मुकाबले में आजकल हम लोग आयात-निर्यात करते हैं बर्तन, मिट्टी का तेल, चावल, कच्चा लोहा और

ऐसी चीज़ों का जिनमें आपको कोई दिलचस्पी नही है। ऐसी सस्ती चीजों में व्यापार तभी सम्भव हुआ है जब किराए की दर घट गई है। बैंकिंग और साख के उपायों के विकास से भी देश की सीमाओं से बाहर व्यापार करने में बड़ी सुविधा मिली है। इस का फल यह है कि आज दुनिया का कोई भी देश, चाहे जितना भी बड़ा हो और चाहे जितनी बड़ी आबादी का हो, यह नही कह सकता कि वह पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर है; अमरीका और चीन तक नही, यद्यपि प्रकृति ने उन्हें तरह-तरह की सम्पदा दी है। पर इनमे से कोई भी देश दूसरे देशो से आयात किये बिना खड़ा नही रह सकता। हिन्दुस्तान के लिए भी यह सच है। वह भी आत्म-निर्भर नही है। उसकी समृद्धि क्या उसका अस्तित्व ही उस खाद्य और मशीनरी की बदौलत है जिसका वह आयात करता है।

३. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता** (The Need for International Trade) : जब पृथ्वी बनी थी तब उसके प्राकृतिक स्रोत उनके विभिन्न भागो में बराबर-बराबर नही बँटे थे। पृथ्वी के कुछ भागों मे एक प्रकार का धन है तो दूसरों में दूसरी तरह का। अमरीका के पास कोयला, लोहा और मिट्टी का तेल बहुत है। आस्ट्रेलिया मे कृषि-धन और मवेशी ज्यादा हैं। नार्वे और स्वीडन मे जगल और जल-विद्युत स्रोत (hydro-electric resources) हैं। इंग्लैंड में लोहा है। भारत में चाय और मैंगेनीज़ है। वास्तव में ऐसे प्रदेश कोई नही हैं, जहां कुछ भी न हो। और ऐसे प्रदेश भी नही हैं जहां सब कुछ हो। फलस्वरूप सभी लोगों को तरह-तरह के खाद्य पदार्थ, कच्चे माल, या निर्मित वस्तुओं के लिए दूसरो पर आश्रित रहना पड़ता है; जिन्हे वे खुद बना सकते और बदले मे वे वे चीजें देते हैं जिनका उत्पादन वे करते हैं। इस तरह भारत चाय, कॉफी, चमड़ा और खाले, रूई और जूट का सामान और मैंगेनीज़ दूसरे देशों को देता है और बदले में मशीने, रसायन (chemicals), चावल, दवाएं और दूसरा जरूरी माल मगाता है।

इसी प्रकार सभी लोगों को बराबर उत्पादन की कला नही आती और न वे बराबर तेज़ी से सीख ही सकते हैं। नैसर्गिक या जन्मजात योग्यता भी प्रदेश और जलवायु के अनुसार बदलती है। इसका नतीजा यह होता है कि शिल्प और कला की प्रवीणता तथा उपायों में भी अन्तर पड़ जाता है। अमरीकन और जर्मन चतुर इंजीनियर होते हैं। जापानी अच्छे संगठन-कर्त्ता होते हैं। फ्रांसीसी कलाकार हैं। अंग्रेज़ जहाज बनाने में कुशल हैं। औद्योगिक प्रवीणता में इस अन्तर का स्वाभाविक परिणाम यह अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण (specialisation) है। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है, ये अन्तर कम होते जा रहे हैं और भारत जैसे पिछड़े हुए देश भी आगे बढ़ रहे हैं और सब काम सीख रहे हैं। फिर भी किसी भी राष्ट्र के पास आज की ज़रूरत की सभी चीजो का किफायती उत्पादन करने के लिए पर्याप्त सुविधाएं नहीं हैं और न हो सकती है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अस्तित्व है और रहेगा।

४. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आन्तरिक व्यापार में क्या अन्तर है?** (How does International Trade differ from Internal Trade?) : व्यापार

का मतलब है माल का बदला। तब व्यापार के सिद्धान्त में क्या अन्तर पड़ता है, चाहे व्यापार का माल उसी देश में बना हो या भिन्न-भिन्न देशों में ? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अलग सिद्धान्तों की क्या जरूरत पड़ती है ? यह प्रश्न सही है। वैसे तो घरेलू और विदेशी व्यापारी वास्तव में एक ही हैं। दोनों का अर्थ व्यक्तियों में माल का विनिमय है। दोनों का उद्देश्य श्रम विभाजन* द्वारा उत्पादन की वृद्धि करना है। फिर भी कुछ चीज़ें हैं जिनके कारण हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न करते हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

(i) श्रम और पूंजी एक देश से दूसरे देश में उतनी सरलता से नहीं जाते जितने वे एक देश के अन्दर एक प्रदेश से दूसरे में जाते है। एडम स्मिथ के शब्दों में, 'सब तरह के सामानों में, मनुष्य का परिवहन सब से कठिन है।" और यह और भी ज्यादा कठिन है यदि कोई विदेशी सीमा पार करनी हो। यह अजीब-सा लगता है कि मनुष्य इतना गतिहीन हो जबकि उसमें चेतना है और उसकी अपनी दो टांगें हैं ? किन्तु टांगों के अलावा मनुष्य की अपनी भावनाएं और आवेग भी हैं। उसे चाह भी होती है और घृणा भी। वह घर पर कम तनख्वाह ज्यादा पसन्द करता है, बजाय विदेश में ऊंची तनख्वाह के। कोई दूसरा देश उसके लिए नक्शे पर एक नाम से ज्यादा मायने नहीं रखता। एक औसत भारतीय के लिए कनाडा काले पानी से भी आगे सात समन्दर पार एक दूर देश है, जिसके कानूनों से वह अपरिचित है, जिसकी भाषा अनजानी है और जिसकी प्राथाएं उसे अजीब लगती हैं। यदि उसे अवसर दिया जाय तो भी उसे कनाडा जाने के लिए राजी करना कठिन होगा। क्योंकि यह सब जानते हैं कि अक्सर दूसरे देश में बसने वाले पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है। इनका फल यह होता है कि उत्पादन-लागतों का अन्तर दूर करने के लिए मनुष्य और द्रव्य को वहां नहीं ले जाया जा सकता। तब फिर माल को ही हटाया जा सकता है। इनके विपरीत एक ही राजनीतिक सीमा के अन्दर लोग विभिन्न प्रदेशों मे अपने-अपने अवसरों के अनुसार बट जाते हैं। वास्तविक मज़दूरी (real wages) और जीवन-स्तर (standard of living) अपना समान-स्तर (common level) खोजने में प्रयत्नशील रहते हैं, यानी वे समान बनने की दिशा में गतिशील रहते हैं, चाहे पूर्ण समानता कभी न हो पाये। उदाहरण के लिए भारत में, जो एक बड़ा और विस्तृत देश है, आप एक बंगाली को पंजाब में काम करते हुए पाते हैं, जबकि पंजाबी बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि में, सभी जगह मिलते हैं। किन्तु विभिन्न देशों में ये अन्तर युगों तक बने रहते हैं और आबादी के आने जाने को रोकते हैं।

(ii) दूसरी बात यह है कि हर देश की अपनी चलन-मुद्रा (करेन्सी) है। उदाहरणार्थ, भारत में रुपया है, अमरीका में डालर, जर्मनी में मार्क, इटली में लीरा, स्पेन में पेसो, जापान में येन, आदि। इसलिए राष्ट्रों के बीच में क्रय-विक्रय कुछ ऐसी पेचिदगियां पैदा करता है जो एक देश के व्यापार में नहीं रहतीं। पाउण्ड और रुपए के अवमूल्यन ने मामला और जटिल बना दिया है।

*माल का विनिमय श्रम-विभाजन का मूल है और श्रम-विभाजन उत्पादन की वृद्धि की ओर ले जाता है।

(iii) विभिन्न देशों के बीच का व्यापार मुक्त नहीं है। अक्सर आयात निर्यात कर (customs duties), विनिमय-निर्बन्धन (exchange restrictions), निश्चित कोटा (fixed quotas), या अन्य चुंगी की दीवारों (tariff barriers) के द्वारा अनेक निर्बन्धन लगा दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए आपके अपने देश ने भी मोटरकार, शराब और अन्य विलासिता की वस्तुओं के आयात पर भारी टैक्स लगा दिये हैं।

(iv) दूसरे देशों का ज्ञान इतना नहीं हो सकता जितना अपने देश का। सभ्यता, संस्कृति, भाषा, धर्म आदि के भेद से विभिन्न देशों में परस्पर आचार, व्यवहार इतना आजाद नहीं हो सकता जितना एक देश के अन्दर। एक देश की सीमाओं में श्रम और पूँजी अधिक स्वतन्त्रता से इधर-उधर आती-जाती और परिचालित (circulate) होती है। ये कारण भी देश के आन्तरिक व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भिन्न कर देते हैं।

(v) परिवहन और बीमा का खर्चा भी मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा डालता है। दो देशों में जितनी ज्यादा दूरी होती है उतने ही ये खर्चे बढ़ते हैं। युद्धों से और भी बढ़ जाते हैं।

आन्तरिक और बाह्य व्यापार की परस्पर निर्भरता (Interdependence of External and Internal Trade) : इन अन्तरों के होते हुए भी आन्तरिक और बाह्य व्यापार एक दूसरे पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए किसी दूसरे देश से आने वाले माल के आयात पर कोई निर्बन्धन (restrictions) लगा देने से उन देशों में लोग बेकार हो जायेंगे। बेकार हो जाने पर उनकी देशी माल खरीदने की क्षमता भी कम हो जाएगी। उन्हें नए धन्धे ढूँढने पर विवश होना पड़ेगा। इस प्रकार यदि वैदेशिक व्यापार बन्द हो जाय तो देश का गृह-व्यापार (home trade) भी पहले की धारा में नहीं चल सकता। उसमें तबदीली आ जाएगी। विभिन्न देशों की निर्भरता एक बराबर है।

जैसे सयुक्त राज्य (U.K.) और जापान की समृद्धि और जीवन-स्तर पूरी तरह से वैदेशिक व्यापार पर ही आश्रित है। रूस और अमरीका के साथ ऐसा नहीं है। भारत भी लगभग इन्हीं की तरह है क्योंकि उसके अपने प्राकृतिक स्रोत इतने अधिक हैं कि वह अपने पैरों पर खड़ा होने लायक बन जायगा।

५. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार** (Basis of International Trade) : दो देशों के उत्पादन व्यय में अन्तर ही माल के विनिमय को लाभप्रद बनाता है। यदि हर जगह माल उसी लागत पर बनने लगे तो विनिमय व्यर्थ होगा। किसी वस्तु के उत्पादन की लागत एक देश में दूसरे की अपेक्षा कम आने पर उस देश को अन्य देशों के मुकाबले सहूलियत मिल जाती है कि वह इसका उत्पादन करके दूसरी जगह भी भेजे। यह सहूलियत निम्न तीन प्रकार की हो सकती है :

(i) **लागत में निरपेक्ष अन्तर** (Absolute Differences in Costs) : मान लीजिए कि एक देश का किसी वस्तु के उत्पादन पर एकाधिपत्य है। यदि दूसरे

देशों को इस वस्तु की आवश्यकता हो तो इसके उत्पादन करने वाले देश को दूसरे देशों की तुलना में बहुत सुविधा होगी। जैसे भारत का निर्मित (manufactured) जूट पर लगभग एकाधिपत्य है और जिन देशों को भी जूट की आवश्यकता हो उन्हें पाकिस्तान छोड़ दें तो भारत से ही खरीदना पड़ता है। ऐसी पूर्णतया निरपेक्ष (absolute) सहूलियत का कारण साधारणतया जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक उपहार होते हैं।

(ii) **लागत में समान अन्तर** (Equal Differences in Costs) : जब उत्पादक शक्ति की एक इकाई (a unit of productive power) उत्पादन करती है :

देश क में, २० टूथब्रश या १ मन चीनी

देश ख में, १० टूथब्रश या ½ मन चीनी

तो टूथब्रश और चीनी दोनों के लिए क देश से ख देश को निर्यात होने की प्रवृत्ति होगी। सोना चांदी बराबर ख से क को जाएगा। यह हमेशा नहीं चल सकता। ख देश में, २० टूथब्रश १ मन चीनी से अधिक में विनिमय नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में या तो व्यापार शुरू ही न होगा और या फिर बहुत जल्द बन्द हो जाएगा। दोनों देशों में ½ मन चीनी का विनिमय १० टूथब्रश से हो सकता है। दोनों में से किसी को कोई वस्तु बेचने से लाभ न होगा।

(iii) **लागत में तुलनात्मक अन्तर** (Comparative Differences in Costs) : यह भी सम्भव है कि एक देश को दूसरे देश से कोई माल मँगाने में लाभ हो, यद्यपि वह स्वयं उस माल को सस्ता बना सकता है। यह तब होगा जब वह देश यह समझता है कि उसके श्रम और पूंजी के बेहतर उपयोग किसी दूसरे माल के उत्पादन में हो सकते हैं, जिनके उत्पादन में वह अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल स्थिति में है। इस प्रकार इंग्लैंड हालैण्ड से डेरी का सामान मंगाता है यद्यपि वह उसे सस्ता पैदा कर सकता है ; क्योंकि उसे इस्पात का माल बनाने में अधिक लाभ होता है जिसे वह हालैण्ड को निर्यात करता है।

६. **तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त** (Theory of Comparative Costs) : यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है। यह सिद्धान्त कहता है कि "किसी देश को उस वस्तु के उत्पादन का विशिष्टीकरण करने में लाभ होगा जिसके उत्पादन में तुलनात्मक दृष्टि से वह सब से अधिक अनुकूल परिस्थिति या सब से कम प्रतिकूल स्थिति में है।"*

एक उदाहरण लीजिए। हम देखते हैं कि जब किसी देश क में उत्पादक शक्ति की एक इकाई, २० टूथब्रश या एक मन चीनी पैदा करती है और किसी देश ख में, १५ टूथब्रश या १/२ मन चीनी, तो देश क, देश ख की अपेक्षा टूथब्रश और चीनी दोनों के उत्पादन में अधिक अनुकूल परिस्थिति में है। किन्तु उसे चीनी के उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है। ख देश दोनों वस्तुओं के उत्पादन में

*"It pays countries to specialise in the production of those goods in which they possess the greater comparative advantage or the least comparative disadvantage."

निरपेक्ष हानि (absolute disadvantage) में है किन्तु टूथब्रश के उत्पादन में अपेक्षाकृत कम हानि में है। इसलिए क चीनी में और ख टूथब्रश में विशिष्टीकरण करेगा। यही "तुलनात्मक लागत का नियम" (law of comparative costs) है। जब यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया जाता है तो इसका मतलब होता है कि एक देश में उन वस्तुओं के उत्पादन का विशिष्टीकरण करने की प्रवृत्ति होगी जिनमें उसे तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लाभ है। महत्त्व इसका नहीं है कि किसी वस्तु की लागत क और ख में कितनी है, वरन् दोनों वस्तुओं की लागत का अनुपात दोनों देशों में क्या है। "विनिमय की गई वस्तुओं के उत्पादन की तुलनात्मक लागत में भिन्नता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अस्तित्व के लिए आवश्यक और पर्याप्त है" (केयर्न्स)*। उपर्युक्त मामले में लागत का अनुपात भिन्न है। यह है १ मन चीनी : २० टूथब्रश (क में) और १ : ३० ख में। यहाँ दोनों देशों को व्यापार से लाभ होगा।

यह सचमुच अजीब बात है कि कोई देश एक वस्तु दूसरे देश से मँगाता है जबकि वह स्वयं उस वस्तु का उत्पादन कम लागत पर कर सकता है। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि यद्यपि इंगलैण्ड डेरी का सामान और मशीनरी दोनों डेनमार्क से सस्ता बना सकता है लेकिन वह डेनमार्क से डेरी की उपज मंगवाता है और मशीनरी निर्यात करता है। यह विरोधाभास क्यों है ? इसकी व्याख्या यह है।

एक प्रोफेसर शायद अपने जूतों पर अपने नौकर से ज्यादा अच्छी तरह से पालिश कर सके। और लेक्चर तो वह उससे अच्छा देता ही है। किन्तु उसके समय का अधिक अच्छा उपयोग पुस्तकें पढ़ने-लिखने में है न कि जूते पर पालिश करने में। एक डाक्टर अपने सहकारी से ज्यादा अच्छी तरह से दवाइयाँ तैयार कर सकता है किन्तु उसके लिए ज्यादा लाभदायक यही है कि वह मरीजों को देखे और दवाई बनाने का काम अपने कम्पाउन्डर पर छोड़ दे। इसी तरह से इंग्लैंड पनीर का आयात करता है क्योंकि उसे मशीनरी बनाकर ज्यादा मुनाफा होता है। तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं।

जाहिर है कि हर राष्ट्र अपने स्रोतों का उपयोग उन धाराओं में करेगा जिनमें उसे सबसे अच्छा फल मिले। यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का वास्तविक आधार है। किन्तु इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है। यह दलील की जाती है कि कभी-कभी यह सम्भव है कि एक राष्ट्र इस बात को न जानता हो कि उसे किस प्रकार की विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं। इसलिए सम्भव है वह उन उद्योगों में विशिष्टीकरण न करे जिनमें उसके स्रोत सर्वोत्तम हैं। किन्तु यह केवल अल्पकाल में सम्भव है। कालान्तर में हर राष्ट्र में यह प्रवृत्ति होगी कि वह अपनी सम्पदा को उन कार्यों में ही लगाये जिनमें उसे अधिकतम उपज की आशा है और जिसके द्वारा वह वैदेशिक व्यापार से अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकता है।

फिर भी जैसी स्थिति दुनिया में इस समय है उसमें यह देखा जाता है कि

*"The difference in the comparative cost of producing the commodities exchanged is essential to and sufficient for the existence of international trade. (Cairnes).

अनेक देश आत्म-निर्भरता लाने की चेष्टा कर रहे हैं और उन उद्योगों को उन्नत करने की कोशिश में हैं जिनमें उनकी दूसरों की अपेक्षा अधिक अनुकूल परिस्थितियां नहीं हैं। वे यह महसूस करते हैं कि उनको बुनियादी उद्योग (basic industries) बना ही लेने चाहिएँ और वे इसके लिए कुछ भी नुकसान उठाने को तैयार हैं। इसलिए सरक्षण की नीति अपनाई जाती है और व्यापार पर दूसरे प्रकार के निर्बन्धन लगाए जाते हैं। ये राष्ट्र युद्ध के डर से अपने मूल उद्योग बढाना चाहते हैं और उस आपत्तिकाल की दुराशा में वे उत्पादन-लागत की उपेक्षा करते है।

७. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वास्तविक लाभ (Material Gain from International Trade) : ऊपर के पैरे में दिए गए उदाहरण में, क और ख देशों में श्रम और पूंजी की समान इकाइयों से उत्पादन निम्नलिखित होगा :

क—२० टूथब्रश और १ मन चीनी

ख—१५ „ „ १-१/२ „

कुल उत्पादन क और ख में=३५ टूथब्रश और १ १/२ मन चीनी।

किन्तु यदि वे विशिष्टीकरण करें तो क उत्पादक शक्ति की दोनों इकाइयों का उपभोग चीनी के लिए करेगा और ख टूथब्रशों के लिए। तब उत्पादन शक्ति की दो इकाइयों से उत्पादनहो गा:—

क का २ मन चीनी और

ख का ३० टूथब्रश

दोनों हालतों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि विशिष्टीकरण से कुल उत्पादन १/२ मन चीनी का लाभ और ५ टूथब्रशों की हानि होती है। अपने समीकरण (equation) को देखने पर हम पाते हैं १/२ मन चीनी क में १० टूथब्रशों के बराबर है और ख में १५ टूथब्रथों के। उपर्युक्त देश में १/२ मन चीनी का लाभ है। इस मुनाफे में से यदि उपर्युक्त टूथब्रशों की हानि निकाल दी जाय तो भी ५-१० टूथब्रशों का शुद्ध (net) मुनाफा होता है।

यह लाभ कैसे बांटा जाता है (How this gain is distributed ?) : सामान्यतया यह शुद्ध लाभ दोनों देशों में बँट जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में दोनों वस्तुओं के विनिमय का दर यह होगा कि १ मन चीनी बराबर होगी २० से ३० टूथब्रशों के बीच में। यह इसलिए निश्चित है कि क १ मन चीनी के लिए किसी भी हालत में २० टूथब्रशों से कम नहीं लेगा और ख उसे ३० टूथब्रशों से ज्यादा नहीं देगा। इन दो सीमाओं के बीच में विनिमय दर क और ख की सौदा करने की तुलनात्मक शक्ति द्वारा तय होगी। जो देश दूसरे की अपेक्षा माल पाने के लिए ज्यादा इच्छुक है, वही सौदे में कमजोर पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ दोनों की परस्पर मांग के अनुसार बंटेगा। अर्थात् प्रत्येक देश में दूसरे के माल की मांग का लोच (elasticity) क्या है इससे मांग के विनिमय का अनुपात कही जाकर १ मन चीनी के लिए २१ से २९ टूथब्रशों के बीच में होगा।

इस प्रकार, लाभ में दोनों देश हिस्सा बंटाते हैं। किन्तु ज्यादा बड़ा हिस्सा

उस देश को जाता है जिसकी आयात के लिए अपनी मांग लोचदार है और जिसके निर्यातों के लिए दूसरों की माँग बेलोच है।

८. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ** (Advantages of International Trade) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर आश्रित हैं। दुनिया भर में उद्योगों का विश्वव्यापी विशिष्टीकरण है जिसका फल होता है कुल उत्पादन में वृद्धि और अन्य लाभ जो निम्नलिखित है :—

(१) दुनिया के उत्पादक स्रोतों का सर्वोत्तम उपयोग होता है। हर देश उस माल के उत्पादन पर पूरी शक्ति लगाता है जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है। प्रयत्न में किफायत होती है और कीमतें कम हो जाती हैं। इस तरह हर समुदाय अपने स्रोतों से अधिकतम उपज प्राप्त करता है।

(२) हर देश को वह माल भी उपयोग के लिए मिल जाता है जिसका उत्पादन करने में वह स्वयं या तो बिल्कुल असमर्थ है या असम्भव जैसे ऊँचे खर्चे पर ही समर्थ है। इस प्रकार उपभोक्ताओं को सभी प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है। इसके कारण अधिक आर्थिक कल्याण और ऊँचा जीवन-स्तर मिलता है।

(३) कीमतों में ज़बरदस्त (violent) उतार-चढ़ाव कम हो जाते है। जैसे-जैसे बाजार का क्षेत्र व्यापार द्वारा बढता है, वैसे-वैसे आर्थिक गडबडी पैदा करने वाले कारणों का प्रभाव इस समूचे क्षेत्र पर फैल जाता है। (इसलिए कम हो जाता है) और कीमतें अधिक स्थिर हो जाती हैं।

(४) अकाल आदि के समय मे सप्लाई की कमी को आयात द्वारा पूरा किया जा सकता है। अतिरिक्त उत्पादन को बरबाद करने की जरूरत नही होती, जैसा कि बडी मन्दी (great depression) के समय दुनिया के कुछ भागों में किया गया था। इस अतिरिक्त उपज (surplus) को जरूरतमन्द देशों में भेजा जा सकता है। इस प्रकार दुनिया की प्रवृत्ति एक आर्थिक इकाई बनने की ओर होती है। जैसे भारत और योरुप की खाद्यान्न की कमी को अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया से अतिरिक्त अन्न मंगवा कर पूरा किया गया था।

(५) जो देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं, किन्तु उनमें स्रोतों की कमी नहीं होती वे भी अपने उद्योगों का विकास कर लेते है। इसका बड़ा अच्छा उदाहरण जापान है। हिन्दुस्तान भी वही तरीके अपना रहा है। एक पिछड़े हुए देश में उद्योगो की प्रारम्भिक अवस्थाओं में उनका संरक्षण करना पड़ता है। किन्तु जब वे एक बार विकसित हो जाते हैं तब फिर मुक्त व्यापार (Free Trade) से उन्हें अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

(६) व्यापार से विभिन्न जातियों में परस्पर सहानुभूति उत्पन्न होती है और उनके बहुत से सांझे हित बन जाते है। मनुष्य का सांस्कृतिक विकास होता है और विश्वशान्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से ईर्ष्या खत्म होती है। कोई भी देश चाहे जितना बड़ा हो आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए उसे बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ेंगी और स्वतन्त्र प्रदेशों को जीत कर उनमें उपनिवेश स्थापित करने पड़ेंगे।

यह भयानक और कष्टप्रद तरीका है। मुक्त (free) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से राष्ट्रों की ज़रूरी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। उनका लालच और दूसरे देशों को जीतने की इच्छा कम हो जाती है।

९. **भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ** (Advantages to India from International Trade) : यद्यपि भारत बड़ा विस्तृत देश है, फिर भी इसके पास बहुत से माल की कमी है, जिसके बिना हमारा जीवन-स्तर बहुत नीचे गिर सकता है। अनेकों प्रकार के सूती और ऊनी कपड़े तथा अन्य सामान ऐसा है जिसे भारत स्वयं नही बना सकता और जिसका उसे अन्य देशों से आयात करना पड़ता है।

भारत के पास बहुत सा इस्पात (steel) है, किन्तु वह उसके सूक्ष्म औजार (precision tools) और नाजुक (delicate) मशीनें नही बना सकता। अपने कारखाने स्थापित करने के लिए यह चीजें उसे इंग्लैण्ड या अमेरिका से मगानी पड़ती हैं। फिर भी यद्यपि भारत के दो-तिहाई व्यक्ति खेती में फसे हुए हैं तो भी फी एकड़ उपज इतनी कम है कि जब तक खाद्यान्न और कच्ची रूई का आयात न किया जाए, हम में से बहुत से भूखे नंगे रहेंगे। और यह बात तबतक सच रहेगी जब तक कि भारत फी एकड़ अधिक उत्पादन नहीं करता।

दूसरी ओर जूट, चाय, मैंगेनीज, तिलहन, खालें और चमड़े आदि अनेकों पदार्थ ऐसे हैं जिन्हे भारत बचा सकता है, और जिनके द्वारा वह विदेशों से किये गये आयात की कीमत चुका सकता है।

आजकल देश मे कारखाने संगठित और स्थापित करने के लिए भारत बड़ी संख्या में शिल्पिकों (technicians) का आयात कर रहा है। सांस्कृतिक सम्पर्क कोई कम बात नही है। भारतीय दर्शन ने दुनिया की संस्कृति और विचार मे बहुत कुछ योग दिया है।

१०. **हानियाँ** (Disadvantages) :—सिद्धान्त में तो कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फायदों से इन्कार नही कर सकता, किन्तु व्यवहार मे इसके दूसरे पहलू की ओर भी आखें बन्द नही की जा सकती। कुछ देशो को खास कर उनको जो औद्योगिक विकास के निचले स्तर पर हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बडा कटु अनुभव है। इसकी हानियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) पिछड़े हुए देशों पर वैदेशिक व्यापार का सबसे बुरा असर यह पड़ता है कि उनकी दस्तकारी और कुटीर उद्योग नष्ट हो जाते हैं। भारत में ऐसे उद्योग काफी उन्नत अवस्था में थे। अंग्रेजी निर्मित वस्तुओं की बाढ मे वे लगभग बह गये। हाल में जापान ने भारतीय बाजारों को सस्ते माल से भरकर हमारे सूती उद्योग को नष्ट कर देना चाहा और इसकी रक्षा करने के लिए भारत सरकार को संरक्षण की नीति अपनानी पड़ी। औद्योगिक रूप से कमजोर देशों को ऐसे ही भुगतना पड़ता है।

(२) व्यापारियों के बाद साम्राज्य बनाने वाले आते हैं। जब व्यापारी एक बार कदम जमा लेते हैं तब फिर उसका लाभ उठाकर देश को राजनीतिक रूप से गुलाम बनाने की कोशिश की जाती है, जैसे अंग्रेज भारत में व्यापार करने आए थे, फिर रह कर हकूमत करने लगे।

(३) वैदेशिक सप्लाई पर निर्भर रहने से युद्ध काल में कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं जब शत्रु की कार्यवाहियों से वे सप्लाईज़ कट जाती हैं। लड़ाई के दौरान में हिन्दुस्तान को मामूली-मामूली चीजों के लिए, जैसे सुई, औज़ार और दवाइयों के लिए भी तरसना पड़ गया था।

(४) अत्यधिक विशिष्टीकरण जिसके कारण देश एक या दो उद्योगों पर आश्रित हो जाता है, बुरा है। अंग्रेजी में कहावत है कि अपने सभी अंडे एक ही डलिया में नहीं रखने चाहिएं, जो ठेस लगने पर सभी टूट जायं। यदि कोई विकल्प (substitute) खोज लिया जाय या किसी कारण से एक उद्योग बरबाद हो जाय तो देश का समूचा आर्थिक जीवन ही खतरे में पड जाएगा।

(५) जो देश कच्चा माल भेज कर बदले में निर्मित माल खरीदते हैं उनको नुकसान रहता है। ऐसे देशों का जीवन-स्तर नीचा रहता है। और घाटे की बात यह है कि यह अन्तर बराबर बना रहता है। ऐसी हालतों में वैदेशिक व्यापार से शान्ति और सद्भावना के स्थान पर असन्तोष और बेचैनी फैलती है। भारत छोड़ने से पहले अंग्रेजों की ओर भारतीय जनता की भावनाएं बड़ी कटु थीं।

(६) वैदेशिक व्यापार किसी देश के ऐसे प्राकृतिक स्रोतों को जिनको फिर पूरा नहीं किया जा सकता, जैसे तेल, कोयला आदि बिलकुल खत्म भी कर सकता है।

(७) हानिकारक नशीली वस्तुएं तथा भोगविलास की सामग्री का आयात देश का स्वास्थ्य चौपट कर देता है, जैसे अफीम ने चीन का किया था।

(८) वैदेशिक व्यापार में एक देश की आर्थिक कठिनाइयाँ दूसरे देशों तक भी पहुंच जाती हैं। एक देश का आर्थिक संकट दूसरे पर प्रभाव डाल कर उसकी अर्थ-व्यवस्था भी गड़बड़ में डाल देता है। जैसे १९३२ में अमरीकी बाजारों के गिर जाने से विश्वव्यापी मंदी आ गई थी।

(९) व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता युद्ध और संघर्ष को जन्म देती है। जर्मनी की अपने माल के लिए बाजारों की इच्छा ही पिछले दो महायुद्धों का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण थी। अक्सर वाणिज्यिक स्पर्धा से ही संबंध खराब होते हैं। भारत और पाकिस्तान में भी समझौता इसलिए नहीं हो पाता कि उनके व्यापारिक हितों में टक्कर है।

११. भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानि (Disadvantages of International Trade to India) : यह तो साफ जाहिर है कि भूतकाल (past) में सरकार की मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति के फलस्वरूप भारत ने अनेक नुकसान उठाए हैं। उसके कुटीर उद्योग इंग्लैंड की स्पर्धा से नष्ट हो गए। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना, यहाँ अंग्रेजी व्यापारियों के आगमन का परिणाम था। एक शताब्दी से अधिक काल तक भारत को इंग्लैंड को कच्चा माल बेचना पड़ता था और बदले में निर्मित (manufactured) माल लेना पड़ता था। यही कारण है कि भारत का जीवन-स्तर आज ब्रिटेन की अपेक्षा बहुत नीचे है। निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अत्यन्त उपयोगी हो सकता है, किन्तु जब एक देश दूसरे के अधीन हो और औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ हो, तब यह बड़ी हानि भी पहुंचा सकता है।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियंत्रण कैसे होता है : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के

मार्ग में अड़चनें (How International Trade is Controlled : Obstructions in the way of International Trade) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बड़े-बड़े फायदों के बावजूद विभिन्न राष्ट्रों को एक न एक वक्त आयात-निर्यात पर निर्बन्धन लगा कर पूर्ण मुक्त व्यापार के आदर्श से हटना पड़ा है। कुछ विकास योग्य स्रोतों वाले पिछड़े हुए देश भी हैं, जैसे भारत। राजनीतिक कारणों से शताब्दियों तक वे कच्चा माल निर्यात करने पर विवश थे और बदले में निर्मित माल लेते रहे। ऐसे देशों में जीवन-स्तर सदा नीचा ही रहा जिससे राजनैतिक आन्दोलन और असन्तोष सदैव बना रहा। इन कारणों से आज इन देशों को अन्य देशों के साथ व्यापार में निर्बन्धन लगाने पड़ रहे हैं। फिर कुछ अन्य देश हैं, जैसे जर्मनी, जिन्होंने अपने सामने आर्थिक आत्म-निर्भरता का आदर्श रखा। उन्होंने सोचा कि आयात बुरे हैं और निर्यात अच्छे। उनकी समझ में आयात देश को गरीब बनाते हैं और निर्यात अमीर। ऐसे आदर्श लोगों के दिमाग में बहुत दिनों से घर किए रहे हैं। इस आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने के लिए उन्होंने बहुत से तरीके अपनाए हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(क) निकासी करार (Clearing Agreements) : दो देशों में वस्तु विनिमय यानी बार्टर के करार हैं जिनके द्वारा वस्तुओं का विनिमय तो होता है किन्तु पैसा नहीं दिया जाता। जैसे पाकिस्तान कोयला, कपड़ा और सीमेन्ट के बदले में हिन्दुस्तान को दस लाख टन गेहूँ दे दे।

(ख) कोटा (Quotas) : कोटा विनियमन (quota regulations) दूसरे देशों से आयात होने वाले परिमाणों को निश्चित (fixed) करते हैं। कभी-कभी ये विनियमन (regulations) और भी अधिक कड़े कर दिए जाते हैं और माल का आयात करने से पहले लायसेन्स लेना पड़ता है जिसकी शर्तें निश्चित कर दी जाती हैं।

(ग) आयात बोर्ड (Import Boards) की नियुक्ति कर दी जाती है जो आयातों का विनियमन करें और विदेशों की अनुचित स्पर्धा से गृह-बाजार को बचाएं।

(घ) विनिमय नियंत्रण विभाग (Exchange Control Departments) स्थापित किए जाते हैं जो कुछ या सभी देशों से वैदेशिक विनिमय व्यवहार का नियंत्रण करते हैं।

(ङ) संरक्षक शुल्क (Protective Tariff) : उपर्युक्त तरीकों को राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता (national self-sufficiency) प्राप्त करने और घरेलू बाज़ार को घरेलू माल के लिए सुरक्षित रखने के लिए अपनाया जाता है।

किन्तु घरेलू उद्योग के संरक्षण का सबसे प्रचलित उपाय है विदेशों से सस्ते आयातों पर भारी कर लगा देना। इस पर हम विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

१३. संरक्षण के पक्ष में युक्तियां (Arguments in favour of Protection) : संरक्षण का उद्देश्य घरेलू उद्योगों को वैदेशिक स्पर्द्धा से बचाना होता है। यह या तो आयात किए गए माल पर शुल्क लगा कर होता है या फिर घरेलू उत्पादकों को सहायता देकर। आयात कर से विदेशी माल मंहगा बिकता है और इससे गृह निर्माताओं (home manufacturers) को सहायता मिलती है। इस उपाय के निम्न प्रयोजन हैं :—

(१) **नए उद्योगों को सहायता देना** (To help infant industries) एक बच्चे को तब तक संरक्षण देते हैं, जब तक वह बालिग होकर पूरा आदमी न बन जाए, इसके बाद उसे मदद की जरूरत नहीं रहती। संरक्षण शुल्क नए निर्माताओं को चलना सिखाने के लिए लकड़ी की भाँति हैं।* ऊँची कीमतों के रूप में उपभोक्ताओं को जो खर्चा झेलना पडता है उसकी अपेक्षा इससे होने वाला लाभ ज्यादा होता है। इसमें एक कमी यही है कि संरक्षण पाने वाला उद्योग उन्नत हो जाने पर भी संरक्षण छोड़ कर स्पर्धा का मुकाबला करना नहीं चाहता। भारत को १९१४-१८ के युद्ध के बाद कुछ उद्योगों को संरक्षण देना पड़ा।

(२) **द्रव्य को "घर में रखना"** (To keep money at home) : जब हम स्वदेशी चीज़ खरीदते हैं तो हम क्रय शक्ति को अपने ही देश में रख रहे हैं। सम्भव है कि सारे विदेशी माल को मुक्त रूप से आने दिया जाए तो उसी क्वालिटी की चीज़ के लिए हमें अपने देश की चीज़ों की अपेक्षा कम कीमत देनी पड़े। किन्तु हम अधिक देने में हर्ज नहीं समझते और यह छोटी-सी कुर्बानी खुशी से करने में अभिमान करते हैं।

(३) **स्वर्ण का आयात प्राप्त करने के लिए** (To get an inflow of gold) : जब आप अपना माल दूसरों को भेजते हैं और अपने दरवाजे दूसरों के माल के लिए बन्द कर देते हैं तब आपको स्वर्ण से अदायगी मिलती है। इसी तरह से अमेरिका ने दुनिया का अधिक सोना १९१४-१८ की लड़ाई के बाद इकट्ठा कर लिया। आज भी उसके पास दुनिया का ६०% स्वर्ण है। पर यह तभी सम्भव है जब आपके माल की मांग बेलोच हो और दूसरे देश जवाब में कुछ न करें या न कर सकें।

(४) **मूल उद्योगों का विकास करने के लिए** (To develop key industries) : मूल उद्योग अन्य औद्योगिक विस्तार की नीव हैं। वे अन्य उद्योगों को मशीनें और सामग्री देते हैं। यदि उन्हें सहायता की आवश्यकता हो तो उन्हें संरक्षण मिलना जरूरी है। रासायनिक (chemicals) और धातु उद्योग (metallurgical industry) इसी प्रकार के उद्योग हैं। वे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार हैं। वे लड़ाई में देश की रक्षा और शान्ति में देश की समृद्धि के लिए आवश्यक हैं। भारत के भारी रासायनिक उद्योग को संरक्षण देने के लिए यह बहुत बड़ी दलील है।

(५) **आत्मनिर्भरता प्राप्त करना** (To attain self-sufficiency) : जब सरकार देश को विदेशी माल से आजाद करना चाहती है तब सरक्षण जरूरी है। कभी-कभी यह प्रतिरक्षा (defence) के लिए जरूरी समझा जाता है। किन्तु पूर्ण आत्म-निर्भरता असम्भव है और आर्थिक आत्म-निर्भरता भी खर्चीली चीज है। इसलिए आत्म-निर्भरता अनिवार्य उद्योगों में ही प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

(६) **धन्धों को विविध प्रकारों के बनाना** (To secure diversification of occupations) : किसी देश की जनता के लिए जितनी अधिक वृत्तियाँ खुली रहेंगी उनकी उन्नति के लिए उतना ही अच्छा होगा। किसी देश को एक ही उद्योग पर आश्रित रहना खतरनाक है। एक ही डलिया में सारे अडे रखना बुद्धिमानी

*फिस्कल कमीशन रिपोर्ट (इंडिया) १९२२।

नहीं है। इसलिए कुछ उद्योगों को संरक्षण की कृत्रिम सहायता द्वारा प्रोत्साहन देना जरूरी है।

(७) **विदेशी माल की डम्पिंग रोकना** (To stop dumping of foreign goods) : जब कोई अन्य देश हमारे देशी उद्योग को बरबाद करने के लिए अपना माल लागत से भी कम पर बेचता है तो डम्पिंग कहलाती है। सारे माल की यह सप्लाई यदि स्थायी हो तो उसका स्वागत भी किया जाय, किन्तु यह तो आमतौर पर स्पर्धा खत्म करने के लिए अस्थायी होती है, बाद में बहुत ऊँची कीमतें वसूल करके पहले का नुकसान पूरा कर लेते हैं। इसलिए उद्योग को बचाने के लिए डम्पिंग-विरोधी (anti-dumping) शुल्क आवश्यक है।

(८) **काम पैदा करने के लिए** (To Create Employment) : संरक्षण से उद्योगों का विकास होता है और ज्यादा लोगों को नौकरी मिलती है।

१४. **संरक्षण के विरुद्ध युक्तियां** (Arguments against Protection) : जब एक बार संरक्षण दे दिया जाता है तो निहित स्वार्थ (vested interests) बन जाते हैं और संरक्षण को आसानी से वापिस नहीं लिया जा सकता। फिर उससे उल्टी प्रतिक्रिया होती है। कीमतें बढ़ती हैं। उपभोक्ताओं को हानि होती है। निर्माता सुस्त हो जाते हैं। भ्रष्टाचार (corruption) और घूसखोरी बढ़ती है।

१५. **विवेकयुक्त संरक्षण** (Discriminating Protection) : विवेकपूर्ण संरक्षण का अर्थ यह है कि सभी उद्योगों का संरक्षण नहीं करना चाहिए। उचित निर्वाचन करके केवल उन उद्योगों का संरक्षण करना चाहिए जिनके सम्भाव्य (potential) स्रोत हैं और जो देश की समृद्धि के लिए आवश्यक हैं। रेतीले हिसार में अंगूरों की खेती बड़ी खर्चीली होगी और इसको संरक्षण द्वारा प्रोत्साहन देना बुद्धिमानी न होगी, क्योंकि लागत बहुत पड़ेगी। भारत में इस प्रकार चुनी हुई वस्तुओं पर संरक्षण देने को विवेकयुक्त संरक्षण (discriminating protection) कहा गया है। भारत में कुछ उद्योगों को १९२२ के बाद ऐसा संरक्षण दिया गया था। इन उद्योगों को कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती थी। तब वे संरक्षण पाने के हकदार होते थे। खासतौर पर तीन शर्तें जरूरी थीं :—

(१) उद्योग को प्राकृतिक सुविधाएं (natural advantages) प्राप्त हों और उसका देशी बाजार काफी बड़ा हो।

(२) यह उद्योग संरक्षण के बिना पनप न सकता हो।

(३) कालान्तर में यह विश्व स्पर्धा का मुकाबला करने में समर्थ हो सके।

कुछ और भी गौण शर्तें थीं। भारतीय जनमत इन शर्तों का बड़ा विरोधी था। यह ठीक ही कहा जाता था कि किसी उद्योग को संरक्षण देने के लिए कोई कठोर नियम नहीं बनाए जा सकते। किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि यद्यपि यह नीति रुक-रुक कर चलने वाली (halting) थी पर इसने कुछ उद्योगों के विकास में और कुछ को बचाने में बड़ी मदद की। इस्पात, रूई, चीनी, कागज़ के उद्योगों का विकास इसी नीति की बदौलत हुआ।

१९४७ के विभाजन के बाद विवेकयुक्त संरक्षण की नीति को त्याग दिया

गया और विकासकारी संरक्षण (developmental protection) की नीति अपनाई गई। इस नीति को १९४९-५० के फिस्कल कमीशन (Fiscal Commission) ने निर्धारित किया। इसके अनुसार देश में बेकारी कम करना, प्राकृतिक स्रोतों का उपभोग करना, मानस्तर (standard) ऊँचा उठाना, खेती में सुधार और कुटीर तथा बड़े उद्योगों का विकास करना, इन सब प्रयोजनों के लिए संरक्षण देना चाहिए। किसी उद्योग के लिए कच्चे माल की कमी को संरक्षण देने के मार्ग में कोई बाधा नहीं समझना चाहिए, यदि वह उद्योग काफी महत्त्वपूर्ण हो और उसे देश के आन्तरिक बाजार, अन्य श्रम-सप्लाई आदि जैसी आर्थिक सुविधाएं प्राप्त हों।

इस प्रकार भारत में संरक्षण की धारणा ही बिल्कुल बदल गई है और एक राष्ट्रीय नीति को अपनाया जा रहा है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्या है ? (What is International Trade ?) : विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों के बीच में माल का विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है।

इसका रूप (Its Character) : परिवहन के यंत्रीकरण (mechanisation) ने व्यापार का परिमाण बढ़ा कर इसका रूप बदल दिया है। कोई भी देश आत्म-निर्भर नहीं है। सस्ती चीजों का विनिमय किया जाता है।

इसकी आवश्यकता (Its Need) : सभी देशों को सभी स्रोत बराबर-बराबर नहीं मिले हैं। वे अपनी कमी की वस्तुएँ खरीदते है और जो उनके पास अधिक होता है उसे बेचते हैं। सभी लोग समान रूप से अच्छे शिल्पिक (technician) नहीं होते। उन्हें एक दूसरे से सीखना पड़ता है।

आन्तरिक और बाह्य व्यापार में अन्तर (Differences between Internal and External Trade) :

(i) विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूंजी उतने गतिशील (mobile) नहीं हैं जितने एक देश में। यह कानूनी निर्बन्धनों और भावनाओं की वजह से है।

(ii) हर देश की करेन्सी व्यवस्था भिन्न है।

(iii) हर देश के कानून और सरकारी नीति भिन्न है।

(iv) दूसरे देशों के बारे में ज्ञान इतना नहीं होता जितना अपने देश के बारे में।

(v) परिवहन और बीमे का खर्चा बड़ा फर्क कर देते है।

आन्तरिक और बाह्य-व्यापार की परस्पर निर्भरता (Interdependence of External and Internal Trade) : वैदेशिक व्यापार पर निर्बन्धनों से लोग बेकार हो जाते हैं। घरेलू उत्पादन गड़बड़ में पड़ता है और आन्तरिक व्यापार कम हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार (Basis of International Trade) : यदि दो देशों में माल बिल्कुल एक ही लागत पर बनता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ नहीं हो सकता। लागत में अन्तर तीन तरह का हो सकता है :—

(i) निरपेक्ष (Absolute) : जब एक वस्तु दूसरी जगह नहीं बन सकती या असम्भव लागत पर ही उत्पादित हो सकती है।

(ii) समान (Equal) : जब कोई देश किन्हीं दो वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा एक-सी ही स्थिति में है।

(iii) तुलनात्मक (Comparative) : जब एक देश को दूसरे की अपेक्षा किसी वस्तु के बनाने में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लाभ है और दूसरी वस्तु के बनाने में अपेक्षाकृत कम लाभ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) :

तुलनात्मक लागतों का नियम (Law of Comparative Costs) कहता है कि कोई

देश उन वस्तुओं के उत्पादन के विशिष्टीकरण की ओर जाता है जिसमें उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ या कम हानि होती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वास्तविक लाभ (Material Gain form International Trade) : जब तुलनात्मक लागतों में अन्तर होता है तो व्यापार से शुद्ध लाभ है। उत्पादित धन के कुल परिमाण में वृद्धि होती है। यह लाभ दोनों देशों में बंट जाता है। प्रत्येक का भाग एक दूसरे के माल के लिए उनकी मांग की तुलनात्मक लोच (relative elasticity) से नियत होगा।

तुलनात्मक लागतों का नियम इस विरोधाभास को समझाता है कि एक देश दूसरे देश से वह माल क्यों मंगाता है जिसे वह अधिक सस्ता स्वयं बना सकता है। क्योंकि उस वस्तु को बनाने में उसे अधिक लाभ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ (Advantages of International Trade) :

(१) विश्व के स्रोतों का सर्वोत्तम उपयोग होता है।

(२) हर देश वे उपभोग्य वस्तुएँ (consumption goods) भी पा लेता है जिनका वह खुद उत्पादन नहीं कर सकता।

(३) कीमतों में अधिक स्थिरता आ जाती है।

(४) कमी आयात द्वारा पूरी हो सकती है।

(५) आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए या नये देश उपकरण और कच्चे माल के आयात द्वारा अपना विकास कर सकते हैं।

(६) परस्पर सहानुभूति और समान हित उत्पन्न हो जाते हैं।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ (Advantages to India from International Trade) : विस्तृत देश होने हुए भी भारत अपनी सब जरूरतें पूरी नहीं कर सकता। वह मशीनरी, खाद्यान्न, कच्ची रूई का आयात करता है और जूट, चाय, मैंगनीज़, तिलहन, चमड़ा और खालों का निर्यात करके उनकी अदायगी करता है।

हानियां (Disadvantages) :

(१) गृह उद्योगों (Home Industries) पर हानिकारक प्रभाव होता है और वे स्पर्द्धा से बरबाद हो जाते हैं।

(२) कभी-कभी व्यापार के साथ राजनैतिक पराधीनता भी आ जाती है।

(३) वैदेशिक सप्लाई पर अधिक निर्भरता खतरनाक है।

(४) किसी एक उद्योग में ही विशिष्टीकरण बुरा

(५) जो देश कच्चे माल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं नुकसान में रहते हैं।

(६) वैदेशिक व्यापार देश के प्राकृतिक स्रोतों का पूर्ण शोषण भी कर सकता है।

(७) हानिकारक विलासिताओं के आयात से लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

(८) दूसरे देशों की आर्थिक कठिनाइयों से अपना देश भी प्रभावित होता है।

(९) राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता पनपती है।

भारत को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से हानियां (Disadvantages of International Trade to India) : भूतकाल में मुक्त व्यापार से कुटीर उद्योग नष्ट हो गये। इंग्लैण्ड से स्पर्धा में भारत को कच्चा माल भेजने और निर्मित माल मंगाने को विवश होना पड़ा।

वैदेशिक व्यापार के मार्ग में बाधाएँ (Obstructions in the way of Foreign Trade) : हर देश अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के फायदे पाना और उसके बुरे प्रभावों से बचना चाहता है। इसलिए इस पर कुछ निर्बन्धन लगा दिये जाते हैं। अनेक प्रकार के तरीकों, जैसे निकासी करार (Clearing Agreements), कोटा, आयात, लायसेंस, विनिमय नियंत्रण तथा संरक्षण शुल्कों द्वारा यह उद्योग पूरा किया जाता है। इनमें संरक्षण सबसे महत्त्वपूर्ण है।

संरक्षण (Protection) : यह उद्योग को दी गई सहायता है जो आयात किये गये माल

पर टैक्स लगाकर या अपने माल को सहायता देकर की जाती है। संरक्षण के पक्ष में ये युक्तियां दी जाती हैं:

(१) नये उद्योगों को सहायता देता है।
(२) पैसा देश में ही रखता है।
(३) स्वर्ग का आयात प्राप्त करता है।
(४) मूल उद्योगों का विकास करता है।
(५) राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता देता है।
(६) धन्धों को विविध बनाता है।
(७) वैदेशिक माल की डंपिंग को रोकता है।
(८) नौकरी की गुंजाइश पैदा करता है।

संरक्षण के विरुद्ध युक्तियां (Arguments against Protection) : जब एक बार संरक्षण दे दिया जाता है तो निश्चित स्वार्थ (vested interests) बन जाते है और संरक्षण को आसानी से हटाया नहीं जा सकता। इससे प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है। कीमतें बढ़ती है। उपभोक्ताओं को हानि होती है। निर्माता सुस्त हो जाते है। भ्रष्टाचार (corruption) और घूसखोरी बढ़ती है।

विवेकपूर्ण संरक्षण (Discriminating Protection) : केवल चुने हुए उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए। इन उद्योगों का निर्वाचन करने के लिए एक विशेषज्ञों की समिति जिसे टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) कहते है, नियुक्त होना चाहिए। जिनको प्राकृतिक सुविधाएँ हों; जिनका विकास बिना संरक्षण असम्भव हो और कुछ दिनों बाद जो अपने पैरों पर खड़े हो सकें, ऐसे उद्योगों को संरक्षण मिलना चाहिए।

क्या तुम निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हो ?

1. What ie the necessity of a separate theory of international trade ? Distinguish home trade, from foreign trade.

(क० वि० बी काम० १९३३)
देखिये विभाग ४।

2. Discuss fully the law of comparative costs as applied to foreign trade.

(जम्मू काश्मीर १९५५, क० वि० १९४६, क० वि० बी० कॉम १९३६, ढाका १९४१, All १९४७ नागपुर १९४८, पंजाब १९४२, देहली १९४०, मद्रास १९४०, पं० वि० १९४९)
देखिये विभाग ६।

Or

Study the Law of Comparative Costs. Can international trade take place outside this law ? (पंजाब १९५५)

3. Why should a country import from another country an article that she can produce at a lesser cost ?

देखिये विभाग ६।

4. How is the gain from international trade shared ? Say also how the exchange rate of commodities is settled.

देखिये विभाग ७।

5. What are the advantages of foreign trade ? Give Indian illustrations in support of your answer.

(क० वि० बी० काम० १९३०; पं० वि० १९३६, ४०, और ५५)
देखिये विभाग ८, ९।

Or

Examine fully the advantages of international trade. Give some illustrations. (पटना १९५४

6. Explain the possible bad effects of international trade to a country. Has India suffered any ? On what grounds would it be desirable to impose restrictions on the freedom of international trade. (क० वि० १९४२; ढाका १९४४; मद्रास १९३७)
देखिये विभाग ११, १२ ।

7. Do you stand for 'protection' or free trade ? Give reasons for your answer.
(क० वि० १९४७; आगरा १९३५; All. १९३४; नागपुर १९४१; पं० वि० १९४१)
देखिये विभाग १३, १४ ।

8. Explain :
1. Dumping. 2. Key Industries. (Trade Cycles)
[(१) देखिये विभाग १३ (७) । (२) देखिये विभाग १३ । (३) व्यापार चक्र (trade cycles) का मतलब है व्यापार में वह समृद्धि जिसके बाद नियमित रूप से मन्दी आए, ऊंची कीमतों के बाद नीची कीमतें, आशावादिता (optimism) के बाद निराशा (pessimism) और यह एक के बाद एक अनंत चक्र में घूमें ।]

9. Discuss the basis of international trade.
(क० वि० १९४३; क० वि० बी० कॉ० १९४४)

Examine the theory of international value.
क० वि० १९४६; आगरा १९३४ All १९३१; ढाका १९३४; देहली १९४७; नागपुर १९४८, ३५; मद्रास १९३८ पंजाब १९४५)
देखिये विभाग ५, ६

10. Discuss on what grounds it may be considered desirable to impose restrictions on the freedom of international trade.
(क० वि० १९४२; क० बी० बी० कॉ० १९३२; ढाका १९४४, ४३; मद्रास १९३७)
देखिए विभाग १२ ।

11. One of the advantages claimed for a system of protecting duties is that "it keeps more money in circulation at home." Discuss.
(क० बी० बी० कॉ० १९२३)
देखिये विभाग १३, १४

12. Describe briefly what India gains from foreign trade, and what are the possible losses which she suffered from it in the past.
देखिये विभाग ९, १२

13. In what respects does trade between Bombay and Delhi differ from that between Bombay and London.
(पं० वि० १९४८)
देखिये विभाग ४ ।

14. Distinguish between (*a*) Balance of Trade and Balance of Account. (पंजाब वि० १९४१)
(*b*) Protective Tariff and Revenue Tariff.
(यू० पी० १९४१, ४४)

[(*a*) व्यापार शेष (balance of trade) में केवल आयात और निर्यात किया गया माल शामिल किया जाता है, जब कि खाता-शेष (balance of account) में शिपिंग, बीमा, बैंकिंग आदि की सेवाएँ भी ली जाती हैं ।
(*b*) संरक्षण चुंगी (protective tariff) से हमारा मतलब है वे सीमान्त शुल्क जो गृह उद्योग को संरक्षण देने के लिए लगाये जाते हैं । राजस्व चुंगी (revenue tariff) के मामले में, शुल्क केवल राजस्व के लिए लगाया जाता है ।]

15. What are the chief advantages of unrestricted foreign trade ? (पंजाब वि० १९३८)
देखिये विभाग ८

अध्याय २४

वैदेशिक विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

एक चलन मुद्रा को दूसरे से बदलना

"Changing one Currency into Another"

१. वैदेशिक विनिमय क्या है ? (What is Foreign Exchange ?) :–अपने शहर में आमतौर पर हम अपनी खरीदारी सिक्कों या नोटों से करते हैं। कभी-कभी यदि सौदा बड़ा है तो हम किसी स्थानीय बैंक का चैक देकर अदायगी करते है। यदि हमें बम्बई जैसे किसी दूर स्थान को रुपया भेजना पड़े तो हम या तो डाकखाने के द्वारा मनीआर्डर से भेजते है या बैंक ड्राफ्ट भेजते हैं। किन्तु यदि हमें मान लीजिए न्यूयार्क रुपया भेजना है तो समस्या जरा टेढ़ी हो जाती है। अमरीकन तो हमारी अदायगी रुपये, आने में नहीं लेंगे। और हमारे पास डालर सेन्ट देने को नही है। तब हमें अपने बैंकर को रुपयों को डालर में बदलने के लिए कहना पड़ेगा और उन डालरों को हम न्यूयार्क भेजेंगे। यह रुपयों का डालर में या किसी और करेन्सी में परिवर्तन या उसका उल्टा वैदेशिक विनिमय (foreign exchange) कहलाता है। विदेशों से व्यापार इस समस्या को जन्म देता है। यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होता तो वैदेशिक विनिमय की कोई जरूरत न थी।

२. हम विदेशों में अपनी खरीदारी के लिए अदायगी कैसे कर सकते हैं ? (How can we pay for purchases in Foreign Countries ?):—मान लीजिए कि भारत मे मोटरकारो के आयातक ने अमरीकी निर्यातक को उनकी कीमत देनी है। दूसरे शब्दों में अमेरिकन का कुछ भारतीय द्रव्य पर दावा (claim) है तो अदायगी निम्नलिखित किसी तरीके से हो सकती है :—

(क) विनिमय पत्र द्वारा (Through a Bill of Exchange) : जो दृष्टि-पत्र (sight bill) हो या अवधि-पत्र (time bill)। यदि दृष्टि-पत्र हो तो माग पर अदायगी होनी चाहिए; और यदि अवधि-पत्र हो तो अदायगी से पहले एक निश्चित अवधि की अनुमति दी जाती है। जब कोई विदेशी कर्जदार एक अवधि-पत्र स्वीकार कर लेता है तो वह उसे देनदार के पास वापस भेज देता है जो अपने देश में बट्टे पर बेचकर पैसा पा जाता है। इस तरह बिल से कर्जा निबट जाता है।

(ख) बैंकर्स ड्राफ्ट द्वारा (Through a bank draft) : बैंक ड्राफ्ट एक स्थान से दूसरे स्थान को, न सिर्फ देश के भीतर वरन् देश के बाहर भी, रुपया भेजने

में मदद करता है। उदाहरण के लिए, एक दिल्ली का बुकसेलर एक बैंक ड्राफ्ट खरीदता है और उसे इंग्लैंड भेज देता है। यह बैंक की इंग्लैंड की शाखा या एजेन्ट को दे दिया जाता है और पाउंड में उसका नक़द मिल जाता है और किताबें भारत भेज दी जाती हैं।

(ग) केबिल या तार-तबादले से (Through Cable or Telegraphic Transfer) : ये तार के मनीआर्डर की तरह है। यह तरीका शीघ्र अदायगी के लिए प्रयुक्त होता है और इसके लिए अधिक ऊँचा कमीशन दिया जाता है।

वे तीनों—बिल, बैंकर्स ड्राफ्ट, और केबिल-तबादले—किसी देश के पक्ष में हों या विपक्ष में, विनिमय बाज़ार में सप्लाई और माग की शकल में आते हैं। मान लीजिए, सिर्फ दो व्यापारी देश हैं, भारत और अमरीका। तब किसी समय भारत के पक्ष में उसके अमेरिका को निर्यातों के बदले में बिल और ड्राफ्ट होंगे। और भारत के विपक्ष में भी होंगे, उन आयातों के बदले में जो उसने किए हैं। यदि भारत के पक्ष में बिल उसके विरुद्ध बिलों की अपेक्षा अधिक हैं तो रुपयों की सप्लाई की अपेक्षा माग अधिक होगी। यानी रुपयों का मूल्य डालर के मुकाबले चढ़ जाएगा और विनिमय दर (rate of exchange) भारत के पक्ष में हो जाएगा। इसके विपरीत परिस्थितियों में, इसका उल्टा रूप होगा।

किन्तु केवल दो देश नहीं हैं। अनेक हैं। हर देश की भिन्न करेन्सी है और विनिमय का कोई एक माध्यम नहीं है। इसलिए सिर्फ सोना चांदी ही सब को स्वीकृत हो सकता है। किन्तु वास्तव में सोना चांदी भी तो अन्य माल के ही समान है। दीर्घ-काल में सोना चांदी समेत आयात किए गये तमाम माल और सेवाओं का संतुलन निर्यात किए गए सोना चांदी माल और सेवाओं के मुकाबले में होना जरूरी है। यह संतुलन विनिमय-पत्रों (bills of exchange) द्वारा होता है। यही विशेषता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को गृह व्यापार से पृथक् करती है। सभी आयातों का—माल और सेवाओं का—निर्यातों से संतुलन करना पड़ता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सचमुच वस्तु-विनिमय (barter) का एक रूप कहा गया है। यदि भारत के अमेरिका पर दावे उसके हमारे ऊपर दावों से कम हैं तो विनिमय दर भारत के विरुद्ध जाएगा और रुपये का मूल्य गिर जाएगा। और उल्टे परिस्थिति में इसका विपरीत भी होगा। किन्तु यदि वे बराबर रहें तो विनिमय दर समान (at par) रहेगी।

विनिमय दर (Rate of Exchange) : जिस दर या अनुपात पर एक करेन्सी की इकाई दूसरी से बदली जाती है उसे विनिमय दर कहते हैं। रुपये का अंग्रेजी द्रव्य में विनिमय १ शि० ६ पेन्स से होता है इसलिए इंगलैंड से हमारी विनिमय दर यही है। यह दर आयात अथवा निर्यात की ज्यादती (excess) के प्रभाव में एक या दूसरे देश के पक्ष में, उतरती-चढ़ती रहती है।

३. **व्यापार का शेष** (Balance of Trade) :—किसी एक देश में कुल आयातों और निर्यातों की तुलना ही उसका व्यापार शेष (balance of trade) है। यह शेष 'अनुकूल' (favourable) कहा जाता है। जब निर्यात किये गये माल का

मूल्य आयात किए गए मूल्य से अधिक होता है। यह प्रतिकूल (unfavourble) या विरुद्ध (adverse) कहा जाता है जब आयात निर्यात से अधिक मूल्य में होता है। मध्यकालीन युग में यह समझा जाता था कि अनुकूल शेष (favourable balance) ही किसी देश को अमीर बनाने का तरीका है क्योंकि इससे बाहर से सोना चांदी आता है। अब यह विचार त्याग दिया गया है और यह विश्वास किया जाता है कि कालान्तर में आयात और निर्यात, सब प्रकार की सेवाओं को मिलाकर, समान होने चाहिएँ और 'निर्यात आयात की अदायगी करते हैं' (exports pay for imports)।

यदि फिर भी व्यापार का प्रतिकूल शेष अधिक समय तक चलता है और परिमाण में बहुत अधिक हो जाता है तो सोना बाकायदा भेजना पड़ेगा। उस हालत में उसे ठीक करने के लिए कदम उठाने पड़ेंगे। फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि व्यापार का प्रतिकूल शेष अदृष्ट मदों (invisible items) के निर्यात द्वारा ठीक भी हो सकता है, जिन मदों को बहीखातों में नहीं लिखा जाता। इनकी चर्चा नीचे की जाती है।

४. **अदायगी का शेष : दृष्ट और अदृष्ट मद** (Balance of Payments : Visible and Invisible Items) :—व्यापार का शेष केवल वैदेशिक व्यापार के दिखाई पड़ने वाले (दृष्ट) मदों को ही गिनता है। ये आयात-निर्यात होने वाले वास्तविक माल हैं। चुंगी अधिकारियों द्वारा रखे गए बन्दरगाहों के रजिस्टरों में केवल ये ही दर्ज किए जाते हैं किन्तु बहुत-से अन्य मद होते हैं जो इनसे बाहर रहते हैं और जिन्हें अदृष्ट कहा जाता है। वे हैं :—

(क) **सेवाएँ** (Services) : भारत काफी परिमाण में विदेशी बैंकिंग, जहाजी और बीमा सेवाओं का उपयोग करता है। उसके अपने जहाज, बीमा कम्पनियाँ, और विनिमय बैंक काफी नहीं हैं इसलिए कुक्स और लायड्स (Cooks and Lloyds) जैसी विदेशी एजेन्सियाँ ये काम करती हैं। भारत को ऐसी सब सेवाओं के लिए अदायगी करनी पड़ती है।

(ख) **टूरिस्ट के खर्चे** (Tourists' Expenses) : जब भारतीय विद्यार्थी और सैलानी (टूरिस्ट) बाहर जाते हैं तो वे यूरोप में जो चीजें खरीदते हैं और सेवाएँ लेते हैं, वे भी आयात के ही समान हैं। फर्क इतना है कि चीजें उपभोक्ता के पास पहुँचने की बजाय, उपभोक्ता चीजों के पास पहुँच गया। उनकी अदायगी भी भारत से निर्यात किए गए माल द्वारा करनी पड़ती है।

(ग) **उधार ली गई पूंजी पर सूद** (Interest on Borrowed Capital) : पूँजी की सेवाओं का भी उधार लेने वाले देश को मूल्य चुकाना पड़ता है। विदेश में किया गया प्रनियोग (investment) निर्यात मद (export item) है और रहता है जब तक कि उसे वापस न ले लिया जाय। आखिर में वैदेशिक द्रव्य बाजारों में उधार लिए गए सभी कर्जों को वापस करना पड़ता है और निर्यातों द्वारा समायोजित करना पड़ता है।

(घ) **उपहार, दान, और देश में बसे हुए विदेशियों द्वारा घर भेजा गया रुपया** : आदि अनेक फुटकर मद हैं जो अदृष्ट हैं।

यह सब अदृष्ट मद बिल्कुल वही प्रभाव व्यापार शेष (balance of trade) पर डालते हैं जो वस्तुओं का आयात-निर्यात । जब वे *बही खाते* (balance of accounts) में जोड़ दिये जाते हैं तब हमारे पास सभी मदों की पूरी सूची (list) हो जाती है जिनके लिए व्यापारी देशों ने अदायगी करनी है। इनका कुल योग *अदायगी का शेष* (balance of payments) कहलाता है।

भारत का अंग्रेजों के जमाने में व्यापार शेष (balance of trade) हमेशा अनुकूल था क्योंकि उससे भारत द्वारा लिए गये कर्जों और प्राप्त की गई सेवाओं की कीमत अदा होती थी। इसलिए वास्तविक अदायगी का शेष (balance of payment) इतना अनुकूल नहीं था। युद्ध समाप्त होने के बाद और खासतौर पर विभाजन के बाद भारत का अदायगी का शेष धीरे-धीरे प्रतिकूल होता गया। यह कभी स्टर्लिंग देशों की अपेक्षा डालर देशों के साथ ज्यादा था। संयुक्त राज्य (U. K.) भी इसी स्थिति में था। इसलिए सितम्बर १९४९ में संयुक्त राज्य (U. K.) को अपनी करेन्सी का डालर के मुकाबले में ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन (devaluation) करना पड़ा। भारत ने भी वही किया जब कि पाकिस्तान ने नहीं किया। अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत का अदायगी शेष धीरे-धीरे सुधरने लगा और जहाँ १९४८-४९ में २१९ करोड़ रुपये का घाटा (deficit) था, १९५१-५२ में ११.३ करोड़ का ही रह गया।

५. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलन होना क्यों जरूरी है ? (Why must International Trade Balance ?):—कभी-कभी व्यापार शेष के प्रतिकूल होने से कोई हानि नहीं होती। किन्तु कालान्तर में अदायगी-शेष (balance of payments) बराबर होना वैसे ही जरूरी है जैसे एक व्यक्ति की आमदनी और खर्च बराबर होने चाहिएँ। यदि वह अपनी कमाई से ज्यादा खर्च कर रहा है तो उसे उधार लेना पड़ेगा। और यदि उसकी कमाई ज्यादा हो तो वह कुछ बचाएगा। इस बचत को गाड़ कर रखेगा, उधार देगा या बैंक में जमा करेगा। इस तरह अगर उसकी बचत और उधार भी उसके बजट में शामिल कर लिया जाय तो वह बराबर संतुलित होगा। यही हाल देशों का भी है। एक देश किसी समय अपने अनुकूल शेष जमा कर ले या अपने प्रतिकूल, लेकिन कुछ समय बाद अगर उसे दिवालिया नहीं बनना है तो दोनों तरफ की राशि बराबर होनी चाहिए।

यही कारण है कि भारत, संयुक्त राज्य (U. K.) और दूसरे कामनवेल्थ (Commonwealth) के देशों को डालर के मुकाबले अपनी करेन्सी का अवमूल्यन (devaluation) करना पड़ा। यह देखा गया कि डालर क्षेत्रों से उनके व्यापार का घाटा ज्यादा था।

६. अदायगी शेष में असंतुलन कैसे ठीक किया जाता है ? (How a disequilibrium in the Balance of Payments can be Corrected ?) :—जब दृष्ट और अदृष्ट निर्यात सभी आयातों की अपेक्षा काफी समय तक कम रहते हैं और अन्तर बहुत ज्यादा होता है तो इस खाई (gap) को पाटने के लिए कुछ क़दम उठाने पड़ते हैं। इसके कई तरीके हैं। वे हैं :—

(१) **आयातों का लाइसेंसों** (Licences) **या आयात कर द्वारा नियंत्रण कर दिया जाता है** जबकि निर्यात को सहायता देकर या तनख़ाहें घटाकर और लागत खर्च में कमी करके प्रोत्साहन करते हैं। यह सभी विभिन्न क़दम पिछले कुछ वर्षों में भारत में अपनाए गए।

(२) **मुद्रा-संकुचन** (Deflation) दूसरा उपाय है। करेन्सी का कुल परिमाण (बैंक साख समेत) कम कर दिया जाता है। इसका नतीजा होता है कीमतों में कमी, जिससे निर्यात को उत्तेजना मिलती है। यह स्वस्थ उपाय नहीं है क्योंकि करेन्सी में अचानक कमी आ जाने से व्यापार, उद्योग और कारबार को बड़ा नुकसान पहुँचता है और मन्दी और बेकारी फैलती है।

(३) **विनिमय-नियन्त्रण** (Exchange Control) : माल के निर्यात द्वारा जो विदेशी करेन्सी कमाई जाती है उसे एक कोष (pool) में जमा कर लिया जाता है और देश को आवश्यकताओं के अनुसार आयातकों को राशन की जाती है। इन आयातों को निर्यात की वाँछनीय सीमाओं के अन्दर रक्खा जाता है। तमाम स्टर्लिंग देशों के लिए युद्ध के दौरान में और उसके बाद एक डालर कोष (dollar pool) बनाया गया था। तमाम अर्जित डालर उसमें रक्खे जाते थे और हर देश की आवश्यकताओं के अनुसार दिए जाते थे।

(४) **अन्तिम बात अवमूल्यन है** (Lastly Devaluation) : करेन्सी के अवमूल्यन का मतलब है अन्य विदेशी करेन्सियों की अपेक्षा उसका मूल्य गिरा देना। विदेशियों को अवमूल्यित करेन्सी के लिए कम देना पड़ता है। इसलिए उनको उस देश से आयात करने का अधिक प्रलोभन होता है। इस तरह से उसके आयात घट जाते हैं और निर्यात बढ़ जाते हैं। और अदायगी शेष ठीक हो जाता है। भारत ने, इंग्लैंड का अनुसरण करके, सितम्बर १९४९ में अपनी करेन्सी का डालर में अवमूल्यन कर दिया था। उसका व्यापार शेष बड़ा प्रतिकूल था। उसके आयात निर्यात में बड़ी खाई थी। अवमूल्यन के वक्त से उसका व्यापार शेष ठीक हो गया है।

विनिमय दर (Rate of Exchange) : हर देश की करेन्सी दूसरों से भिन्न होती है, उनमें कोई एक (common) विनिमय माध्यम नहीं है। यही विशेषता गृह व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भिन्न करती है। जब किसी देश के आयात निर्यात बराबर होते हैं तो विदेशी करेन्सी की मांग और सप्लाई बराबर होती है और इसी तरह गृह-करेन्सी की माग और सप्लाई भी बराबर होती है। तब विनिमय सामान्य स्तर (at par) पर रहता है। यदि विदेशी करेन्सी की सप्लाई माग से बढ जाती है तो यह सामान्य स्तर से नीचे (below par) गिर जाती है। और गृह-करेन्सी की मूल्य वृद्धि (appreciation) हो जाती है। दूसरी ओर यदि गृह-करेन्सी की सप्लाई ज्यादा हुई तो विदेशी करेन्सी की मांग अधिक तीव्र हो जाएगी। तब विदेशी करेन्सी के मूल्य में वृद्धि होकर वह सामान्य स्तर से ऊपर (above par) हो जाएगी।

(क) **विनिमय दर स्वर्णमान के अधीन कैसे निश्चत होता है?**—जब दो व्यापारी देशों में स्वर्णमान दर होता है तो उन दोनों की करेंसियाँ निश्चित दर

पर स्वर्ण से परिवर्तनीय (convertible) होती हैं। ऐसी दो करेन्सियों का विनिमय-अनुपात (exchange rate) टकसाल के सामान्य (par) से बहुत दूर न होगा और स्वर्ण के आयात-निर्यात के दो बिन्दुओं के बीच में चलेगा। *विनिमय का टकसाली सामान्य* (mint par of exchange) दोनों करेन्सियों के वास्तविक स्वर्ण अंश का पता लगाकर मालूम किया जाता है।

(ख) **काग़ज़ी करेंसी के सम्बन्ध में** : आज कोई देश भी इतना अमीर नहीं है कि मुक्त स्वर्ण मान रक्खे—अमरीका तक नहीं। सभी देशों में काग़ज़ी करेंसी चल रही है। ऐसी हालत में विनिमय स्थिति ज़रा कठिन होती है जब दोनों देशों की अपरिवर्तनीय (inconvertible) कागज़ करेंसी हो या एक की अपरिवर्तनीय कागज़ करेंसी हो और दूसरे की स्वर्ण मान पर। तब समस्या और भी जटिल होती है। ऐसी अवस्था में विनिमय दर (exchange rate) दोनों करेंसियों की अपनी-अपनी क्रय-शक्ति के अनुपात के द्वारा तय होती है। यह दर निश्चित सामान्य (fixed par) नहीं होता। यह करेंसियों की अपनी क्रय-शक्ति के परिवर्तनों के साथ-साथ घटती बढ़ती है। क्रय-शक्ति के परिवर्तन कीमतों के स्तर (price level) के सूचक अंकों (index numbers) से मापे जाते हैं। यह सिद्धान्त *क्रय-शक्ति समानता सिद्धांत* (purchasing power parity theory) कहलाता है।

(ग) कभी-कभी विनिमय दर देशों के बीच में समझौते से किसी सुविधा-बिन्दु (convenient point) पर तय हो जाता है और दोनों देश कृत्रिम उपायों से इस अनुपात (rate) को बनाए रखने का करार कर लेते हैं। जैसे भारतीय रुपया १ शि० ६ पेन्स पर १९४७ से स्टर्लिंग के साथ *बाँध दिया गया* (pegged) था और यह अनुपात रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कृत्रिम उपायों से बना रखा है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

वैदेशिक विनिमय क्या है ? (What is Foreign Exchange ?) : जब कोई व्यक्ति किसी विदेशी द्वारा उत्पादित वस्तु खरीदता है तो उसे अदायगी उस विदेशी करेन्सी में जो उसकी अपनी करेन्सी से भिन्न है, करनी पड़ेगी। करेन्सी का यह परिवर्तन वैदेशिक विनिमय कहलाता है।

वैदेशिक क्रय के लिए अदायगी कैसे की जाय ? (How to pay for Foreign Purchases ?) : अदायगी विनिमय पत्र द्वारा – (जो दृष्टि-पत्र हो या अवधि पत्र या बैंकर के ड्राफ्टों या केबिल ट्रांसफरों (जिनको टी. टी. कहते हैं) द्वारा की जा सकती है। दस्तावेज जो एक देश के व्यापारियों के पक्ष या विपक्ष में लिखे जा सकते हैं, वैदेशिक विनिमय बाजार में मांग और सप्लाई गिने जाते हैं।

व्यापार शेष (Balance of Trade) आयात और निर्यात के कुल मूल्य की तुलना है। यह 'अनुकूल' (favourable) कहा जाता है जब निर्यात अधिक होते हैं और 'प्रतिकूल' (unfavourable) जब आयात अधिक होते हैं।

अदायगी शेष (Balance of Payments) : कुछ अन्य मद भी हैं जैसे बैंक सेवाएँ, सैलानियों (टूरिस्टों) के दूसरे देश में खर्चे, और उधार ली गई पूँजी पर ब्याज जो अदृष्ट मद (invisible items) कहलाते हैं। इनकी भी अदायगी करनी पड़ती है। जब इन्हें व्यापार शेष के दृष्ट मदों (visible items) में जोड़ दिया जाता है, हमें अदायगी का शेष मिल जाता है।

वैदेशिक व्यापार के संतुलन की क्या आवश्यकता है ? (Why should Foreign Trade Balance ?) : अदायगी शेष का एक लम्बी अवधि में वैसे ही संतुलन होना चाहिए जैसे

एक व्यक्ति की आय-व्यय का। वरन् अगर शेष काफी साल तक प्रतिकूल रहे तो उस देश की प्रतिष्ठा गिर जाती है और वह दिवालिया हो जाता है।

व्यापार का संतुलन कैसे ठीक किया जाय? (How can Dis-equilibrium in Trade be Corrected ?) :

(i) आयातों का नियंत्रण और निर्यातों को उत्साहित करके।

(ii) मुद्रा संकुचन (deflation) या और किसी उपाय से कीमतें और मजदूरी कम करके।

(iii) विनिमय का नियंत्रण करके।

(iv) अवमूल्यन (devaluation) से।

विनिमय अनुपात कैसे निश्चित होता है? (How the Exchange Ratio is Settled ?)

(क) स्वर्ण मान के अन्तर्गत : यदि दोनों देशों में सोने के सिक्के है तब तो विनिमय दर प्रत्येक में शुद्ध धातु के अनुपात पर निर्भर होगा। यह विनिमय का टकसाली सामान्य (mint par of exchange) कहलाता है। यदि किसी समय वास्तविक दर टकसाली सामान्य से भिन्न हो और धातु को पैक (pack) करने और उसके परिवहन करने के खर्चे से ज्यादा फर्क हो तो सोना एक देश से दूसरे में चला जाएगा। पैकिंग (packing) और परिवहन (transport) का खर्च टकसाली सामान्य में जोड़ और घटाकर हमें स्वर्ण बिंदु (gold point) और 'धातु बिंदु' (specie point) या स्वर्ण आयात और निर्यात बिंदु (gold import and export points) मिलते हैं।

(ख) कागजी करेन्सी में : इस अवस्था में दोनों करेन्सियों की सापेक्ष क्रय-शक्ति (relative purchasing power) से विनिमय दर नियत होगी। यदि किसी देश की करेन्सी की एक इकाई इतना माल खरीद सकती है जितना दूसरे की चार इकाइयां तो विनिमय दर १ : ४ होगा। इसे "क्रय शक्ति समानता" (purchasing power parity) कहते है। यदि किसी समय में वास्तविक दर इसके भिन्न होती है तो अदायगी की तुला का एक पलड़ा भारी हो जाता है। यह इसलिए कि एक देश में खरीद कर दूसरे में बेचना लाभदायक हो जाएगा।

(ग) परस्पर करार (agreement) से।

क्या आप निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं?

1. "International trade is a kind of barter." Discuss.

(पंजाब वि० १९४८, १९४२)

Or

"Imports and exports tend to be equal." Discuss.

(क० वि० १९४०; क० वि० बी० कॉ० १९४६; ढाका १९४२; मद्रास १९४६; आगरा १९३६; देहली १९३९)

देखिये विभाग २, ३।

2. What do you understand by 'foreign exchange' ?

[वैदेशिक विनिमय का अर्थ हो सकता है :

(क) वैदेशिक द्रव्य पर दावा (claim), या

(ख) पत्र-बाजार जहाँ विनिमय पत्र (bills of exchange) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में क्रय-विक्रय किए जाते हैं, या

(ग) विभिन्न देशों में विनिमय दर।]

देखिए विभाग १।

3. Why must the 'balance of payment' balance ? Distinguish it from balance of trade.

देखिये विभाग ३, ४ और ५ ।

4. Distinguish clearly between :

(i) Equation of Exchange and Par of Exchange,

(पंजाब वि०, १९४०)

(ii) Balance of trade and balance of accounts,

(पंजाब वि०, १९४९)

(iii) Invisible and visible items of exchange.

[विनिमय का समीकरण (equation of exchange) से मतलब है द्रव्य के मात्रा सिद्धान्त में फार्मूला—

$$क = \frac{द\ ग + द'\ ग'}{स}$$

देखिये विभाग २ ।

सामान्य (Par) का अर्थ है विनिमय का टकसाली सामान्य (mint par of exchange)]

(ii) और (iii) देखिए विभाग ३, ४ ।

5. Write notes on :

(i) Gold or Specie Points.

(ii) Purchasing power parity.

देखिये विभाग ७ ।

6. A student in London writes to his father in Delhi to send him £ 100. Mention the ways in which this can be done.

[बैंकस ड्राफ्ट, तार (केबिल) तबादला, स्वर्ण वुलियन]

7. In what sense is it true to say that imports in the long run pay for exports ? "Our imports are paid for in the long run by our exports." Discuss. "Imports and exports tend to be equal."

(क० वि० १९३६, १९४६; क० वि० बी० कॉ० १९४६; ढाका १९४२; मद्रास १९४६; आगरा १९३६; देहली १९४९)

देखिये विभाग ३, ४ और ५ ।

8. What is meant by mint par of exchange ?

(पंजाब वि० १९३२, १९३६)

What are the limits within which the rate of foreign exchange can normally fluctuate under gold standard ?

(क० वि० १९३६, १९४९; क. वि. बी. कॉ. १९४५)

देखिये विभाग ७ ।

9. What do you mean by specie points ? Explain how they are arrived at.

(क. वि. १९३८; आगरा १९४०; देहली १९३८)

देखिये विभाग ७

आय का वितरण

(DISTRIBUTION OF INCOME)

'रोटी का बटवारा'

(Sharing the Loaf)

१. **वितरण क्या है ?** (What is Distribution ?) :—**युगों पहले :** आप अपनी कल्पना कुछ हज़ार वर्ष पहले ले जाइए और सोचिए कि मनुष्य जंगलों या गुफाओं में रहता है। उसकी आवश्यकताएँ थोड़ी हैं और वह उन्हे एकमात्र अपने प्रयत्नों से सन्तुष्ट करता है। शिकार करके, पति-पत्नी और बच्चे बाँट कर खा लेते हैं। कोई दूसरे दावेदार नहीं हैं। वितरण कोई समस्या नहीं है। निस्सन्देह आज भी दुनिया में कुछ लोग हैं जिनके सामने वितरण की कोई समस्या नहीं है। किन्तु वे जगली हैं, और बहुत संख्या में नही हैं—आस्ट्रेलिया या अफ्रीका के जंगलों में कुछ होंगे।

आज : सभ्य मानव के हालात कुछ और हैं। उत्पादन की सादगी खत्म हो गई है। नज़दीक के किसी कारखाने में जाइए। आपकी समझ में बात आ जाएगी। मशीनें और मकान भिन्न-भिन्न लोगों के हैं। श्रम कोई और लोग करते हैं। और इस सब का संगठनकर्त्ता, जिसने स्थान चुना है और कारखाना खड़ा किया है, कोई और ही है। उत्पादन का पैमाना भी बदल गया है। लोग अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए उत्पादन करते हैं। उत्पादन के विभिन्न साधन—भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन—एक व्यक्ति के नही होते। इसीलिए वितरण की समस्या इतनी जटिल है। पिछली दो शताब्दियों में ही यह फ़र्क हुआ है। इसीलिए औद्योगिक क्रान्ति से पहले एडम स्मिथ (Adam Smith) ने वितरण को जरा भी महत्त्व नहीं दिया जबकि उसके बाद लिखने वाले जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने उसको काफ़ी महत्त्व दिया है।

२. **वितरण की समस्या इतनी रोचक क्यों है ?** (Why is the problem of Distribution so Interesting ?):—हम में से हर एक किसी सेवा, उपयोगिता या माल का उत्पादक है। हर व्यक्ति कुछ पुरस्कार की आशा करता है और अधिक पुरस्कार चाहता है। वह सोचता है कि उसे ज्यादा तभी मिल सकता है जब उसके पड़ोसी के पास कम हो। किसी तरह से उसे यह विश्वास हो गया है कि एक रोटी है जिसका आकार सीमित और निश्चित है और किसी को एक अतिरिक्त टुकड़ा और किसी को कम देकर ही मिल सकता है। एक तरह से तो वह ठीक है। यदि काम बिना किए हमारे लिए सब तरह का माल काफ़ी मात्रा में बना लेना सम्भव होता तो

आर्थिक व्यवस्था बड़े मज़े में चलती (बल्कि होती ही नहीं) हर आदमी आज़ाद होता। वह जो चाहता पा लेता। कोई झगड़े, कोई फ़िसाद कभी न होते। सचमुच रामराज्य हो जाता। दुर्भाग्यवश ऐसा स्वर्ग निकट नहीं है। अपने दिमाग़ से ऐसी कोरी कल्पनाएँ और स्वप्न निकाल दीजिए। वास्तविक जगत् में उत्पादक स्रोत (Productive resources) दुर्लभ और कम (scarce) हैं जबकि इच्छाएँ और जन-संख्या बढ़ रही है। मानवीय और भौतिक दोनों प्रकार के साधनों के संयुक्त प्रयास से ही हम उन आवश्यकताओं की अंशतः पूर्ति कर सकते हैं। वे प्रयत्न माल के एक कोष (Pool) का निर्माण करते हैं जिसे राष्ट्रीय आय (National Dividend) कहते हैं। इसी कोष से हर हिस्सेदार को अपना-अपना भाग (share) मिलता है। ज़मींदार को किराया या लगान, मज़दूर को मज़दूरी या वेतन, पूंजीपति को ब्याज और संगठन-कर्त्ता को मुनाफ़ा। कोष में आने वाली कुल शुद्ध उपज (total net produce) द्रव्य के लिए बेच देते हैं। तब हम यह देखते हैं कि उद्यमी, उत्पादित धन को बेचकर जो द्रव्य पाता है, उसमें अपना-अपना हिस्सा माँगने वाले सैंकड़ों भागीदार उसको घेर लेते हैं।

हमारे सामने इस जगह तीन प्रश्न होते है :—

(१) वह क्या है जिसका वितरण करना है ?

(२) किन में करना है ?

(३) प्रत्येक का भाग कैसे नियत होगा ?

३. राष्ट्रीय आय या जिसका वितरण होना है (National Dividend or What is to be Distributed):—राष्ट्रीय लाभांश का अर्थ ही यह होता है कि किसी वस्तु का बँटवारा करना है, कि कोई वस्तु उत्पादन के चारों साधनों के इकट्ठे (combined) प्रयत्नों का फल है, उनके द्वारा उत्पादित कुल धन है। किन्तु देश की उत्पादक क्षमता को बनाए रखना भी आवश्यक है। वरना कुछ दिनों बाद देश दिवालिया हो जाएगा। इसलिए कोई धन वितरित करने से पहले, मशीनों, मकानों और कच्चे माल में उत्पादन से आई कमी को फिर पूरा करना पड़ेगा।

वितरण की प्रक्रिया नीचे दिए गए रेखाचित्र* से साफ़ समझ में आ जाती है :—

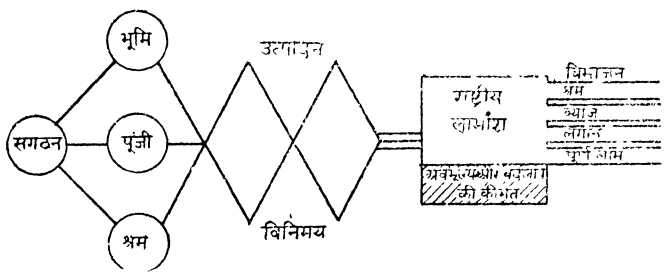

*Stephenson और Branton से लिया गया है।

राष्ट्रीय लाभांश या आय का आकार किसी भी देश के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि जनता का कल्याण और समृद्धि इसके मूल्य पर ही आश्रित है। डा० मार्शल के अनुसार, *"किसी देश का श्रम और पूँजी, उसके प्राकृतिक स्रोतों पर कार्य करके, हर वर्ष भौतिक और अभौतिक वस्तुओं का एक शुद्ध योग उत्पादित करते हैं, जिसमें सब प्रकार की सेवाएँ भी सम्मिलित हैं—यह देश की सच्ची, शुद्ध वार्षिक-आय है; या राष्ट्रीय लाभांश हैं।"**

लोगों का इससे दो तरह से सम्बन्ध है : उत्पादक की हैसियत से और उपभोक्ता के नाते। यह उनके प्रयत्नों का फल है और उनकी आय का स्रोत भी है। इस प्रकार यह "सभी उत्पादन के साधनों की कुल शुद्ध उपज और अदायगी का एकमात्र स्रोत भी है।"† (*मार्शल*)

यह ध्यान रखना चाहिए कि (i) जिसका वितरण करना है वह शुद्ध उपज है। प्रत्येक अच्छी कम्पनी एक *ह्रासनिधि* (depreciation fund) बनाती है जिसमें हर वर्ष एक रक़म जोड़ती रहती है जो समय पाकर इतनी बड़ी हो जाती है कि उसके द्वारा मशीनरी और मकानों को, जब वे नष्ट हो जाते हैं, पुनः स्थापित किया जा सकता है। एक मकान के लिए जिसकी कीमत ३०,००० रुपये है, और जिसकी उम्र उम्मीद की जाती है ६० वर्ष होगी, ५००) हर वर्ष अलग रख दिया जाएगा।

(ii) देश के राष्ट्रीय लाभाश में भौतिक माल और आय के लिए की गई व्यक्तिगत सेवाएँ दोनों सम्मिलित हैं।

(iii) धन का उत्पादन और वितरण लगातार हो रहा है। यह एक वर्ष इकट्ठी बनाकर फिर वितरित नहीं की जाती। यह तो एक बहाव है—माल और सेवाओं की एक नदी जो सदा प्रभावित रहती है। यह सच्चाई श्रमिक वर्ग की हालत से समझ में आ जाती है जो हमेशा पैसे के मुहताज रहते हैं और महीना भर भी अपने वेतन (मज़दूरी) के लिए मुश्किल से ही इन्तजार कर पाते हैं।

४. **राष्ट्रीय लाभांश किन में वितरित करना है ?** (Among whom is the National Dividend to be Distributed?): —स्पष्ट है कि उन लोगों में जिन्होंने उत्पादन के कार्य में भाग लिया है, वे ही हिस्सा लेने के अधिकारी हैं। किन्तु यह एक व्यक्तिगत (personal) नहीं, वरन् कार्यगत (functional) पुरस्कार है। यानी, हर साधन को आय मिलती है, कार्य (function) के लिए। एक व्यक्ति अपनी आय एक ही समय में दो या अधिक हैसियतों से ले सकता है, जैसे श्रमिक और पूंजीपति की या और ज़मींदार की हैसियत से भी यदि वह एक से अधिक उत्पादन के साधन देता है। उपज का वितरण संगठनकर्त्ता के द्वारा होता है। वही अन्य तीन साधनों को जुटाता है, काम पर रखता है और उनका पुरस्कार उचित आधार पर देता है।

* According to Dr. Marshall "the labour and capital of a country, acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds—this is the true net annual income revenue of the country, or the national dividend."

† It is thus 'the aggregate net produce of and the sole source of payment for all agents of production."—(Marshall)

व्यक्तिगत वितरण तो गणना या आकड़ो (statistics) की बात है। इस पुस्तक के दूसरे भाग में हम भारत में आय के व्यक्तिगत वितरण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहाँ हम केवल आर्थिक नियमों की चर्चा करेंगे जो उत्पादन के चार साधनों को दिये जाने वाले पुरस्कारों का नियन्त्रण करते है।

५. **प्रत्येक साधन का हिस्सा कैसे निश्चित होता है ?** (How is the Share of each Factor decided):—हम अब इस प्रश्न पर विचार करने के योग्य है। भूमि, श्रम, पूँजी, और संगठन की सेवाओं का क्रमशः मूल्य कैसे निर्धारित करें ? मूल्य की समस्या फिर हमारे सामने आती है। हम पहले ही बता चुके हैं कि माल का मूल्य कैसे नियत होता है। हम अब यह देखेंगे कि उत्पादन के साधनों द्वारा किए हुए काम का मूल्य कैसे निर्धारित होता है। हम देखे कि मूल्य का सिद्धान्त हमारी यहाँ क्या सहायता करता है।

मांग का रुख (Side of Demand) : सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) आप जानते है कि किसी वस्तु की कीमत, एक तरफ़ उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। उसी तरह हर साधन का मूल्य भी उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर है। किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) का अर्थ है कुल उपज में वह जोड़ जो उस साधन की एक अतिरिक्त इकाई के उपयोग से मिलता है। सीमान्त उत्पादकता ऐसे भी पता लगाई जा सकती है कि आखिरी इकाई को छोड़कर जो उत्पादन होता है उसे कुल उत्पादन मे से घटा दें तो उत्पादन में आखरी इकाई के न होने से जो "कमी" होगी वही उस अतिरिक्त इकाई के कारण उत्पादन में बढ़ा हुआ जोड़ होगा। यह "जोड़" या "कमी" उस साधन का क्या परिमाण उस समय उपयोग में है इस पर निर्भर है और उसके साथ बदलेगी। यहाँ अच्छा हो कि हम घटती हुई उपज के सिद्धान्त को याद कर लें। यह नियम कहता है कि जैसे-जैसे किसी एक साधन की ज्यादा इकाइयाँ उत्पादन में लगेंगी, यदि अन्य साधन उतने ही रहे, तो उत्पादन *कुछ समय तक* तो समानुपात (proportion) से बढ़ेगा किन्तु बहुत जल्दी ही गिरने लगेगा और गिरता चला जाएगा। हर साधन की उत्पादकता घटती चली जाती है यदि उसकी अधिक इकाइयाँ प्रयुक्त की जाएँ और *साथ-साथ अन्य साधनों मे वृद्धि न की जाय।* ठीक उस बिन्दु पर जहाँ उत्पादन में उस इकाई द्वारा किया गया "योग" उस इकाई की लागत के बराबर है, निर्माता रुक जायेगा। यही सीमान्त (margin) है। इसे हम रेखाचित्र द्वारा समझा सकते है।

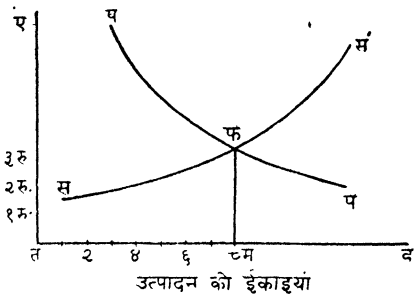

प प' एक साधन की उत्पादकता दिखाता है और और स स' उसकी सप्लाई कीमत। फ म आठवी इकाई की सीमान्त उत्पादकता है और यह कीमत के बराबर आती है। इस बिन्दु म पर सीमान्त इकाई वह है जिसने सिर्फ़ अपनी लागत के बराबर उपज दी है। यही वह बिन्दु है जहाँ उत्पादक समझता है कि बस इस अन्तिम इकाई का नियोजन किया जा सकता है, इससे आगे नही।

उदाहरण के लिए, मान लो कि एक टेलरिंग फर्म का मालिक यह पाता है कि वह एक कारीगर और रखकर ३) रोज अपना उत्पादन बढ़ा सकता है तो ३) कारीगर की सीमान्त उत्पादकता है। नियोजक (employer) उसे इससे ज्यादा नहीं देगा। और क्योंकि वह भी अन्य काम करने वालों के बिल्कुल बराबर है, न उनसे ज्यादा न कम, और क्योंकि वे सब एक दूसरे की जगह काम कर सकते हैं इसलिए उन सब को ३) रोज ही तनख्वाह मिलेगी। यदि किसी समय भी वेतन की दर गिरती है तो टेलर मास्टर और आदमी नौकर रख लेगा, जो पहले फायदेमन्द न थे। इसी तरह यदि मजदूरी ऊपर जाय तो वह अपना स्टाफ कम कर देगा।

प्रतिस्थापन का सिद्धान्त (Principle of Substitution) : हमने यह देखा कि यहाँ प्रतिस्थापन का सिद्धान्त पूरी तरह लागू है। हर नियोजक हमेशा तौलता रहता है कि हर साधन की इकाई की उसकी लागत की अपेक्षा क्या योग्यता है। वह अपने स्रोतों का वितरण इस तरह से करता है कि उसे उनसे अधिकतम उपज मिले। वह यह जानने के लिए लालायित रहता है कि द्रव्य की एक इकाई सबसे ज्यादा उत्पादक (productive) किस प्रकार हो सकती है। क्या यह सबसे अच्छी तरह उपयुक्त होगी। यदि एक मशीन और खरीद ली जाय, या एक दर्जन मजदूर और रख लिए जाएँ या कारखाने में एक जमीन का टुकड़ा और जोड़ दिया जाय ? वह अपना अधिकतम उपज का आदर्श तभी प्राप्त कर सकता है जब वह उन सबसे होने वाली अपनी सीमान्त उपजों को बराबर कर ले। इस तरह सम-सीमान्त उपयोगिता या प्रतिस्थापन का नियम न सिर्फ उपयोग और उत्पादन मे लागू होता है, वरन् वितरण में भी लागू होता है।

६. **सप्लाई का रुख** (Side of Supply).—हमने देखा है कि बाजार में कीमत माग और सप्लाई की शक्तियों की अन्तःक्रिया से नियत होती है। वितरण में सीमात उत्पादकता उपयोग में सीमांत उपयोगिता के ही अनुरूप (parallel) है। जब एक साधन की सप्लाई पता है तो वह उसके विभिन्न उपयोगों में बंट जाएगा और विभिन्न उद्यमियों में भी ऐसे वितरित होगा कि उसकी उत्पादकता सीमान्त (margin) पर हर जगह वही हो। जितनी ज्यादा सप्लाई होगी, सीमान्त की इकाई की उत्पादकता उतनी ही कम और इसके विपरीत सप्लाई कम होने पर। इससे यह बात समझ में आ जाती है कि जब किसी साधन की सप्लाई बढ़ी होती है तो उसकी उपज क्यों कम रहती है।

अब हमें यह देखना है कि उत्पादन-लागत की तरह की कोई चीज वितरण में भी है। यह समस्या जटिल है। हम एक-एक साधन बारी-बारी से लें। भूमि

प्रकृति का एक उपहार है। हम इसकी लागत के बारे में इस तरह नहीं कह सकते जैसे मान लीजिए मेज़ के बारे में कहते हैं। श्रम के बारे में कहना और भी कठिन है। एक मज़दूर के उत्पादन की लागत क्या हो ? इसका हिसाब लगाने की कोशिश करना भी बेकार है। यही हाल संगठन का भी है। ज्यादा-से-ज्यादा आप एक संगठनकर्त्ता के प्रशिक्षण (training) का खर्च जोड़ लेंगे। किन्तु ईश्वर प्रदत्त योग्यताओं और उपहारों की उस अर्थ में कोई लागत नहीं है। इसी तरह हम पूंजी की बचत करने (saving) और रुपया लगाने की *वास्तविक लागत* (cost) को नहीं माप सकते।

इसलिए, मूल्यन (valuation) के सम्बन्ध में, यह तो सच है कि उत्पादन के साधनों और साधारण माल की स्थिति में सचमुच अन्तर है। जबकि हम माल के उत्पादन की लागत का पता लगा सकते हैं, उत्पादन के साधनों का मूल्यांकन करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसलिये उत्पादन के साधनों की उत्पादन-लागत को किसी और तरह ढूंढना होगा।

७. **वितरण की अच्छी पद्धति** (A Good System of Distribution):— आय के वितरण की ठीक-ठीक रीति किसी देश में चालू अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर है। जैसे कम्यूनिज्म का कहना है कि हर एक को उपलब्ध सप्लाई में से समान अंश मिलना चाहिए। भारत में शहरों की खाद्य राशनिंग इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। ऐसी पद्धति आपत्ति काल (emergency) में तो ठीक है किन्तु सामान्य वक्तों में यह चालू नहीं की जा सकती क्योंकि अलग-अलग लोगों की पसन्द और रुचि में बहुत अन्तर होता है। न माल का समान वितरण ही सन्तोषप्रद है क्योंकि उस हालत में हर एक का भाग (शेयर) बहुत छोटा होगा और किसी काम का न होगा। *वितरण की सबसे अच्छी पद्धति वह है जो इस सिद्धांत पर आधारित हो कि हर एक को उसके द्वारा किए गए काम के अनुसार पुरस्कार दिया जाए।* यह हमें फिर वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धांत (marginal productivity theory of distribution) पर पहुँचा देता है, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है। हम यही कह सकते हैं कि इस सिद्धांत और किसी साधन की सीमांत सप्लाई कीमत (marginal supply-price) से हमें काफी व्यावहारिक आधार मिल जाता है कि हम उत्पादन के विभिन्न साधनों को दिया जाने वाला पुरस्कार पता लगा सकें। इसमें सन्देह नहीं कि इससे आय में वही असमानता (inequality) उत्पन्न हुई है जो मुख्यतया विरासत के कानूनों (laws of heritance) के कारण है। किन्तु यह भी सच है कि गरीब और ज्यादा गरीब नहीं हुए हैं, यद्यपि अमीर और ज्यादा अमीर अवश्य हो गए हैं। आज सभी सरकारें यह महसूस करती हैं कि आय में असमानताओं को कम करने की जरूरत है। इसीलिए लगभग सभी देशों में उत्तरोतर (progressive) और अधिक मुनाफा (excess profits) आयकर, मरण शुल्क (death duties), ज़मींदारी का उन्मूलन (abolition of zamindaris), लाभांशों का सीमा-निर्धारण (limitation of dividends), कानूनी न्यूनतम मज़दूरी (legal minimum wages), समाजी बीमा योजनाएँ (social insurance schemes), और अन्य

उपायों से अमीर और गरीब के बीच का फर्क (gap) कम करने की कोशिश की जा रही है जिससे जन-साधारण का आर्थिक कल्याण हो सके। योजना-युग के प्रारम्भ होने से सामाजिक न्याय की दृष्टि से भारत में भी आय के अधिक समान वितरण की ओर अब अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा?

वितरण क्या है? (What is Distribution?):

(क) युगों पहले—उत्पादक और उपभोक्ता एक ही व्यक्ति था और कोई समस्या न थी।

(ख) आज—श्रम विभाजन के विकास और यांत्रिक उत्पादन के विकास के साथ राष्ट्रीय धन का बँटवारा कठिन हो गया है। तीन प्रश्नों को यहाँ सुलझाना है:

(१) किस वस्तु का वितरण किया जाय?

(२) किन में?

(३) किस सिद्धान्त के आधार पर हर एक का भाग निश्चित हो?

वितरण की समस्या इतनी रोचक क्यों है? (Why is the Problem of Distribution so Interesting?):

(क) क्योंकि हम में से हर एक उत्पादक है और राष्ट्रीय लाभांश में अपना भाग चाहता है।

(ख) क्योंकि उत्पादित माल का कुल स्टाक इतना काफी नहीं है कि सबकी सारी आवश्यकताओं की संतुष्टि कर सके।

क्या वितरित होना है? (What is to be Distributed): जाहिर है कि उत्पादित धन राष्ट्रीय लाभांश (national dividend) या मनुष्य की चेष्टाओं द्वारा प्राकृतिक स्रोतों की सहायता से, उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल योग वितरित होना है।

किन में वितरित होना है? (Among whom is it to be Distributed): उत्पादन के जिन साधनों ने मिलकर इसका उत्पादन किया है उनको अपने किए गए कार्यों का पुरस्कार मिलना चाहिए।

हर एक का अंश कैसे नियत होगा? (How is the Share of each Determined): यह सबसे दिलचस्प सवाल है। यहाँ हमें विभिन्न साधनों सेवाओं का मूल्य निश्चित करना है।

मांग का रुख—सीमान्त उत्पादकता (The Demand Side—Marginal Productivity): उत्पादन के किसी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार दिया जाता है अर्थात् उस साधन की अन्तिम नियोजित इकाई द्वारा कुल उत्पादन में योग (addition) द्वारा। नियोजक कभी भी श्रम या पूँजी की किसी इकाई को उसकी सीमांत उत्पादकता से अधिक कीमत पर नहीं लगाता और क्योंकि सभी इकाइयाँ एक दूसरे से बदली जा सकती हैं (क्योंकि वे एक-सी हैं) इसलिए उन्हें एक ही दर दी जाती है। नियोजक (employer) वहाँ रुक जाता है जहाँ वह यह महसूस करता है कि वह लगाई हुई सीमांत इकाई की उत्पादकता के बराबर दे रहा है।

प्रतिस्थापन का नियम (Law of Substitution): हर उत्पादक अपने स्रोतों का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहता है। वह हमेशा कम उत्पादक साधनों के स्थान पर अधिक उत्पादक साधनों को लगाने की कोशिश करता है। वह सोचता है कि अधिक मजदूर लगा लेने से या एक नई मशीन खरीदने से या कारखाने का विस्तार बढ़ाने में ज्यादा मुनाफा होगा? यह सतत प्रश्न उसके सामने रहता है।

सप्लाई का रुख (Supply side) : साधारण माल में लागत कीमत तय करती है। विभिन्न साधनों के बारे में यह लागत तय करना कठिन है। भूमि की कोई उत्पादन लागत नहीं है। श्रम की कहना और भी मुश्किल है। पूंजी के उत्पादन की वास्तविक लागत कहना असम्भव है। इसलिए वितरण की समस्या कठिन हो जाती है।

वितरण की अच्छी पद्धति क्या है ? (What is a Good System of Distribution ?) :

(क) पद्धति प्रचलित राजनैतिक व्यवस्था पर आश्रित है।

(ख) युद्ध जैसे आपत्ति काल में तो समान वितरण ठीक है किन्तु सामान्य काल में नहीं।

(ग) स्वावलम्बन तथा व्यक्तिगत प्रयास को प्रोत्साहित करना चाहिए किंतु वर्गों के बीच का भेद कम करना चाहिए। इससे देश का आर्थिक कल्याण अधिकतम होगा।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What do we study in distribution ? Show the relation of Distribution with Exchange. (पं० वि० १९४६)

देखिये विभाग १ से ६।

2. "The central problem of Economics is the determination of value." Is this true in the case of distribution also ? If so, does the same theory of value apply here also ?

[हां : यहां हम देखते हैं कि उत्पादन के साधनों की सेवाओं का मूल्यन (valuation) कैसे होता है। वहां सिद्धान्त कुछ रूप-भेद के साथ लागू होता है। देखिये विभाग ५, ६।]

3. What is the meaning and importance of 'marginal productivity' in distribution ? Give examples.

देखिये विभाग ५, ६।

4. Explain the working of the principle of substitution in the department of Distribution.

देखिये विभाग ५।

5. Why is the department of distribution so interesting and why are its problems so difficult to solve ?

देखिये विभाग २।

6. Which do you think is the best system of income-distribution in the world ? Give examples from India.

देखिये विभाग ७।

7. What do we study in distribution ? Examine the principles on which the National Dividend of a country is distributed among different factors of production. (जम्मू काश्मीर, १९५५)

8. On what principles is the national dividend of a country distributed among different factors of production ?

(क. वि. बी. कॉ. १९४०; क. वि. १९३३; आगरा १९४२; पटना १९४४; मद्रास १९३३)

देखिये विभाग ५, ६।

9. What does the economist understand by Distribution ? Indicate how the mode of distribution is of great economic

significance. (पंजाब वि., १९३८)
देखिये विभाग १, २ और ३।

10. Write a short note on :—
National dividend. (पंजाब वि., १९४५)
देखिये विभाग २, ३ और ४।

11. Give clearly the Idea of National income.
(पंजाब वि., १९५१ Suppl.)
देखिये विभाग १, २ और ३।

12. Define 'National income'. How is it distributed among the various factors of production ?

अध्याय २६

किराया

(RENT)

वह अदायगी जो लागत नहीं है

(A Payment which is not Cost)

१. **किराए का साधारण अर्थ** (Common meaning of Rent) :—किराया शब्द बहुत जगह प्रयुक्त होता है। सभी लोग इस से परिचित हैं। किन्तु हर बार इसके मायने अलग-अलग होते हैं। जैसे यह किसी जमीन या मकान के इस्तेमाल के लिए किरायेदार द्वारा उसके मालिक को मासिक या वार्षिक दी गई रकम है। कोई सीने की मशीन, रेडियो सेट, साइकिल या टाइप राइटर इस्तेमाल करने की मासिक अदायगी भी यही है। आप एक बस, टैक्सी, रिक्शा या तांगे पर चढ़ने की कीमत को भी किराया या भाड़ा कहते हैं। शायद आप होस्टल में रहते हैं, और किराए से आपके दिमाग में अपने कमरे के लिए जो आप मासिक फीस कॉलेज को देते हैं, वह है। फिर आप रेल के किराए को भी किराया कहते हैं। इस तरह किराया आपके लिए किसी भी वस्तु के उपभोग के लिए दी जाने वाली मुद्दती किश्त या मुआवजा है। अंग्रेजी के रेन्ट (rent), फेयर (fare) या फ्रेट (freight) और हायर (hire) तीनों शब्दों के अर्थ हिन्दी में किराया हैं और इसीलिए आप कभी-कभी अंग्रेजी में भी इन तीनों शब्दों के प्रयोग में गड़बड़ी कर जाते हैं।

२. **अर्थशास्त्र में अर्थ** (Meaning in Economics) :—अर्थशास्त्र में किराए के अर्थ भिन्न हैं। यहाँ "किराए का मतलब है वह अतिरिक्त जो उत्पादक के पास अपने उत्पादन के तमाम खर्चे दे देने के बाद और उत्पादक चेष्टा के लिए अपने को भी पुरस्कार दे देने के बाद बच रहता है। इस मायने में यह व्यय के ऊपर फसल के मूल्य की अधिकता है।" (पेन्सन) * अर्थशास्त्र में किराया (rent) भूमि या भूमि के अन्तर्गत आने वाले अन्य प्राकृतिक उपहारों से प्राप्त आय है। जब कोई आसामी (tenant) किसी खेती को किराए पर लेता है तो वह एक उपजाऊ जमीन के लिए मालिक को ज्यादा किराया देने को तैयार होता और उससे कम उपजाऊ या खराब स्थिति की जमीन के लिए कम। वह ज्यादा देने को तैयार होता है क्योंकि वह उपजाऊ जमीन से ज्यादा उपज पा सकता है। *सीमांत भूमि* (marginal land) *के ऊपर (यानी उसकी अपेक्षा) जमीन से जो अतिरिक्त* (surplus) *उपज*

* It means the surplus which remains to the cultivator after he has paid all the expenses of production and has remunerated himself for his own productive effort. In this sense it is the excess of the crop over the expenses.—(Penson)

होती है वह आर्थिक किराया (economic rent) **है।** कभी-कभी उसे इस अतिरिक्त से ज्यादा भी देना पड़ता है। जब भूमि की सप्लाई कम होती है, जैसे भारत जैसे प्राचीन देशों में है, और दूसरे धन्धे कम होते हैं तब ज़मीन माँग सप्लाई से ज्यादा होती है किसान-आसामियों की परस्पर स्पर्धा के कारण जमीदार अक्सर पूरा आर्थिक किराया यानी उत्कृष्ट स्थिति या उपजाऊपन का मूल्य, या कभी-कभी उससे ज्यादा भी वसूल कर लेता है।

३. स्थूल किराये का विश्लेषण (Gross Rent Analysed) :—तब फिर अपने कमरे का जो किराया मैं देता हूँ उसका स्वभाव क्या है, आप पूछेंगे। आप से लिये गए रुपए का एक अंश तो उस ज़मीन के उपयोग के लिए है जिस पर आपका कमरा बना हुआ है। और कुछ मकान में लगाए गए रुपए का सूद है। लेकिन यही नहीं। कॉलेज आपकी मदद के लिए कुछ स्टॉफ रक्खे हुए हैं; सुपरिन्टेन्डेन्ट है, माली है, चौकीदार है, जमादार है। आप पानी, रोशनी और सफाई जैसी ऊपरी सुविधाएं भी प्राप्त करते हैं। इन सेवाओं के लिए भी आप अपना हिस्सा अदा करते हैं। फिर आपका होस्टल बनाने में जो जोखिम (risk) उठाया गया है उसके लिए भी कुछ लिया जा सकता है। स्वभावतया आपको इन सब के लिए भी अदायगी करनी पड़ेगी। यह *स्थूल किराया* (gross rent) है। इस में—

(क) पूँजी पर सूद,
(ख) प्रबन्ध के लिए वेतन,
(ग) जोखिम का मुनाफा, और
(घ) आर्थिक किराया

ये चार चीजें शामिल हैं

४. किराया कैसे शुरू होता है ? रिकार्डो का सिद्धान्त (How does Rent arise ? Ricardo's Theory) : किराए का शास्त्रीय (classical) सिद्धान्त डेविड रिकार्डो के नाम से संबधित है। वह किसी नए देश में बसने वालों के एक दल से शुरू करता है। मान लीजिए कि यह बसने वाले जिस नए टापू पर बसने हैं, उसका अब तक पता न था, और उसका नाम हम जवाहर द्वीप रखते हैं।

जब हम जवाहर द्वीप के प्राकृतिक स्रोतों का अध्ययन करते हैं तो हमें चार प्रकार की ज़मीन मिलती है। सुविधा के लिए उन्हें हम उपजाऊपन के अनुसार क, ख, ग, और घ ग्रेड की कहते हैं। हम तारापुर में बसे जो द्वीप के क भाग में है यह सब से अधिक उपजाऊ है और हमें फी एकड़ सबसे ज्यादा उपज देता है। इस प्रकार (क्वालिटी) की भूमि हमारी जरूरतों को इस वक्त पूरा करने के लिए काफी परिमाण में है। इसलिए यह मुफ्त या निर्मूल्य माल है और इसकी कोई कीमत न होगी। किन्तु समय बीतने पर, खाने

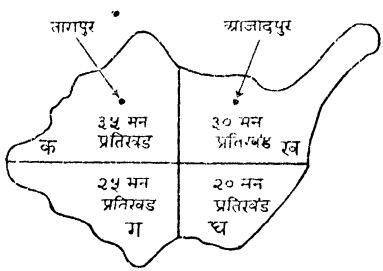

वालों की संख्या बढ़ती है। यह चाहे इस कारण हो कि हमारे भाग्य खुल जाने की बात सुनकर बहुत-से नए लोग वहाँ आकर्षित होकर आ गए हैं या हमारी अपनी जनसंख्या ही बढ़ जाने के कारण।

(क) **विस्तृत खेती में किराया** (Rent in the Extensive Farm) : एक समय ऐसा आएगा जब सर्वोत्तम गुणों वाली ज़मीन सारी किसी-न-किसी के कब्जे में आ जाएगी। तब हमें ख ग्रेड की जमीन पर जाना पड़ेगा। यह क की अपेक्षा खराब है, और जहाँ क में कुछ श्रम और पूंजी लगाने से एक टुकड़े पर ३५ मन गेहूँ होता है, ख भूमि में उतने ही बड़े टुकड़े पर उतना ही श्रम और पूंजी लगाने से सिर्फ ३० मन ही गेहूँ उगजता है। स्वाभाविक है कि 'क' के टुकड़ों का 'ख' की अपेक्षा अधिक मूल्य हो जाएगा। एक आसामी क में ज़मीन पाने के लिए ख के मुकाबले ५ मन गेहूँ ज्यादा देने को तैयार होगा। यदि ख मुफ़्त में मिल सकती है तो क का मूल्य ५ मन गेहूँ हो गया। यही अन्तर जो आसामी द्वारा मालिक को दिया जाएगा, या यदि खेतिहर खुद मालिक है तो वह अपने पास रख लेगा, आर्थिक किराया है। आसामी द्वारा दिया गया किराया *ठेके का किराया* (contractual rent) है। और दूसरी स्थिति में मालिक द्वारा प्राप्त लाभ *निहित किराया* (implicit rent) है। ख के टुकड़ों पर कोई किराया नहीं है। एक कदम और आगे चलिए तो आप देखेंगे कि ख क्वालिटी की जमीन भी खत्म हो गई और अब 'ग' के टुकड़ों की खेती शुरू हुई। अब ख की जमीन को भी ग के ऊपर कुछ अतिरिक्त (differential surplus) मिलने लगा। इसलिए वह ख का किराया होगा और क का किराया और ऊँचे चला जायगा।

जब मांग और बढ़ती है तो घ जमीन भी काम में आने लगती है जो सब से खराब है और सिर्फ २५ मन ही पैदा करती है। यह अब तक बिना-किराया भूमि (no-rent land) है, जबकि क ख ग सब किराया कमाते हैं। यह बढ़ती हुई मांग बढ़ती हुई कीमतों से प्रदर्शित होती है। ये कीमतें इतनी ऊँची उठ जाती हैं कि निकृष्ट ग्रेड की यानी घ क्वालिटी की ज़मीन की खेती के खर्चों के बराबर हों। मान लीजिए कि उत्पादक चेष्टा (productive effort) की एक इकाई १०५) के बराबर है। जब सिर्फ क ज़मीन हल के नीचे थी जो ३५ मन गेहूँ पैदा करती थी, तब गेहूँ की कीमत ३) मन थी। जब अधिक मांग के कारण गेहूँ की कीमत ३½ मन हो जाती है तभी ख क्वालिटी की ज़मीन की खेती शुरू होगी जो ३० मन ही पैदा करती है। और जब यह होगा तब क ज़मीन में ५ मन का अतिरिक्त या ५ मन × ३॥) = १७॥) फी प्लाट (ज़मीन के टुकड़े) का अतिरिक्त प्राप्त होगा, यही किराया हो जाता है।

दूसरे शब्दों में किसी ज़मीन के टुकड़े से और सीमान्त टुकड़े से (यानी जिससे सिर्फ़ उसका खर्चा भर निकल पाता है) प्राप्त उपजों का अन्तर ही आर्थिक किराया कहलाता है।

(ख) **गहन खेती के अंतर्गत किराया** (Rent under Intensive Cultivation) : जवाहर द्वीप के बसने वाले यह समझते हैं कि उपज बढ़ाने का एक

दूसरा भी उपाय है। क्यों न अच्छी ज़मीन पर अधिक पूंजी और काम लगाया जाय और गहन-खेती की जाय ? यह किया जाता है किन्तु घटती हुई उपज का नियम लागू होना शुरू हो जाता है। पूंजी और श्रम की दूसरी इकाई हमें निश्चित रूप से पहली की अपेक्षा कम उपज देगी। मान लीजिये कि उससे ३० मन ही उपज होती है। तब हमारे सामने दो रास्ते हैं–चाहे हम ख भूमि का एक नया टुकड़ा ले लें या क भूमि की अधिक गहन खेती करें। यदि हम दूसरा तरीका अपनाएं तो श्रम और पूंजी की पहली इकाई से दूसरी की अपेक्षा अतिरिक्त उपज होगी। दूसरी इकाई सिर्फ अपने खर्चे के बराबर उत्पन्न करने योग्य है। यह अतिरिक्त ही किराया है। जैसे-जैसे श्रम-पूंजी की इकाइयाँ लगाई जाएंगी, फी इकाई उपज घटती जाएगी।

(ग) **स्थिति में अन्तर के कारण किराया** (Rent due to Differences in Situation) : समय बीतने के साथ-साथ एक नया कारण उठ खड़ा होगा। क प्रदेश में एक स्थान है तारापुर जिसमें एक बाज़ार बन जाता है और दूसरे स्थान आजाद नगर में रेलवे जंकशन। तब फसलों को उन दो स्थानों में विक्रय के लिए भेजना पड़ेगा। तब तारापुर और आजाद नगर के समीप की भूमि दूसरों की अपेक्षा कुछ फायदे में रहेगी। उनको ग और घ क्षेत्रों के मुकाबले में या तो परिवहन के कुछ खर्चे न होंगे या फिर बहुत कम होंगे। परिवहन व्यय उत्पादन लागत का ही अंग है, क्योंकि उत्पादन तब पूरा कहा जाता है जब पदार्थ उपभोक्ता के हाथ में पहुंच जाय। इसलिए ज्यादा अच्छी जगह स्थित ज़मीन को दूर की ज़मीन के मुकाबले में अतिरिक्त देना पड़ेगा। यह अतिरिक्त किराए का दूसरा कारण होगा।

बिना किराए की या सीमान्त ज़मीन (No Rent or Marginal Land) : ऊपर दिए गए उदाहरणों से यह साफ है कि किराया इसलिए कमाया जाता है कि कोई टुकड़ा ज्यादा अच्छी स्थिति में है या किसी अन्य टुकड़े के मुकाबले में खेती के अधिक उपयुक्त है। यह 'अन्य टुकड़ा' सीमान्त भूमि (marginal land) है जो सिर्फ खर्चा निकाल पाती है, ज्यादा नहीं। इस भूमि को *बिना किराए की* (no rent) *या सीमान्त* (marginal) *भूमि* कहते हैं। तमाम किराए इससे ऊपर मापे जाते हैं। नीचे दिए गए रेखाचित्र में घ क्वालिटी की जमीन जो २० मन फी टुकड़ा (plot) पैदा करती है, सीमान्त भूमि है। यहाँ लागत (cost) और उपज (return) बराबर हैं।

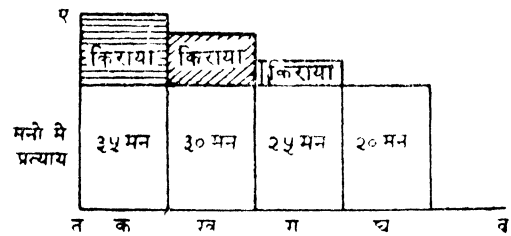

(घ) **दुर्लभता किराया** (Scarcity Rent) : अब हमारे नए स्वदेश जवाहर द्वीप में हम ऐसी हालत में पहुँच जाते हैं कि सारी ज़मीन हल के नीचे आ गई है और उसकी

गहन खेती भी हो रही है। किन्तु मांग के जोर से कीमतें और ऊंची चढ़ती हैं। आबादी तेजी से बढ़ रही है। हमारा देश पुराना हो गया है और कोई ज़मीन बाकी नहीं रही है क्योंकि हमारा देश एक द्वीप है। इसलिए सारी जमीन को—घ क्वालिटी की बिना किराए की ज़मीन को भी—खर्चे से ऊपर अतिरिक्त मिलने लगता है। यह सम्भव है कि हम बिना किराए की ज़मीन की खोज न कर सकें क्योंकि (क) वह ज़मीन भी दुर्लभता का किराया (scarcity rent) दे रही हो या (ख) मालिक ने उसमें कुछ पूंजी लगाई है और उसके सूद को हम किराया समझ बैठे हैं, या (ग) बिना किराए की जमीन किसी दूसरे देश में है या (घ) बिना किराए के टुकड़े किराया देने वाली जमीन में छिपे हुए उसी क्षेत्र के भाग हों। घ क्वालिटी की जमीन से, जो बिना किराए की जमीन है, मिला हुआ अतिरिक्त (surplus) दुर्लभता (scarcity) का किराया (मूल्य) है। उससे अच्छी जमीनों को अपने भिन्नता के मुनाफे (differential gain) के साथ-साथ यह अतिरिक्त भी मिलेगा।

निष्कर्ष (Conclusion) : संक्षेप में हम देखते हैं कि किराया एक भिन्नता का अतिरिक्त (differential surplus) है और यह इस तथ्य से उदित होता है कि भूमि में उत्पादन के साधन के रूप में कुछ विशिष्टताएँ हैं। इसका क्षेत्रफल (area) परिमित है और इसकी स्थिति (situation) अचल है। इसका उपजाऊपन (fertility) बदलती रहती है और अलग-अलग जमीन के साथ भिन्न है। किराया इसलिए होता है कि :—

(१) उपजाऊपन करीब-करीब प्रकृति द्वारा निश्चित है।

(२) हर टुकड़ा अपनी स्थिति में भिन्न है जो बदला नहीं जा सकता, और

(३) भूमि का कुल परिमाण (स्टाक) निश्चित है। उसे बढ़ाया नहीं जा सकता।

इसी आधार पर रिकार्डो ने किराए की परिभाषा दी कि किराया "जमीन की उपज का वह अंश है जो जमींदार को धरती की मूल और—नष्ट न हो सकने वाली शक्तियों के एवज में दिया जाता है"*। उसके अनुसार उपजाऊपन, स्थिति और परिमित कुल परिमाण, ये तीनों चीजें, जो मूल और स्थायी हैं, किराए का कारण हैं।

५. किराया और कीमत (Rent and Price) :—किराया तो *लागत के ऊपर अतिरिक्त* (surplus over cost) है। यह कीमत में नहीं आता। हमने पिछली चर्चा में कहा था कि कीमत सीमान्त भूमि पर उत्पादन की लागत पर निर्भर है। जब कीमतें मांग और सप्लाई की शक्तियों के कारण ऊपर चढ़ जाती हैं तभी किसी जमीन पर किराया लगना शुरू होता है। रिकार्डो ने अपने जमाने में इस युक्ति से यह समझाने की चेष्टा की कि मंहगे अनाज के लिए जमींदार दोषी नहीं हैं। "अनाज मंहगा इसलिए नहीं है कि जमीन का किराया देना पड़ता

* "that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the original and indestructible powers of the soil."

है, वरन् किराया इसलिए दिया जाता है कि अनाज महँगा है।"* बल्कि अगर ज़मींदार अपना सारा किराया भी छोड़ दे (या उनसे शत प्रतिशत कर लगा कर छीन लिया जाय) तो भी अनाज उसी कीमत पर बिकेगा जितनी पर पहले बिकता था। रिकार्डो का कहना है कि, "यह ठीक कहा गया है कि यदि जमींदार अपना सारा किराया छोड़ दे तो भी अनाज की कीमत में अन्तर न पड़ेगा।" इसका मतलब यह है कि किराया कीमत-निर्धारण का कारण नहीं है वरन् कीमत किराया-निर्धारण का कारण है। लीजिए यह आपको एक अस्त्र मिल गया। अगली बार जब कोई दुकानदार कनाटप्लेस में आप से कहे कि उसे ऊँची कीमतें इसलिए लेनी पड़ती हैं कि वह किराया ज्यादा देता है, तो आप उससे कह सकते हैं कि वह बकवास कर रहा है। अगर उसे मूर्ख ग्राहक न मिलें जो उसे ऊँची कीमतें दे देते हैं तो उस मँहगी दुकान को रखे ही नहीं और मकान मालिक को भी किराया घटाना पड़े। तो मँहगे किराए *इसलिए* दिए जाते हैं *क्योंकि* ऊँची कीमतें मिल सकती हैं *न कि* ऊँची कीमतें इसलिए हैं कि किराया ज्यादा हैं।

यह रेखाचित्र साफ दिखाता है कि किराया कीमत का कारण नहीं है। चतुर्भुज घ वर्ग की जमीन पर उत्पादन करने का व्यय बताता है। यह देखा गया है कि उपजाऊपन कम होने से व लागत बढ़ जाती है। यदि कुल माँग का मुकाबला करने के लिए इस ज़मीन की उपज को काम में लाना है तो बाज़ार-भाव को लागत के बराबर रखना पड़ता है और यदि घ भूमि पर उपज की लागत कीमत से पूरी करनी है। क, ख, ग अतिरिक्त कमा रहे हैं जो किराया है। घ के ऊपर चतुर्भुज में किराया नहीं है। इसलिए हम कह सकते हैं कि *किराया कीमत से तय होता है न कि कीमत किराए से।*

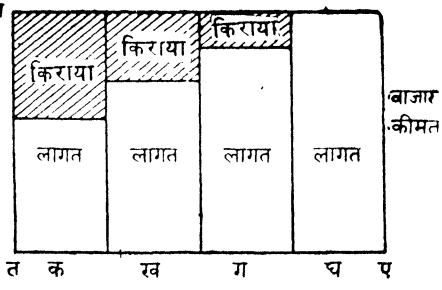

६. **रिकार्डो के किराए के सिद्धान्त की आलोचना** (Criticism of Ricardo's Theory of Rent) : रिकार्डो ने अपने प्रसिद्ध वक्तव्य में सक्षेप में कह दिया है कि किराया "धरती की मौलिक और अविनाशी शक्तियों" के लिए अदायगी है। इन दो शब्दों "मौलिक" और "अविनाशी" पर बड़ी आलोचना की गई है।

पहले तो यह कहा जाता है कि भूमि का उपजाऊपन मौलिक (original) नहीं है। भूमि की आज की उत्पादक-क्षमता बहुत हद तक खाद और दूसरे सुधारों व अन्य मानवीय चेष्टा का फल है। इस तरह किसी भी समय यह कहना असम्भव है कि भूमि का कौन-सा गुण या शक्ति मौलिक है, और कौन-सा मनुष्य द्वारा पैदा किया हुआ।

* "Corn is not high because a rent is paid but a rent is paid because corn is high."

स्थिति एक ऐसी चीज़ है जिसे मनुष्य नहीं बदल सकता। निस्सन्देह आज भी यह सम्भव नहीं कि एक ज़मीन के टुकड़े को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। किन्तु मनुष्य परिवहन के साधनों में सुधार कर सकता है जिससे दो स्थानों के बीच की दूरी का महत्त्व कम हो जाय। वह एक स्थान की खूबियों को बदल सकता है। आज के नियोजित नगर और कारखानों की बस्तियाँ मानव मस्तिष्क की उपज हैं।

यद्यपि इस आलोचना में बल है किन्तु यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि मौलिक गुणों का भी महत्त्व कम नहीं है। कोई भी मानव प्रयास राजपूताना को काश्मीर नहीं बना सकता।

दूसरे "अविनाशीपन" (indestructibility) की धारणा पर आपत्ति की गई है। कहा जाता है कि क्षेत्र तो सदैव रहता है किन्तु उपजाऊपन नहीं। लगातार खेती से उपजाऊपन कम हो जाता है। और इसलिए आज का एकड़ पहले से कम उत्पादक है। रिकार्डो का सिद्धान्त फिर भी बिल्कुल बेकार नहीं है, जो भूमि स्वभावतया उपजाऊ है उसे ज्यादा सरलता से उपजाऊ बनाया जा सकता है यदि उसे परती (fallow) छोड़ दिया जाय या खाद दी जाय। बंजर ज़मीन को उपजाऊ बनाना ज्यादा मुश्किल है। इसके अलावा, कितना भी उपयोग करने के बाद भी ज़मीन बिलकुल ऊसर नहीं होती। उसका उपजाऊपन एकदम नष्ट नहीं हो सकता। बल्कि यह देखा गया है कि भारत जैसे प्राचीन देशों में भूमि उपजाऊपन के इतने नीचे स्तर पर पहुँच गई है कि अब और खराब नहीं होती।

तीसरे कैरी (Carey) जैसे कुछ अमरीकन अर्थशास्त्रियों ने ऐतिहासिक आधार पर किराए के प्राचीन (classical) सिद्धान्त की आलोचना की है। वे कहते हैं कि जब बसने वाले (settler) पहले अमरीका में आए तो सबसे उपजाऊ ज़मीन पर खेती पहले शुरू नहीं हुई। न वे क्रमशः कम उपजाऊ जमीनों पर गए। कारण यह है कि कुछ सबसे उपजाऊ जमीनें तो घने जंगलों से ढकी हुई थीं और कुछ अन्य शत्रु के आक्रमणों के लिए सुलभ थी। बसने वालों ने स्वभावतया उन कम उपजाऊ ज़मीनों को चुना जो खुली हुई थीं (जिन पर इतने जगल नहीं थे) और जिनकी रक्षा की जा सकती थी। इस आलोचना में ही इसका उत्तर भी मिल जाता है। यह ज़रूरी नहीं है कि सबसे उपजाऊ ज़मीन पर पहले कब्ज़ा किया जाय किन्तु उस ज़मीन पर जो किसी निश्चित मात्रा में चेष्टा करने पर सबसे अच्छा पुरस्कार देती है पहले कब्ज़ा किया गया। फिर खेती का क्रम इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि यह क्रम बदल भी जाय तो भी जब दो क्वालिटी की भूमि पर खेती हो रही है तब अधिक उपजाऊ, या बेहतर स्थित भूमि पर लागत के ऊपर अतिरिक्त प्राप्त होगा। यह अतिरिक्त तो हर हालत में होगा। चाहे जो ज़मीन भी पहले जोती बोई जाय।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि समूचे तौर पर देखा जाए तभी भूमि की सप्लाई पूरी तरह बेलोच होती है और इस कारण किराए के रूप में एक अतिरिक्त कमाती है। यह खर्च का भाग नहीं है इसलिए कीमत में शामिल नहीं होता। परन्तु

किसी एक किसान या उद्योग के दृष्टिकोण से देखें तो किसी दूसरे उपयोग में भूमि को लग जाने से रोकने के लिए उसे कुछ देना पड़ता है। यह अदायगी जिसे कार्यान्तर पुरस्कार (transfer earnings) कहते हैं, खर्चे का भाग है और इसलिए कीमत में शामिल है। किसान के लिए अकेले तौर पर पूरा का पूरा किराया एक खर्चा ही है। "इस कार्यान्तर-पुरस्कार (transfer earnings) की कल्पना से रिकार्डो का सरल सिद्धान्त—जिसमें कार्यान्तर-पुरस्कार सिफ़र है क्योंकि समूचे समाज की दृष्टि से देखा जा रहा है—वास्तविकता के अधिक निकट आ जाता है।"

(स्टोनियर एण्ड हेग)

इसलिए परिणाम यह निकलता है कि यद्यपि किराए का सिद्धान्त बहुत विकसित हो गया है, किन्तु उसका आधार अब भी रिकार्डो का ही सिद्धान्त है।

७. **गैर-कृषि भूमि पर किराया** (Rent on Non-Agricultural Lands):—शहरी इलाकों के किराए के बारे में कोई नए सिद्धान्त लागू न होंगे, चाहे वे ज़मीनें रहने के लिए काम में लाई जायँ या कारबार के लिए। फर्क सिर्फ इतना है कि यहाँ उपजाऊपन का कोई सवाल नहीं है, और स्थिति का महत्त्व सबसे ज्यादा है। रहने के मकानों में, ऐसी चीजें जैसे अच्छी सड़कें, सफाई, प्रकाश, नालियाँ और स्थान की प्रतिष्ठा (respectability) काम करती हैं। पुरानी दिल्ली की गन्दी बस्तियों का मुकाबला नई दिल्ली की साफ-सुथरी खुली जगहों से कीजिए। यह स्वाभाविक है कि नई दिल्ली में किराए पुरानी दिल्ली की अपेक्षा ज्यादा होंगे। जब एक के ऊपर एक मंजिलें मकान में बनाते चलते हैं तो भूमि का उपयोग गहन (intensive) हो रहा है, और किराया भी उसी तरह से तय होता है जैसे गहन खेती की गई भूमि का।

खानों और खनियों का किराया (Rent of Mines and Quarries): खानों और खनियों का किराया जरा भिन्न है। कभी-न-कभी वे समाप्त हो जाती हैं, जबकि खेती की जमीन नहीं होती। इसलिए उनका उपयोग के बदले में की गई अदायगी में, आर्थिक किराए के अलावा, उनके माल का उपयोग करने की कीमत का एक अंश या रायल्टी (royalty) भी शामिल रहती है। आर्थिक किराया यहाँ भी किसी अन्य खान की, जिसे हम सीमान्त पर कहते हैं उसके मुकाबले में अधिक उत्पादकता का फल है। जो रायल्टी (royalty) दी जाती है वह अतिरिक्त है। आमतौर पर उपज के फी टन पर इसकी गणना की जाती है। समुद्र में मीन-क्षेत्र (fisheries) भी आमतौर पर बिलकुल खत्म नहीं होते इसलिए उनके किराए में रायल्टी का अंश कम होता है। और वे खेती की भूमि के किराए से अधिक मिलता-जुलता है।

८. **क्या किराया अपनी ही तरह की कोई अलग चीज है?** (Is Rent a Thing of its own Kind?):—एक व्यक्ति ऊपर दिए हुए विवाद से यह नतीजा निकाल सकता है कि किराया अपनी ही किस्म की एक अलग चीज है और किसी दूसरी अदायगी (payment) के समान नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है। भूमि की विशेषता यह है कि उसका स्टाक हमेशा उतना ही रहता है। किराया इस

विशेषता का ही परिणाम है। इसीलिए बेन्हम (Benham) ने इसकी परिभाषा की है कि किराया "एक अतिरिक्त (surplus) है जो एक विशिष्ट (specific) साधन को प्राप्त होता है, जिसकी सप्लाई नियत (fixed) है।" और कोई दूसरा साधन भूमि के समान स्थायी रूप से नियत (fixed) या जड़ नहीं है। किन्तु जब कभी दूसरे साधनों की सप्लाई भी नियत (अपरिवर्तनीय) हो जाती है, चाहे अस्थायी रूप से थोड़े ही समय के लिए हो, तो उनकी उपज भी किराए के ही समान होती है और उसे अर्द्ध-किराया (quasi-rent) कहते हैं। इस तरह किराए का एक अंश सूद, मज़दूरी और मुनाफे में भी होता है जिसे अर्द्ध-किराया (quasi-rent) कहते हैं। यह थोड़े ही समय के लिए होता है और सामान्य दशा लौटने पर नहीं रहता।

सूद में अर्द्ध-किराया (Quasi-rent in Interest) : पिछले महायुद्ध में व्यापारी जहाजों की कमी हो गई थी। जो जहाज़ नष्ट हो गए थे उनके स्थान पर नए जहाज़ उतनी ही तेज़ी से नहीं बन सकते थे क्योंकि जहाज़ों के बनने में समय लगता है। इसलिए जो जहाज़ उस समय थे वे ऊँचे किराए लेने लगे और उन्होंने बड़ा असाधारण मुनाफ़ा कमाया। यह मुनाफ़ा अस्थायी था, क्योंकि उनकी ज़रूरत खत्म हो गई थी। नये जहाज़ बन गए हैं और मुनाफ़े फिर सामान्य हो गए हैं। ऐसी असामान्य कमाई (earnings) को जो मशीनों या जहाज़ों की नियत (fixed) सप्लाई के वक्त होती है, मार्शल ने *क्वासी-रेंट* (अर्द्ध-किराया) कहा है। अंग्रेज़ी में क्वासी का अर्थ होता है लगभग, करीब-करीब। इसलिए क्वासी-रेन्ट का मतलब है वह अदायगी जो करीब-करीब, लेकिन पूर्ण रूप से नहीं, किराया है, या आधे मायनों में किराया है।†

मजदूरी और मुनाफों में अर्द्ध-किराया (Quasi-rent in Wages and Profits) : इसी तरह युद्धकाल में ज़रूरी माल का उत्पादन करने वाले कुशल श्रम को असामान्य मज़दूरी मिलती है। यह प्रशिक्षित (trained) श्रम की दुर्लभता के कारण है। ऐसी विशेष कमाई भी किराए के समान है। संगठन का मामला भी बहुत भिन्न नहीं हैं। जैसे यदि कोई स्वास्थ्य केन्द्र (health resort) एकदम लोकप्रिय हो जाता है तो वहाँ के होटलों के मालिकों को अच्छा मुनाफ़ा मिलेगा जब तक कि नए होटल न खुल जायँ और मुनाफे सामान्य स्तर पर न आ जायँ। इस अल्पकाल में संगठन को असामान्य आय होती है जो किराए के समान है।

व्यक्तिगत किराया (Personal Rent) : जैसे कुछ ज़मीनें ज्यादा उपजाऊ होती हैं, इसी तरह कुछ व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा अधिक योग्य होते हैं। रास्ते में मिलने वाले किसी जोकर से लारेल और हार्डी में बड़ा अन्तर है। फिल्म में दिलीप-कुमार किसी मामूली अभिनेता से ज्यादा कमाता है। सभी व्यापारों में विशेष योग्य व्यक्तियों को अधिक पैसा मिलता है। इन योग्यताओं के कारण जो अधिक

† उन उत्पादनों के साधनों के लिए अतिरिक्त अदायगी, जिनकी सप्लाई दीर्घकाल में परिवर्तनीय है, किन्तु अल्पकाल में नियत (fixed) है, परिभाषिक शब्दों में क्वासी-रेन्ट या अर्द्ध-किराया कहलाता है।—सिल्वरमैन (Silverman)।

कमाई होती है वह *योग्यता का किराया* (rent of ability) या व्यक्तिगत किराया है।

उपर्युक्त चर्चा से यह ज़ाहिर है कि किराया अलग किस्म की कोई चीज़ नहीं है। सभी व्यापारों में विशेष योग्यता प्राप्त साधनों को अधिक आय होती है। किराया तो केवल इसका प्रमुख उदाहरण है। या जैसा मार्शल कहता है, "यह एक बड़े गण (genus) की मुख्य जाति (specie) है।" इसका एक अंश हर वक्त मज़दूरी, सूद और मुनाफ़े में शामिल होता है।

१०. आर्थिक प्रगति का किराए पर प्रभाव (Effect of Economic Progress on Rent):—समाज की उन्नति विभिन्न दिशाओं में हो सकती है। इस उन्नति का किराए पर प्रभाव भी इस प्रगति की दिशा के अनुसार भिन्न होता है। हम इसके विभिन्न पहलुओं में इस प्रभाव का अध्ययन करेंगे।

(i) **आबादी की वृद्धि** :—आबादी में बढ़ती का नतीजा ऊंचा किराया होता है। बड़ी जन-संख्या को अधिक खाना चाहिए। खाद्य की अतिरिक्त सप्लाई केवल कम उपजाऊ ज़मीन को जोतकर ही प्राप्त की जा सकती है क्योंकि उपजाऊ ज़मीन तो पहले से ही काम में लाई जा रही है। या फिर चालू भूमि पर गहन खेती करके। दोनों हालतों में व्यय अधिक होता है जिसे किसान खुशी से नहीं उठाएगा जब तक कि उसे ऊंची कीमतें न मिलें। इस तरह अधिक उपजाऊ ज़मीनों को ऊंचा किराया मिलेगा।

(ii) **परिवहन करने के उन्नत साधन** : परिवहन के साधनों में सुधार से किराए बढ़ भी सकते हैं और घट भी सकते हैं। उन ज़मीनों पर जो पहले से ही उपयोग में हैं और बाज़ारों के नज़दीक किराए गिर जाएंगे। किन्तु उन ज़मीनों पर किराया बढ़ेगा जो उपजाऊ तो है किन्तु पहले बाज़ारों से दूर थीं। इस तरह अमरीका और इंग्लैंड के बीच में नौ-परिवहन में सुधार होने पर अमेरिका में किराए बढ़ गए और इंग्लैंड में कम हो गए।

(iii) **कृषि उत्पादन के उन्नत उपाय** (Improved Methods of Agricultural Production) : बेहतर तरीकों से उत्पादन ज्यादा होता है और मांग में उतनी ही वृद्धि नहीं होती। इसलिए किराए कम हो जाते हैं। सीमान्त भूमि इस्तेमाल से हट जाती है। कीमतें गिरती हैं और किराए भी गिरते हैं।

११. 'भारतीय लगान और आर्थिक किराया' (Indian Land Revenue and Economic Rent) :—भारत में जो अत्यधिक किराया (rack renting) लिया जाता है उसका भी जिक्र किया जा सकता है। छोटी ज़मीन वाले किसान का लगान भी उसके ऊपर भारी बोझा है और अत्यधिक किराए के समान है। हमने देखा है कि आर्थिक किराया या लगान तो एक अतिरिक्त है। किन्तु आज भारतीय किसान द्वारा दिया गया लगान अतिरिक्त नहीं है। उसे लगान देना पड़ता है, चाहे उसे अतिरिक्त कुछ प्राप्त न हो। आमतौर पर उसे अपने सामर्थ्य से ज्यादा देना पड़ता है। क्योंकि उसे कोई दूसरा धन्धा नहीं मिलता और स्पर्धा बहुत ज्यादा है। कभी-कभी लगान आर्थिक किराए के बराबर होता है लेकिन संयोग से ही।

असल में तो किराए आर्थिक शक्तियों की अपेक्षा प्रथा (custom) से ज्यादा शासित होते हैं। भूमि की कमी और अधिक मांग के कारण बड़े ऊँचे किराए लिए जाते हैं और वास्तविक किराए आर्थिक किराए से अधिक है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

किराए का साधारण अर्थ : रोज की बातचीत में इसका मतलब है किसी मकान, जमीन, रेडियो या टैक्सी के उपभोग के लिए की गई अदायगी।

अर्थशास्त्र में मतलब : उत्पादन के सभी खर्चों को निकालकर जो अतिरिक्त बच जाता है वह आर्थिक किराया है—(पेन्सन)। करार का किराया (contract rent) जमींदार और आसामी के बीच में एक इकरार से तय होता है। मुक्त स्पर्धा की अवस्थाओं में आर्थिक किराया और करार का किराया एक होता है।

स्थूल किराया (Gross Rent) : इसमें सूद, मजदूरी, मुनाफा और आर्थिक किराया शामिल होते हैं।

रिकार्डो का किराए का सिद्धान्त : शास्त्रीय (classical) हो गया है। (क) वह कहता है कि नए देश में बसने वाले पहले सर्वोत्तम भूमि को जोतते हैं। मांग बढ़ने पर, उससे खराब जमीनें भी जोती जाती हैं। और बेहतर जमीनों को लाभ होने लगता है। जैसे-जैसे सीमान्त (margin) नीचे की ओर खिसकता जाता है यह लाभ बढ़ता जाता है। जब खेती सबसे निकृष्ट भूमि तक पर होने लगती है तो बेहतर जमीनों को अतिरिक्त (surplus) मिलने लगता है। यह किराया विस्तृत खेती का है।

(ख) गहन खेती में किराया : उत्पादन पुरानी जमीन में अधिक पूँजी और श्रम लगाकर भी बढ़ाया जा सकता है। घटती हुई उपज के नियम के लागू होने से श्रम और पूँजी की पहली खुराकों (doses) से सीमान्त खुराकों की अपेक्षा अतिरिक्त (surplus) प्राप्त होता है। यह अन्तर भी किराया है।

(ग) स्थिति किराया (Situation Rent) : बाजारों और रेलवे स्टेशनों के पास के क्षेत्रों को परिवहन के लिए कम खर्च उठाना पड़ता है और दूर-स्थित क्षेत्रों को ज्यादा। यह लाभ उन्हें दूर-स्थित क्षेत्रों की अपेक्षा उपज का अतिरिक्त देता है।

सीमान्त भूमि वह है जो खेती के लिए सबसे कम उपयुक्त है या सबसे बुरे स्थान पर स्थित है किन्तु जिसकी उपज बाजार के लिए जरूरी है। यह बिना किराए की जमीन (no rent land) है।

(घ) दुर्लभता किराया (Scarcity Rent) : जब सारी जमीन हल के नीचे आ जाती है और मांग फिर भी असंतुष्ट रहती है तो उपज की कीमत बढ़ती है। इस तरह तमाम जमीन उत्पादन लागत के ऊपर एक अतिरिक्त कमाने लगती है जिसे दुर्लभता किराया कहते हैं।

(ङ) निष्कर्ष : संक्षेप में किराया उपजाऊपन, स्थिति और दुर्लभता से प्राप्त होता है। रिकार्डो के शब्दों में यह "धरती की मौलिक और अविनाशी शक्तियों" के लिए की गई अदायगी है।

किराया और कीमत : कीमत सीमांत भूमि पर उत्पादन की लागत से निर्धारित होती है। यह भूमि कोई किराया नहीं देती। इसलिए किराया कीमत का अंश नहीं है। कीमत द्वारा नियत होता है। यह ऊँची कीमतों का कारण नहीं वरन् फल है।

रिकार्डो की आलोचना : (१) यह कहा जाता है कि कोई शक्तियां भी मौलिक नहीं हैं। उर्वरता मानवीय चेष्टा से बढ़ती है और परिवहन के साधनों में सुधार होने से दूरी का महत्त्व भी कम हो जाता है। किन्तु फिर भी उर्वरता और स्थिति दोनों में मूल गुणों का काफी प्रभाव रहता है।

(२) कहते हैं कि कुछ भी अविनाशी (indestructible) नहीं है। उर्वरता भी लगातार उपयोग से घट जाती है और खत्म हो जाती है। किन्तु रिकार्डो का सिद्धान्त निराधार नहीं है। उपजाऊ जमीनें अपनी उर्वरता ज्यादा जल्दी पुनः प्राप्त कर लेती है।

(३) केरी (Carey) इस सिद्धांत का ऐतिहासिक आधार पर विरोध करता है। अमेरिका में खेती सर्वोत्तम भूमि से आरम्भ नहीं हुई क्योंकि सर्वोत्तम जमीन जंगलों झाड़ियों से ढकी हुई थी किन्तु खेती का क्रय इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। फिर स्थिति का प्रश्न भी विचारणीय है।

आधुनिक अर्थशास्त्री कहते हैं कि भूमि की सप्लाई पूरी तरह बेलोच है तो केवल समूचे समाज के दृष्टिकोण से। व्यक्ति किसी एक उपयोग में भूमि की मात्रा को दूसरे कम आकर्षक उपयोगों से हटाकर, बढ़ा सकता है। इस हटाने में आने वाला खर्चा कुल लागत का एक हिस्सा होता है और इसलिए व्यक्तिगत दृष्टिकोण से किराया कीमत में शामिल होता है।

खेती के अलावा किराया (Non-agricultural Rent) : भी इन्हीं सिद्धान्तों से नियत होता है। शहरी इलाकों में स्थिति सबसे महत्त्वपूर्ण होती है। खानों आदि में अदायगी का एक अंग उनकी क्षमता (capacity) के ह्रास का मूल्य होता है। इसे रायल्टी (royalty) कहते हैं।

किराया एक बड़े गण (genus) की प्रमुख जाति (specie) है : अदायगी के नाते किराया अपने ढंग की कोई निराली चीज नहीं है। कभी-कभी दूसरे साधन भी भूमि के समान होते हैं। उनके द्वारा प्राप्त अदायगी अर्द्ध-किराया (quasi-rent) कहलाती है। युद्ध काल में जहाज अतिरिक्त आय प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि जब तक नये न बनें उनकी दुर्लभता रहती है। इसी तरह श्रम और संगठन कभी कभी अतिरिक्त आय प्राप्त कर लेते हैं। इसे अर्द्ध-किराया कह सकते हैं।

व्यक्तिगत किराया (Personal Rent) : वह अतिरिक्त आय है जो अधिक योग्यता वाले व्यक्ति किसी धन्धे में सीमान्त व्यक्तियों की अपेक्षा कमा लेते हैं। इसलिए प्रसिद्ध अभिनेता साधारण अभिनेताओं से ज्यादा कमाते हैं।

आर्थिक उन्नति और किराया : आबादी बढ़ने से किराए बढ़ते हैं। उन्नत परिवहन से किराया बढ़ेगा यदि कोई स्थान किसी नए बाजार से करीब हो गया है और घटेगा यदि कोई सप्लाई का नया स्रोत इसके करीब हो गया है। उन्नत उपायों से किराया कम होगा।

लगान और किराया : भूमि की कमी के कारण लगान और वास्तविक किराए आर्थिक किराए से ज्यादा हैं।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is the meaning of economic rent ? How does it arise ? (पं० वि०, १९३६)

देखिए विभाग १, २, ३ और ४।

2. Will there be economic rent if—

(*i*) all plots are alike in fertility and situation ;

(*ii*) the landholder himself is the cultivator of land ;

(*iii*) if the law of diminishing return did not operate ?

Give reasons for your answer. (पं० वि०, १९३८)

[(*i*) हां, लेकिन सिर्फ गहन खेती और दुर्लभता के कारण। (*ii*) निस्सन्देह हां, यद्यपि वह उनके पास ही रहेगा। (*iii*) तब किराए का सवाल ही नहीं उठता।]

3. Define rent. Explain and comment upon the Ricardio's theory of rent.

Or

Rent is paid for original and indestructible powers of the soil. (कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९४४, कलकत्ता वि० १९४५, आगरा १९४१, अला० १९३५, देहली १९२९, ढाका १९३७, पंजाब १९३८, नागपुर १९४३, बम्बई १९५३).

देखिए विभाग १, २, ३ और ४।

4. "Rent is the leading specie of a large genus." Do you agree ? Discuss this statement.

Or

"Difference between rent, wages and profits is one of degree only." Explain. (कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९३४)

देखिए विभाग ८ और ९ ।

5. Explain the relation between economic rent and price.

(सागौर १९५२, पं० वि० १९४४)

Or

"Rent does not enter into price." Discuss.

Or

It is true to say "that prices are high because rents are high or that rents are high because prices are high ?" (Ricardo.)

Or

Discuss the relation between agricultural rent and agricultural prices. (कलकत्ता वि० १९३६, कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९३९, अला० १९३६, आगरा १९३८, ४१, ढाका १९४०, दिल्ली १९३९)

[ऊँचे और नीचे किराये ऊँची या नीची कीमतों के परिणाम है न कि कारण]

देखिए विभाग ५ ।

6. "Rent is differential surplus." How. देखिए विभाग ४ ।

7. Explain fully—

(*i*) Scarcity Rent. (पं० वि०, १९४५)

(*ii*) Quasi Rent. (पं० वि०, १९४३)

(*iii*) Personal Rent.

[(*i*) देखिए विभाग ४ (ग) (*ii*) विभाग ८ (*iii*) विभाग ९ (*iv*) देखिए विभाग २]

8. Distinguish between rent and quasi-rent and examine the influence of progress on rent.

(कलकत्ता वि० १९३७, कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९३२, ३३, आगरा १९३३, नागपुर १९४२)

देखिए विभाग ८, १० ।

9. Write notes on :—

(*i*) Intensive margin of cultivation. (पं० वि० १९३९)

(*ii*) Quasi Rent. (पं० वि० १९४०, ४३, ४५)

(*iii*) Scarcity Rent. (पं० वि०, १९४१)

(*iv*) Contract Rent. (यू० पी० बो०, १९४४)

[(*i*) देखिए विभाग ४ (ख), (*ii*) विभाग ८, (*iii*) विभाग २ (घ)] ।

10. Define Economic Rent. How is it affected by progress of society ? (अजमेर बोर्ड १९५३, पं० वि० १९३४)

[देखिए विभाग २, उच्च जीवन-स्तर और आबादी की वृद्धि के साथ किराए बढ़ते है । दूसरी ओर शिल्पिक ज्ञान की प्रगति और संचार तथा परिवहन के उन्नत साधनों, अधिक विशिष्टीकरण और प्रतियोग से किराए गिरते है । देखिए विभाग १० ।

11. Consider the effect of an increase of population on rent. (कलकत्ता यू० बो० कॉम० १९४३)

देखिए विभाग १० (*i*) ।

मज़दूरी (WAGES)

मनुष्य के पसीने और आँसुओं की कीमत

(The Price of Human Sweat and Tears)

१. **मज़दूरी का अर्थ** (Meaning of Wages) : मज़दूरी मज़दूर को उसकी मेहनत के लिए दिया गया पुरस्कार है। अर्थशास्त्र में श्रम शब्द का प्रयोग ज्यादा विस्तृत अर्थ में किया जाता है। इसमें अपनी जिन्दगी चलाने के लिए किया गया सभी काम शामिल है। इससे मतलब नहीं, कि यह काम मानसिक है या शारीरिक। इसमें स्वतंत्र पेशेवर पुरुष और स्त्रियों का परिश्रम भी, जैसे डाक्टरों, वकीलों, गायकों और चित्रकारों का कार्य भी, जो सेवाएँ ये पैसे के लिए करते हैं, शामिल हैं। वास्तव में अर्थशास्त्र में श्रम का अर्थ है कोई भी कार्य जिसके लिए कोई पुरस्कार दिया जाए। वह पुरस्कार चाहे घंटे, दिन, महीने या साल के हिसाब से दिया जाए, और नक़द पैसे के रूप में या किसी और तरह से। हर हालत में वह पुरस्कार मज़दूरी कहलाएगा।

२. **मज़दूरी का महत्त्व** (Importance of Wages):—पुराने जमाने में हर आदमी अपने लिए काम करता था, और अपनी ज़रूरतें अपनी ही मेहनत से पूरी करता था। उस समय मजदूरी तय करने की कोई समस्या न थी। द्रव्य-व्यवस्था (money economy) के आने और श्रम-विभाजन (Division of Labour) का सिद्धान्त लागू होने से अवस्था बदल गई है और आज जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग मजदूर है, जो अपनी आमदनी अपनी मेहनत से कमाता है। उनके पास और कोई ज़रिये नहीं है, और उन्हें पुरस्कार पाने के लिए काम करना पड़ता है। इसका फल यह है कि आधुनिक समाज में दो बड़े-बड़े वर्ग बन गए हैं—मालिक और नौकर। उनके हितों में आपस में टकराव है और उनके बीच में हर देश में लगातार एक संघर्ष चल रहा है। मालिकों के साथ उनके संघर्ष की तह में श्रम की एक बड़ी माँग यह है कि मज़दूरी बढ़ाई जाय। मज़दूरी का देश के जीवन में बहुत बड़ा हाथ है। समाज का कुल कल्याण बहुत हद तक मजदूरों को दी गई मज़दूरी पर निर्भर है। मजदूरी जितनी ज्यादा होगी, कल्याण उतना ही अधिक। स्नेह, प्रेम और सेवा रुपये में नहीं तोली जा सकती, न ही इससे लोगों का पेट भर सकता है। मज़दूरी रूप में जो द्रव्य मिलता है वह ही खाना, कपड़ा और आश्रय खरीद सकता है, जिनके ऊपर किसी देश का जीवन-स्तर निर्भर है। इसलिए अर्थशास्त्र के उस विद्यार्थी के लिए जिसे मानवीय हित की चिन्ता है, मज़दूरी का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

मज़दूरी का प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि उत्पादन के साधनों में श्रम का एक विशिष्ट स्थान है। हम जानते हैं कि श्रम में कुछ विशिष्टताएँ होती हैं।* वे हैं :—

(i) श्रम की माँग अप्रत्यक्ष (indirect) और उद्भूत (derived) है जबकि दूसरे माल की माँग प्रत्यक्ष। माल उनके द्वारा सीधे प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि के लिए उत्पादित किये जाते हैं। परन्तु श्रमिकों की माँग उस माल की माँग के कारण है जिसका वे उत्पादन करते हैं। (ii) एक मज़दूर में स्वतन्त्र इच्छा होती है। और वह अपनी मरज़ी से काम करने को राज़ी हो सकता है या इन्कार कर सकता है। जबकि कोई दूसरी वस्तु उत्पादित होने के बाद हमें सन्तुष्टि देने से इन्कार नहीं कर सकती। (iii) श्रम नाशवान है। और इसका संचय नहीं किया जा सकता। एक मज़दूर अगर काम न करे तो भूखा मरेगा, इसलिए अपने मालिकों के मुकाबले में वह कमज़ोर स्थिति में होता है। उसे कानूनी संरक्षण की ज़रूरत पड़ती है। (iv) श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता। श्रमिक को अपना श्रम खुद जाकर देना पड़ता है, जबकि माल कहीं भी बेचा जा सकता है, जहाँ कहीं उसकी सबसे अच्छी कीमत उठे। (v) लेबर (श्रम) की सप्लाई जल्दी बढ़ाई-घटाई नहीं जा सकती। जनसख्या में कमी करने के लिए एक पीढ़ी समय ज़रूरी है।

३. **मज़दूरी की किस्में** (Kinds of Wages) :—मज़दूरी का कई तरह का वर्गीकरण किया गया है। यह इस प्रकार से है :—

(क) **मज़दूरी नकद या वस्तु के रूप में** (Wages in cash and kind) : भारत के कुछ गाँवों में आज भी काफ़ी मज़दूरों को अनाज, चारा, खली, गुड़ जैसी अनेक चीजें वेतन के लिए दी जाती हैं। ये चीजें उन्हें रबी और ख़रीफ़ दो खास फ़सलों के कटने के समय दी जाती हैं। एक तरह से तो वस्तुओं में अदायगी (payments in kind) अच्छी ही है क्योंकि अनाज के दाम बढ़ जाने पर मज़दूरों पर कोई असर न पड़ेगा। दूसरे लिहाज से यह पद्धति बुरी है। क्योंकि वस्तुओं में मज़दूरी साधारणतया प्रथा (custom) द्वारा निश्चित होती है, जो जीवन-स्तर को कभी ऊँचा नहीं उठने देती। लेकिन शहरों में मज़दूरी कन्ट्रेक्ट (contract) या इक़रार से तय होती और नक़द दी जाती है।

(ख) **समयानुसार, कार्यानुसार और `के के अनुसार मज़दूरी** (Time Wages, Piece Wages and Task Wages) :

(i) **समयानुसार मज़दूरी** (Time Wages) : यदि किसी मज़दूर को फ़ी घण्टे, दिन, हफ़्ते या महीने की निश्चित दर से नौकर रखा जाता है तो वह समयानुसार-श्रमिक (time worker) कहलाता है। समय की किसी इकाई पर मज़दूरी की दर नियत करना बड़ा पुराना तरीक़ा है। दिन अदायगी की ज्यादा प्रचलित इकाई है क्योंकि मज़दूर अपनी तनख्वाह के लिए ज्यादा इन्तज़ार नहीं कर सकते।

* देखिये अध्याय ८, विभाग ३।

(ii) **कार्यानुसार मज़दूरी** (Piece Wages) : लेकिन जब अदायगी किए गए काम के मुताबिक़ हो तो उसे कार्यानुसार मज़दूरी की पद्धति कहते हैं। अदायगी का यह तरीका उन तमाम कामों में प्रचलित है जिनकी माप की जा सकती है जैसे हाकी, बल्ले आदि बनाने में।

(iii) **ठेके के अनुसार मज़दूरी** (Task Wages) : लेकिन जब काम खत्म करने की ज़िम्मेदारी या ठेके पर अदायगी तय होती है तब हम उसे ठेके के अनुसार मज़दूरी कहते हैं। भारत में सरकारी काम काफ़ी हद तक ठेके पर होता है।

हम इस तीन तरह की मजदूरी का फ़र्क एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं। अगर आपको अपने घर की पुताई करानी है तो आप उपर्युक्त तीनों प्रकार के तरीके अपना सकते हैं। आप एक मज़दूर दैनिक वेतन (daily wages) पर बुला लें (time wages), या फ़ी सौ गज वर्ग दीवार की पुताई की दर तय कर लें (piece wages), या सारी पुताई करने की एक मज़दूरी तय कर लें (task wages)। अक्सर काम की माप आसानी से नहीं हो सकती इसलिए समयानुसार मज़दूरी ही देनी पड़ती है।

(ग) कभी-कभी काम करने वालों की किस्म के अनुसार भी मज़दूरी का वर्गीकरण किया जाता है।

(१) **वेतन** (Salaries) : ऊँचे स्टाफ को दिया जाता है, जैसे इन्जीनियर, सुपरवाइज़र, मैनेजर, प्रोफ़ेसर, मास्टर आदि को।

(२) **तनख्वाह** (Pay) : क्लर्कों, टाइपिस्टों, स्टेनोग्राफरों आदि को, यानी मध्य वर्ग के कर्मचारियों को दी जाती है।

(३) **मज़दूरी** (Wages) : सबसे नीचे ग्रेड के कुशल (Skilled) या अकुशल (unskilled) शारीरिक काम करने वाले (manual) श्रमिकों को जो मज़दूर कहलाते हैं, दी जाती है।

(४) **फीस** (Fees) : स्वतन्त्र पेशेवर लोगों को जैसे वकीलों और डाक्टरों को सलाह लेने के लिए दिया जाने वाला दाम है। आप अपने कॉलेज में जो शिक्षा प्राप्त करते हैं उसके लिए ट्यूशन फीस (tuition fees) देते हैं। इससे आप परिचित हैं।

(५) **कमीशन** (Commission) : शब्द उस बट्टे (margin) के लिए है जो आप बिचौलिए या मध्यस्थों (middlemen) को जैसे दलालों, आढ़तियों, एजेन्टों, या बुकसेलरों, को देते हैं। यह आपके सौदे के मूल्य पर निर्भर है।

(६) **भत्ता** (Allowance) : यह विशेष अदायगी है जो किसी खास काम के लिए किसी खास वजह से की जाती है। जैसे साइकिल या कार रखने के लिए, घूमने-फिरने (travelling) के लिए, ऊँची कीमतों की वजह से मँहगाई (dearness) के लिए, या मकान के किराए के लिए।

अदायगी का चाहे जो भी नाम, रूप या तरीका हो, मज़दूरी का मतलब है राष्ट्रीय आय (national dividend) में श्रम का भाग (share) जो उसका दूसरे नम्बर पर दावेदार है। यह याद रखना चाहिए कि मज़दूर को तनख्वाह दी जाती

है—पैसे कितने और किस तरीके से, वस्तुएँ कितनी—उसे इससे ज्यादा सरोकार नहीं है। उसकी विशेष चिन्ता अपनी ज़रूरतें पूरी करने की रहती है। यह हमें नकद मज़दूरी (money wages) और असली मज़दूरी (real wages) के प्रश्न पर ले आता है।

४. **असली और नकद मज़दूरी** (Real and Nominal Wages):—काम के लिए मज़दूर को जितना द्रव्य दिया जाता है वह नकद मज़दूरी (nominal wages) कहलाता है। किन्तु द्रव्य चाहिए किस लिए ? जाहिर है उस माल और सेवाओं के लिए जिन्हें हम उससे खरीद सकते हैं। असली मज़दूरी (real wages) से हमारा मतलब होता है उस सन्तुष्टि से जो मज़दूर को आवश्यकताओं, सुविधाओं और विलासिताओं पर अपनी नकद मज़दूरी खर्च करने से मिलती है। इसलिए असली मज़दूरी का अन्दाज़ा लगाने के लिए आपको निम्न बातों पर ध्यान देना पड़ेगा :—

(१) **द्रव्य की क्रय शक्ति** (Purchasing Power of Money) : द्रव्य विनिमय का केवल एक माध्यम है। इसकी माल और सेवाएँ खरीदने की शक्ति के कारण ही हम इसे मूल्यवान् समझते हैं। एक उदाहरण लीजिए। हम देखते हैं कि भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser to the Government of India) द्वारा रखे हुए साधारण सूचक (general index) के अनुसार औसत थोक (wholesale) कीमतें १९३९ में १०० की तुलना में अब ४२३ हैं। निश्चित तनख्वाहें पाने वाले लोगों की मासिक कमाई उतनी नहीं बढ़ी है। इसलिए यह कहना कि तनख्वाहें बढ़ गई हैं, उनके साथ मजाक करना है। इन लोगों के लिए असली मज़दूरी बढ़ी नहीं है बल्कि कम हो गई है क्योंकि द्रव्य की क्रय शक्ति २५ प्रतिशत रह गई है। स्पष्ट है कि कीमतों के स्तर (price level) पर बहुत कुछ निर्भर है।

(२) **वस्तुओं या सेवाओं के रूप में अतिरिक्त प्राप्ति** (Additional Receipts in Kind) : किसी व्यक्ति की असली आय मुफ्त क्वार्टर, सस्ते राशन, मुफ्त वर्दी, त्योहारों पर विशेष उपहार आदि के द्वारा बढ़ सकती है। एक चपरासी या मेहतर की ज़िन्दगी इन्हीं की बदौलत चलती है। किसी अफ़सर की असली आय (real income) में मुफ्त बंगले या निवृत्ति (retirement) पर पेन्शन (pension) से बढ़ती है।

(३) **आय को बढ़ाने की सम्भावना** (Possibility of Supplementing the Income) : कुछ नौकरियाँ ऐसी हैं जिनमें अपनी आय बढ़ाने का समय या अवसर मिल जाता है। जैसे एक प्रोफेसर किताबें या लेख लिखकर और मास्टर बच्चों की प्राइवेट ट्यूशन करके अपनी आय बढ़ा सकता है।

(४) **कार्य के घंटे** (Working Hours) : हमें देखना होगा कि दिन में काम कितने घंटे होता है, हफ्ते में कितने दिन और साल में कितनी छुट्टियाँ होती हैं। आराम के मध्यांतर (rest intervals) ज्यादा होने से लोगों की असली मज़दूरी और आराम में वृद्धि होती है। कुछ धन्धों में कर्मचारियों को बिना अतिरिक्त तनख्वाह पाए हुए अतिरिक्त काम करना पड़ता है। जैसे छमाही खत्म होने के वक्त बैंक के

कर्मचारियों को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। कभी-कभी ऊपर के अफ़सर नीचे वालों से नाजायज़ काम लेते हैं। इस प्रकार आय रहित (unpaid) ओवर टाइम (over time) काम असली मज़दूरी कम कर देता है।

(५) **नौकरी की नियमितता** (Regularity of Employment) : यदि कोई व्यक्ति अक्सर बेकार रहता है तो बड़ी नकद मज़दूरी भी आखिर में कम असली मज़दूरी होगी। स्थायी नौकरी में कम तनख्वाह भी अनिश्चित नौकरी से अच्छी समझी जाती है चाहे इसमें पैसा ज्यादा मिलता हो। इसी वजह से मामूली वकील या डाक्टर अपना स्वतन्त्र धन्धा (practice) छोड़कर नौकरी स्वीकार कर सकता है।

(६) **कार्य का स्वभाव** (Nature of Job) : कुछ कामों में बड़ा खतरा है। कुछ ऐसे हैं जो काम करने वाले की ज़िन्दगी ही कम कर देते हैं जैसे रेल का इंजन चलाना। लड़ाई में हवाई उड़ाके की ज़िन्दगी औसतन कुछ घंटों की कही जाती है। ऐसे रोजगारों में दुर्घटनाएँ (accidents) मामूली बात हैं। इनमें नकद-मज़दूरी भले ही ज्यादा हो पर सब बातों को देखते हुए असली तनख्वाह कम हो सकती है।

(७) **भविष्य की आशाएँ** (Future Prospects) : अगर भविष्य अच्छा दिखता हो तो आदमी कम मज़दूरी पर भी शुरू कर सकता है। जब हमें पता चलता है कि एक स्कूल के टीचर को २० साल मेहनत करने के बाद भी सिर्फ १००) महीना मिलते हैं तो कुछ कहना कठिन हो जाता है। ऐसे भविष्य में कोई आकर्षण नहीं यदि उसे प्राईवेट ट्यूशनों की भी मनाही कर दी जाए।

(८) **व्यापार शुरू करने के व्यय** (Expenses of Starting a Trade) : कुछ धन्धों में शुरू का खर्चा ज्यादा होता है। एक डाक्टर के लिए अपनी प्रैक्टिस (practice) शुरू करने के लिए आधुनिकतम औज़ार, दवाएं और अच्छा फ़र्नीचर चाहिए। यदि किसी वकील के यहाँ मोटी-मोटी किताबों से भरी कम-से-कम आधी दर्जन आलमारियाँ न हों तो उसका असर हम पर नही पड़ता। ऐसे आरम्भिक व्यय को असली मज़दूरी गिनते वक्त घटा देना पड़ेगा।

५. **क्या मज़दूरी की कोई सामान्य दर भी है?** (Is there General Rate of Wages?) :—यदि श्रम किसी अन्य वस्तु के समान ही होता तो वह भी बाज़ार में उसी तरह से बिकता। लेकिन हम जानते हैं कि श्रम कुछ मानों में अलग है। श्रमिक अपनी कार्यक्षमता में भिन्न होते हैं। वे पूंजी और माल से कम गतिशील (mobile) हैं और उनकी सप्लाई जब चाहे हुक्म देकर बढ़ाई नहीं जा सकती। उसे कम करना भी अत्यन्त कष्टप्रद है। यदि एक दिन गया तो उस दिन का श्रम भी गया। इन सब कारणों से मज़दूरों की कमाई की कोई एक समान (uniform) दर नही हो सकती। दुनिया भर में श्रम अनेक दल और उपदलों में बँटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक को अलग-अलग मज़दूरी मिलती है। एक ही दल के अन्दर भी बड़े फ़र्क होते हैं। इसलिए मज़दूरी की कोई सामान्य दर होना सम्भव नहीं है। हम सिर्फ किसी एक दल के मज़दूरों की कुल सख्या से उनको मिलने वाली कुल रकम को विभाजित करके एक औसत निकाल सकते हैं।

६. **कम मज़दूरी महंगी मज़दूरी है** (Low Wages are Dear Wages) :— जैसे असली और नक़द मज़दूरी होती है इसी तरह असली और नक़द श्रम लागत (cost of labour) भी है। मालिक अपने कर्मचारी को एक वेतन देता है। श्रमिक के लिए जो आय है, मालिक के लिए वही लागत (cost) है। यह लागत ऊपर से देखने में असलियत से कुछ और मालूम हो सकती है। कम तनख्वाह पाने वाले (under paid) मज़दूर असन्तुष्ट रहते हैं। वे काम से जी चुराते हैं। अच्छी तनख्वाह वाले (well paid) मज़दूर सन्तुष्ट होते हैं। वे अक्सर अपनी ऊँची मज़दूरी से ज़्यादा का काम कर देते हैं। इस तरह उत्पादकता मज़दूरी पर निर्भर होती है। इसलिए असली श्रम-लागत दी गई नकद मजदूरी की उत्पादकता से तुलना करने पर पता चलती है। इसी तरह से देखने में सस्ता श्रम वास्तव में महँगा हो सकता है। *ऊँची मज़दूरी का मतलब महँगा श्रम हो सकता है।* "ऊँची मजदूरी की किफ़ायत" ("Economy of High Wages") शब्दों का यही अर्थ है।

हम कार्यक्षमता (efficiency) और मजदूरी के सम्बन्ध पर आगे कुछ और कहेंगे।

७. **मज़दूरी कैसे नियत होती है** ? (How are Wages Determined ?) :— यह समस्या लगभग हर अर्थशास्त्री के दिमाग को परेशान करती रही है। मज़दूरी की व्याख्या करने के लिए अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। (i) बहुत दिनों तक यह समझा जाता रहा कि कालान्तर में मज़दूरी की प्रवृत्ति जीवन-निर्वाह के लिए ज़रूरी खाना कपड़ा आदि के बराबर होने की रहती है। इसे मज़दूरी का लौह-सिद्धांत (Iron Law of Wages) या मज़दूरी का निर्वाह-सिद्धांत (Subsistence Theory of Wages) कहते हैं। इसे सबसे पहिले डेविड रिकार्डो ने प्रस्तुत किया। उसका विश्वास था कि अगर कभी मजदूरी निर्वाह-स्तर से ऊँची रहेगी भी तो थोड़ी देर के लिए ही। आर्थिक समृद्धि से उनकी आबादी शीघ्र ही बढ़ेगी और श्रमिकों की संख्या अधिक हो जाएगी। इससे मजदूरी पर बुरा असर पड़ेगा, और वह कम होकर निर्वाह-स्तर पर आ जाएगी। इसी तरह, मज़दूरी उस स्तर से कम हो गई तो कुछ लोग भूखों मरेंगे और कई विवाह नही करेंगे। इससे उनकी तादाद कम होगी और मज़दूरी को ऊँचा करेगी। अर्थात् मज़दूरी के लौह-सिद्धान्त के अनुसार, अन्त में मज़दूरी को निर्वाह-स्तर के बराबर ही होना पड़ेगा।

(ii) फिर जे०एस० मिल (J.S. Mill) ने मज़दूरी-निधि-सिद्धान्त (Wages Fund Theory) निकाला। उसने कहा कि एक देश की पूंजी का कोई निश्चित अनुपात मज़दूरों को मज़दूरी देने के लिए अलग रख दिया जाता है। इस तरह उसके अनुसार किसी समय पर मज़दूरी उस निधि में रखे गये द्रव्य और मज़दूरों की कुल संख्या से नियत होती है। यदि निधि उतनी ही रही और लेबर (श्रम) की सप्लाई बढ़ गई तो मज़दूरी गिर जाएगी या इसका उलटा होगा। यह सिद्धांत आलोचना के सामने टिक न सका। क्योंकि यह पता न चल सका कि निधि कैसे पैदा होती है और क्यों निश्चित (fixed) रहती है। इसके अलावा इसे ऐतिहासिक रूप से ग़लत साबित कर दिया गया।

(iii) **अवशेष दावेदारी का सिद्धान्त** (Residual Claimant Theory) : मजदूरी-निधि सिद्धांत के स्थान पर तब एक नया सिद्धांत आया जिसके अनुसार मजदूर उद्योग की उपज के अवशेष का दावेदार (residual claimant) है। वह उपज का वह अंश पाता है जो भूमि, पूंजी और संगठन का पुरस्कार दिया जाने के बाद शेष बचता है। इस तरह से कुल उपज में से किराया, सूद और मुनाफ़ा निकालकर जो बचता है वही मजदूरी है। इस सिद्धांत को भी छोड़ना पड़ा क्योंकि वास्तविक व्यवहार में यह देखा गया कि जब किराया, सूद और मुनाफ़ा बढ़ता है तब मजदूरी भी साथ-साथ बढ़ती है। फिर अवशेष का दावेदार मजदूर नहीं बल्कि उद्यमी (entrepreneur) है।

(iv) आखिरकार यह महसूस हुआ कि शरीर को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुएँ नहीं वरन् *जीवन-स्तर* (standard of living) मजदूरी नियत करता है। जीवन-स्तर की परिभाषा यूं की जा सकती है कि "यह आवश्यकताओं (necessaries), सुविधाओं (comforts) और विलासिताओं (luxuries) की वह मात्रा है जिसका एक वर्ग आदी है और जिसे बनाए रखने के लिए व्यक्ति कोई भी उचित त्याग कर सकता है, जैसे ज्यादा देर काम करना या विवाह देरी से करना।" अब देखिए कि जिन लोगों का जीवन-स्तर अच्छा है वे जरूर अच्छी तनख्वाहें कमाते हैं। किन्तु अच्छी तनख्वाहें सिर्फ इसलिए नहीं मिलतीं कि किसी श्रमिक का जीवन-स्तर ऊँचा है। बल्कि इसलिए कि ऊँचे स्तर का मतलब होता है बेहतर ट्रेनिंग, शिक्षा, खाना-पीना आदि जिससे अधिक कार्यक्षमता आती है। दूसरे कोई भी ऊँचे स्तर पर रहने वाला अपने परिवार का नियोजन (Planning) करता है और बच्चों की संख्या सीमित कर देता है। आखिर में, जब लोगों का स्तर बन जाता है तब आमतौर पर वे उसे बनाए रखने के लायक तनख्वाह पाने के लिए कड़ा परिश्रम करते हैं।

हम यह कह सकते हैं, जीवन-स्तर का श्रम की कार्यक्षमता पर प्रभाव के द्वारा मजदूरी पर परोक्ष (indirect) प्रभाव पड़ता है। किन्तु यह भी केवल सप्लाई की दृष्टि से मजदूरी की आंशिक (अधूरी) व्याख्या है।

(v) **सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त** (Marginal Productivity Theory) : एक मजदूर की मांग उसके उत्पादन के लिए होती है। इसलिए नियोजक (employer) उसे इससे ज्यादा तो नहीं दे सकता कि जितना उत्पादन करने की उसमें शक्ति है। नियोजक हमेशा जो मजदूरी देती है उसकी हर अतिरिक्त मजदूर के कारण कुल उत्पादन में जो वृद्धि हुई है उससे तुलना करता रहता है। जब तक एक मजदूर की लागत (जो मजदूरी के रूप में है) उस मजदूर की उत्पादकता से कम है तब तक वह और मजदूरों की भरती करता जाएगा। जैसे-जैसे संख्या बढ़ती है मजदूर की उत्पादन-क्षमता या उपयोगिता कम होती जाती है। इसलिए वह स्वभावतया उस बिन्दु पर रुक जाता है जहां वह यह महसूस करता है कि अन्तिम मजदूर द्वारा उत्पादन में किया गया योग (addition) उस मजदूर को दी गई नकद मजदूरी (money wage) के बराबर है। *यह बिन्दु सीमान्त* (margin) *है और*

सीमान्त व्यक्ति की उत्पादकता मज़दूरी के बराबर है। क्योंकि सभी मज़दूर बराबर कार्य क्षमता के मान लिये गए हैं इसलिए सबको एक ही दर पर मज़दूरी मिलेगी। यह दर सीमान्त उत्पादकता से निर्धारित होगी। यदि मज़दूरी इस सीमान्त शुद्ध उपज के बिन्दु (marginal net product point) से इधर-उधर होती है तो नियोजक उसे फिर संतुलन (balance) के बिन्दु पर ले आएंगे। यह नियोजन (employment) को घटा-बढ़ाकर किया जाएगा।

यह सिद्धान्त मज़दूरी को निर्धारित करने वाले एक कारण (factor) को स्पष्ट अलग कर देता है। *किन्तु यह केवल माँग के पहलू से मज़दूरी की व्याख्या है।* इसलिए यह भी मज़दूरी कैसे नियत होती है इस प्रश्न का अधूरा उत्तर है। पूरा उत्तर आगे दिया गया है।

८. **मज़दूरी का आधुनिक सिद्धान्त : मांग और पूर्ति सिद्धान्त** (Modern Theory of Wages : Demand and Supply Theory) :—उपर्युक्त दो आंशिक व्याख्याएं साथ-साथ रखने से पूरा उत्तर मिल जाता है। यह शुभ सन्धि डा० मार्शल ने करवायी। उसके अनुसार श्रम का मूल्य, अन्य मूल्यों के ही समान मांग और सप्लाई की अन्तर्क्रिया से निर्धारित होता है। *मांग के लिहाज से तो श्रम की मांग इसलिए की जाती है कि यह उत्पादक है।* इसलिए श्रम की मांग-कीमत स्वभावतया इस पर निर्भर होगी कि यह उत्पादन कितना कर सकता है। उत्पादकता मज़दूरों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ घटती चली जाती है। *किन्तु नियोजक कभी भी जितना मज़दूर उत्पादन करता है उससे अधिक देने को तैयार नहीं होता।* इसलिए सीमान्त (margin) पर उत्पादकता मज़दूरी के बराबर है। मजदूरी कालान्तर में सीमान्त उत्पादकता से ज्यादा कभी नहीं बढ़ सकती क्योंकि नियोजक अपना हित सोचते हुए इससे कभी सहमत न होंगे।

सप्लाई की ओर से, मज़दूर सामान्यतया, अपने अभ्यस्त (habitual) *जीवन-स्तर को बनाए रखने और ऊंचा उठाने के लिए संघर्ष करेंगे।* कालान्तर में वे उससे कम में सन्तुष्ट न होंगे। इसमें शक नहीं कि विशेष परिस्थितियों में *निर्वाह-स्तर* (subsistence level) ही निम्नतम होगा जिसे वे सहन कर लें। किन्तु जीवन-स्तर को बनाए रखने के लिए वे मज़दूर सभाएं बनाएंगे और *सामूहिक सौदेबाजी* (collective bargaining) *करेंगे। इसलिए कालान्तर में मज़दूरी का निम्नतम स्तर जीवन-स्तर के बराबर होगा, बशर्ते कि यह कार्यक्षमता* (efficiency) *से ऊपर न जाय।*

संक्षेप में मज़दूरी किसी निर्दिष्ट समय में दोनों सम्बन्धित पक्षों की सापेक्ष सौदेबाजी की शक्ति पर निर्भर होगी और अधिकतम-सीमान्त उत्पादकता तथा निम्नतम-मज़दूरों के जीवन-स्तर के बीच के किसी बिन्दु पर नियत होगी।

९. **विभिन्न धन्धों में मज़दूरी भिन्न क्यों होती है ?** (Why do Wages Differ in Different Occupations ?) :—हम अब तक मजदूरी सामान्यतया कैसे निर्धारित होती है, इस समस्या में उलझे रहे हैं। अब हम साक्षेप मज़दूरी की समस्या

को लें यानी इस प्रश्न को कि मजदूरी अलग-अलग वृत्तियों में भिन्न-भिन्न क्यों होती है।

मज़दूरी में फर्क होता है यह साबित करने की ज़रूरत नहीं। सबसे कम पाने वाले (lowest paid) मामूली दिन के हिसाब से काम करने वाले मजदूर (day worker) से लेकर अनेक ग्रेड (grade) है, जब तक कि हम इंजीनियर या मैनेजर जैसे विशेष कार्य-संचालको (executives) तक पहुँचते है जिनको शाहाना तनख्वाहें मिलती है। मज़दूरी के फर्क की समस्या को हम दो हिस्सो में बाँट सकते हैं—(1) इस अन्तर के सामान्य आधार और (2) एक उद्योग से दूसरे उद्योग में अन्तर का कारण।

(अ) मजदूरी में अंतर के आर्थिक आधार (Economic Bases of Differences in Wages) : **यह है—**

(क) श्रम की उत्पादकता विभिन्न व्यवसायों और ग्रेडों (grades) *में भिन्न होती है। मोची का कार्य इतना उत्पादक नहीं है जितना एक कुशल मोटर मिस्त्री* (mechanic) *का; या क्लर्क का इतना उत्पादक नहीं है जितना कालेज के प्रिन्सिपल का।*

(ख) उद्योग के अनुसार मज़दूर से अपेक्षित कार्यक्षमता भी बदलती है। जैसे एक उद्योग में कार्यक्षमता (efficiency) का ज्यादा ऊँचा स्तर अपेक्षित है जो लम्बी शिक्षा या ट्रेनिंग और उसके बाद व्यावहारिक अनुभव (practical experience) से ही प्राप्त हो सकता है जिसमें बड़ा व्यय होता है। इसमें मजदूरी स्वभावतया उस उद्योग से ज्यादा होगी जिसमें ऐसी कोई ट्रेनिंग जरूरी नही है। उदाहरण के के लिए, बड़े सर्जन का पुरस्कार, जिसने २० साल अपना काम सीखने में खर्च किये हैं, मामूली हिन्दी पढ़ाने वाले मास्टर से ज्यादा ही होगा जिसे साल भर की ट्रेनिंग की ही जरूरत पड़ी।

(ग) स्पर्धा-रहित दलों का होना (Presence of non-competing groups) : समाज कुछ ऐसे श्रमिक-दलों में बँटा हुआ है जो स्पर्धाशील (competitive) नहीं है। भारत मे जाति-व्यवस्था ने ऐसे गुट (groups) बना दिये है। फलस्वरूप भंगी के घर मे जन्म लेने वाला बच्चा भंगी और लोहार का लड़का लोहार ही बनेगा। कुछ तो यह पैतृक है और कुछ बचपन के वातावरण के कारण है। जन्मजात गुण (inborn qualities) तो पैतृक होते ही हैं। जैसे एक मजदूर के लड़के में वह बुद्धि नहीं होती जो एक वकील के बेटे में। फिर घर का वातावरण भी कुछ गुणों का विकास करता है। इसके साथ-साथ ट्रेनिंग पाने का अवसर भी तो परिवार के साधनों पर निर्भर है। इन्हीं कारणों से—विरासत, वातावरण और ट्रेनिंग से—कहा जाता है कि सब अपने-अपने काम के लिए पैदा होते हैं।

(घ) गुणों की दुर्लभता के फलस्वरूप, जिसकी हमने ऊपर चर्चा की, कुछ व्यवसायों में श्रम की मांग और सप्लाई ठीक संतुलित नही होती। श्रम अपनी गतिशीलता (mobility) की कमी के लिए बदनाम है ही। स्पर्द्धा-रहित दलो के कारण वह और भी जड़ हो जाता है।

(ब) विभिन्न उद्योगों में मजदूरी के अन्तर के कारण (Causes of Differences in Wages from Industry to Industry) : अब हम यह देखें कि एक उद्योग में दूसरे की अपेक्षा मजदूरों को कम ज्यादा क्यों मिलता है। किसी उद्योग में मजदूरी की सामान्य दर उसमें होने वाली श्रम की मांग और पूर्ति पर निर्भर है। निम्नलिखित कारण श्रम की मांग और पूर्ति को प्रभावित करते हैं :

(क) व्यवसाय की प्रियता (अनुकूलता) अथवा अप्रियता (Agreeableness or Disagreeableness of Trade) : किसी भी आकर्षक धन्धे की ओर आमतौर पर लेबर की सप्लाई अधिक आकर्षित होगी और इसलिए मजदूरी कम रहेगी। अप्रिय (unpleasant) कार्य में ऊँची मजदूरी होगी। जैसे सबसे घृणित कार्य जल्लाद का है। उसे उतने ही कठिन दूसरे कार्यों की अपेक्षा अधिक तनख्वाह दी जाती है। ग्राम पाठशाला के अध्यापक को बहुत कम दिया जाता है क्योंकि उसका काम हल्का (light) और आदरणीय (respectable) या इज्जतदार है। इसलिए अन्य कामों की अपेक्षा वह अधिक प्रिय है। अध्यापक से ज्यादा तो एक मामूली फेरी वाला कमा लेता है।

(ख) एक व्यवसाय सीखने की कठिनाई और लागत (Difficulty and cost of Learning a Trade) : जब व्यवसाय आसानी से और कम खर्च में सीखा जा सकता है, तो उसमें घुसने वालों की संख्या ज्यादा होती है। सीमांत उत्पादकता और इसलिए मजदूरी कम रहती है। इसका उदाहरण अकुशल डॉक मजदूरी (dock labour) है। दूसरा उदाहरण भारत में भंगियों का है। जाति उन्हें उसी काम से लगे रहने पर मजबूर करती है। उनकी संख्या ज्यादा है, इसलिए मजदूरी कम है।

(ग) प्रयुक्त उपकरण (Equipment Used) : श्रम की सीमान्त उत्पादकता औजारों की किस्म पर भी निर्भर है। एक मुख्य कारण जिससे भारत के खेतिहरों की आमदनी कम है यह है कि उनके औजार बड़े रद्दी हैं। उतना ही कार्यक्षम किसान भारत में कम कमाता है और अमेरिका में ज्यादा क्योंकि वहाँ उसके पास बेहतर औजार व उपकरण होते हैं।

(घ) नौकरी की स्थिरता (Steadiness of Employment) : सामयिक (seasonal) व्यवसायों में मजदूरी ऊँची होती है उन व्यवसायों की अपेक्षा जहाँ कार्य नियमित है। यही कारण है कि छोटी सरकारी नौकरी में जाना लोग पसन्द करते हैं और स्वतन्त्र धन्धा नहीं लेते जिसमें कमाई ज्यादा किन्तु अनियमित या अनिश्चित होती है।

(ङ) श्रमिक में रखी गई निष्ठा (Trust Reposed in the Labourer) : प्रशासकों को बहुत ज्यादा दिया जाता है क्योंकि वे जिम्मेदारी और विश्वास की जगहों पर होते हैं। इसीलिए मामूली मजदूर की जगह जौहरी को अधिक तनख्वाह मिलती है।

(च) सफलता के अवसर (Chances of Success) : विफलता का जितना ज्यादा डर होगा, सफलता होने पर उतना ही अधिक पुरस्कार मिलेगा। यदि ऐसा न

होता तो सप्लाई कम पड़ जाती । सफल वकील सरकारी अफसर से कहीं ज्यादा कमाता है, पर सफल वकीलों की संख्या कम है ।

(छ) **सरकारी विनियमन** (Government Regulations) : कभी-कभी सरकार विशेष व्यवसायों में निम्नतम मज़दूरी (minimum wage) नियत कर देती है जिससे इस व्यवसाय और दूसरों के बीच का अन्तर कम हो जाता है ।

(ज) **अतिरिक्त सुविधाओं द्वारा कम द्रव्य-मजदूरी को सहायता दी जा सकती है** (A Money Wage may be Helped out by Extra Amenities) : इन सुविधाओं के कारण मजदूरी में अन्तर असली न होकर केवल दिखावटी हो सकते हैं । आपके घर के रसोइए को दफ्तर के चपरासी के मुकाबले कम नकद मज़दूरी मिलती है । किन्तु उसे खाना कपड़ा रहना मुफ्त मिलता है और इस तरह वह चपरासी की अपेक्षा ज्यादा पाता है ।

१०. **विशेष अवस्थाएं** (Special Cases) :—

(१) **औरतों की मजदूरी**—उन्हें आमतौर पर पुरुषों से कम दिया जाता है क्योंकि :—

(क) स्त्रियाँ पुरुष के बराबर शारीरिक कार्य नहीं कर सकती ।

(ख) परिवार का खर्चा खास तौर पर पुरुष पर होता है । स्त्रियों की कमाई आमतौर पर परिवार की आय को बढ़ाने के लिए ही होती है ।

(ग) वे आजीवन कार्य नहीं करतीं । उनका मुख्य उद्देश्य विवाह करके घर बसाना होता है ।

(घ) अपेक्षाकृत स्त्रियों के लिए कम धन्धे खुले हैं । रूढ़ियों और प्रथाओं ने उन्हें बहुत-से कामों से अलग कर रखा है । इसलिए जो धन्धे वे ले सकती हैं उनमें उनकी भीड़ ज्यादा है ।

(ङ) वे कम संगठित हैं इसलिए मालिक के मुकाबले सौदे की स्थिति में कमजोर हैं ।

(२) **भंगी आदि** : आप अक्सर पूछते हैं कि भंगी जैसे अप्रिय काम के लिए इतना कम पैसा क्यों दिया जाता है । सबसे पहले तो यह याद रखना चाहिए कि इनाम इकराम, खाना कपड़ा आदि जो तीज त्यौहार ब्याह शादी वगैरह पर दिया जाता है उनकी असली मजदूरी में बढ़ोतरी कर देता है । *फिर* उनका जीवन स्तर बड़ा नीचा है । *इसके अतिरिक्त* उनका कार्य अकुशल (unskilled) है । एक छोटा बच्चा भी उसे कर सकता है । ट्रेनिंग में कोई खर्चा नहीं होता । *साथ ही* भारत में जाति व्यवस्था के कारण वे कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकते । इस वर्ग के गरीब लोगों के अक्सर बहुत बच्चे होते हैं । *इसलिए* इस वर्ग के श्रम की सप्लाई इतनी ज्यादा है कि मज़दूरी कम ही रहती है ।

११. **कानूनी निम्नतम मजदूरी** (Legal Minimum Wages) : ये प्रजातंत्र का युग है । हर सरकार को जनता के कल्याण की फिक्र रहती है । इसलिए कमजोरों और ग़रीबों की रक्षा करने के लिए, जो अमीरों और शक्तिशालियों की दया पर आश्रित हैं, चेष्टा की जा रही है । औरतों और निचले वर्ग के मजदूरों

(भारत में हरिजनों) से ज्यादा काम लेने (sweating), की प्रवृत्ति खत्म होनी चाहिए, यह अब माना जाता है। ऐसा करने के लिए सरकार ने विभिन्न तरीके अपनाए हैं। सबसे कारगर दवा है एक निम्नतम मज़दूरी (minimum wage) नियत कर देना, मज़दूरी जिसके नीचे गिर ही न सके। इंगलैंड में यही पद्धति प्रचलित है। भारत में भी कुछ चुने हुए उद्योगों और ग्रामीण क्षेत्रों में निम्नतम मज़दूरी नियत करने के लिए कदम उठाए गए हैं। १९४८ में एक न्यूनतम वेतन अधिनियम (Minimum Wages Act) पास हुआ। वह कुछ उद्योगो पर लागू भी किया जा चुका है।

सच तो यह है कि लोकतन्त्र इसमे भी एक कदम आगे बढ़ गया है। "न्यूनतम" वेतन की बजाए "उचित" अथवा "आवश्यक" वेतन की चर्चा होने लगी है जिसका अर्थ है कि श्रमिक को केवल गुज़ारे की रोटी कपड़ा और मकान मात्र ही पाने का भरोसा न रहे बल्कि उसे समाज में कुछ इज्जत का स्थान हो और वह अपने बच्चों को कार्यक्षम कारीगर बनने के लिए उचित शिक्षा-दीक्षा दे सके।

१२. **मज़दूर सभाएँ और उनके कार्य** (Trade Unions and their Activities) :—जब पहली बार उद्योग का यंत्रीकरण हुआ तो उसका फल हुआ कारखानों की दयनीय दशा, कम मज़दूरी और मज़दूरों का शोषण। आत्म-रक्षा के लिए मज़दूरों ने मज़दूर सभाएँ—ट्रेड यूनियन—नाम की संस्थाएँ बना लीं। इनकी मदद से वे सामूहिक रूप में मालिक से सौदा कर सकते थे और अपनी हालत भी सुधार सकते थे। मज़दूर सभा का मुख्य हथियार हड़ताल है। एक साथ काम छोड़-कर मज़दूर मालिक को विवश करके अपनी शर्तें मनवा सकते हैं। इसलिए आज मज़दूर असहाय नही है। अब तो नियोजक मजदूरों की अनुचित माँगों का मुकाबला करने के लिए आपस में हाथ मिलाने की ज़रूरत महसूस करते हैं और उन्होने भी अपने संघ बना लिए हैं। वे कारखाने बन्द करके या तालाबन्दी करके हड़तालों का जवाब देते हैं और मज़दूर सभाओं को अपनी बातें मानने को मज़बूर करते हैं।

मज़दूर यूनियनें अपने काम के रचनात्मक पक्ष (constructive side) की भी फिक्र करती हैं। वे अपने सदस्यों के लिए स्कूल, दवाखाने, आमोद केन्द्र (recreation centres) आदि खोलती हैं। उनकी जुआ और शराब पीना जैसी बुरी आदतों को दूर करने की चेष्टा करती है और अपने सदस्यों को बेकार हो जाने पर सहायता करने की चेष्टा करती हैं। आजकल बुद्धिमान् नियोजक भी अपने और मज़दूरों के बीच की खाई को पाटने की ज़रूरत समझते हैं और अपने साधनों के अनुसार मज़दूरों को सुविधाएँ (amenities) देने की तथा कभी-कभी मुनाफ़े और संचालन (management) में हिस्सा देने की कोशिश करते हैं।

१३. **मज़दूर यूनियन मज़दूरी कहाँ तक बढ़ा सकती है ?** (How far can Trade Union raise Wages ?) :—आमतौर पर मज़दूर अपनी सीमान्त योग्यता (marginal worth) से ऊपर नहीं उठ सकता। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि यह भी हो जाय। यह परिस्थितियाँ निम्नलिखित हो सकती है :—

(क) मज़दूर हड़ताल की धमकी देकर अपने नियोजक को सीमान्त से अधिक

देने पर मजबूर करने में सफल हो जाएँ।

वे ऐसा तभी कर सकेंगे जब :—

(i) वे सुसंगठित हों,

(ii) वे उस प्रकार के श्रम की सप्लाई पर एकाधिकार रखते हों; और

(iii) अगर उनकी मजदूरी कुल उत्पादन-व्यय का एक छोटा-सा हिस्सा हो।

सम्भव है कि ऐसी धमकियों से विवश होकर मालिक अपनी समूची आय या उसका एक अंश मजदूरों को दे दे और वे कुछ समय के लिए अपनी सीमान्त योग्यता से अधिक पाने लगें। किन्तु मालिक तभी इसके लिए तैयार होगा जब वह यह समझे कि उसके खर्चों का बड़ा भाग कारखाना बन्द हो जाने पर भी होता रहेगा और ऊँची मजदूरी देने की अपेक्षा कारखाना बन्द कर देने में उसे ज्यादा नुकसान है। तब वह दोनों में से कम बुराई (lesser evil) को अपनाता है। लेकिन आखिरकार उसे उत्पादन बन्द करना पड़ेगा।

तब हम यह परिणाम निकालते हैं कि कोई भी मालिक जानबूझकर और अपनी मर्जी से मजदूरों की सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी न देगा। यह कारोबार की अच्छी नीति न होगी। सिर्फ कुछ मामलों में और थोड़े समय के लिए ही वह अपने सामान्य लाभांश का कोई भाग छोड़ने को तैयार होगा।

(ख) दृढ मजदूर यूनियनें, जिनका श्रम पर एकाधिकार है, कभी-कभी मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से ऊपर उठाकर वहाँ बनाए रख सकती हैं। इसका फल होगा ऊँची लागत और नतीजा होगा ऊँची कीमतें। उपभोक्ता वस्तु को कम खरीदेंगे और माग गिर जाएगी। उत्पादन घटाना पड़ेगा। इस तरह मजदूरों की अदूरदर्शिता उन्हीं पर असर डालेगी। कारखाना पूरा या आधा बन्द हो जाएगा और वे अपनी नौकरी खोएंगे।

इस अध्याय से आपने क्या सीखा ?

मजदूरी का अर्थ : कोई भी नकद या किसी वस्तु में या दोनों तरह का पुरस्कार, जो किसी भी शारीरिक या मानसिक काम के लिए घंटे, दिन या महीना के हिसाब से दिया जाए।

मजदूरी का महत्त्व : आज लोगों का एक बहुभाग पुरस्कार के लिए कार्य करता है। इसलिए किसी समुदाय का आर्थिक कल्याण उसके मजदूरी में पाई गई मजदूरी की राशि पर निर्भर है।

मजदूरी की किस्में : मजदूरी नकद में हो या वस्तु में (in cash or kind), समयानुसार हो (time wages), या कार्यानुसार (piece wages) या ठेके से तय हो (task wages)।

वर्गीकरण :

(क) ऊँचे स्टाफ के लिए वेतन (salaries),

(ख) क्लर्कों के लिए तनख्वाह (pay);

(ग) शारीरिक मजदूरों के लिए मजदूरी (wage);

(घ) स्वतन्त्र पेशेवर लोगों के लिए फीस (fees);

(ङ) दलालों और मध्यस्थों के लिए कमीशन (commission);

(च) विशेष कार्य के लिए भत्ता (allowance)।

नकद और असली मजदूरी (Real and Nominal Wage) : नकद मजदूरी का मतलब है द्रव्य में दिया गया पुरस्कार। असली मजदूरी का मतलब है मजदूर को प्राप्त स्वाभाविक

सन्तुष्टि। असली मजदूरी (क) द्रव्य की क्रय शक्ति, (ख) वस्तुओं के रूप में प्राप्त अतिरिक्त सुविधाएं, (ग) अतिरिक्त कमाई, (घ) काम के घंटे, (ङ) नौकरी की स्थिरता, (च) कार्य का स्वभाव, (छ) भविष्य की सम्भावनाएं, (ज) व्यवसायिक खर्चों आदि पर निर्भर है।

क्या कोई मजदूरी की सामान्य दर है? श्रम अनेक तरह से विशेष वस्तु है। इसलिए सूद की सामान्य दर के समान इसकी कोई मजदूरी की सामान्य दर नहीं है। हम केवल मजदूरी का औसत दर निकाल सकते है।

कम मजदूरी मंहगी मजदूरी है : जो मजदूर के लिए आय है वही मालिक के लिए व्यय है। असली लागत तो मजदूर की कार्यक्षमता का मुकाबला करके ही बताई जा सकती है। ऊँची मजदूरी माने बेहतर काम और इसलिए कम लागत।

मजदूरी कैसे नियत होती है : बहुत-से सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। आज यह स्वीकार किया जाता है कि एक ओर मजदूरी मजदूरों के जीवन-स्तर पर निर्भर है। यदि यह जीवन-स्तर उठाया जाय तो इसका फल होगा अधिक कार्यक्षमता जिससे मजदूरी ऊपर उठेगी। जीवन-स्तर मजदूरी पर प्रभाव डालता है।

दूसरी ओर (मांग के पक्ष से) सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की व्याख्या करती है। यह दावा किया जाता है कि मजदूरी मजदूर की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। यह अन्तिम नियोजित मजदूर द्वारा कुल उत्पादन में किया गया जोड़ है। एक किस्म के सभी मजदूर एक-सी कार्यक्षमता के होते हैं, इसलिए उनकी मजदूरी बराबर होती है। इस तरह मजदूरी सीमान्त मजदूर की उत्पादक क्षमता के बराबर होती है।

मांग और पूर्ति : जब हम उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को मिला देते है तो हमें सच्चाई का पता लगता है। मजदूरी मांग और पूर्ति की दो शक्तियों से निश्चित होती है। मांग के पक्ष से नियोजक कभी सीमान्त मजदूर के मूल्य से अधिक देने को तैयार न होगा और सप्लाई पक्ष से मजदूर हमेशा अपने अभ्यस्त जीवन-स्तर को बनाए रखने के लायक मजदूरी पाने की चेष्टा करेगा।

सीमान्त उत्पादकता की उच्च सीमा और जीवन स्तर की निम्नतम सीमा के बीच में ही, किसी समय श्रम और उसके संगठन की शक्ति तथा सौदेबाजी की शक्ति से मजदूरी नियत होगी।

विभिन्न नौकरियों में मजदूरियों में क्यों अन्तर होता है?

(क) भिन्नता के आर्थिक आधार :—

(i) अन्तर भिन्न उत्पादकता के कारण हो सकता है।

(ii) किसी मजदूर की अपेक्षित क्षमता अलग-अलग धन्धों में अलग-अलग हो सकती है। उस में ट्रेनिंग की अलग अवधि और खर्चे हो सकते हैं।

(iii) समाज में स्पर्धा-रहित दलों का अस्तित्व श्रम की मांग और सप्लाई में असंतुलन उत्पन्न कर देता है।

(iv) ट्रेनिंग का अवसर किसी परिवार के साधनों पर निर्भर है।

(ख) श्रम की मांग और उसकी सप्लाई पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है :

(i) किसी व्यवसाय की प्रियता या अप्रियता।

(ii) व्यवसाय को सीखने की कठिनाई और लागत।

(iii) उपयुक्त औजार।

(iv) काम की स्थिरता।

(v) श्रमिक में रक्खी गई निष्ठा।

(vi) सफलता की गुंजायश।

(vii) सरकारी विनिमय।

(viii) अन्य सुविधाओं का अस्तित्व।

विशेष अवस्थाएं :

महिला मजदूरों को पुरुषों की अपेक्षा कम दिया जाता है क्योंकि उनमें कम शक्ति, कम ट्रेनिंग, कम धन्धों में जाने की क्षमता आदि होती है। भंगी बहुत कम मजदूरी पाते हैं यद्यपि वे बड़ा अप्रिय काम करते हैं। यह इसलिए है कि उनको ट्रेनिंग की कोई लागत नहीं होती और इनाम वगैरा मिलने के अधिक अवसर होते है। उनकी संख्या अधिक होती है, जीवन-स्तर नीचा होता है आदि।

कानूनी निम्नतम मजदूरी : हर सरकार अपने मजदूरों का संरक्षण करने की कोशिश करती है और उन्हें नियोजकों के अन्याय और अधिक श्रम (sweating) से बचाने का इसका सबसे अच्छा उपाय मजदूरी की निम्नतम मजदूरी (minimum wage) तय कर देना है।

मजदूर सभाएं और उनके कार्य : मजदूर सभा मजदूरों की स्थायी संस्था होती है जो नियोजकों से सौदाबाजी (bargaining) करती है। उसका सामान्य हथियार हड़ताल है। यह संस्थाएं इतनी शक्तिशाली हो गई है कि नियोजकों को भी अपने संघ बनाने पड़े है। वह तालाबन्दी, यानी कारखाने बन्द करके जवाब देते हैं।

भारत में मजदूर यूनियनों को रचनात्मक कार्य की ओर ले चलने की आवश्यकता है जिससे वे केवल गड़बड़ करने के बजाय अपने सदस्यों को कुछ और फायदे भी पहुंचा सकें।

मजदूर यूनियनें कहाँ तक मजदूरी बढ़ा सकती हैं ? जब मजदूर सुसंगठित होते है और क्षेत्र में श्रम सप्लाई का एकाधिकार उन्हें प्राप्त होता है तो वे अपने सीमान्त मूल्य (marginal worth) से ऊपर भी अपने तनख्वाहें मनवा सकते है। किन्तु थोड़ी देर के लिए ही। यदि मजदूरी दीर्घ काल के लिए ऊपर चढ़ा दी जाती है तो कारखाना बन्द हो जाता है और मजदूर अपनी नौकरी खो बैठते हैं।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. Give the peculiar features of labour as a factor of production. What effect do they have on their wages ?

[देखिए विभाग २। वे श्रम के शोषण को जन्म देते है और पूँजी और श्रम के संघर्ष पैदा करते हैं। कारखाने की हालत, मकानों की स्थिति आदि का बड़ा असर पड़ता है।]

2. What are wages ? Enumerate the different methods by which wages are paid.

देखिए विभाग १ और ३।

3. Are wages settled in the same way as the value of any common article ?

Or

How far is it true to say that the theory of wages is an application of general theory of value ?

(कलकत्ता वि० १९३१ ; आगरा १९३९ ; पं० १९३५)

Or

Show how the wages are determined by the demand and supply of labour. (कलकत्ता वि० १९३७)

[देखिए विभाग ७, ८। मजदूरी उसी तरह तय होती है जैसे कीमतें। फर्क इतना है कि उत्पादन लागत की जगह यहाँ निम्न जीवन-स्तर है और मांग का आधार, उपयोगिता के स्थान पर उत्पादकता है।]

4. How does the efficiency of labour affect wages ?

[कार्यक्षमता पर प्रत्यक्ष रूप से मजदूरी असर नहीं डालती। नियोजक मजदूर को उसकी उत्पादकता के अनुसार पैसा देता है। देखिए विभाग ७।]

5. Carefully explain the relationship between wages and standard of living. (पं० वि० १९३८, ४५)

देखिए विभाग ७।

6. What are the 'real wages'? How would you compare the real wages of a domestic servant in a town with those of a member of village community in the countryside such as the village chamar? Have wages risen or fallen during the last 15 years? (पं० वि० १९४१, ४७)

[देखिए विभाग ४। एक घरेलू नौकर (domestic servant) को बहुत तरह की अतिरिक्त आय होती है। गाव के चमार की आय निश्चित है और वस्तुओं में है। असली मजदूरी पहले बढ़ रही थी पर युद्ध और युद्धोत्तर काल में गिर गई।]

7. What is meant by cost of labour? Explain the idea that "Low wages are dear wages."

देखिए विभाग ६।

8. Are wages under a system of barter necessarily real wages? If not, why?

[जरूरी नहीं है क्योंकि असली मजदूरी अन्य बातों पर भी जैसे आय के अनुपूरक स्रोतों पर, काम के घंटों आदि पर निर्भर है। देखिए विभाग ४]।

9. Why do wages differ in different employments?

(कलकत्ता १९३०, कलकत्ता वि० बी कॉम० १९४१)

देखिए विभाग ६।

10. Why are the wages of women and sweepers low?

(ढाका, १९४१)

Are wages affected by caste system?

(यू० पी० इंटर बोर्ड १९४८)

देखिए विभाग १०।

11. What is a trade union? State and briefly explain its principal functions. (बम्बई, १९५४)

12 Write notes on : —

(i) Trade unions. (ii) Strikes and lock-outs. (iii) Standard of living. (iv) Non-competing groups. (पं० वि० १९४२)

[(i) और (ii) देखिए विभाग १२, १३ (iii) विभाग ७ (२) (iv) विभाग ६]

13. Can trade unions force wages above the marginal worth of labour? If so, how far? (ढाका १९४०, पटना १९४०)

देखिए विभाग १३।

14. Distinguish between nominal and real wages and point out special allowance to be made in ascertaining real wages of any group of labourers.

(कलकत्ता वि० १९२५; कलकत्ता वि० बी कॉम० १९२८; आगरा १९४१; पंजाब १९३६, '४४, '४८; दिल्ली १९५३, मद्रास १९३७; नागपुर १९३१)

देखिए विभाग ४।

15, Discuss the following theories of wages :—

(*a*) Subsistence Theory or Iron Law of Wages. (पंजाब, १९४६)

(*b*) Wages Fund Theory.

(*c*) Residual Claimant Theory ; and

(*d*) Productivity Theory.

(कलकत्ता १९२४, आगरा १९४२, दिल्ली १९४०, पटना १९४५, पं० १९४७)

देखिए विभाग ७ ।

16. What do you mean by minimum legal wages ? How do labourers benefit from them ?

देखिए विभाग ११ ।

17. How would you compare the real wages of a domestic servant in a town with those of the servant of a village community in the countryside ? (पं० वि० १९४०, १९४७)

[एक घरेलू नौकर शहरों में मुफ्त खाना, रहना कपड़ा आदि पाता है और अक्सर इनाम भी पा जाता है । जबकि गांव में घरेलू नौकर को कोई मुफ्त खाना कपड़ा नहीं देता और न तनख्वाह मिलती है । उसे फसल की उपज में से एक हिस्सा मिलता है ।]

18. How do you account for the existence of different rates of wages in different occupations in the same place and in the same occupation in different places. (यू० पी० बोर्ड, १९४६)

देखिए विभाग ६ ।

19. "Wages are usually higher in towns than in villages and in industry than in agriculture." Comment fully upon the statement.

(अजमेर, १९५५)

20. Examine the relation between the standard of living and the rate of wages. (अजमेर १९५२, यू० पी० बोर्ड १९५२)

[जीवन-स्तर सब्जाई पक्ष से मजदूरी पर प्रभाव डालता है किन्तु यह सच है कि कालान्तर में मजदूरी से मजदूरों का जीवन-स्तर बना रहना चाहिए ।]

अध्याय २८

सूद (INTEREST)

रुपया रुपये को बढ़ाता है

(Money breeds Money)

१. **सूद का अर्थ** (Meaning of Interest):—जब आप किसी बड़े कारखाने में प्रवेश करते हैं तो आपकी नज़र में पहले क्या आता है ? मशीन आती है, न कि उसके पीछे खड़ा हुआ आदमी। इतनी बड़ी और शक्तिशाली ! अवश्य ही इसमें बड़ी रकम लगी होगी। और एक कारखाने में ऐसी कितनी ही मशीनें हैं। हम एक आदमी से यह आशा नहीं करते कि वह अपनी जेब से अकेला उन्हें खरीदने लायक होगा। इसलिए बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए पूंजी उधार लेनी पड़ती है, उसके मालिक द्वारा पूंजी के उपयोग के लिए की गई अदायगी सूद है। पुराने ज़माने में यह साधन इतना महत्त्वपूर्ण न था। आजकल पूंजी प्रमुख हो गई है और उत्पादन में इसका महत्त्व दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। इससे बहुत-सी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं।

२. **पुराने ज़माने में सूद** (Interest in the Past):—युगों तक सूद को अनैतिक कहकर उसकी निन्दा की गई। शायद अरस्तु (Aristotle) पहला आदमी था जिसने इसके खिलाफ आवाज़ उठाई। उसने कहा, "द्रव्य बाँझ है और उसकी कोई औरस संतान नहीं हो सकती।"* हज़रत मूसा (Moses) ने यहूदियों को आपस में सूद लेने से रोका। शुरू में ईसाई धर्म ने भी इसकी निन्दा की। मध्य-कालीन युग में बराबर चर्च ने इसका विरोध किया और ईसाइयों को सूद लेने से मना किया। जो यहूदी रुपया सूद पर चलाते थे उनको ईसाई घृणा की दृष्टि से देखते थे। शेक्सपीयर का शाइलॉक और स्काट का ईसाक खल नायकों की परिचलित मिसालें है।** उनको घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। क्योंकि वे सूद की ऊँची दर वसूल करते थे। इस्लाम ने भी सूदखोरी के विरुद्ध आंदोलन किया। भारत में भी साहुकार को बुरा समझा जाता है।

समाज के विकास के उस आरम्भिक काल में सूद के विरुद्ध यह आवाज न्याययुक्त थी क्योंकि उधार उपभोग के लिए लिया जाता था। उधार लेने वाला किसी मुसीबत में होता था। ज़रूरतमंद आदमी, ग़रीब, विधवा, भूखा अनाथ

* "Money is barren and can have no legitimate child."

**शाइलॉक शेक्सपीयर के "मर्चेन्ट ऑफ वेनिस" नाटक में एक चरित्र है। स्काट के "ईवान हो" में ईसाक है। विद्यार्थी पहली कहानी लैम्ब (Lambs) की टेल्स [Tales] में पढ़ सकते हैं और दूसरी सर वाल्टर स्काट के उपन्यास के किसी परिचित संस्करण में।

बच्चा, या मरता हुआ आदमी जिन्दा रहने के लिए उधार माँगता था। ऐसे उधार बाँझ थे और उन पर सूद नैतिक आधार पर न्याययुक्त न था। ऐसी हालतों में सूद लेना मनुष्य का शोषण करना था। उसकी मुसीबत पर व्यापार करना था। इसलिए उस ज़माने में सूदखोरी के खिलाफ कानून (usuary laws) पास किए गए जिनसे कर्जदार का सूदखोर के लालच से बचाव हो सके।

३. **सूद—आज का दृष्टिकोण** (Interest today) : **(क) सूद का न्याय-युक्त आधार** (Justification of interest) : समय बदल गया है। उधार लेने वाला साहूकार की दया पर आश्रित नहीं है। वह सब से समर्थ होता है। उसके पास विचार होते हैं। वह अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिए लोगों की बचत उधार ले लेता है। उसकी चेष्टाओं से माल का उत्पादन होता है। इस प्रक्रिया में वह उधार लिए हुए रुपये से बड़ा मुनाफा कमाता है। इसलिए उसे सूद देने में कोई दिक्कत नहीं होती। पर जाहिर है कि अगर रुपये का मालिक उसके रुपये से जो मुनाफा हुआ है उसमें हिस्सा बँटा ले और अपने रुपये की सेवाओं के लिए एक कीमत वसूल कर ले तो इसमें कोई अनैतिकता नहीं है।

लेकिन भारत जैसे ग़रीब देशों में आजकल भी गरीब किसान को शादी या मौत के लिए रुपए की ज़रूरत पड़ जाती है। इसके लिए वह गाँव के महाजन के पास जाता है जो उसकी ज़रूरतमन्दी से फायदा उठाता है और ऊँचा सूद वसूल करके उसका शोषण करता है। महाजन उधार माँगने वाले की अज्ञानता से भी फायदा उठाता है और झूठे खाते रखकर उसे और ठगता है। इस तरह के ज़रूरत-मन्द उधार माँगने वालों को साहूकार से बचाने के लिए राज्य ने भारत में और अन्य जगह भी कानून पास कर दिए हैं, जिनके मुताबिक न सिर्फ सूद की दर नीची होनी चाहिए वरन् ठीक खाता हिसाब भी रखना ज़रूरी है। *सहकारी साख संस्थाएँ* (Co-operative Credit Societies) भी शुरू की गई हैं जिनसे किसानों में किफायत की आदत बढ़े और गाँव के शाइलॉक का कुचक्र न चल पाए।

यह भी कहना ज़रूरी है कि ऐसे कानून अच्छे हैं किन्तु यदि वे बचत को निरुत्साहित करते हैं तो वे उत्पादक उद्यम (productive enterprise) में प्रनियोग (investment) कम कर देंगे।

(ख) सूद के बारे में समाजवादी दृष्टिकोण (Socialist view of Interest) : आजकल ऐसे लोग भी हैं जो सूद का दूसरे आधारों पर विरोध करते हैं। यह माना जाता है कि भूतकाल में कर्जे उपभोग के लिए लिये जाते थे जबकि आजकल अधिकतर उत्पादक प्रयोजन से। इसलिए आलोचना का आधार बदल गया है। आधुनिक काल में समाजवादी सूद की निन्दा करते हैं। वे कहते हैं कि पूँजीपति बेकार आदमी हैं जो सम्पत्ति विरासत में पाता है और निकम्मा रहकर ऐश करता है। वह समाज के लिए उपयोगी नहीं है इसलिए उसे पूँजी पर सूद पाने का क्या अधिकार है। पूँजी श्रम के कार्य का फल है और उससे छीनी गई सम्पत्ति है। इस तरह सूद चोरी है। समाजवादी पूँजीवाद के विरुद्ध भले ही हों पर जब वे इस

प्रकार पूंजी की निन्दा करते हैं तो उसका उचित आधार नहीं होता। आपत्ति वास्तव में सूद व्यक्तिगत जेबों में जाने पर है।

(ग) **सूद का विनियमन** (Regulation of Interest) : हमने यह जान लिया है कि आज दिन उत्पादक उधारो (productive loans) पर सूद लेना कहीं भी मना नहीं है। किन्तु लगभग सभी आधुनिक देशों में भारी सूद (usurious loans) के खिलाफ कानून बने हैं। अमेरिका, इग्लैंड, फ्रांस, भारत सब देशो में गरीब उधार लेने वाले की कर्ज देने वाले से रक्षा करने की कोशिश की गई है। अधिकतम दर मुकर्रर कर दी गई है और सहकारी समितियाँ भी महाजन की दरें नीचे रखने में काम आती हैं।

४. **कुल और शुद्ध ब्याज** (Gross and Net Interest) : एक आदमी पूंजी के उपयोग के लिए समय-समय पर अपने देनदार को जो कुछ देता है उसे साधारण भाषा में सूद कहते हैं। किन्तु यह सब की सब अदायगी पूंजी के उपभोग की कीमत नही है। इसमें अन्य अश भी शामिल है। इस अदायगी को कुल ब्याज (gross interest) कहना बेहतर होगा। इसमे से शुद्ध ब्याज (net interest) एक अंश होता है। कुल ब्याज में भिन्न मद होते है :—

(१) **ली गई जोखिम के लिए पुरस्कार** (Reward for the risk taken) : जब रुपया उधार दिया जाता है तो उसके वापस न मिलने की कुछ जोखिम तो जरूर ही होती है। लेनदार (borrower) धोखेबाज निकल जाए या वापस करने की स्थिति में ही न हो। देनदार इसी लिए बदले में पुरस्कार चाहता है जो ली गई जोखिम के परिमाण के ही अनुपात में होगा। यह एक कारण है कि गाँवों में महाजन इतनी ऊँची दर किसान से क्यों लेता है। इसी वजह से देनदार सिक्योरिटी—बन्धक—माँगता है, जो चाहे जेवर हो, मकान हो या जमीन हो; आधुनिक बैंक भी आमतौर पर सिक्योरिटी माँगते हैं। इस अदायगी का एक हिस्सा जोखिम के लिए बीमा है।

(२) **हिसाब किताब रखने के श्रम का पुरस्कार** (Reward for Labour involved in keeping books and accounts) : महाजन को सभी अदायगियों और खर्चों का रिकार्ड (खाता) रखना पड़ता है और डाक से या स्वयं मिल कर उनसे तकाजा करना पड़ता है। इस काम की एवज में भी उसे कुछ अदायगी चाहिए।

(३) **असुविधा के लिए अदायगी** (Payment for Inconvenience) : अक्सर देनदार ब्याज की ऊँची दर इसलिए वसूल करता है क्योंकि उसे ब्याज और मूल वक्त पर वापस मिलने की आशा कम होती है। माँगने वाले मुअक्किलों को अदायगी के लिए घेरना और उनके पीछे दौड़ना मामूली काम नहीं है। कुल सूद का एक हिस्सा महाजन को इस असुविधा के बदले में मिलता है। असुविधा इसमें होती है कि महाजन को अपनी जरूरत पड़ने पर वक्त पर रुपया न मिले या फिर तब मिले जब वह उसे अच्छी जगह फिर न लगा सके। पहली हालत में उसे स्वयं उधार लेना पड़ सकता है और दूसरी अवस्था में उसका ब्याज मारा जाता है। दोनों हालतों में वह मुआवजा ले लेता है।

(४) **शुद्ध ब्याज** (Net Interest) : जब उपर्युक्त सभी मद कुल ब्याज में से निकाल दिए जाते हैं तब जो बच जाता है वह शुद्ध और सीधा पूंजी के उपभोग का किराया है। यही शुद्ध ब्याज है। जो रुपया सरकारी कर्जों या ट्रेजरी बाड्स में लगाया जाता है, बड़ा सुरक्षित होता है। इसलिए इसे चमकती हुई सिक्योरिटी (gilt-edged securities) कहते हैं। उनमें रुपया खोने का कोई डर नहीं होता। इसलिए इसके ब्याज में अन्य मद कम होते हैं। यह ब्याज शुद्ध ब्याज के बहुत निकट होता है।

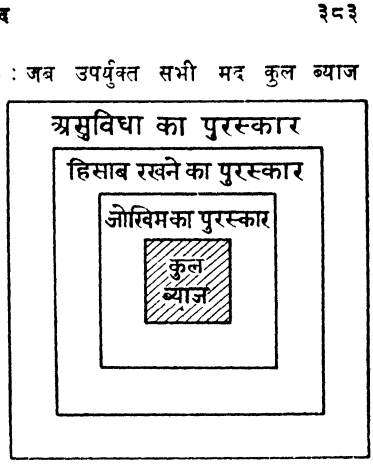

शुद्ध ब्याज और कुल ब्याज में यह भेद बड़ा उपयोगी है। जब हम विभिन्न स्थानों में विभिन्न व्यक्तियों से ली गई ब्याज की दरों में व्यापक अन्तर देखते हैं तो हम जानते हैं कि फर्क केवल कुल ब्याज में है। शुद्ध ब्याज तो एक ही रहेगा यदि पूंजी की पूर्ण गतिशीलता (perfect mobility) है। जब सभी असुविधाओं और जोखिमों के लिए अदायगी निकाल दी जाय तो यह दर हर जगह एक-सी रहेगी। यह उपर्युक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है।

५. **ब्याज क्यों दिया जाता है ?** (Why is Interest paid?) : विभिन्न सिद्धांत (Different Theories) . ब्याज की व्याख्या क्या है ? इसका क्या आधार है ? ये प्रश्न समय-समय पर अर्थशास्त्रियों ने उठाए हैं और उन पर विचार किया है। आमतौर पर हरएक अपनी-अपनी नजर से इसे देखता है और उस दृष्टिकोण पर अत्यधिक जोर देता है।

कुछ अर्थशास्त्री तो कहते हैं कि ब्याज उस त्याग की क़ीमत है जो देने वाला पूंजी का आज उपयोग न करके उसे भविष्य के किसी उपयोग के लिए टाल कर करता है। दूसरों का कहना है कि यह देनदार ने अपना उपभोग जो बाद के लिए टाल दिया है उस समय की कीमत है। कुछ का कहना है कि ब्याज इसलिए दिया जाता है क्योंकि उधार ली गई पूंजी का उपभोग धन-उत्पादन में होता है।

एक आधुनिक अर्थशास्त्री, लार्ड कीन्स (Lord Keynes) का कहना है कि ब्याज एक विशेष काल के लिए द्रवता (liquidity) खो देने का पुरस्कार है। लोग अपने द्रव्य को अपने से अलग नहीं करना चाहते जब तक कि उन्हें कोई पुरस्कार न मिले।

इन सभी सिद्धान्तों में कुछ आंशिक सत्य है। किन्तु यह तभी है यदि हम भिन्न-भिन्न समय पर विभिन्न विचारकों के द्वारा बताए गए पहलुओं को मिला कर एक पूरा चित्र बनाएं। हम कहते हैं कि ब्याज दो पैरों पर खड़ा होता है। यह उधार लेने वालों (उद्यमियों) द्वारा दिया जाता है क्योंकि उधार ली हुई पूंजी उत्पादक

है। ये साहूकारों (पूंजीपतियों) द्वारा लिया जाता है क्योंकि उन्हें वर्त्तमान द्रवता (liquidity) अर्थात् कोष के वर्त्तमान उपभोग करने की क्षमता को भविष्य के लिए त्यागना पड़ता है। इन कारणों से ब्याज लिया और दिया जाता है। अन्य साधनों के समान पूंजी का भी माँग और सप्लाई पक्ष है। अब हम ब्याज के उस सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे जिसे अर्थशास्त्री आज स्वीकार करते हैं।

६. **ब्याज की सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त** (Marginal Productivity Theory of Interest) : ब्याज पूंजी के उपयोग के लिए दी गई क़ीमत है। अन्य वस्तुओं के समान पूंजी की कीमत भी उसकी मांग और सप्लाई से निर्धारित होगी।

पूंजी की माँग ज्यादातर कारोबार से आती है। ऐसे भी लोग हैं जो केवल उपयोग के प्रयोजन से उधार लेते हैं या मुकदमेबाज़ी, धार्मिक या सामाजिक रिवाजों के लिए। किन्तु पूंजी का बड़ा भाग उद्यमी कारोबार के लिए, उत्पादक कार्यों के लिए मांगते हैं। किसी हालत में भी वे सीमान्त पर उसकी उत्पादकता से ज्यादा ऊँची दर तो देंगे नहीं। जैसे-जैसे किसी उद्योग में ज्यादा पूंजी लगाई जाती है उत्पादकता घटती जाती है। हर उधार लेने वाला पूंजी की सीमान्त उत्पादकता से प्रचलित ब्याज की दर की तुलना करता है अर्थात् उस परिमाण से जो कुल धन में पूंजी की अन्तिम किश्त लगाने से जुड़ता है। वह वहाँ रुक जाता है जहाँ वह यह महसूस करता है कि यह उत्पादकता दिए गए ब्याज के बराबर है। जहाँ वह समझता है कि पूंजी उसके लिए मुनाफ़े लायक नहीं है वह नहीं लेता। जब दर गिरती है, तो पूंजी कम उत्पादकता के धंधों में भी प्रयुक्त होने लगती है। इसलिए उसकी माँग बढ़ती है। यह सब उधार देने वालों के लिए सही है। माँग के पक्ष से ब्याज पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है।

पूंजी की सप्लाई बचत करने की शक्ति और इच्छा पर निर्भर है। यदि ब्याज की दर बहुत कम या सिफ़र या ऋणात्मक (negative) भी हो तो भी कुछ बचत होगी ही। पर उसकी सप्लाई बहुत कम या नहीं के बराबर होगी। ब्याज की दर पर बहुत कुछ निर्भर है कि कितनी बचत और छिपे हुए कोष बाहर आएँगे। यह दर आखिर में इतनी होती है कि सीमान्त बचत करने वाले (marginal saver) को प्रतिफल दे सके। यह वह व्यक्ति है जो बिलकुल बचाना नहीं चाहता और केवल ब्याज की दर देख कर ही उसमें बचत करने का प्रलोभन होता है और जिसकी बचत माँग को पूरा करने के लिए जरूरी है। जब ब्याज की दर ऊँची होती है तो ज्यादा पूंजी बचाई जाती है; जैसे उस देश में बचत ज्यादा की जाती है जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ अधिक हैं और जहाँ शान्ति और बाहुल्य (plenty) है।

निष्कर्ष (Conclusion) : *पूर्ण स्पर्धा की दशाओं में ब्याज की दर में उस बिन्दु पर नियत होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ सीमान्त उत्पादकता और सीमांत बचत करने वाले* (marginal) *का प्रलोभन* (inducement) *दोनों यदि द्रव्य में मापे जाएं, तो बराबर होंगे।* सप्लाई और माँग की शक्तियों में अन्तर्क्रिया होती है। यदि

माँग मजबूत है तो ब्याज दर बढ़ेगी और इसके विपरीत है तो घटेगी। संतुलन बिन्दु वह होगा जहाँ सप्लाई और माँग बराबर हैं।

काफ़ी समय तक ब्याज का सीमान्त-उत्पादकता-सिद्धान्त ठीक माना जाता रहा। किन्तु कुछ अरसे में कीन्स का द्रवता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Money) अधिक स्वीकार होने लगा है। उसका भी कुछ विचार कर लें।

७. **द्रवता अधिमान सिद्धान्त** (Liquidity Preference Money) : इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज द्रवता छोड़ने के लिए दी गई कीमत है। द्रवता का अर्थ है नकद पैसा हाथ में होने की सुविधा। संसार में प्रत्येक मनुष्य कुछ कामों के लिए अपने पास द्रव्य की थोड़ी बहुत राशि रखना चाहता है। यह उसकी हाथ में पैसा रखने की माँग है। सब व्यक्तियों की ऐसी माँग के जोड़ से समाज की माँग बनती है। दूसरी तरफ है द्रव्य की पूर्त्ति जिसमें आते हैं सिक्के, नोट और बैंक जमा (banks deposits)। ब्याज दर का फैसला मुद्रा की माँग और पूर्त्ति के द्वारा होता है।

मुद्रा या द्रव्य की माँग के पीछे निम्न हेतु हो सकते हैं :—

(i) **आय-हेतु** : हमें अपनी आय महीने, सप्ताह आदि एक निश्चित वक्त के बाद मिलती है। दूसरी आय के मिलने तक काम चलाने के लिए कुछ रुपया हमें पास रखना ज़रूरी होता है।

(ii) **व्यापार-हेतु** : व्यापारी को अपना माल बाज़ार में बेचने के लिए कुछ समय लगता ही है। परन्तु कच्चे माल की क़ीमत, श्रमिकों की मज़दूरी आदि उसको पहले चुकानी पड़ती है। इसके लिए भी कुछ पैसा पास चाहिए।

(iii) **सतर्कता-हेतु** (Precautionary Motive) : हर कोई कठिनाई के समय के लिए ऐहतियात के तौर कुछ बचा कर रखता है।

(iv) **सट्टा हेतु** (Speculative Motive) : भविष्य अनिश्चित होता है। ब्याज दर बदलती रहती है। कहा नहीं जा सकता वह अभी क्या करवट बदले। परन्तु प्रत्येक मनुष्य आशा लगाता है—इस विश्वास से कि उसका अन्दाजा ठीक निकलेगा, चाहे असल में ठीक निकले या ग़लत। कुछ रुपया सम्भावित परिवर्तनों का लाभ उठाने के लिए रखा जाता है।

इन सब हेतुओं के लिए द्रव्य की माँग होती है जिसे द्रवता अधिमान भी कहते हैं। द्रवता अधिमान का अर्थ है वह राशि जो लोग विशिष्ट समय पर अपने हाथ में नकद रखना चाहते हैं। मुद्रा की एक पूर्त्ति के होते हुए जितनी अधिक द्रवता अधिमान होगी उतनी ही ब्याज दर अधिक होगी और जितनी ही वह कम होगी उतनी ही ब्याज दर भी। दूसरी ओर द्रवता अधिमान निश्चित होते हुए मुद्रा की पूर्त्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही ब्याज दर कम रहेगी और जितनी वह कम होगी उतनी ही ब्याज दर ऊँची रहेगी।

स्पष्ट है कि द्रवता अधिमान सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर शुद्ध द्राव्यिक

हलचल (pure monetory phenomenon) है। पूंजी की उत्पादकता का प्रभाव बहुत कम और परोक्ष होता है।

८. **आर्थिक उन्नति का ब्याज पर प्रभाव** (Influence of Economic Progress on Interest) : जैसे-जैसे समाज की भौतिक उन्नति होती है, न केवल बचत की अधिक सुविधाएँ होती हैं वरन् पूंजी बचाने के अधिक अवसर भी होते हैं। क्योंकि ऐसे समाज में उपभोग और उत्पादन का अन्तर बड़ा होता है। इसलिए ब्याज की दर गिरती है।

दूसरी ओर निस्सन्देह पूंजी के लाभप्रद प्रयोग (profitable investment) के भी अवसर बहुत अधिक और बढ़ते हुए होते हैं। माँग सदैव विस्तृत होती रहती है। युद्ध पूंजी के बड़े परिमाणों का विनाश करके सप्लाई को छोटा कर देते हैं। और उनकी जगह दूसरी पूंजी खड़ी करना धीरे-धीरे ही होता है। इसलिए ब्याज की दर बढ़ती है।

उत्पादक क्षमता के विकास से पूंजी के तौर पर काम आने वाला अतिरिक्त (surplus) अधिक बड़ा हो जाता है। यद्यपि उपयोग भी बढता है। लोगों में मोटे तौर पर बचाने की क्षमता ज्यादा होती है क्योंकि आय ऊँची होती है।

आखिरकार, ऐसे लोग भी सदैव होंगे जो बिना ब्याज की दर की चिन्ता किए बचत करेंगे क्योंकि उनकी कमाई उनकी जरूरतों से ज्यादा है। ऐसे लोगों की संख्या शान्ति और सुरक्षा के साथ-साथ बढ़ती है किन्तु उनकी बचत इतनी कम है कि वह पूंजी की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकती।

९. **क्या ब्याज की दर कभी शून्य हो सकती है ?** (Can the rate of Interest ever become Zero ?) : विभाग ८ में कहे गए कारण ब्याज की दर को नीचे गिराते हैं। किन्तु उसके शून्य होने का कोई खतरा नहीं है कि उसकी दर सिफर या जीरो हो जाए। क्योंकि अतिरिक्त (surplus) कभी इतना बड़ा नहीं हो सकता कि सीमान्त उत्पादकता शून्य रह जाए। यह हो सके, इससे बहुत पहले ही लोग उपभोग वस्तुएँ (consumption goods) खरीदना ज्यादा पसन्द करेंगे जिससे पूंजी की सप्लाई कम हो जायगी और माँग बढ़ जायगी। फिर वर्त्तमान और भविष्य में कुछ अन्तर तो हमेशा रहेगा। वर्तमान की सन्तुष्टि हमेशा भविष्य की सन्तुष्टि से अधिक होगी और वर्त्तमान में अधिक तृप्ति ब्याज में फलित होगी।

ब्याज-दर शून्य नहीं हो सकती यह द्रवता अधिमान सिद्धान्त के द्वारा सरलता से स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य की जेब में नकद पैसा होने से बढ कर क्या आकर्षक हो सकता है ? दूसरे विकल्प—उधार देना, सरकारी ऋण में लगा देना, मकान खरीद लेना आदि रुपया पास होने से सभी कम आकर्षक हैं। नकद पैसे में जो तुरन्त प्रयोग हो सकने की सुविधा है वह सदा ही पसन्द की जाती है। फिर ब्याज-दर सिफर कैसे हो सकती है ?

इस अध्याय से क्या सीखा ?

ब्याज का अर्थ : ब्याज पूँजी का भाग है जो राष्ट्रीय लाभांश में यह तीसरा महत्त्वपूर्ण दावेदार हैं। यह पूँजी के उपभोग के लिए अदायगी है।

भूतकाल में ब्याज लगभग वे ही देते थे जिन्हें उपभोग के लिए उधार लेने की जरूरत पड़ती थी। इसी लिए इसकी इतनी निन्दा की गई।

ब्याज आजकल :

(क) सफाई (Justification) : आजकल के अधिकतर उधार उत्पादक उद्देश्यों के लिए हैं और पूँजी की तरह उपयुक्त होते हैं। उत्पादक पूँजी के उपभोग से मुनाफा उठाते है, इसी लिए यह अनुचित नहीं है यदि उन्हें उसके उपयोग के लिए कुछ देना पड़े।

(ख) समाजवादी दृष्टिकोण : समाजवादी पूँजीपतियों को व्यर्थ के मुफ्तखोर बताते है और सूद का उन्मूलन करने की सिफारिश करते हैं।

(ग) ब्याज का विनियमन : अनेक खेती-प्रधान देशों में ब्याज की अधिकतम दर कानून से मुकर्रर होती है।

कुल और शुद्ध ब्याज : कुल ब्याज में ये शामिल है :—

(i) ली गई जोखिम (risk) के लिए पुरस्कार यानी मुनाफे का एक अंश।

(ii) प्रबन्ध और खाता रखने की मजदूरी।

(iii) असुविधा के लिए अदायगी।

(iv) पूँजी के उपयोग के लिए शुद्ध पूँजी।

ब्याज की विभिन्न दरें उपर्युक्त मदों में अन्तर के कारण है, यद्यपि सभी प्रतियोगी (investment) में शुद्ध ब्याज उतना ही रहता है।

ब्याज क्यों दिया जाता है ? (Why is Interest paid) :

यह कहा जाता है कि ब्याज इसलिए लेते हैं कि आज की तृप्ति या द्रवता को भविष्य में किसी और दिन के लिए त्यागते है। दूसरी ओर ब्याज इसलिए दिया जाता है कि पूँजी उत्पादन में सहायक है।

ब्याज की दर : आधुनिक सिद्धात : ब्याज की दर मांग और पूर्त्ति से तय होती है। उधार लेने वाले पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तक देने को तैयार होंगे। सप्लाई पक्ष से दर ऐसी होनी चाहिए कि सीमान्त प्रतियोगी (marginal investor) को प्रतिफल मिल जाए। वास्तव में दर उस बिन्दु पर नियत होगी जहां सीमान्त उत्पादकता और सीमान्त बचत करने वाले को आवश्यक प्रलोभन, द्रव्य की माप में, बराबर हो।

द्रवता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) : इस सिद्धान्त के अनुसार नकद हाथ में रहने की सुविधा छोड़ने का कीमत ब्याज है। द्रवता अधिमान दिया हुआ हो तो द्रव्य की पूर्त्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही ब्याज दर कम रहेगी और जितनी वह कम होगी उतनी ही यह ऊँची रहेगी। दूसरी तरफ द्रव्य की पूर्त्ति दी हुई हो तो जितना अधिक द्रवता अधिमान होगा उतनी ही ब्याज दर ऊँची होगी और जितना वह कम होगा उतनी ही ब्याज दर थोड़ी रहेगी।

आर्थिक उन्नति का ब्याज पर प्रभाव : ब्याज आर्थिक प्रगति के साथ-साथ गिरने की प्रवृत्ति पाता है। पूँजी की मांग बढ़ती रहती है किन्तु उतनी ही बचत करने की इच्छा और सुविधाएँ भी बढ़ती हैं। व्यय के ऊपर कमाई का सामान्य अतिरिक्त (normal surplus) ही इतना बढ़ जाता है कि पूँजी की पर्याप्त सप्लाई आती रहती है। किन्तु यद्यपि ब्याज की दर गिरती है किन्तु यह शून्य कभी नहीं हो सकती क्योंकि तब बचत उससे पहले कम होने लगेगी।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. Define interest. Do you think its payment is justified ? Why has it often been condemned ?

देखिए विभाग १, २, ३ ।

2. Distinguish between Gross Interest and Net Interest and point out the obstacles in the way of regulation of interest by legislation. (कलकत्ता १९२७, आगरा १९४१, ढाका १९४२, यू० पी० इंटर बोर्ड १९४९, पंजाब १९४०, १९४१)

देखिए विभाग ४ ।

ब्याज का विनियमन विधान द्वारा करने में मुख्य बाधाएँ लोगों की अज्ञानता और बहुत गरीबी है जिससे उधार लेने और देने वालों की परस्पर सहमति से दोनों जान-बूझकर कानून का उल्लंघन करते है ।

3. Discuss :—

"Interest is the reward of saving." (पं० यु० १९४१)

"Interest is the price of time." (पं० यु० १९४२)

"Interest is the price of inconvenience."

देखिए विभाग ५, ६ ।

4. If you had Rs. 100 to lend, what interest (roughly) would you accept from :—

(a) A village farmer,

(b) An industrialist in a town,

(c) A co-operative bank,

(d) Post-office ?

Can you explain why ? (पं० यु०, १९४३)

[महाजन शुद्ध ब्याज के साथ जोखिम वसूली में कठिनाइयों और हिसाब रखने की मेहनत के लिए भी पैसा लेता है । इसी लिए किसान को ब्याज की सबसे ऊँची दर देनी पड़ती है, उद्योगपति को कम, सहकारी बैंक को उससे भी कम और डाकखाने को सबसे कम ।]

5. How is the rate of interest determined ? "Interest is determined by the demand for and supply of capital." Explain. (कलकत्ता १९४६,४९ ; कलकत्ता बोर्ड० कोम० १९४०, आगरा १९३८, यू० पी० इंटर बोर्ड १९४०, १९५१)

देखिए विभाग ६ ।

6. State (giving reasons) how the rate of interest in the rural areas of your State will, other things being the same, be affected by the following :—

(i) A successive failure of crop,

(ii) An imposition of restrictions on the granting of loans,

(iii) Improvements in agriculture.

[(i) कर्जों की अधिक मांग और अधिक अनिश्चितता के कारण दर बढ़ेगी ।

(ii) पकड़े जाने की जोखिम की वजह से दर बढ़ेगी ।

(iii) अधिक बचत के कारण दर कम होगी ।]

7. Interest is determined by marginal productivity of capital, its marginal utility or its supply price. Give your own views. (पं० यु०, १९४६ सप्लीमेन्टरी)

[सीमान्त उत्पादकता और सप्लाई कीमत दोनो से साथ-साथ निर्धारित होती है। सीमान्त उपयोगिता का अधिक असर नहीं होता क्योंकि उपभोग के लिए उधार की राशि छोटी होती है। देखिए विभाग ६]

8. Why is interest paid? Account for the fact that the Government of India is able to borrow at a much lower rate of interest than an agriculturist. (अजमेर १९५५)

9. How does the rate of interest affect? Would people stop saving if the rate of interest were reduced to zero. (पं० यु०, १९३५)

देखिए विभाग ७, ८।

[आमतौर पर जितनी ब्याज की दर ज्यादा होगी, उतनी ही बचत ज्यादा होगी और इसके विपरीत कुछ अपवाद-स्वरूप हालतो में बचत कम हो सकती है यदि ब्याज बढ़े तो। जैसे उस आदमी के लिए जो अपनी बचत से एक निश्चित आय चाहता है। कुछ लोग तब भी बचत करेंगे जब ब्याज की दर शून्य हो जाय, क्योंकि बचत सिर्फ ब्याज पाने के लिए ही नहीं की जाती। यह परिवार के भविष्य का प्रबन्ध करने के लिए भी की जाती है]

10. What will be the effect of economic progress on interest? Will the rate of interest fall to zero? (पं० यु० १९३१)

देखिए विभाग ७, ८।

11. Why does the rate of interest differ from person to person and place to place in your country? (प० यु० १९५३)

(i) कर्ज देने और लेने वाले में दूरी, (ii) कर्जे की अवधि, (iii) उधार लेने वाले की परिस्थिति, (iv) उत्पादकता और (v) जोखिम के कारण फर्क होता है।

अध्याय २६

मुनाफा

(PROFITS)

अमीरी की दौड़

(Race for Riches)

१. **नफे की परिभाषा** (Definition of Profits) : आप मुनाफा या नफा (profits) शब्द से परिचित हैं। यह बड़ा प्रचलित शब्द है, किन्तु लोग इसका विभिन्न मायनों में प्रयोग करते हैं। अर्थशास्त्र में इसका बिल्कुल निश्चित अर्थ है। नफे की परिभाषा यह की जा सकती है कि *यह किसी कारोबार की वह शुद्ध आय* (net income) *है जो कुल आय* (total income) *में से सब दूसरे खर्चे किराया, मज़दूरी और सूद निकाल कर बच रहती है।* इसलिए मुनाफा अनिश्चित है और हर व्यक्ति को अलग-अलग होता है। यह शून्य हो सकता है जब लागत आय के बराबर हो, और यदि लागत ज्यादा हो जाय तो नफे के बजाय टोटा (loss) भी हो सकता है।

एक व्यावहारिक उदाहरण से आपकी समझ में आ जाएगा कि नफा कैसे निकाला जाता है। मान लीजिए एस. चंद एक किताबों की दूकान २५,०००) की पूंजी से खोलते हैं। हम यह मान लेते हैं कि दुकान उनकी अपनी है और उनका एक भतीजा उनके लिए काम करता है जो कोई तनख्वाह नहीं पाता। तो निम्न-लिखित आय-व्यय खाता या बैलेन्स-शीट कारोबार की एक साल की आय, व्यय और नफा दिखाता है।

१. कुल बिक्री		१,००,०००)
बिके हुए माल की लागत		७५,०००)
कुल लाभ		२५,०००)
२. व्यय		
(क) किराया (निहित)*		२,४००)
(ख) सेल्समैन की तनख्वाह (निहित)*		२,४००)
(ग) मालिक की पूंजी पर ५ प्रतिशत ब्याज (निहित)*		५,०००)
(घ) बैंक कर्जों पर ब्याज		१,२००)
	कुल	११,०००)

* कोई किराया नहीं दिया जाता क्योंकि दूकान मालिक की खुद है। कोई मजदूरी नहीं दी जाती क्योंकि उनका भतीजा तनख्वाह नहीं लेता और उनकी अपनी पूंजी पर उन्हें कोई सूद नहीं देना पड़ता। किन्तु नफा निकालने में उनका हिसाब करके उन्हें अलग कर देना पड़ेगा।

पीछे का बाकी	११,०००)
३. खराब हुए माल का मूल्यह्रास (depreciaton)	२,०००)
बीमा खर्च	१०००)
कुल	३,०००)
४. एस. चंद की संचालन की मजदूरी (निहित)*	५,०००)
कुल छूट (deduction)	१६,०००)
५. शुद्ध लाभ या मुनाफ़ा	६,०००)

यह हिसाब नफे का स्वभाव दिखाता है। कुल लाभ का अर्थ तो साफ है। फिर कुछ ऐसे साधन हैं जिनके लिए एस. चंद को पैसा नहीं देना पड़ता क्योंकि वे उनके अपने हैं किन्तु आम तौर पर तो उनको बिना अदायगी किए प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए ये अदायगी, यद्यपि निहित है, फिर भी अलग की जानी चाहिए तभी शुद्ध लाभ का पता चलेगा।'

असली नफा अवशेष तत्त्व है (True Profit is a residual element) : इसका पता तब चलता है जब अन्य तीनों उत्पादन के साधनों को राष्ट्रीय आय में से उनका हिस्सा दे दिया गया है। यह शून्य हो या कुछ समय के लिए ऋणात्मक (negative) हो किन्तु कालान्तर में धनात्मक (positive) होना ही चाहिए। नहीं तो उद्यमी अपना स्वतन्त्र कार्य छोड़ कर कहीं मजदूरी करने लग जाएगा।

२. **स्थूल लाभ का विश्लेषण** (Gross Profits Analysed): अब हम स्थूल लाभ का विश्लेषण करने की स्थिति में हैं। वे कुल बिक्री से प्राप्त आय और साल भर में हुए कुल खर्चों का अन्तर है। उनमें निम्न चीजें सम्मिलित हैं :—

(क) **नियोजक की जमीन या अहाते का किराया** : यदि वैसा हीं स्थान किराए पर लिया गया होता तो वह भी लागत में जुड़ जाता। इसलिए उतनी ही रकम स्थूल लाभ में से कम कर दी जाएगी।

(ख) **पूंजी पर ब्याज** : उधार ली गई पूंजी पर जो ब्याज है वह मुनाफा जोड़ते वक्त ही आम तौर पर खर्चे में जुड जाता है। इसलिए शुद्ध लाभ या असली नफा निकालने के लिए मालिक की वह पूंजी जो यदि उसने न लगाई होती तो कहीं और से लेनी पड़ती और जो यहाँ न लग कर कहीं भी लगी होती तो उसको अपना ब्याज मिल जाता, उस पूंजी का ब्याज निकाल दिया जाना चाहिए।

(ग) **प्रबन्धक और संचालन** (Management) **की तनख्वाहें** : उद्यमी स्वयं प्रबन्ध कर सकता है। यदि वह कहीं और नौकरी कर लेता तो भी उसे कुछ वेतन मिलता। इसलिए उसके बराबर रकम निकाल देनी चाहिए।

(घ) **रक्षा का व्यय** (Maintenance Charges) : यह भी उचित ही है कि पूंजी ज्यों की त्यों रखी जाय। घिसे हुए हिस्सों को वक्त पर बदलना पड़ता है। इन सबके लिए एक मूल्य ह्रास निधि या डेप्रीसियेशन फण्ड अलग करना जरूरी होता है। इस प्रयोजन के लिए जो खर्चे हों उन्हें भी स्थूल लाभ में से निकाल देना चाहिए।

(ङ) **शुद्ध लाभ या असली नफा** : उद्यमी को निम्न प्रकार की विभिन्न अदायगी मिलनी चाहिए जो उसके नफ़े का अंश है:—

(i) **जोखिम उठाने के लिए पुरस्कार** (Reward for Risk-taking) : हर कारोबार में कुछ न कुछ नुकसान का खतरा भी होता है। कुछ जोखिमों से तो बीमे के द्वारा सुरक्षा हो जाती है, जैसे आग या समुद्र में डूब जाने की जोखिम। किन्तु बाज़ार भाव में उतार-चढ़ाव के कारण होने वाले नफे टोटे का जोखिम तो उद्यमी को स्वयं ही उठाना पड़ेगा और वह यह तभी उठाएगा जब उसे कुछ मिलने की आशा हो।

(ii) **एकाधिपत्य स्थिति का पुरस्कार** (Reward due to a Monopolistic Position) : कोई उद्यमी जिन वस्तुओं का उत्पादन वह करता है उनकी सप्लाई के बारे में बाजार पर अपना नियत्रण बना कर भी कुछ अतिरिक्त आय (extra income) बना सकता है।

(iii) **बेहतर सौदा करने के लिए पुरस्कार** (Reward for Better Bargaining) : यदि कोई व्यवसायी सौदा करने में चतुर है तो वह ज्यादा कमाएगा।

(iv) **आकस्मिक नफा** (Windfalls) : बाजार की स्थिति में अकस्मात् कोई परिवर्तन आ जाने से बड़ा नफा हो सकता है, जैसे हथियार और असला बनाने वाले निर्माताओं को लड़ाई छिड़ जाने से।

३. **मुनाफा किराए की ही भाँति है** (Profits are of the Nature of Rent) : अमेरिका के प्रोफेसर वाकर का खयाल है कि जैसे किराया भूमि की उर्वरता (fertility) और स्थिति के अन्तर के कारण होता है, इसी प्रकार नफा भी उद्यमी की जीवन में स्थिति (अवसर) तथा योग्यता के अन्तर का फल है। मुनाफा भी सीमान्त नियोजक से, जो कोई नफा नहीं कमाता, ऊपर चलकर मापा जा सकता है, जैसे बिना किराए की सीमान्त जमीन से ऊपर किराया मापा जाता है। यह सिद्धान्त पूरी तरह नहीं माना जाता। बिना किराए की जमीन हो सकती है किन्तु बिना नफे का नियोजक नही हो सकता। यदि वह नफा नहीं कमाता तो कालान्तर में वह नौकरी पेशा लोगों में मिल जायगा। फिर किराया कीमत का अंश नहीं है, परन्तु नफा है। तो भी नफे में किराये का कुछ अंश ज़रूर होता है जो कि उद्यमी की योग्यता में अन्तर के कारण पाया जाता है। किन्तु नफ़ा पूरी तरह किराये जैसा नहीं है।

४. **नफे की व्याख्या** (Explanation of Profits) : नफे की व्याख्या करने के कई सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। जब हम उन पर विचार करते हैं तो हम देखते है कि हर सिद्धान्त ने किसी एक पहलू पर बहुत ज़ोर डाल कर दूसरों को नज़रअन्दाज़ करने की ग़लती की है। असल में मुनाफ़ा कई मदों से मिली हुई आय है। उद्यमी को उसके द्वारा किए गए अनेक कार्यों के लिए पुरस्कार मिलना चाहिए। वह उत्पादन के पीछे का दिमाग़ है। इसलिए वह योजना बनाता है, निश्चय करता है, चुनता है, सौदे करता है, जोखिम सर पर लेता है और अनिश्चितता का सामना

करता है। मुनाफा इन समस्त कार्यों के लिए प्राप्त रकम का योग है और वे एक दूसरे से इतने मिले हुए हैं कि हरएक को अलग-अलग करना असम्भव है। नफा सब तरह के खर्चों को निकाल कर अवशेष है।

यह भी याद रखना चाहिए कि जिन लोगों में ये गुण होते हैं वे दुर्लभ हैं। यदि ऐसे व्यक्ति अनगिनत होते तो मुनाफा भी दैनिक मज़दूरी के स्तर पर आ जाता। योग्य उद्यमी बहुत कम हैं क्योंकि नैसर्गिक गुणों की कमी होती है और क्योंकि उनकी ट्रेनिंग के लिए उचित वातावरण नहीं है।

हमारा नफे का सिद्धान्त तभी सन्तोषजनक होगा जब हम इन सब बातों को ध्यान में रखें।

५. **नफे में फर्क क्यों होता है** (Why profits Vary) : खास वजह है उद्यमियों की योग्यता में अन्तर। योग्यता मुख्यतया ईश्वर-प्रदत्त है। कुछ लोग बेहतर सौदे कर लेते हैं। कुछ अच्छे संगठनकर्त्ता हैं। कुछ लोग आदमी को पहचानने की क्षमता रखते हैं। और इसी तरह से और लोगों में और और गुण होते हैं। यही अन्तर मुनाफे में अन्तर लाता है। कुछ और भी कारण हैं, जैसे एक के पास कारोबार चलाने के लिए काफी पूंजी है, दूसरे के पास नहीं है। फिर किसी उद्यमी के पास कुछ भेद (secrets) हैं, जो दूसरों के पास नहीं हैं। तब वह ज्यादा नफा कमाएगा। आखिर में मुनाफा स्पर्धा के कारण कम होने लगता है किन्तु शून्य कभी नहीं हो सकता क्योंकि वरना सभी उद्यम समाप्त हो जायेगा।

६. **मुनाफे का समाजवादी दृष्टिकोण** (Socialist view of Profits) : मुनाफे का समाजवादी विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि तमाम धन श्रम का फल है और वह श्रम को ही जाना चाहिए। उनका कहना है कि उद्यमी और पूंजीपति कोई उपयोगी कार्य नहीं करते। इसलिए मुनाफा और ब्याज दोनों श्रम की चोरी और शोषण हैं। इसलिए मार्क्स उन्हें खत्म करने का समर्थन करता है।

मज़दूरों का शोषण बुरा है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उद्यमी कोई उपयोगी काम नहीं करता और उसे कुछ नहीं मिलना चाहिए। इसके विपरीत यह बहुत काम करता है। वह जोखिम सर पर लेता है जो कोई दूसरा लेने को तैयार न होगा और जिसका बीमा नहीं किया जा सकता। यह जोखिम है माँग के परिवर्तन, आदतों और प्रथाओं में फर्क, प्रतिस्थापन की खोज, विदेशी स्पर्धा और राजनैतिक एवं औद्योगिक गड़बड़ियों से होने वाले नुकसान-टोटे की सम्भावना। यदि उद्यमी इस जोखिम के लिए कुछ न पाए तो वह नौकरी करना ज्यादा पसन्द करेगा। मुनाफा उद्योग को प्रोत्साहन देता है और उन्नति की ओर ले जाता है। उसकी निन्दा करना साहस, बुद्धिमत्ता और संगठन-शक्ति की निन्दा करना है।

किन्तु पूंजीवादी समाज की कोई दूसरी विशेषता इतनी बुरी नहीं कही गई है जितनी नफा। उद्यमियों का टोटा नजर में नहीं आता पर उनके कभी-कभी होने वाले बड़े-बड़े मुनाफे आंखों में गड़ते हैं।

आलोचना की सही दिशा यह होगी कि मुनाफे से असमानता उत्पन्न होती है और एक वर्ग के लोग शक्ति में आते हैं। इसके अलावा, मालिक ही जोखिम उठाने

वाला (risk-bearer) नहीं होता। मजदूर भी कारोबार की अनिश्चितता से उतना ही या ज्यादा जोखिम उठाते हैं। इसलिए उन्हें भी कारोबार चलाने में एक हिस्सा मिलना चाहिए। समाजवादी उद्यम में ये असमानताएँ और समस्याएँ नहीं होतीं। किन्तु दूसरे प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनका समाधान भी आसान नहीं है।

इस अध्याय से आपने क्या सीखा ?

मुनाफे की परिभाषा (Definition of Profits) : मुनाफे के बारे में बड़ा मतभेद है। एक साधारण आदमी के खर्चे के ऊपर आमदनी जितनी ज्यादा मिलती है उसे मुनाफा कहते हैं। यह वास्तव में कुल मुनाफा या स्थूल लाभ (gross profit) है।

स्थूल लाभ (gross profit) में—

(१) नियोजक की अपनी जमीन का किराया होता है।

(२) उसके द्वारा लगाई हुई पूँजी का सूद,

(३) संचालन (management) में उसके श्रम की कीमत, और

(४) संगठनकर्त्ता का खास हिस्सा, असली नफा। यह हिस्सा उसे जोखिम लेने के लिए, उसकी एकाधिपत्य की स्थिति, बेहतर सौदा करने की शक्ति तथा आकस्मिक परिवर्तनों के लिए मिलता है।

नफा किराये के समान है : अमरीका के प्रोफेसर वाकर के ख्याल से मुनाफा किराये की तरह है। वे कहते हैं कि एक सीमांत उत्पादक होता है जो कोई मुनाफा नहीं कमाता। दूसरे नियोजक उसकी अपेक्षा अपनी श्रेष्ठ योग्यता के कारण मुनाफा कमाते हैं। किंतु यह सिद्धांत मुनाफे की पूर्ण व्याख्या नहीं है।

मुनाफे की व्याख्या : मुनाफा विभिन्न मदों की, जैसे योजना बनाने की, जोखिम उठाने और संगठन करने की सम्मिलित अदायगी से प्राप्त आय है। यह योग्य उद्यमी की कमी के कारण मिलता है।

मुनाफे में अन्तर क्यों होता है ? प्रत्येक उद्यमी की योग्यताएँ भिन्न होती हैं। इसलिए भी किसी उद्यमी के पास अधिक पूँजी, कोई गुप्त उपाय, आदि होता है। मुनाफे कम होते जा रहे हैं। किंतु शून्य कभी न होंगे।

क्या मुनाफे की निन्दा करनी चाहिए ? समाजवादी और साम्यवादी नफे को श्रम की उपज की चोरी कहते हैं। श्रम के शोषण के विरुद्ध होते हुए भी हमें यह कहना पड़ेगा कि यह मत एकांगी है। संगठनकर्त्ता का बहुत बड़ा कार्य होता है। वह बीमा न हो सकने लायक जोखिम उठाता है। वह उन्नति का अग्रणी है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What are profits ? How are they determined ?

(पंजाब वि० १९४०)

[देखिए विभाग १ और ४। मुनाफे सप्लाई और मांग के सम्बन्ध से निर्धारित होते हैं।]

2. Why does the rate of profits vary from industry to industry and from time to time within an industry ?

(पंजाब वि० १९४० सप्लीमेंटरी)

[कुल नफे के मदों में फर्क होने की वजह से। एक उत्पादक की अपनी जमीन या पूँजी हो सकती है, दूसरे की कुछ नहीं। फिर योग्यताओं और जोखिम का परिमाण भी भिन्न होता है। देखिए विभाग ५।]

3. Are profits of the nature of rent ?

देखिये विभाग ३ ।

4. Differentiate between gross and net profits. Are profits justifiable ? (बम्बई १९५४)

5. Write notes on :—

(i) Gross profits.

(ii) Producer's surplus.

(iii) Uninsurable risks.

[(i) देखिए विभाग १, २ ।

(ii) पर सीमांत उत्पादक (super-marginal producer) द्वारा कमाया हुआ उत्पादन व्यय के ऊपर अतिरिक्त (surplus) ।

(iii) बदलते हुए फैशन और बाज़ार प्रवृत्ति की जोखिम संगठनकर्त्ता को उठानी पड़ती है ।]

Or

Analyse gross profit. Enumerate the services for which profits are a reward. (अजमेर १९५५)

6. Critically examine the Socialist view of profits as a share in distribution. (क० १९२२)

देखिये विभाग ६ ।

7. Distinguish between profits and interest. Analyse the former.

(क० वि० १९३९; आगरा १९४२; All. १९४०; ढाका १९३३; देहली १९४०; नागपुर १९४२) देखिये विभाग २ ।

8. "Profits are the reward for enterprise." Explain briefly.

(यू० पी० इंटर बोर्ड १९४९)

देखिये विभाग १, ४ ।

9. Analyse carefully the constituent elements of profits.

(अजमेर बोर्ड १९५३; पं० वि० १९३०)

देखिये विभाग २ ।

10. Explain the nature of business profits and point out whether such profits form a part of the cost of production.

(देहली १९५३)

देखिये विभाग २, ३ ।

11. Discuss the nature of profit. Why do we speak of profits as rent of ability ? (पं० वि० १९५२)

देखिये विभाग १, २ ।

[मुनाफा किसी आदमी को दूसरे आदमियों पर उसकी श्रेष्ठता के कारण मिलता है या प्राकृतिक सुविधाओं और लाभों के कारण । किराया भी इसी तरह श्रेष्ठ भूमि के लिए मिलता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि मुनाफा योग्यता का किराया है ।

12. Do profits form a part of costs of production ? (दिल्ली १९५५)

अध्याय ३०

सार्वजनिक वित्त

(PUBLIC FINANCE)

"लोग क्या कहते हैं, और सरकार कैसे व्यय करती है"

१. **सार्वजनिक वित्त की परिभाषा** (Public Finance Defined) : दुनिया कई देशों में बँटी हुई है। हरएक के अपने कानून हैं और अपनी सरकार। चाहे जिस तरह की सरकार हो और चाहे जितनी सीधी सादी हो उसे कुछ काम करने पड़ते हैं। इन कामों को करने के लिए उसे कोष की जरूरत पड़ती है, और पहले से कहीं ज्यादा। हरएक को सरकार को कुछ-न-कुछ देना पड़ता है। इसी लिए गरीब से गरीब को भी सरकार की सत्ता का पता होता है। उसे कर—टैक्स—देने पड़ते हैं। वह परेशान होकर कहता है, "यह टैक्स भी मुसीबत है।" और वह ताज्जुब करता है कि सरकार इन करोड़ों रुपयों का क्या करती है जो इसके पास इकट्ठे होते हैं। हम आपको यहाँ बताएँगे कि सरकार रुपया क्यों लेती है, कैसे लेती है, और कहाँ खर्च करती है। वास्तव में यह सार्वजनिक वित्त का विभाग है।

२. **सार्वजनिक वित्त का महत्त्व** (Importance of Public Finance) : आदमी अकेला नहीं रह सकता। वह कभी भी नही रहा। समाज में रहने के लिए उसे अपने साथियों के साथ एक समझौते (understanding) पर पहुँचना पड़ता है कि उनका परस्पर सम्बन्ध क्या होगा और वे किस तरह की सरकार चाहते हैं। पुराने जमाने में सरकार के कर्त्तव्य बहुत थोड़े और सीधे-सादे थे। खास तौर पर बाहर के आक्रमणों से रक्षा करना और देश में शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना था। जैसे-जैसे समय बीता उसके कर्त्तव्य बढ़ गए है, जबकि आज कोई भी ऐसी कार्यवाही नहीं है जिसमें सरकार का हाथ न हो। सरकार यह तय करती है कि हम क्या कपड़ा पहनें, क्या खाना खाएँ, क्या किताबें पढ़ें। वह यह तय करती है कि हम अपनी आवश्यकताओं को कहाँ खरीदें। किन हालतों में हम माल खरीदें, उसका नियंत्रण वह करती है। वह अमीरों से लेती और गरीबों को देती है। सरकार का उद्देश्य हो गया है अधिकतम लोगों का आर्थिक कल्याण करना। इस तरह आप देखेंगे कि देश के आर्थिक संगठन का कोई भी वर्णन पूरा नहीं हो सकता जब तक कि उसमें सरकार का काम न बताया जाय। धन के उत्पादन, वितरण और उपयोग में सरकार का क्या हाथ है ? इसी लिए सार्वजनिक वित्त का अध्ययन आजकल बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया है।

३. **राज्य के कार्यों का विश्लेषण** (Functions of State Analysed) : आपको अब राज्य के कार्यों का कुछ अन्दाज़ा होना चाहिए। वे सचमुच इतने विभिन्न

हैं कि कोई भी एक केन्द्रीय सत्ता उन्हें नहीं संभाल सकती। इसीलिए वे कई प्राधिकारियों में—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय प्राधिकारियों के बीच में बाँट दिए गए हैं।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे में हमेशा विभिन्न मत रहे हैं। एक सिरे पर वे लोग हैं जो जनता की साधारण जिन्दगी में सरकार का हस्तक्षेप अच्छा नहीं समझते और कहते हैं कि सरकार को पुलिसमैन का काम भर करना चाहिए—यानी मानव-जीवन और सम्पत्ति को बाह्य आक्रमण और आन्तरिक गड़बड़ी से बचाना। दूसरे सिरे पर साम्यवादी हैं, जो चाहते हैं कि राज्य न सिर्फ व्यापार और उद्योग चलाए वरन् बच्चों के जन्म को भी नियंत्रित करे और पालन करने का प्रबन्ध करे। इन दो विरोधी मतों के बीच में विभिन्न प्रकार के अन्य मत हैं।

कम से कम एक बात तो निश्चित है कि समय बीतते-बीतते राज्य की कार्यवाही का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। आपको अब राज्य के विभिन्न कार्यों का कुछ-कुछ अन्दाज़ा होगा। उनमें से कुछ हैं "शान्ति रखना, न्याय करना, देश की रक्षा करना आदि जो *आवश्यकताएँ* (necessaries) कही जा सकती हैं; कुछ जैसे उच्च विकसित शिक्षा-पद्धति जो सुविधाएँ (comforts) कही जा सकती हैं; जबकि और बहुत से कार्य जैसे शानदार इमारतें बनाना, मौके-मौके पर खर्चीले तमाशे दिखाना, यह सब विलासिताओं (luxuries) में गिने जा सकते हैं।"—(पेन्सन)

राज्य के कार्य निम्न प्रकार से वर्गीकृत किए जा सकते हैं :—

(i) **संरक्षक** (Protective) : जैसे जान और माल की रक्षा करना, पुलिस, फौज और अदालतों के द्वारा;

(ii) **विकास-सम्बन्धी** (Development) : जैसे शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य;

(iii) **वाणिज्यिक** (Commercial) : जैसे वन, रेलवे, डाकघर, और

(iv) **सार्वजनिक उपयोगिता कार्य** (Public Utility Concerns) : जैसे बिजली, पानी की सप्लाई, सड़कें, बाग, अजायबघर।

यह कार्य धीरे-धीरे बढ़े हैं। एक सौ साल पहले राज्य पब्लिक के लिए इतना कुछ न करता था जितना आज। व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप बढ़ रहा है। परिणाम यह है कि यह कार्यवाहियाँ केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय अधिकारियों में बाँटनी पड़ गई हैं। जितने बड़े और व्यापक कार्य हैं उतनी ही उन्हें करने के लिए आय चाहिए।

४. **राज्य और व्यक्ति के वित्त की तुलना** (State and Individual Finance Compared) : व्यक्ति और राज्य दोनों में यह समानता है कि उन दोनों को साधन चाहिएँ। दोनों को उन साधनों से अधिकतम फल प्राप्त करना होता है। दोनो खर्चे के हर मद से ज्यादा से ज्यादा पाना चाहते हैं।

किन्तु व्यक्तिगत और सार्वजनिक वित्त में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। वे हैं :

(१) एक व्यक्ति की आय उसका खर्चा तय करती है जबकि एक राज्य का प्रस्ताविक खर्च उसकी आय नियत करता है। यानी यूं कहिए कि एक आदमी अपनी

चादर को देख कर पाँव फैलाता है जबकि सरकार अपने पैर कितने फैलाने हैं यह देख कर चादर बनाती है। इस तरह राज्य पहले अपनी आवश्यकताओं की योजना बनाता है, फिर उनको पूरा करने का इन्तज़ाम करता है। व्यक्ति अपने खर्चे को आमदनी से समायोजित करता है। राज्य अपनी आमदनी को खर्चे से।

(२) कोई सार्वजनिक अधिकारी अपनी आय-व्यय की रकम बदल सकता है। निस्सन्देह एक हद तक ही। उसकी भी सीमा है किन्तु वह किसी व्यक्ति के मुकाबले बहुत ज्यादा और सरलता से कर सकता है। कोई आदमी अपनी आमदनी सरलता से दुगुनी नहीं कर सकता और न खर्चा ही आधा कर सकता है चाहे उसे उससे लाभ ही हो। किन्तु सरकार के लिए यह बड़ा कठिन नही है।

(३) सार्वजनिक अधिकारी व्यक्ति के समान भविष्य की ओर उतना उदासीन नहीं होता। वह वर्तमान की दृष्टि से ही नहीं सोचता। कारण स्पष्ट है। आदमी की ज़िन्दगी सालों में गिनी जाती है और उसकी दूरदर्शिता परिमित है किन्तु राज्य तो हमेशा बना रहता है। इसलिए भविष्य की तृप्तियाँ वर्तमान उपयोगिताओं की अपेक्षा राज्य को इतनी छोटी नहीं लगतीं जितनी व्यक्ति को। एक व्यक्ति तो नौ नकद न तेरह उधार कह सकता है चाहे कल के १३ बिल्कुल निश्चित ही हों।

(४) एक बुद्धिमान् व्यक्ति वह है जो अपनी जरूरतें पूरी करने के बाद कुछ वक्त जरूरत के लिए भी बचा रखता है। राज्य के लिए ऐसा नहीं है। आमतौर पर राज्य को जमा करके रखने (hoarding) की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उसे तो करों से जो कुछ मिलता है वह सब सेवाओं के रूप में जनता को देना चाहिए। एक भारी बचत वाला (surplus) बजट इसी लिए बुरा है और शायद एक भारी घाटे के (deficit) बजट से भी बुरा है क्योंकि शायद घाटे का बजट जन-कल्याण के लिए घाटा सहे जबकि अतिरिक्त बजट तो जनता पर व्यर्थ का भार है।

(५) एक व्यक्ति के लिए अपना बजट संतुलित करने की कोई निश्चित अवधि नहीं होती। राज्य का बजट प्रायः एक साल के लिए बनता है।

(६) व्यक्तिगत वित्त गुप्त रहता है। राजकीय वित्त जनता के सामने आता है।

(७) राज्य अपने आप से (अर्थात् अपनी जनता से) एक कर्जा उठा सकता है, व्यक्ति नहीं।

राज्य की आय के स्रोत (Sources of State Income) : हमने देखा है कि आधुनिक सरकारों के कार्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें भारी व्यय होता है। इस व्यय को पूरा करने के लिए सरकार को उतनी ही बड़ी आय भी चाहिए। खास तौर पर चार स्रोत होते हैं, जिनसे आय प्राप्त होती है। वे हैं : (क) फीस और विशेष उगाहियाँ, (ख) कर्जे, (ग) कीमतें (औद्योगिक कमाई) और (घ) कर, जिन्हें उनकी महत्ता के क्रम से उलट गिना गया है। इसके अलावा कुछ और भी फुटकर स्रोत हैं जैसे जुर्माने और दण्ड, प्रतिकर और मुआवज़े, ऋण और उपहार। हम इन पर नीचे विचार करेंगे।

फीस आदि (Fees etc.) : फीस किसी व्यक्ति द्वारा सरकार को दी गई वह

अदायगी है जिसके द्वारा उसे कोई विशेष फायदा होता है। जैसे पेटेन्ट फीस, अदालती फीस, ट्यूशन फीस वगैरह। हर हालत में व्यक्ति को जिस काम के लिए वह फीस देता है उस काम से कोई खास फायदा होता है। एक विशेष उगाही (assessment) वह खास फीस है जो उन व्यक्तियों से ली जाती है जिन्हें सरकार को किसी काम से विशेष फायदा मिलता है। जैसे किसी नई नहर, सड़क, या नाली से।

कर्जे : सरकार युद्ध जैसे आपत्तिकाल में या जब वह कोई खर्चीला उद्यम हाथ में लेती है, जैसे रेल बनाना है, तो भारी ऋण लेती है। क्योंकि ऐसे उद्यमों से फायदा अगली पीढ़ियों को ज्यादा होगा इसलिए यही वाजिब है कि इस पीढ़ी की बजाय उनके खर्चों का भार अगली पीढ़ी पर भी पड़े। इसलिए कर्जों की शक्ल में रकम उठाई जाती है न कि टैक्सों के रूप में।

कीमतें (Prices) : जब सरकार किसी व्यावसायिक उद्यम में लगती है, तब वह अपनी सेवाएँ एक निश्चित कीमत पर उपभोक्ताओं को बेचती है। उपभोक्ता स्वतन्त्र है इस बात में कि वह उसका उपयोग करे या न करे। जैसे यदि आप रेलवे ट्रेन का उपयोग करें या तार अथवा चिट्ठी भेजें तो ही आप एक कीमत अदा करते हैं। आप पर कोई अतिरिक्त भार नहीं है। आमतौर पर सरकारें ये उद्यम मुनाफे के लिए नहीं करतीं वरन् लोगों को ऐसी सेवाएँ देने के लिए जो सिर्फ सरकारें ही कर सकती हैं या किसी प्राइवेट एजेन्सी से अच्छी कर सकती हैं। आजकल कुछ सरकारें साथ में कुछ ऐसी कार्यवाहियाँ भी हाथ में ले लेती हैं, जैसे व्यापार उद्योग और कारोबार है, यह सोच कर कि उनके द्वारा कमाए गए बड़े-बड़े मुनाफे व्यक्तियों की जेबों में न जा कर राष्ट्र के हित में काम आ सकें।

टैक्स (कर) : ये राज्य की आय का आज सबसे बड़ा स्रोत हैं। कर की परिभाषा की गई है, "किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का अनिवार्य अंशदान (compulsory contribution) जो सार्वजनिक शक्तियों की सेवाओं के बदले में दिया गया हो" (बास्टेबल)। जोर इस बात पर दिया है कि यह *अनिवार्य अदायगी* (compulsory payment) है। यह सार्वजनिक सेवाओं के लिए दिया जाता है किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि *कोई विशेष कर, साधारणतया राज्य द्वारा की गई किसी विशेष सेवा का मूल्य नहीं है*। प्रोफेसर टौसिग के अनुसार—"दूसरी किसी सरकारी वसूली से कर इस माने में भिन्न है कि कर दाता (tax payer) और सार्वजनिक अधिकारी में कोई सीधा अदले-बदले का या ले दे समानता का सम्बन्ध नहीं है।" दूसरे शब्दों में आप कर देने से यह कह कर इन्कार नहीं कर सकते कि अमुक सेवा का मैंने उपयोग नही किया। एक अमीर आदमी के कोई बच्चा न हो पर उसे स्कूलों पर खर्च किए गए करों को तो देना ही पड़ेगा।

टैक्सों के पीछे प्रयोजन (Motives Behind Taxes) : कर अधिकतर राजस्व पाने के लिए लगाए जाते हैं। दूसरी ओर पैनल्टी (penalty) या दण्ड लोगों को कोई विशेष कार्य करने से रोकने के लिए लगाया जाता है। कभी-कभी ऐसा टैक्स भी लगाया जा सकता है जो दोनों काम करे। वह राजस्व की भी वृद्धि

करे और लोगों को किसी हानिकारक वस्तु, जैसे अफीम, के उपयोग से भी रोके। फिर कुछ कर संरक्षक शुल्क (protective duties) की हैसियत के भी हो सकते हैं। वे इसलिए लगाए जाते हैं कि किसी गृह-उद्योग को विदेशी स्पर्धा से बचाना है। कभी-कभी किसी कर का प्रयोजन कुछ और होता है। उसका उद्देश्य होता है समाज में धन के वितरण की असमानता को दूर करना। धनी लोगों पर कर लगाए जा सकते हैं जिनसे गरीबों को मुफ्त शिक्षा और डाक्टरी सहायता (medical aid) दी जा सके।

६. **कराधान के सिद्धान्त** (Principles or Canons of Taxation) : हमने देखा कि कर का देने वाले के फायदे से कोई सम्बन्ध नहीं है ; बल्कि देना अनिवार्य है। इसलिए कर का बोझ वितरित करते समय किसी व्यक्ति का भाग उसे मिले हुए फायदे के लिहाज से नहीं तय किया जा सकता। एडम स्मिथ ने करारोपण अधिकारी (Taxing authority) के मार्ग-दर्शन के लिए चार सिद्धांत बताए हैं।

एडम स्मिथ के सिद्धान्त (Adam Smith's Canons) : स्मिथ के बताए हुए सिद्धान्त इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि कि वे ऐतिहासिक हो गए हैं। वे हैं :—

(१) **समानता का सिद्धान्त** (Canons of Equity or Equality) : स्मिथ का कहना है कि "हर राज्य की प्रजा को सरकार की सहायता के लिए जितना ज्यादा सम्भव हो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुसार अंशदान देना चाहिए; यानी राज्य के संरक्षण में जितनी आय का वे उपभोग करते हैं, उसके अनुपात में।" इस सिद्धान्त को मानने या न मानने के अनुसार ही कराधान समान या असमान कहलाता है।

इस सिद्धान्त से दो सिद्धान्त और उदय हुए हैं :—

(i) **त्याग की समानता का सिद्धान्त** (Equality of Sacrifice Theory) : जिसका अर्थ है कि कराधान के बोझ के कारण हर व्यक्ति को समान रूप से त्याग करना पड़ना चाहिए। यह समानता यद्यपि सिद्धान्त में अच्छी है किन्तु व्यवहार में बड़ी कठिन हो जाती है। त्याग तो निजी, व्यक्तिगत वस्तु है जो किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में होती है। इसकी माप करना कठिन है। फिर यह भी देखना पड़ेगा कि परिवार के कमाने वाले सदस्य के ऊपर कितनी संख्या में लोग आश्रित हैं और उनका जीवन-स्तर क्या है।

(ii) **योग्यता या पात्रता सिद्धान्त** (Ability or Faculty Theory) : कहती है कि अमीर को अपनी आय के अनुपात से कुछ अधिक अदायगी करने पर विवश करना चाहिए। ५००) मासिक कमाने वाले आदमी को यदि और बातें एक-सी हों तो, अगर ५०) देने को कहा जाय तो उसे इतनी मुश्किल न होगी जितनी ५०) महीना पाने वाले को ५) देने में। क्योंकि ५००) वाले की देने की क्षमता ज्यादा है। इसी सिद्धान्त पर कराधान की उत्तरोत्तर वृद्धि (progression) आधारित है यानी आय के बढ़ने पर करों की ऊँची दरें।

(२) **निश्चितता का सिद्धान्त** (Canon of Certainty) : स्मिथ आगे कहता है कि हर व्यक्ति को जो टैक्स देना पड़ता है वह निश्चित होना चाहिए न

कि मनमाना। कितनी रकम देनी है और कब यह देने वाले के और हर एक के लिए स्पष्ट होना चाहिए। हर व्यक्ति को मालूम हो कि ठीक क्या, कितना, कहाँ और कैसे कर देना है। नहीं तो अनावश्यक कष्ट होता है। इसी तरह राज्य को ठीक-ठीक जानना चाहिए कि किसी टैक्स से उसे कितना मिलेगा।

(३) **सुविधा का सिद्धान्त** (Canon of Convenience) : स्मिथ के अनुसार "हर टैक्स इस प्रकार और ऐसे समय में लगाया जाना चाहिए कि हर एक को देने में सहूलियत हो।" जाहिर है कि ऐसा वक्त और अदायगी का तरीका रखना बुद्धिमानी नहीं है जो उपयुक्त न हो। भारत में मालगुजारी फसल कटने के बाद ली जाती है। इसी समय खेतिहर मजे में दे सकते हैं।

(४) **किफायत का सिद्धान्त** (Canon of Economy) : आखिर में स्मिथ ने कहा कि टैक्स ऐसे वसूल करना चाहिए कि लोगों की जेब से जो पैसा निकले वह जितना राजकीय खजाने में जमा हो उससे कम से कम ऊपर हो।" यानी वसूली का खर्चा कम से कम होना चाहिए। यदि टैक्स का ज्यादा हिस्सा वसूली में ही निकल जाय तो लोगों की जेबों में से तो बहुत निकल जाएगा पर खजाने में कम पहुँचेगा। ऐसा कर बुद्धिमानी का न होगा।

कराधान के अन्य सिद्धान्त (Other Canons of Taxation) एडम स्मिथ के जमाने से अर्थशास्त्रीय विज्ञान में बड़ी प्रगति हुई है। आगे के लेखकों ने अन्य सिद्धान्त भी जोड़ दिए हैं। वे ये हैं :—

(क) **उत्पादकता का सिद्धान्त** (Canon of Productivity) यह जोर डालता है कि टैक्स से राज्य को कुछ अच्छी रकम मिलनी चाहिए। आखिरकार कराधान अधिकारी का मुख्य प्रयोजन तो कोष प्राप्त करना ही है। इसलिए जो कर अच्छी आय नहीं करता वह व्यर्थ है।

(ख) **लोच का सिद्धान्त** (Canon of Elasticity) : कहता है कि देश की जनसंख्या या आय बढ़ने पर कर स्वयं ही अधिक राजस्व प्राप्त करे तो अच्छा है। राज्य की आवश्यकताओं और जनता के स्रोतों में सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। यदि आपत्ति काल में टैक्स दर बढ़ाने से अधिक आय मिले तो कर अपने स्वभाव में लोचदार (elastic) है।

(ग) **सादगी का सिद्धान्त** (Canon of Simplicity) : यह है कि कर-प्रणाली सीधी सादी होनी चाहिए। नहीं तो गड़बड़ और उसमें भी बुरी बात भ्रष्टाचार (corruption) होगा। युद्धकाल में और उसके बाद कुछ टैक्स, जैसे कपड़े की बिक्री पर और कुछ अन्य आवश्यक वस्तुओं की जरूरी सप्लाई पर टैक्स का नतीजा हुआ भ्रष्टाचरण (corruption)। खासतौर से इसलिए कि उसमें सादगी नहीं थी।

७. **सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त** (Principles of Public Expenditure) : पुराने जमाने में सार्वजनिक खर्चों का मुख्य उद्देश्य यह था कि बाहरी हमलों से रक्षा करने के लिए एक फौज और भीतरी गड़बड़ दूर करने के लिए एक पुलिस रखी जाय। अब अधिकतर राज्य वेलफेयर स्टेट्स (Welfare States) या कल्याणकारी राज्य बनने की चेष्टा में हैं। उनका उद्देश्य सिर्फ राष्ट्र की निगरौनी

करना नहीं है, बल्कि कोई सामाजिक काम ऐसा नहीं है जिसकी देखभाल राज्य न करता हो। बड़ी-बड़ी रकमें लोकहित के कार्यों में खर्च की जाती हैं। मुफ्त प्राथमिक शिक्षा (primary education) और सस्ती माध्यमिक शिक्षा (secondary education), मनुष्यों और पशुओं के लिए अस्पताल, नहरों और सड़कों का निर्माण आदि कार्य हो रहे हैं। जंगल लगाए जाते हैं। कारखानों का संचालन किया जाता है और बैंक स्थापित किए जाते हैं। वास्तव में राज्य आज अमीरों से पैसा लेकर गरीबों पर खर्च करता है। जिससे आय के फर्क कम हो जाएँ और ज्यादा से ज्यादा लोगों का भला हो। कुछ राज्यों में परिवहन और वैदेशिक व्यापार का भी राष्ट्रीयकरण हो गया है। वास्तव में सभी राजकीय व्यय का बुनियादी उद्देश्य अधिकतम लोगों का कल्याण और गरीबों के जीवन-स्तर में वृद्धि है। अधिक उत्पादन के द्वारा मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का विकास करना, सब को नौकरी देना, देश को विदेशी आक्रमणों से बचाना, घर में शान्ति और सुरक्षा रखना और समान लाभ करना यह सब राज्य के उद्देश्य हैं।

राजकीय व्यय के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

(i) **अधिकतम सामाजिक लाभ** (Maximum Social Advantage) : सबसे मौलिक सिद्धान्त राजकीय व्यय का यह है कि इससे किसी व्यक्ति या वर्ग को फायदा होने के बजाय अधिकतम सामाजिक लाभ होना चाहिए।

(ii) **किफायत** (Economy) : क्षयकारी व्यय न किया जाय। किन्तु किफायत का मतलब कंजूसी नहीं है।

(iii) **स्वीकृति** (Sanction) : कोई खर्चा भी बिना समुचित अधिकारी की स्वीकृति के न किया जाय।

(iv) **सन्तुलित बजट** (Balanced Budget) : बजट में बार-बार घाटा न हो।

(v) **लोच** (Elasticity) : सार्वजनिक व्यय बिलकुल हमेशा के लिए निश्चित नहीं किया जाता। नहीं तो उसे जरूरत पड़ने पर कम करना सम्भव न होगा।

(vi) **उत्पादन और वितरण पर हितकारी प्रभाव** (Beneficial Effects on Production and Distribution) : सार्वजनिक व्यय ऐसा होना चाहिए कि उत्पादन को बढ़ावा दे। इससे धन के वितरण की असमानता भी कम होनी चाहिए।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

सार्वजनिक वित्त का अर्थ : हर सरकार के कुछ कार्य होते हैं जिन पर वह करों से तथा और तरीकों से रुपया इकट्ठा करके खर्च करती है। यह पहले भी होता था और आज भी। एक राज्य द्वारा आय प्राप्त करना और खर्च करना सार्वजनिक वित्त (Public finance) कहलाता है।

सार्वजनिक वित्त के महत्त्व : आज राज्य के कर्त्तव्य पहले से कहीं ज्यादा हैं : उसके पास रुपया भी ज्यादा आता है और वह जीवन में हर तरह का हस्तक्षेप करता है। इसलिए यह विभाग बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया है।

सरकार के कार्य (functions of government) : आज सरकार पहले से बहुत ज्यादा काम करती है। सरकार को क्या करना चाहिए इस बारे में मतभेद है। किन्तु कुछ बातों से सभी सहमत हैं। शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना, देश की रक्षा करना, शिक्षा, सड़कें आदि बनवाना—यह सभी लोग मानते हैं। ऐसे कर्त्तव्यों का संरक्षक, विकास संबन्धी, वाणिज्यिक और सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं में वर्गीकरण किया गया है। इनके लिए धन की आवश्यकता है।

व्यक्तिगत वित्त और राजकीय वित्त में अन्तर : दोनों को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए धन चाहिए। किन्तु :—

(१) एक व्यक्ति की आय उसके खर्चे निर्धारित करती है जबकि राज्य अपनी व्यय-आवश्यकता के अनुसार अपनी आय बनाता है।

(२) सार्वजनिक प्राधिकारी (Public authority) कुछ हद तक अपना आय व्यय बदल सकता है पर व्यक्ति नहीं।

(३) सार्वजनिक प्राधिकारी भविष्य को वर्तमान की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं देता जैसा कि एक व्यक्ति करता है।

(४) राज्य को कुछ बचाने की जरूरत नहीं, व्यक्ति को है।

(५) राज्य का सालाना बजट होता है। व्यक्ति की कोई अवधि नहीं है।

(६) व्यक्तिगत वित्त छुपा रहता है। राजकीय वित्त सब के सामने प्रकाशित किया जाता है।

(७) व्यक्ति कोई आन्तरिक उधार नहीं ले सकता।

सार्वजनिक आय के स्रोत : ४ खास मद हैं ; फीस और उगाहियां, कीमतें, उधार और कर।

फीस (Fees) : प्राप्त फायदों की अदायगी है।

कर निर्धारण (Assessment) : एक विशेष फीस है जो किसी विशेष राजकीय सेवा के लिए लगाई जाती है, जैसे सड़क या नहर, नाली या सफाई के लिए।

कर्जे (Loans) : विशेष काल में ले लिये जाते हैं, जैसे युद्ध में या रेलवे बनाने के लिए।

कीमतें (Prices) : कारोबार या उद्यम की सेवाओं की बिक्री से मिलती हैं ; जैसे रेल, ट्राम या डाकघर से।

कर (Taxes) : राजस्व का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम कराधान (Taxation) है। "कर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के धन का वह अनिवार्य अंशदान है जो सार्वजनिक शक्तियों की सेवाओं के लिए दिया जाता है" (Bastable)। यह किसी विशेष सेवा के लिए अदायगी नहीं है वरन् अनिवार्य वसूली (compulsory charge) है।

कराधान के उद्देश्य : टैक्स (क) राजस्व उठाने के लिए, (ख) कुछ हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन या उपभोग कम करने के लिए, (ग) गृह उद्योगों के संरक्षण के लिए या (घ) आय के अंतर को कुछ हद तक कम करने के लिए लगाए जाते हैं।

कराधान के सिद्धांत : एडम स्मिथ के सिद्धांत : —

(१) समानता का सिद्धान्त : करदाताओं पर समान बोझ पड़ना चाहिये। इस नियम को व्यवहार में लाना कठिन है।

(२) निश्चितता का सिद्धांत : हर करदाता को यह ठीक मालूम होना चाहिए कि उसे जो अदायगी करनी है उसका रूप और परिमाण कितना है।

(३) सुविधा का सिद्धांत : टैक्स करदाता की सुविधा को ध्यान में रख कर वसूल किया जाना चाहिए।

(४) किफायत का सिद्धान्त : कर की वसूली में ज्यादा खर्च न आना चाहिए।

बाद के सिद्धान्त : उपर्युक्त चार सिद्धान्तों में कुछ और भी जोड़ दिए गए हैं। वे है, उत्पादकता (productivity) यानी अच्छा राजस्व देने की क्षमता, लोच (elasticity) यानी स्वयं घटने घटने की क्षमता, और सादगी (simplicity) यानी सबकी समझ में आने लायक।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त : खास सिद्धान्त हैं :—

(i) अधिकतम सामाजिक लाभ
(ii) किफायत
(iii) मंजूरी
(iv) संतुलित बजट
(v) लोच
(vi) उत्पादन और वितरण पर हितकर प्रभाव।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. Why does Government need revenue ? Point out the important sources of a modern State. (पंजाब विश्वविद्यालय १९४६)

देखिए विभाग १, २, और ५ ।

2. Describe the main heads of revenue and expenditure of your own state and give brief comments on each item.

(अजमेर १९५५)

(आय के मद : —भूमि-लगान, जंगल, आबकारी (excise), स्टैम्प्स (stamps), आयकर व केन्द्रीय आबकारी में भाग, बिक्री कर, मनोरंजन कर आदि।

व्यय के मद : खेती, उद्योग, सड़कें, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पुलिस, नागरिक शासन, सिंचाई आदि)।

Or

What are the principal sources of revenue & heads of expenditure of a modern state ? (बम्बई १९५०)

(आय के स्रोत : आयकर, आयात-निर्यात कर, आबकारी, रेलवे, डाक व तार, मृत्यु-कर आदि।)

व्यय के मद : सुरक्षा, यातायात व संचार, शिक्षा, चिकित्सा, सिंचाई, सामाजिक सेवा, राष्ट्रीय ऋण, नागरिक शासन।)

3. What is Public Finance ? Is there any essential difference between public and private finance ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३; आगरा, १९३७)

देखिए विभाग १, ४।

4. What do you understand by public works ? Why are they undertaken by public bodies rather than by individuals ?

[सड़कें, पुल, अस्पताल आदि। ये व्यक्तिगत प्रयास के लिए बहुत बड़े है और सबके लिए समान हित के हैं]

5. What is a tax ? Distinguish it from (i) a fee, (ii) a penalty, and (iii) a price.

देखिए विभाग ५ ।

6. Explain in brief the canons of taxation.

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४६ सप्लीमैंटरी)

7. Lay down a few principles of public expenditure.

देखिए विभाग ११ ।

8. Differentiate 'protective' from revenue duties. What are the motives kept in mind by the authority while levying a tax ?

[संरक्षण शुल्क (protective duties) गृह उद्योग को संरक्षण देने के लिए लगाया जाता है जब कि राजस्वकरों (revenue duties) का प्रधान उद्देश्य राजस्व की प्राप्ति है। पहला शुल्क दूसरे की अपेक्षा अधिक दिन तक चलता है। देखिए विभाग ९]

9. Take up two of the well-known taxes in our country and discuss how far they satisfy the well-known principles of taxation.

देखिए भाग २, करारोपण पर अध्याय।

10 Write a short note on the doctrine of maximum social advantage as the aim of Public Finance.

देखिए विभाग ३।

11. Discuss the theory of maximum utility in public expenditure. (कलकत्ता विश्वविद्यालय बी. काम १९२६)

[खर्चे का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि होना चाहिए। इसमें नागरिकों की आय का बहुत बड़ा भाग नहीं चला जाना चाहिए। इसलिए यह लोचदार हो और फालतू खरचादी न हो।]

12. Define Tax. Distinguish between :—

(a) Income Tax, Excess Profits Tax and Super Tax.

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४२-४७)।

(b) Progressive Tax and Proportional Tax.

(c) Specific Duty and Ad Valorem Duty.

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४४)।

[(क) आय कर (Income Tax) आमदनी पर लगाया जाता है। अधिक मुनाफा कर (Excess profits tax) युद्ध-काल में अपनी योग्यता के कारण नहीं वरन् असामान्य दशाओं के कारण प्राप्त लोगों की अतिरिक्त आय पर लगाया गया था।

अपर-कर (Super tax) बहुत ऊँची आय पर लगाया जाता है।

(ख) उत्तरोत्तर कर (Progressive tax) का मतलब है ऊँची आय पर ऊँची दर से कर लगाना। आनुपातिक कर (Proportional tax) में कर की दर हर आय पर एक ही रहेगी।

(ग) निश्चित शुल्क (Specific duty) वस्तु के भार के अनुसार लगाई जाएगी और मूल्यानुसार शुल्क (Ad Valorem) वस्तु के मूल्य के अनुपात से।]

13. What are the characteristics of a good tax system ?

(बम्बई १९५२)

देखिए विभाग ६।

iscuss the principles of taxation. What are the dangers of ignoring these principles ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९५१)

देखिए विभाग ६।

अध्याय ३१

कर (TAXES)

ऐसी चुटकी काटो कि रोए नहीं

(Pluck the goose without its squealing)

१. **कर का बोझ** (Burden of a Tax) : कराधान के प्रयोजन पर चर्चा कर लेने के बाद अब हमारे सामने करों के बोझे के वितरण की समस्या है। पुराने जमाने में राजा कर वसूल करते वक्त यह विचार नहीं करते थे कि इसकी वसूली में किसे और क्या तकलीफ होगी। लेकिन आज हालत और है। कर लगाने से पहले उनके तात्कालिक (immediate) और कालान्तर में (long range) प्रभाव समझ लिये जाते हैं। विभिन्न वर्गों पर उनके बोझ का हिसाब लगाया जाता है और उनका वर्गीकरण किया जाता है। यह जानने की कोशिश की जाती है कि कौन तुरन्त कर देगा और किस पर आखिर में जाकर यह पड़ेगा। केवल इसी तरह से कर का वास्तविक भार पता लगता है। और विभिन्न वर्गों के अनुकूल समायोजित किया जाता है।

२. **करों की किस्में** (Kinds of Taxes) : कर (i) आनुपातिक (ii) उत्तरोत्तर (iii) प्रतिगामी और (iv) ह्रासमान होते हैं।

(i) **आनुपातिक कर** (Proportional Tax) . वह है जो हर एक व्यक्ति की जेब से आय का बिलकुल उतना ही प्रतिशत ले जैसे सभी बड़ी या छोटी आमदनी पर मान लीजिए ५ प्रतिशत की समान दर (flat rate) आनुपातिक कर कहलाएगी। *ऐसा कर बड़ा सादा होता है और धन के वितरण के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं करता।* किन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रणाली में गरीब लोग जिनके छोटे साधन होते हैं कष्ट पाते हैं, इसलिए आधुनिक कराधान में आनुपातिक करों के स्थान पर उत्तरोत्तर कर-प्रणाली प्रयुक्त होती है।

(ii) **उत्तरोत्तर कर** (Progressive Tax) : बोझ को अधिक न्याययुक्त रूप से बाँटने की चेष्टा करता है। बड़ी आय वालों से अधिक दर ली जाती है। क्योंकि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता उसकी वृद्धि के साथ गिरती है। इसलिए रईस आदमियों में कर देने की क्षमता अधिक होती है। इसके अलावा उत्तरोत्तर कर किसी हद तक धन की असमानता कम करता है। गरीबों की सहायता के लिए अमीरों को ज्यादा से ज्यादा कर देने पड़ते हैं। क्योंकि उत्तरोत्तर कराधान की प्रणाली में कुल त्याग (total sacrifice) कम होता है, इसलिए भारत और अधिकतर राज्यों ने इसे ही अपना लिया है।

उत्तरोत्तर कराधान सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक है। किन्तु व्यवहार में वृद्धि की ऐसी दर नियत करना जिसमें त्याग की मात्रा सब के लिए समान हो, कठिन है। आमतौर पर यह करते हैं कि दर बढ़ाते चले जाते हैं जब तक कि करदाता चीखने न लगे। यह भी याद रखना चाहिए कि करों की बहुत ऊँची दर से उत्पादन और पूंजी लगने (investment) में बाधा पड़ती है। सही दर बड़े प्रयोगों के बाद पता लग पाते हैं। भारत ने आय पर करों में काफी ऊँची वृद्धि की दर (progressive rate) लागू कर रखा है। इस तरह से ऊँची आय वाले रुपए में आठ आने आय-कर में देते हैं।

(iii) **ह्रासमान** (Regressive Tax) : वह है जिसमें गरीबों को अमीरों की अपेक्षा ऊँची दर देनी पड़ती है। यह प्रणाली अनुचित है। इसमें केवल एक ही बात है कि गरीबों की संख्या चूंकि ज्यादा है इसलिए ऐसा कर अधिक राजस्व लाता है। किन्तु ऐसे कर सिद्धान्त में ही गलत हैं और जहाँ तक सम्भव हो न लगाने चाहिएं। भारत में लगान की इसी आधार पर आलोचना हुई है। इससे बड़ी छोटी आय वाले किसान पर मुसीबत पड़ती है, जिसके पास कभी-कभी खाने तक को नहीं रहता, किन्तु जिसे बड़े से बड़े जमींदार के बराबर ही किराया देना पड़ता है।

(iv) **प्रतिगामी** (Degressive Tax) : आय के साथ-साथ बढ़ता है किन्तु दर आय के अनुपात में नहीं बढ़ती। यानी यह समझ लीजिए कि यह उत्तरोत्तर कर का दूसरा रूप है जिसमें बड़ी आय वाला को अपेक्षाकृत छोटी आय के मुकाबले कम त्याग करना पड़ता है।

सभी परिस्थितियों में अच्छी तरह से सोचकर नियत किया गया उत्तरोत्तर कराधान ही सर्वोत्तम है। भारत धीरे-धीरे कराधान की अच्छी प्रणाली विकसित कर रहा है। सिवाय भूमि कर (land tax) के जो अब भी त्रुटिपूर्ण है, हमारी कराधान प्रणाली काफी वैज्ञानिक है जो अन्य देशों की तुलना में अच्छी ही गिनी जाएगी।

३. **प्रत्यक्ष और परोक्ष कर** (Direct and Indirect Tax) : दूसरा भेद जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है प्रत्यक्ष और परोक्ष कर में है। आमतौर पर *आय पर कर प्रत्यक्ष है और माल पर परोक्ष।* प्रत्यक्ष कर वह है जो उसी व्यक्ति द्वारा अदा किया जाता है जिस पर कानूनन लगाया जाता है। परोक्ष कर वह है जो आरोपित तो एक व्यक्ति पर किया जाता है किन्तु उसकी पूरी या आंशिक अदायगी कोई दूसरा करता है—(डाल्टन)।

भार, सरकना और प्रभाव (Impact, Shifting and Incidence) : मान लीजिए एक कर मकान मालिकों पर लगाया जाता है। क्योंकि यह अनिवार्य है, इसलिए वे इसे अदा करेंगे। या ठीक-ठीक यह कहें कि कर का *भार* (impact) उन पर होगा। यह स्वाभाविक है कि मकान मालिक चुपचाप नहीं दे देंगे। इसे कम कराने की कोशिश के अलावा, वे किराए बढ़ाने की कोशिश करेंगे। किराएदार उससे बचना चाहेंगे किन्तु क्योंकि उन्हें दूसरी जगह नहीं मिल सकती इसलिए उन्हें

किराए में वृद्धि सहन करनी पड़ेगी। इस तरह मकान-मालिकों ने अपना भार किराएदारों पर *सरका दिया* (shifted)। किन्तु यह सरकाना (shifting) और आगे भी जा सकता है। मान लीजिए कुछ किराएदार दफ्तरों में नौकर हैं और सुसंगठित हैं। वे मकान किराया भत्ता (house rent allowance) या तनख्वाहों में बढ़ती माँगते हैं। यदि वे सफल हो गए तो भार नियोजकों पर पड़ गया। नियोजक अपनी उपज की कीमत बढ़ा देते हैं और अपने ग्राहकों से कर वसूल कर लेते हैं। *यह हटाना कहीं तक भी जा सकता है*। किन्तु कहीं न कहीं यह रुकेगा भी। वास्तविक भार तब उन लोगों पर होगा जो इसे किसी दूसरे के सर नहीं डाल सकते। इस तरह कर का *वास्तविक प्रभाव* (incidence) उन पर पड़ेगा। तो *हटाना* (shifting) *भार* (impact) *से शुरू होता है और वास्तविक प्रभाव* (incidence) *पर खत्म होता है। इस तरह कर का भार एक वर्ग के लोगों पर हो किन्तु उसका वास्तविक प्रभाव बिलकुल दूसरे वर्ग पर हो सकता है।*

अब एक प्रत्यक्ष कर वह है जिसका भार तथा वास्तविक प्रभाव (impact and incidence) एक ही व्यक्ति पर होता है। यानी कर देने वाला (tax payer) ही कर सहन करने वाला (tax bearer) है। परोक्ष कर वह है जिसमें भार और प्रभाव अलग-अलग व्यक्तियों पर पड़ता है। यानी जिसमें कर हटाकर दूसरे पर डाला जा सकता है। मिल (Mill) ने परिभाषा की है कि प्रत्यक्ष कर वह है जो उसी व्यक्ति पर लगाया जाता है जिससे उसे वसूल करना होता है, जैसे आय कर या मरण शुल्क। परोक्ष कर उसका उल्टा है। यह वह कर है जो लगाया तो एक व्यक्ति पर जाता है किन्तु यह आशा की जाती है और इरादा होता है कि यह किसी अन्य व्यक्ति पर टल जाय, जैसे चीनी, तम्बाकू इस्पात जैसे माल पर।

४. **प्रत्यक्ष कर के लाभ** (Advantages of Direct Taxes).—प्रत्यक्ष कर के अनेक लाभ हैं। ये लाभ हैं :—

(१) **न्याययुक्त** (Equitable) : कर का भार हटाया नहीं जा सकता। इसलिए उत्तरोत्तर वृद्धि से त्याग की समानता की जा सकती है। सब से नीची आय के लोगों को छूट दी जा सकती है। यह वस्तुओं पर टैक्स लगाकर नहीं किया जा सकता जो गरीब-अमीर सब के काम आती है और कर सब पर पड़ता है।

(२) **किफायती** (Economical) : कर वसूली का खर्च कम होता है। ये आमतौर पर उद्गम (source) पर ही वसूल किए जाते हैं। जैसे एक अफसर का आय कर उसकी तनख्वाह में से हर महीने कट जाता है। इससे खर्च कम होता है।

(३) **निश्चित** (Certain) : प्रत्यक्ष कर में देने वाले जानते हैं कि उन्हें कितना और कब देना है, जब कि अधिकारी यह जानते हैं कि कितना राजस्व उन्हें कब मिलेगा।

(४) **लोचदार** (Elastic) : यदि राज्य को पैसे की ज्यादा जरूरत पड़े तो प्रत्यक्ष कर से प्राप्त हो सकता है। आयकर या मरण शुल्क बढ़ा कर उनसे प्राप्ति बढ़ाई जा सकती है। लोग मरण के डर से मरना बन्द नहीं कर सकते।

(५) **उत्पादक** (Productive) : प्रत्यक्ष कर बड़े उत्पादक होते हैं। जैसे-

जैसे समुदाय की संख्या और समृद्धि में वृद्धि होती है, प्रत्यक्ष कर से प्राप्ति भी स्वयं बढ़ती जाती है।

(६) **सामाजिक चेतना विकसित करने का साधन** (A Means of Developing Social Sense) : जब एक व्यक्ति यह जानता है कि वह कर दे रहा है तो वह अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक हो जाता है। वह यह जानना चाहता है कि सरकार अपना पैसा कैसे खर्च करती है और उसका अनुमोदन या आलोचना करता है। नागरिक चेतना का विकास होता है।

५. **प्रत्यक्ष कर की हानियाँ** (Disadvantages of Direct Taxes) :—

(१) **असुविधा** (Inconvenient) प्रत्यक्ष कर की सब से बड़ी कमी यह है कि यह देने वाले को चुभता है। जब उसकी जेब से नकद रकम जाती है तो वह चौंकता है।

(२) **चोरी से बच निकलने की गुंजायश** (Evadable) : आय के गलत आँकड़े देने से कर से बचा जा सकता है। इसलिए प्रत्यक्ष कर "ईमानदारी पर कर" (tax on honesty) है।

(३) **मनमाना** (Arbitrary) यदि कर उत्तरोत्तर है तो वृद्धि की दर मनमाने ढंग से निश्चित की जाती है। और यदि कर आनुपातिक हो तो उसका भार गरीबों पर ज्यादा पड़ता है। दोनों बातें बुरी हैं।

(४) यदि कर बहुत भारी हो तो उससे बचत और पूंजी का लगना (investment) निरुत्साहित होते हैं। उस हालत में देश की आर्थिक हानि होती है।

निष्कर्ष : कुल मिला कर प्रत्यक्ष कर के लाभ उसकी हानियों से कहीं अधिक हैं।

६. **परोक्ष कर के लाभ** (Advantages of Indirect Taxes) : परोक्ष करों के भी अपने लाभ हैं। संक्षेप में;

(१) *वे गरीबों तक पहुँचने का एक मात्र उपाय हैं।* यह ठीक सिद्धान्त है कि हर एक को कुछ न कुछ देना चाहिए, चाहे जितना भी कम ज्यादा हो। गरीबों को प्रत्यक्ष करों से हमेशा छूट रहती है। उन तक परोक्ष करों से ही पहुँचा जा सकता है।

(२) *वे राज्य और करदाता दोनों को सुविधाजनक हैं।* करदाता उनका भार-वहन महसूस नहीं करता। कुछ तो इसलिए कि परोक्ष कर छोटी राशि में दिए जाते हैं। दूसरे इसलिए कि खरीदारी करते वक्त अदा किए जाते हैं। किन्तु सुविधा इसलिए और ज्यादा है कि कर पर कीमतों का मुलम्मा चढ़ा रहता है। जैसे चीनी में लिपटी हुई कुनैन। जैसे तम्बाकू पर टैक्स महसूस नहीं होता क्योंकि वह हर सिगरेट के दाम में शामिल है। यह राज्य के लिए सुलभ है क्योंकि राज्य इसे बन्दरगाह या कारखाने पर ही वसूल कर सकता है।

(३) *परोक्ष कर बड़े क्षेत्र पर वितरित हो सकते हैं।* बहुत भारी कर एक ही बिन्दु पर लगाने से देश के आर्थिक व सामाजिक जीवन पर बुरे असर पड़ सकते

है । क्योंकि परोक्ष कर विस्तृत रूप से वितरित किए जा सकते हैं, इसलिए वे अधिक हितकारी हैं ।

(४) *उनकी वसूली सरल है ।*

(५) *उनसे बचा नहीं जा सकता क्योंकि वे कीमत का अंग हैं ।* उनसे बचने का एक ही उपाय है कि कर लगी हुई वस्तु का उपयोग ही न किया जाय ।

(६) *उनसे होने वाली प्राप्ति बड़ी लोचदार है* यदि वे जीवन की आवश्यकताओं पर लगाए जाएँ जिनकी माँग बेलोच है ।

(७) यदि अमीरों के उपभोग की वस्तुओं पर या विलासिताओं पर लगाए जाएँ तो न्यायानुसार है ।

(८) वे हानिकारक वस्तुओं का उपभोग रोकते हैं ।

७. **हानियाँ** (Disadvantages) : परोक्ष करों की हानियाँ भी हैं जो निम्नलिखत हैं :—

(१) (Regressive) है । उनमें समानता प्राप्त नहीं हो सकती । उदाहरण के लिए सेल्स टैक्स या बिक्री कर अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ता है क्योंकि एक ही दर सब को देनी पड़ती है ।

(२) **उनसे प्राप्त राजस्व अनिश्चित है** : जब तक कि उन्हें आवश्यकताओं पर न लगाया जाय । लोचदार माँग वाले माल के बारे में कर से शायद अधिक राजस्व न आए और फल निराशाजनक होगा ।

(३) **उनके कारण किसी वस्तु की कीमत लगाए गए** कर से ज्यादा बढ़ती है । द्रव्य-इकाई के अंश की गणना नहीं हो सकती इसलिए हर मध्यस्थ (middle-man) टैक्स से ज्यादा वसूल कर लेता है ।

(४) **ये किफायती नहीं हैं** : वसूली का खर्च काफ़ी ज्यादा है । उत्पादन के हर स्रोत की निगरानी करनी पड़ती है ।

(५) **ये नागरिक चेतना को विकसित नहीं करते** : क्योंकि अक्सर नागरिक को मालूम भी नहीं रहता है कि वह कर दे रहा है ।

(६) **वे उद्योगों को निरुत्साहित करते हैं**, यदि कच्चे माल पर कर लगाया जाए तो ।

इस प्रश्न के उत्तर में कि प्रत्यक्ष या परोक्ष कौन-सा कर बेहतर है यही कहा जा सकता है कि दोनों ओर काफ़ी गुण-अवगुण हैं । किन्तु यह कहना ठीक है कि कोई देश भी एक ही प्रकार का कर लगा कर काम नहीं चला सकता । अमीरों से प्रत्यक्ष कर लगा कर पैसा ज्यादा मिल सकता है पर गरीबों तक पहुँच परोक्ष कर से ही हो सकती है ।

वर्तमान काल में जबकि राजकीय भाग का महत्त्व बढ़ता जा रहा है, उसके अनेकांगी कार्यों को चलाने के लिए पर्याप्त राशि चाहिए । न अकेले प्रत्यक्ष कर ही इतनी राशि दे सकते हैं और न अकेले परोक्ष कर ही । दोनों की आवश्यकता है । उनका परस्पर महत्त्व कुछ बातों पर निर्भर है जैसे—आय का बटवारा, अर्थतन्त्र का प्रकार, आर्थिक विकास की सीढ़ी, आदि ।

८. **अच्छी कर-प्रणाली** (A Good Tax System) : अच्छी कर-प्रणाली वह है जो कराधान के मुख्य सिद्धान्तों के अनुसार हो। कर समान और न्याययुक्त होने चाहिएँ, अर्थात् करदाता के सामर्थ्य के अनुसार, वे किफ़ायती होने चाहिएँ जिससे उनकी वसूली का खर्च कम हो। फिर कर लेने वाले और देने वाले दोनों को पता होना चाहिए कि कितनी रक़म अदा करनी है। फिर कर लोचदार, समझने में सरल और काफ़ी राजस्व प्राप्ति करने वाला होना चाहिए।

न सिर्फ़ कर-प्रणाली कराधान के सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए बल्कि उसमें आवश्यकताओं (necessaries) और विलासिताओं (luxuries) दोनों पर कर और प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के कर सम्मिलित होने चाहिएँ। कर-प्रणाली का आधार व्यापक होना चाहिए। करों में विभिन्नता विषमताएँ कम करती है। एक कर के दोष दूसरे के गुणों से दूर हो जाते है। "कर अधिक बिन्दुओं पर हलका और किसी बिन्दु पर भी भारी न होना चाहिए।*"

यह भी जरूरी है कि कर ऐसे हों कि जिनसे आसानी से बचा न जा सके। उनका कार्यक्षम प्रशासन (efficient administration) सम्भव होना चाहिए।

अन्त में, कर-प्रणाली विभिन्न प्रकार के असम्बद्ध (uncoordinated) करों का समूह न हो। यह एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें हर कर फिट बैठ जाय। कर विभिन्न दिशाओं में खीचने वाले न होने चाहिएँ। जैसे एक माल पर संरक्षण शुल्क (protective duty) और उसी माल पर उत्पादन कर (excise duty) लगाना मूर्खता होगी। क्योंकि उससे साधारणतया सरक्षण शुल्क का प्रयोजन नष्ट हो जाएगा।

किसी कर-प्रणाली पर निर्णय देने के लिए सारी व्यवस्था को एक समझ कर उसकी आलोचना करनी चाहिए न कि किसी एक कर को छांट कर उसको बुरा-भला बताना।

९. **आपत्तिकाल मे और पूंजीगत व्यय के लिए वित्त** (Finance in Emergencies and for Capital Expenditure) : यानी युद्ध या विकास योजनाओं आदि के लिए वित्त। युद्ध या आपत्तिकाल में परिस्थिति असामान्य होती है। सरकार की वित्तीय नीति इस आपत्तिकाल का मुकाबला करने के लिए बदलनी पड़ती है।

युद्ध-काल में द्रव्य के कार्य गौण महत्त्व के हो जाते है। जो प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख रहता है वह यह नहीं है कि क्या हम इतना सहन कर सकते है, क्या हमारे साधन पर्याप्त है ? वरन् यह है कि क्या यह सम्भव है ? द्रव्य तो पीछे-पीछे चलने वाला अनुचर रह जाता है।

युद्ध-काल में राष्ट्र के तमाम स्रोत, और जनशक्ति भी राज्य की सेवा में रहती है। राज्य कराधान से रुपया उगाह कर अपनी अपेक्षित वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदता है। किन्तु आवश्यकताएं इतनी अधिक होती हैं कि कर अकेले उन्हें पूरा

*"A tax should bear lightly on many points and heavily on none."

नहीं कर सकते। सरकार को ज़बरदस्ती, श्रम-नियन्त्रण, भरती, राशनिंग आदि से काम चलाना पड़ता है।

यह तमाम रुपया कहीं न कहीं से तो आता ही है। युद्ध-काल में आय के कुछ मुख्य स्रोत निम्नलिखित होते हैं :—

(१) **अधिक कराधान**—अच्छी नीति यह है कि करों की दर बढ़ा कर उस हद तक ले जाई जाय जहाँ तक कि करदाता सहन कर सके। अधिक भारी कराधान असन्तोष उत्पन्न करेगा।

(२) **अपनी सम्पत्ति से आय**—हर सरकार अपनी भूमि सरकारी कारखानों और विभिन्न समाज-बीमा विधियों से कुछ आय प्राप्त करती है।

(३) **वैदेशिक उधार**—जैसा कि ब्रिटिश सरकार ने पिछली लड़ाई में अमरीका और कनाडा से लिया था।

(४) **घरेलू उधार**—सरकार हर प्रकार के प्रचार से लोगों को वार बाड, डिफेन्स सर्टिफ़िकेट आदि में रुपया लगाने के लिए प्रोत्साहन देती है।

(५) **द्रव्य का सृजन**—यदि उपर्युक्त उपाय आवश्यक कोष ला सकने में असमर्थ हुए तो आखिर में सरकार नोट छाप देती है।

इस अध्याय से क्या सीखा

कर का भार : कौटिल्य ने कर सरकार दिए जाते हैं। भार उस व्यक्ति पर पड़ता है जो अन्त में भुगतान करता है।

अपने रूप और भार की दृष्टि से कर तीन प्रकार से वर्गीकृत किए जाते हैं। पहले तो कोई कर हो सकता है :—

(१) आनुपातिक, यानी दर आय पर एक ही दर से। इसमें गरीबों को नुकसान रहता है।

(२) उत्तरोत्तर, यानी कर की दर आय के अनुसार बढ़ती है। यह प्रणाली त्याग को समान बनाने की चेष्टा करती है। निम्नतम आय को छूट दे दी जाती है। कठिनाई उचित वृद्धि तय करने में है।

(३) Regressive, जिसकी दर गरीबों पर ज्यादा हो। यह बड़ी गलत प्रणाली है।

(४) Degressive का अर्थ है घटती हुई वृद्धि। यह भी इतना अच्छा नहीं है।

टैक्स प्रत्यक्ष हो या परोक्ष। प्रत्यक्ष तब है जब इसका वास्तविक भार उसी पर हो जिस पर लगाया जाए। कुछ दशा में भार दूसरे पर हटाया जा सकता है। तब कर परोक्ष हो जाता है। कहने के लिए जो भार होता है वह impact कहलाता है। वास्तविक भार incidence है

प्रत्यक्ष कर के लाभ :

(१) समान—बढ़ती हुई आय पर उत्तरोत्तर वृद्धि करके समानता लाई जा सकती है।

(२) किफायती : क्योंकि उद्गम पर ही वसूल कर लिया जाता है इसलिए खर्च कम आता है।

(३) निश्चित : कर लगाने और देने वाले दोनों कर की रकम जानते हैं।

(४) उत्पादक : प्रत्यक्ष कर से प्राप्ति जनसंख्या और समृद्धि के साथ बढ़ती है।

(५) लोचदार : प्राप्ति कराधान की दर बढ़ा कर बढ़ाई जा सकती है।

(६) सामाजिक चेतना नागरिकों में विकसित होती है।

प्रत्यक्ष कर के दोष :

(१) असुविधा : देने वाले को नकद देना पड़ता है।

(२) बचाव : गलत हिसाब बता कर इनसे बचा जा सकता है।

३) मनमाने : वृद्धि की दर मनमाने ढंग से तय की जाती है ।

४) बहुत ऊँचे कर से बचत और पूँजी लगाना निरुत्साहित होते है ।

निष्कर्ष : फिर भी प्रत्यक्ष कर में गुण ज्यादा है, दोष कम ।

रोचक करों के लाभ :

(१) गरीबों तक पहुँचने का एक मात्र उपाय है ।

(२) अदायगी में आसान है । वे उचित समय पर दिए जाते है और कीमतों में छिपे रहते हैं ।

(३) उनको बड़े क्षेत्र पर फैलाया जा सकता है ।

(४) सरल और किफायती वसूली हो सकती है ।

(५) नाजायज तरीके से इनसे बचा नहीं जा सकता ।

(६) जब आवश्यकताओं पर कर लगाते हैं तो उससे प्राप्ति बड़ी लोचदार (elastic) हो जाती है ।

(७) अफीम जैसी हानिकारक वस्तुओं का उपयोग रोकने में सहायक होते है ।

दोष :

(१) (Regressive) बड़ी दर पर आदमी अमीर गरीब देता है ।

(२) आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर कर अनिश्चित होते है ।

(३) वस्तुओं की कीमतें अनुचित रूप से बढ़ जाती है और विचोलिए ज्यादा खा जाते है ।

(४) गैर किफायती : उनकी जाँच करना खर्चीला काम है ।

(५) वे नागरिक चेतना को विकसित नहीं करते क्योंकि वे कीमतों में छिपे रहते है ।

(६) अगर कच्चे माल पर कर लगाया जाय तो उनसे उद्योग निरुत्साहित होता है ।

करारोपण की अच्छी प्रणाली वह है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के कर लगाए । उपर्युक्त करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों का अनुकरण करना चाहिए ।

अच्छी कर-प्रणाली : अच्छी कर-प्रणाली करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुकूल होनी चाहिए । यह मिश्रित जुला होनी चाहिए । इसका आधार विस्तृत होना चाहिए । बच निकलना कठिन होना चाहिए । व्यवस्था संयोजित (coordinated) होनी चाहिए जिससे किन्हीं दो प्रकार के करों में टकराव न हो ।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. How would you classify public expenditure ? What are the principal items of the public expenditure of Indian Union ?

(पंजाब १९५५)

Or,

What is Progressive Taxation ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९३०)

On what grounds do you justify Progression ?

देखिए विभाग २ ।

(यह न्याय और समानता के सिद्धान्त पर ही अच्छी कही जा सकती है । यह घटती हुई उपयोगिता के सिद्धान्त पर आश्रित है)

2. Explain the meaning 'incidence' of a tax. Distinguish it from the effect of the tax.

[देखिए विभाग १, ३ । प्रभाव कर के 'भार' से भिन्न है । प्रभाव तो यह हो सकता है कि किसी कर के वास्तविक भार के कारण लोग किसी वस्तु का उपयोग बन्द कर दें ।]

3. Distinguish between Direct and Indirect taxes.

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९३६, ३८, ४०, बम्बई, १९५३)

Mention their advantages and disadvantages. Which of them do you consider better ? Why ?

देखिए विभाग ३ से ७ तक।

Give three instances of Direct and three of Indirect taxes in our country. (जम्मू, कश्मीर

4. Explain :—

(i) Shifting.

(ii) Impact.

(iii) Incidence.

(iv) 'Proportional' tax.

(i), (ii), (iii) देखिए विभाग १ से ३ तक
(iv) देखिए विभाग २।

5. Discuss with Indian examples the merits and demerits of Direct and Indirect taxation. (पंजाब १९५५)

6 Distinguish between progressive and proportional taxation and consider their advantages and limitations.

कलकत्ता विश्वविद्यालय बी. कॉम, १९४७ कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३४, आगरा ; ३६, ढाका १९४२, बनारस १९३८, मद्रास १९३७, पंजाब ३८)

देखिए विभाग २।

7. Discuss the main considerations which usually underlie the system of taxation in a country. (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४१)

देखिए विभाग ८